19वीं तथा 20वीं सदी में यूरोप

(Europe in the 19th & 20th Centuries)

(1815—1939)

लेखक

ई० लिप्सन, एम० ए०

गयाप्रसाद एण्ड संस

आगरा (उत्तर प्रदेश)

Translation of E. Lipson's
Europe in the 19th & 20th Centuries

Published by :
ADAM AND CHARLES BLACK, LONDON

प्रथम हिन्दी संस्करण 1960
द्वितीय हिन्दी संस्करण 1967
तृतीय हिन्दी संस्करण 1980-81
चतुर्थ हिन्दी संस्करण 1982-83
पंचम हिन्दी संस्करण 1983-84

अनुवादक :
डॉ० मथुरालाल शर्मा, एम० ए०, डी० लिट्०
यूनिवर्सिटी प्रोफेसर ऑफ हिस्ट्री, राजस्थान विश्व-
विद्यालय, जयपुर; भूतपूर्व प्रिंसिपल, महाराजा
कालेज, जयपुर तथा हर्बर्ट कालेज, कोटा;
डायरेक्टर ऑफ एज्यूकेशन राजस्थान;
अवसरप्राप्त वाइस चांसलर; डीन
फेकल्टी ऑफ आर्ट्स; मेम्बर ऑफ
सिन्डीकेट, सेनेट, रिसर्च बोर्ड
राजस्थान यूनिवर्सिटी, आदि।

मूल्य : संस्करण सजिल्द रु० 80·00

प्रकाशक : गया प्रसाद एण्ड संस
हॉस्पिटल रोड, आगरा

हिन्दुस्तान प्रिण्टर्स, आगरा

आठवें संस्करण की भूमिका

यह पुस्तक मेरे 'उन्नीसवीं शताब्दी के यूरोप' का विस्तृत रूप है। 1914-1939 के यूरोप में लगभग 200 पृष्ठों का एक नया प्रकरण जोड़ना उचित प्रतीत होता है, क्योंकि दो विश्व-युद्धों के मध्यकाल में बड़ी महत्वपूर्ण और युग-परिवर्तक घटनाएँ घटी हैं। युद्ध को त्यागकर अन्तरराष्ट्रीय शान्ति को स्थापित करने का प्रयत्न, ऐसे सर्वशक्ति-सम्पन्न राज्यों का निर्माण, जिनका आधार एक दल का आधिपत्य है और जो राजनीतिक आक्टोपस की भाँति समस्त राष्ट्र-जीवन को अपने लम्बे पंजों में कसे हुए हैं और विश्व अर्थ-नीति के विचार के विरुद्ध प्रतिक्रिया, इन प्रगतियों से शताब्दी के एक स्मरणीय चरण को इतिहास में विशिष्ट स्थान प्राप्त हो जाता है। अतः इनकी ओर उन सब लोगों का ध्यान जाना चाहिए जो यूरोपीय विकास को स्वरूप देने वाले जटिल प्रश्नों को समझना चाहते हैं।

इन दो विश्व-युद्धों से अपने युग का ज्ञान प्राप्त करने की आवश्यकता को गति प्राप्त हुई है। हमें उन कारणों को समझना है जिन्होंने इन महासंघर्षों को जन्म दिया है और संयुक्त राष्ट्र के चार्टर के शब्दों में "आगे आने वाली पुश्तों को युद्ध के उन दुष्परिणामों से बचाना है जिनके कारण अपने समय में ही दो बार मनुष्य जाति को अकथनीय दुःख उठाना पड़ा है।" इन युद्धों के पश्चात् अनेक ऐसी राजनीतिक और आर्थिक समस्याएँ खड़ी हो गई हैं जिनका भावी यूरोपीय राज्य संस्था पर गहरा प्रभाव पड़ेगा। या तो इस समय जो पार्थक्य की प्रवृत्ति चल रही है, वह अधिक तेज हो जाएगी, या कुछ ऐसा ढाँचा बन जाएगा जिसमें सब राज्य एक हो सकेंगे और उनके विभिन्न हित और स्वार्थ समन्वित हो जाएँगे। यूरोप में दिन-प्रतिदिन जो परिवर्तन हो रहे हैं, उनको देखते हुए तो भविष्यवाणी करना निस्सन्देह भयावह है, क्योंकि व्यक्ति-विशेष के कारण या किसी संयोग के कारण घटनाओं की गति तत्काल आगे बढ़ सकती है। परन्तु फिर भी हम यह विश्वास कर सकते हैं कि जो कुछ स्वरूप बने, वह नक्शे के अनुसार होगा और जिन ऐतिहासिक कारणों से मानव के भाग्य का आकार-प्रकार बनता है, वे ही इतिहास के अन्तिम प्रकरण का रूप लिखेंगे।

मैंने अन्तिम प्रकरण में यह बतलाने का प्रयास किया है कि यूरोप के आधुनिक विकास में राजनीतिक और आर्थिक प्रभाव अन्योन्याश्रित हैं। राजनीतिक राष्ट्रीयता के परिणामस्वरूप आर्थिक राष्ट्रीयता का उदय हुआ है और इसका यूरोपीय कौमों के परस्पर सम्बन्धों पर कुप्रभाव पड़ा है। इसी कारण 1939 में दुबारा युद्ध होना अनिवार्य हो गया था। इसके अतिरिक्त सोवियत रूस का साम्य-

वादी राज्य और फैसिस्ट इटली का सहकारी राज्य—ये दोनों ऐसी घटनाएँ हैं जिनका राजनीतिक और आर्थिक क्षेत्र से सम्बन्ध है। इसलिए ये दोनों घटनाएँ वर्तमान यूरोप के राजनीतिक विकास के मुख्य अंग हैं।

इस वर्तमान ग्रन्थ की आधारभूत योजना को लेकर यह बहस खड़ी हो गई है कि यूरोपीय इतिहास लिखने की सर्वोत्तम रीति क्या है। परम्परागत रीति तो यह है कि यूरोपीय इतिहास को अन्तरराष्ट्रीय दृष्टि से देखा जाता है। यहाँ इसका त्याग करके ऐसी रीति ग्रहण की गई है जिसके अनुसार नेपोलियन के पतन के बाद यूरोप के मुख्य-मुख्य राज्यों का संक्षिप्त और सम्बद्ध वृत्तान्त लिखा जा सकता है। यह वृत्तान्त कथात्मक नहीं किन्तु विवेचनात्मक है। प्रोफेसर एफ० जे० सी० हर्नशा ने अपने 'मेन करेन्ट्स आफ यूरोपियन हिस्ट्री' नामक ग्रन्थ में मेरी मूल संस्करण की भूमिका को उद्धृत करके इतिहासकारों की विभिन्न प्रणालियों की तुलना की है। मेरा विश्वास है कि यथासम्भव प्रत्येक देश का पृथक्-पृथक् वृत्तान्त दिया जाय तो यूरोपीय इतिहास को विद्यार्थी तथा अन्य पाठक बहुधा अधिक अच्छा समझ सकेंगे। परन्तु जिन शक्तियों का सब देशों के भाग्य पर प्रभाव पड़ा है उनका भी उचित ध्यान रखना चाहिए। तथापि मैं यह स्वीकार करता हूँ कि अन्य रीतियों के लिए भी काफी क्षेत्र हैं और इस बात की भी आवश्यकता नहीं है कि समस्त अन्य रीतियों को छोड़कर किसी एक रीति को ही ग्रहण किया जाय।

नये संस्करण में एक अन्तिम बात सम्मिलित की गई है जिसमें दो विश्व-युद्धों के परिणामों की तुलना है। ग्रन्थ में बहुत-से हेर-फेर किये गये हैं।

—ई० लिप्सन

दो शब्द

उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी के यूरोप का इतिहास इस युग के संसार का इतिहास है। इस काल में यूरोप के महाद्वीप तथा इंगलैण्ड में ऐसी घटनाएँ घटीं जिनसे उसका रूपान्तर हो गया। उसकी नवीन समाज-व्यवस्था, राजनीतिक विचार-धारा, वाणिज्य-प्रणाली और विजय-बाढ़ के धक्कों से समस्त संसार सजग और सचेत हो गया। यूरोप ने जगत् को नव-सन्देश दिया और उस पर प्रबल प्रहार भी किया। उसकी प्रगति के प्रभाव से संसार का कोई भी कोना अछूता नहीं रहा। इसलिए इस युग के यूरोपीय इतिहास का बड़ा महत्व है।

फ्रांस की क्रान्ति इस देश के इतिहास में ही नहीं सारे संसार के इतिहास में बहुत बड़ी घटना है। इसने स्वाधीनता, समता और एकता के विचारों का प्रचार किया। ये भावनाएँ समस्त यूरोप में फैल गईं। प्राचीन प्रणालियों का स्थान नई प्रणालियाँ लेने लगीं। शासन-सत्ता और समाज-व्यवस्था नया रूप धारण करने लगीं और इसका प्रभाव देश-देशान्तर और द्वीप-द्वीपान्तर में फैल गया। औद्योगिक क्रान्ति ने पश्चिमी यूरोप की काया पलट दी। कारखानों में उपयोगी वस्तुओं का उत्पादन इतनी तेजी से होने लगा कि इसके खपाने की समस्या उपस्थित हो गई और यूरोपीय देशों में प्रतिस्पर्द्धा शुरू हो गई। साथ ही इन देशों की जनसंख्या भी बहुत बढ़ गई। तब माल और मनुष्यों के लिए नये देश ढूंढ़े जाने लगे। इस प्रकार की परिस्थिति की प्रेरणा से यूरोपीय जातियों ने उपनिवेश स्थापित किये, एशिया और अफ्रीका के कई देश अपने अधीन कर लिए और कितने ही देशों में अपने प्रभाव-क्षेत्र कायम कर लिए एवं सम्पूर्ण संसार पर यूरोपीय सभ्यता और संस्कृति का आधिपत्य जम गया।

पिछले दोनों विश्वयुद्धों का आरम्भ यूरोप में ही हुआ और वही महाद्वीप इनके प्रहारों से क्षत-विक्षत हुआ, परन्तु एशिया और अफ्रीका को भी इनके ऐसे धक्के लगे जिनसे उनको क्षति हुई और लाभ भी। एशिया की चिरस्थापित परंपराएँ और संस्थाएँ नष्ट हो गईं और यहाँ यूरोपीय समाज-शैलियाँ तथा राजनीति-प्रणालियाँ अपना घर करने लग गईं। यूरोपीय शासन का तो सर्वत्र विरोध हुआ, परन्तु यूरोपीय सभ्यता का सर्वत्र अभिनंदन किया गया। फ्रांस-प्रचलित एकता और समता विभिन्न रूप से विश्व-जीवन के सब क्षेत्रों में प्रविष्ट हो गई एवं संसार का यूरोपीय-करण हो गया और इस परिवर्तन में पचास वर्ष से भी कम लगे। इसका कारण यह था कि यूरोपीय प्रगति में अपूर्व शक्ति थी। 1815 और 1914 के बीच उसमें महाक्रान्तियाँ हो चुकी थीं। समस्त देश सचेत हो गये थे और सब शक्ति तथा समृद्धि की ओर बढ़ते जाते थे। फ्रांस और ग्रेट ब्रिटेन इस प्रगति में सबसे आगे थे। अन्य देश उनका अनुकरण कर रहे थे। जर्मनी और इटली जो दोनों छोटे-छोटे अनेक

राज्यों में विभक्त थे, अपनी-अपनी एकता दृढ़ करके उन्नत और बलवान बन गये थे। बालकन अन्तरीप के राष्ट्र तुर्की के आधिपत्य का अन्त करके स्वतंत्र होते जाते थे। रूस अपनी चिरनिद्रा छोड़-कर आधुनिकता में प्रवेश करता जाता था। सारे यूरोपीय देश एशिया और अफ्रीका में अपना माल खपाने के लिए या तो अपने-अपने राज्य या प्रभाव क्षेत्र स्थापित करने में लगे हुए थे।

ऐसी स्थिति में प्रथम विश्व-युद्ध हुआ। इससे यूरोप का मानचित्र बदल गया और पश्चिमी एशिया में ग्रेट ब्रिटेन तथा फ्रांस का अस्थायी आधिपत्य हो गया। परन्तु वर्साइल की संधि के बाद दो घटनाएँ बड़ी महत्व की हुईं। अमेरिका, जो पहले शेष संसार के झंझटों से अलग रहा करता था, अब अन्तरराष्ट्रीय मामलों में सबसे आगे आ गया। उधर रूस, जो पिछड़ा हुआ देश था, 1917 की क्रांति से सबल हो गया और अपनी नवीन और अपूर्व विचारधारा से संसार को आप्लावित करने लगा। इसके अतिरिक्त पराजित जर्मनी संसार के लिए समस्या बन गया। जर्मनी के प्रबल उत्थान से दूसरा विश्व-युद्ध हुआ और इसके परिणामस्वरूप इधर रूस और उधर अमेरिका पहले से भी अधिक शक्तिशाली हो गये तथा पहले की भाँति जर्मनी अब भी अन्तरराष्ट्रीय समस्या बना हुआ है।

गत पचास वर्ष में अनेक जटिल और कठिन प्रश्न खड़े हो गये हैं। संसार के सामने समस्या है कि अमेरिका के पूँजीवाद को ग्रहण करें या रूस के साम्यवाद को। इस आर्थिक पहेली के अतिरिक्त राजनीतिक पहेली भी उतनी ही विषम है। संसार में जनतन्त्र का बोलबाला है, परन्तु इसकी खराबियों के कारण तानाशाही आगे आ रही है। विचारशील लोग भी कहने लगे हैं कि जनतन्त्र से लोक-हित नहीं हो सकता, केवल एक वर्ग-विशेष का हित होता है।

उपरोक्त परिवर्तन और प्रश्न यूरोप में उत्पन्न हुए हैं और फिर संसार में फैले हैं। इनको समझने के लिए गत और वर्तमान शताब्दी के यूरोप के इतिहास का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है। विद्यार्थियों के लिए तो यह अनिवार्य है, परन्तु अन्य लोगों के लिए भी यह उपयोगी है। श्री ई. लिप्सन कृत यह यूरोप का इतिहास इस विषय का उत्तम ग्रन्थ है। उसके आठवें संस्करण का यह हिन्दी अनुवाद है। हमें आशा है कि यह विद्यार्थियों के लिए उपयोगी और लाभदायक होगा। अनुवाद में शब्दों का इतना महत्व नहीं माना गया है जितना भावों का। लिप्सन की भाषा जटिल और दुरूह है। अनुवाद सरल और सुबोध हिन्दी में किया गया है।

— **मथुरालाल शर्मा**

विषय-सूची

Preface to the Hindi Translation

I am glad that this book, which has long been known to Indian students, is here rendered accessible in a Hindi translation. I trust that it may now reach a wider circle among those who study the development of European countries since the French Revolution.

—E. Lipson

By E. Lipson

The Economic History of England

Vol. I. The Middle Ages, (Twelfth Edition)

Vol. II. & III. The Age of Mercantilism

(Seventh Edition)

The History of the

Woollen and Worsted Industries.

Europe in the XIXth Century*

1815—1914

(Eleventh Edition)

Europe 1914—1939*

(Eighth Edition)

*These two also in one volume

The Growth of English Society

(Fourth Edition)

A Planned Economy or Free Enterprise:

The Lenor of History

(Second Edition)

Publishers : Adam & Charles Black : London

अध्याय 1

फ्रांस में क्रान्ति और प्रतिक्रिया

फ्रेंच इतिहास की समस्याएँ—नैपोलियन की मृत्यु के बाद उसके उत्तराधिकारियों को दो जुदी-जुदी समस्याओं का सामना करना पड़ा। पहली समस्या थी फ्रांस में ऐसी सरकार की स्थापना करना जो लोगों को मान्य हो और दूसरी थी ऐसी नीति का आश्रय जो यूरोप को स्वीकार हो। आधी शताब्दी से अधिक समय तक फ्रांस के राजनीतिज्ञ इन समस्याओं को सुलझाने में खूब लगे रहे। फ्रांस की जनता सन् 1815 के समझौते को उलटना चाहती थी। उसके दिमाग में यह बात बैठी हुई थी कि इससे उनकी सीमाएँ संकुचित हो गई हैं और उनकी राष्ट्रीय प्रतिष्ठा भंग हो गई है। साथ ही यूरोप की शक्तियाँ इस बात पर दृढ़ थीं कि यह समझौता ज्यों-का-त्यों बना रहना चाहिये। वे लोग इस बात को जानते थे कि यदि समझौता उलट दिया गया तो फिर परेशानियों का अन्त नहीं होगा और यूरोप में सर्व-व्यापी आग धधक उठेगी। इस समस्या का हल करने के लिए तीन प्रकार के प्रयास किये गये और बारी-बारी से प्रत्येक प्रयास विफल हुआ। बोरबन वंश की प्रतिष्ठा में आरम्भ से ही इस कारण से कमी आई कि वह विजेताओं के सहारे से ही राज-सिंहासन पर टिका हुआ था। लोग उपहास के साथ कहते थे कि विजेताओं की सहायता से ही बोरबन वश फ्रांस में वापस आया है। उनके विनाश का कारण तो उनके घरेलू इन्तजाम में की हुई मूर्खताएँ थीं, परन्तु साथ ही यह भी बात स्पष्ट थी कि उनका पतन अवश्यंभावी था। यह दूसरी बात थी कि पतन जल्दी हो या देर से। ओरलियन राजवंश ने ऐसी विदेश-नीति ग्रहण की जो कौम की इच्छाओं के बिल्कुल विपरीत थी। मध्य वर्ग के लोगों ने इस नीति का अनुमोदन किया, परन्तु इससे ओरलियन वंश का पतन रुक नहीं सका, केवल कुछ अरसे के लिए डगमगाता रहा। नैपोलियन तृतीय भाग्यवश फ्रेंच जाति की भावुक सहायता से अपने तख्त पर कुछ समय तक बना रहा, परन्तु उसकी सफलता के कारण ही यूरोप अलग हो गया। उसको इस बात का भय होने लगा कि कहीं फ्रांस के प्रथम साम्राज्य का वैभव पुनर्जीवित न हो जाये। अन्त में नैपोलियन तृतीय की भी वही दशा हुई जो पहले शासकों की हुई थी। सन् 1815 से 1870 तक फ्रांस का इतिहास उपरोक्त तीन प्रयासों का इतिहास है। इसके कारण इस युग में एकसूत्रता और एकता का सामंजस्य प्रतीत होता है।

उग्र राजभक्त—ज्योंही बोरबन वंश को फ्रांस के राज-सिंहासन पर पुनः स्थापित किया गया त्योंही राजनीतिक संघर्ष आरम्भ हो गया। देश में उस समय दो दल

थे। इनमें पन्द्रह वर्ष तक ऐसा संघर्ष हुआ जो 1789 के भयंकर उत्पात का अन्तिम चरण प्रतीत होता था। इससे जो समस्याएँ उपस्थित हुईं वे ध्यान देने योग्य हैं। उनके प्रकाश में ही हम उन दुखदायी और उलझनदार घटनाओं को समझ सकते हैं जिनके कारण 1830 की प्रलयंकर बाढ़ आई। एक ओर कट्टर राजभक्त थे। ये लोग फ्रांस की राज्य-क्रान्ति के दुराग्रही और निर्मम शत्रु थे। ये स्वतन्त्रता की बढ़ती हुई बाढ़ को दबाने के लिए दृढ़प्रतिज्ञ ही नहीं थे बल्कि फ्रांस की इतिहास-धारा को प्रतिक्रियावादी नदी की ओर मोड़ना चाहते थे। ये फ्रांस के उन सामन्तों की परम्परागत नीति के प्रतिनिधि थे जो फ्रांस की राज्य-क्रान्ति को अनिष्टकारी समझते थे। इन्होंने इस बात की शपथ ले रखी थी कि जब तक हम अपनी निरंकुशता और विशेष अधिकारों को पुनः प्राप्त न कर लेंगे तब तक हम शान्त नहीं बैठेंगे। अतीत की कटु स्मृतियों के कारण इन लोगों में घोर वैर-भाव उत्पन्न हो गया था। इसको फ्रांस की नई पौध नहीं समझ सकती थी, क्योंकि नवयुवक ऐसी परिस्थितियों में पले और बढ़े थे जो मानो स्थिर और अपरिवर्तनशील थीं। साधारण राजभक्त भी इस वैर-भाव को नहीं समझ सकते थे। रिचलु कहता था, "मैं आप लोगों के क्रोध और निर्दय घृणा को नहीं समझ सकता। मैं प्रतिदिन उस मकान के पास होकर निकलता हूँ जो मेरे पूर्वजों के हाथ में था। मैं देखता हूँ कि उनकी सम्पत्ति दूसरों के हाथ में है। मैं संग्रहालयों में उन बहुमूल्य वस्तुओं को देखता हूँ जो मेरे पूर्वजों की थीं। यह बड़ा दुखदायी दृश्य है; परन्तु यह सब-कुछ देखकर भी मेरे अन्दर न वैर की भावना उत्पन्न होती है और न निराशा की। परन्तु मुझे कभी-कभी ऐसा प्रतीत होता है कि आप सब लोगों का दिमाग, जो फ्रांस छोड़कर भागे नहीं हैं, ठिकाने नहीं है।" परन्तु रिचलु की सलाह से किसी के कान पर जूँ भी नहीं रेंगती थी। बीस वर्ष से पुरानी हुकूमत के उपासक प्रत्यक्ष या छिपे-छिपे बदले की भावना का पोषण कर रहे थे। उनको उस दिन की प्रतीक्षा थी जबकि भाग्य-चक्र पलटा खाकर फ्रांस का शासन-सूत्र उनके हाथ में सौंप देगा और अपने शत्रुओं पर प्रहार करने का उनको अवसर मिलेगा। अब ये उनकी विजय के दिन थे। केवल विशाल हृदय वाले पुरुष ही ऐसे समय पर अपनी शक्ति का दुरुपयोग करने से हिचकते हैं और ऐसे लोग ही अपने देश के हित के निमित्त अपनी भावनाओं की उपेक्षा करते हैं। परन्तु तीव्र राजभक्तों का न तो हृदय विशाल था और न उनमें समता या शान्ति थी। ये गुण उन्होंने सीखे ही नहीं थे। उन्होंने मौका पाकर अति का उपयोग किया और इसका उनको ज्वलंत फल मिला।

उनका कार्यक्रम—कट्टर राजभक्तों के कार्यक्रम में मुख्य ध्येय यह था कि पुराने ढंग को पुनर्जीवित किया जाय और उसमें यदि हेरफेर हो तो सामन्तों के हित में हो, राजवंश के हित में नहीं। इस ध्येय की पूर्ति के लिए उन्होंने सबसे पहले कैथोलिक सम्प्रदाय को अपने अतीत स्थान पर पुनः स्थापित करने का विचार किया। वे चाहते

थे कि धर्म और राष्ट्र में मेल हो और इससे उनके सम्पूर्ण ध्येयों की पूर्ति हो। ये लोग उस सारी सम्पत्ति को चर्च को वापस देना चाहते थे जो क्रांति के समय छीन ली गई थी और जो इस समय राज्य के हाथ में थी। उद्देश्य यह था कि चर्च के पास भू-सम्पत्ति अवश्य होनी चाहिये और इस सम्पत्ति की पुनःप्राप्ति के बाद कार्यक्रम आरम्भ किया जाये। उन लोगों का खयाल था कि भू-सम्पत्ति के द्वारा ही चर्च को अपनी प्रतिष्ठा और अधिकार प्राप्त हो सकेंगे। साथ ही शिक्षा का संचालन भी उन लोगों ने पादरियों के सुपुर्द कर दिया। इससे उनका राज-काज में प्रभाव बढ़ने लगा। एक पादरी को यूनीवर्सिटी का अध्यक्ष नियुक्त किया और उसको स्कूलों में नियंत्रण के लिए इतने अधिकार दे दिये कि वह शिक्षा के क्षेत्र में एक निरंकुश सत्ताधारी बन गया। जैसूइट पादरियों को पुनः फ्रांस में प्रवेश करने की इजाजत दे दी गई। उन्होंने वहाँ जाकर अपनी ऐसी पाठशालाएँ स्थापित कर दीं जिनमें निःशुल्क शिक्षा दी जाती थी। पादरियों का दल अगर अपने दुर्गम स्थान पर जम जाता तो यह धारणा थी कि वे सामाजिक और राजनीतिक सस्थाओं का पुनर्निर्माण कर सकेंगे। प्रत्यक्ष में पादरी लोग यह कहते थे कि हम धार्मिक और नैतिक जीवन को पुनः सजीव कर रहे हैं। धार्मिक शिक्षा के बहाने दूर-दूर तक प्रतिक्रिया के बीज बोए जा सकते थे और देशवासियों का दिमाग वर्तमान स्थितियों को बदलने के लिए तैयार किया जा सकता था। चर्च की यह तो शिक्षा थी ही कि जो कुछ हो उसको स्वीकार किया जाय और उछल-कूद न करके धीरज से काम लिया जाय, अर्थात् हुकूमत का विरोध नहीं किया जाए। इस भावना को और दृढ़ करने के लिए पादरियों ने अखबारों पर बड़ी कड़ी निगरानी जारी करवाई, जिससे अखबारों के द्वारा या अन्य प्रकाशनों के द्वारा ऐसी खबरों का छपना बन्द हो गया जो सरकार के लिए अहितकर मानी जाती थीं। लोकमत को नियंत्रित कर ऐसा रूप दिया गया जो पादरियों को पसन्द था। कौम को स्वतन्त्रतापूर्वक बहस करने का अधिकार नहीं रहा। भय इस बात का था कि कहीं लोग यह न समझने लग जाएँ कि स्वतन्त्रता के लिए खतरा पैदा हो गया है। फ्रांस की विदेशी राजनीति का भी इस तरह से उपयोग करने का विचार था जिससे जल्दी-जल्दी होने वाले आंतरिक परिवर्तनों को फ्रांस के लोग अच्छे मानने लग जाएँ। चेटू ब्रियन्ड (Chateau Briand) नामक प्रसिद्ध लेखक ने लिखा है कि बोरबन राजवंश के लिए लोगों के दिलों में तभी जगह हो सकती है जब यह रणक्षेत्र में कीर्ति प्राप्त करे। फ्रांस का झंडा तभी दृढ़ होगा जब यह एक बार फिर शत्रु का सामना कर ले। फिर भी स्थायी राजवंश और सम्पत्तिशाली चर्च दोनों एक उद्देश्य की पूर्ति के साधन मात्र थे। मुख्यतः उग्र राजभक्त केवल अपने ही वर्ग के अधिकारों के लिए यत्न कर रहे थे। अगर उनको साथ रखना है तो उनको अधिकार दिये जाएँ। वे अपनी जब्त सम्पत्ति को वापस लेने के लिए दृढ़-प्रतिज्ञ थे। वे उन सब अधिकारों को पुनः प्राप्त करना चाहते थे जो क्रान्ति से पहले

उनके हाथ में थे। इसके अलावा वे कुछ ऐसी राजसत्ता भी हथियाना चाहते थे जिससे पूर्व काल में उनको वंचित रखा गया था।

क्रांति के समर्थक—उग्र राजभक्तों के विरोधी नरम दल वाले थे। इनकी प्रतिज्ञा थी क्रान्ति की रक्षा करना और क्रान्ति को जारी रखना, परन्तु क्रान्ति की भावना के साथ नहीं। उनका एक नेता कहा करता था कि हमारा दल आजादी और शान्ति का मेल कराना चाहता है। हम चाहते हैं कि जिस राजवंश का गद्दी पर अधिकार है वह बना रहे और साथ ही क्रान्ति भी चलती रहे। इस दल का रुख रूढ़ि के अनुकूल था और उनकी नीति में कोई तत्व नहीं था। उग्र विचारों के साथ इस दल की कोई सहानुभूति नहीं थी। विजेताओं के बल से जो राजवंश पुनः स्थापित किया गया था उसको यह दल स्वीकार करता था और बादशाह के प्रति तब तक वफादार रहने के लिए तैयार था जब तक बादशाह भी उन शर्तों को मानता रहे जिनके अनुसार उसको गद्दी पर बिठाया गया था। परन्तु उनका मुख्य ध्येय यह था कि क्रान्ति के द्वारा जो कुछ उनको प्राप्त हुआ है उसको वे दृढ़ता के साथ पकड़े रहें और अपने हाथ से उसे निकलने न दें। उनका खयाल था कि यदि पुरानी सल्तनत फिर स्थापित हो गई और साथ ही राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक परम्पराएँ फिर जम गईं तो एक पीढ़ी से, जो परिश्रम के साथ काम किया गया है, वह विफल हो जाएगा और कौम को फिर गुलामी की जंजीरें पहननी पड़ेंगी। इन नरम दल वालों का आधार था वह पट्टा जो बादशाह लुई अठारहवें ने फ्रांस के राज-सिंहासन पर बैठकर घोषित किया था। इसका महत्त्व यह था कि इसमें पुरानी सल्तनत के ढंग को बुरा बतलाया गया था। एकतन्त्र की परम्पराओं के स्थान पर इस घोषणा ने क्रान्ति और साम्राज्य की परम्पराओं को स्थापित किया था। क्रान्ति से यह बात ली गई थी कि कानून के सामने सब बराबर माने जाएँ। राजा की नौकरी के लिए सबको समान अधिकार हों और धार्मिक मामलों में सहिष्णुता से काम लिया जाय। साम्राज्य से इस दल ने यह ग्रहण किया था कि केन्द्रीय शासन का यन्त्र दृढ़ और सफल होना चाहिये। इस पट्टे के द्वारा फ्रांस के लोगों को ऐसे अधिकार प्रदान किये गये थे जिनके द्वारा वे सरकार का नियन्त्रण कर सकें। ऐसे अधिकार उनको साम्राज्य-काल में प्राप्त नहीं थे। अब दो सदनों की एक धारा सभा बनाई गई थी। एक सदन में ऐसे सरदार लोग थे जो या तो वंशक्रमानुगत थे या जिनको बादशाह नामजद करता था। दूसरे सदन का निर्माण निर्वाचन द्वारा होता था, परन्तु मत वे ही लोग दे सकते थे जो प्रति वर्ष 13 पौंड कर अर्थात् टैक्स देते हों। कानून बनाने का प्रस्ताव सरकार ही कर सकती थी, परन्तु नीचे का सदन प्रस्ताव को अस्वीकार कर सकता था और नया टैक्स लगाना अस्वीकार कर सकता था। इस पट्टे में कुछ भी त्रुटियाँ हों परन्तु कम-से-कम इसमें यह बात अवश्य थी कि राजसत्ता वैधानिक हो और शासन का संचालन प्रतिनिधियों के द्वारा हो। यह बादशाह और

उसकी प्रजा के बीच एक समझौता था और देश का नरम दल इस बात को मानता था कि इस पट्टे में राजनीतिक सिद्धान्त स्वीकार किये गये हैं।

लुई अठारहवाँ—पुराने शासन के तरफदारों और नये शासन के पोषकों में समझौता संभव न था। उनके सिद्धान्त और ध्येय इतने दूर-दूर थे कि उनको मिलाना असम्भव था। इसलिए यह आवश्यक था कि दोनों में से कोई दल अपनी हार माने; क्योंकि अनिश्चित काल तक फ्रांस को यह मंजूर नहीं हो सकता था कि सदा के लिए दोनों दलों के संघर्ष से वह क्षत-विक्षत होता रहे। अन्ततः इस संघर्ष में एक ही प्रश्न उठ सकता था। यद्यपि बादशाह के रुख से ही घटनाओं की गति निश्चित हो सकती थी, परन्तु राजवंश के लिए यह अच्छी बात थी कि लुई अठारहवें को कौम के मिजाज के मामले में कोई गलतफहमी नहीं थी। उसको यह भी ठीक पता था कि उसकी स्थिति नाजुक है।[1] इसलिए उसने गरम दल वालों का न तो साथ दिया और न उनके उत्पातकारी झगड़ों की ओर से अपनी आँखें मूँदीं। उस समय फ्रांस की दशा लगभग वैसी ही थी जैसी इंगलैंड में सन् 1660 के बाद राज-सिंहासन की पुनःस्थापना के पश्चात् उत्पन्न हुई थी। इंगलैंड और फ्रांस दोनों देशों में पुनःस्थापित बादशाह की स्थिति उन लोगों की अत्यधिक तरफदारी से नाजुक हो गई थी जो स्वयं बादशाह से भी अधिक राजतंत्र के पोषक थे। उन लोगों के उत्पातों और बदले की भावना के कारण बादशाह बहुत बदनाम हो गया था। इंगलैंड और फ्रांस दोनो ही देशों में बादशाह ने नरमी से काम लिया और अपने पुराने रवैये को नहीं अपनाया। इसलिए उसको परस्पर-विरोधी प्रवृत्तियों के बीच भी अपने लिए रास्ता मिल गया और नाजुक घड़ी टल गई। परन्तु साथ ही यह भी हुआ कि इंगलैंड में चार्ल्स द्वितीय के बाद जेम्स द्वितीय ने और फ्रांस में लुई अठारहवें के बाद चार्ल्स दसवें ने अपने दुराग्रह के कारण ऐसे विरोध का बवंडर खड़ा कर दिया जो इन दोनों के सिंहासन छोड़ने पर ही शान्त हुआ।

राजसत्ता के पुनः स्थापित होते ही उग्र राजभक्तों ने अपना कार्यक्रम बनाना शुरू किया और राजनीतिक वैमनस्य और द्वेष उत्पन्न करना आरम्भ कर दिया। विजेताओं के पेरिस में प्रवेश करने के बाद आम चुनाव हुए। क्रान्तिवादियों के रास्ते में अनेक अड़चनें उत्पन्न की गईं और फल यह हुआ कि प्रतिक्रियावादी अर्थात् क्रान्ति-विरोधी दल बड़े बहुमत से निर्वाचित हुआ। इस नई धारा सभा (Chamber of Deputies) का नाम लुई ने 'चेम्बर इनट्रोवेबल' (Chamber Introuvable) रखा था। यह सदन अति उग्र और प्रतिहिंसक था। इसलिए गवर्नमेंट की सब शक्तियाँ इसकी उग्रता को दबाने में खर्च हुआ करती थीं। टैलिरैण्ड (Talleyrand) और उसके उदार मंत्रिमंडल को तुरन्त त्याग-पत्र देना पड़ा और उसके स्थान पर ड्यूक डे रिचलू

1. कॉरेस्पोंडेन्स ऑफ़ कासलरिघ (1833) थर्ड सिरीज़ (iii) 32।

(Duc De Richelieu) आसीन हुआ। यह पहले ज़ार का विश्वासपात्र मंत्री था। उसकी सेवा में यह अच्छा शासक सिद्ध हुआ था। जब यह फ्रांस का राजमंत्री बना तो यह विश्वास हुआ कि विजेताओं के साथ अनुकूल शर्तें तय हो जायेंगी। इसकी नरम राजनीति बोरबन वंश के स्थायित्व के लिए भी अनुकूल थी, परन्तु सदन को रिचलू का यह गुण पसन्द नहीं था। उग्र राजभक्त राजमंत्री को दबाकर अपने आपत्तिजनक और उत्पातकारी प्रस्तावों को स्वीकार कराना चाहते थे। ये लोग किसी प्रकार के समझौते की बात सुनने के लिए तैयार नहीं थे। इनकी माँग थी कि जो लोग क्रान्ति में शामिल थे उनकी कानून के द्वारा कोई रक्षा नहीं की जाये। इनकी माँगें किसी सीमा तक स्वीकार भी की गईं, परन्तु इसका नतीजा यह हुआ कि उनकी माँगें और बढ़ गईं। इन लोगों ने यह भी प्रस्ताव किया कि जिन लोगों ने नैपोलियन को राज्य की जमानत पर रुपया उधार दिया था उनको केवल $\frac{1}{2}$ भुगतान किया जाये। यदि इस प्रकार से वचन-भंग किया जाता तो यह स्पष्ट हो जाता कि कौम का दिवाला निकल गया। इससे फ्रांस की सारी साख नष्ट हो जाती और लड़ाई का जुर्माना देने के लिए जो रुपया उधार माँगा था वह नहीं मिलता। जब नाज़ुक आर्थिक स्थिति उत्पन्न हो गई तो बादशाह ने डिकेजीज (Decazes) की सलाह मान ली और सदन को भंग कर दिया। यह बड़े साहस का काम था, परन्तु इसमें सफलता मिली, जिससे यह सिद्ध हो गया कि यह उचित कदम था। देश ने स्पष्ट शब्दों में उग्र राजभक्तों के कार्यक्रम को अस्वीकार किया और सरकार का पक्ष करने वाले लोग बहुमत से निर्वाचित हो गये। अपने भक्तों के उत्पात के कारण बादशाहत का पतन होने ही वाला था। वास्तव में इनकी राज-भक्ति तो केवल कहने की बात थी। इसके द्वारा वे लोग अपने राजनीतिक स्वार्थों पर पर्दा डाले रहते थे। जब बादशाह पीछे हटा तो विपत्ति टल गई, परन्तु चौदह वर्ष बाद तो यह स्थिति आखिरकार आनी ही थी।

रिचलू का पतन—घरेलू स्थिति का अब पूर्ण रूप से रूपान्तर हो चुका था। गरम दल वालों की गतिविधि कुण्ठित हो गई थी। विरोधियों का खतरा कम-से-कम इस समय तो टल गया था। सरकार और धारा सभा के पारस्परिक सम्बन्ध भी मधुर हो गये थे। आर्थिक समस्याओं को सुलझाने के लिए और निर्वाचन-यन्त्र को सुधारने के लिए दोनों पक्षों में पारस्परिक सहयोग था। विदेशों में रिचलू के शासन ने विजेताओं में ऐसा विश्वास उत्पन्न हो चुका था कि सन् 1818 में जब ऐक्सला-चैपल (Aix-la-chapelle) में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ तो फ्रांस से विदेशी सेनाएँ हटा ली गईं। रिचलू के लिए यह राजनीतिक जीत थी। परन्तु अब धीरे-धीरे उदार लोगों का दल दृढ़ होता जा रहा था। शनैः-शनैः उनकी शक्ति और संख्या बढ़ती जाती थी। इसका परिणाम यह हुआ कि रिचलू को राज-सेवा से निवृत्त होना पड़ा।

डिकेजीज—अब शासन का सूत्र डिकेजीज के हाथ में सौंपा गया। उसकी

सरकार का सहारा था उदार दल। नये मंत्रिमण्डल ने सबसे ज्वलंत कार्य यह किया कि अखबारों पर से पाबन्दियाँ हटा दीं। जब धार्मिक स्वतंत्रता पर बहस हुई तो न्याय-मंत्री सेर्रे (Serre) ने चिरस्मरणीय शब्द कहे "मनुष्य क्या है? वह एक निर्बल और जोशीला प्राणी है, क्या वह सर्वशक्तिमान प्रभु की अपने बाहुबल से सहायता करना चाहता है? क्या वह भगवान् की शक्ति को ही अपने हाथ में लेना चाहता है या वह अपनी निर्बलता के द्वारा भगवान् की सहायता करना चाहता है? इस अहंकार की निस्सारता कई बार प्रकट हो चुकी है। जो सदियाँ गुजर गईं, उन्होंने रक्ताक्षरों से इस अहंकार के भयंकर नतीजे लिखे हैं।" इस समय राजनीतिक शकुन अच्छे हो रहे थे और ऐसा प्रतीत होता था कि सुशासन स्थापित हो जायगा। परन्तु 1820 में ड्यूक ऑफ बेरी की किसी ने हत्या कर डाली जिससे एकाएक घटनाओं की गतिविधि बदल गई। यह नवयुवक काउंटे डी आरटोयस (Counte-di-Artois) का छोटा पुत्र था। यह सरदार फ्रांस के राजसिंहासन का उत्तराधिकारी था। उसका भाई निःसन्तान था। इसलिए उसकी हत्या से यह दिखाई देने लगा कि बोरबन वंश की बड़ी शाखा विलीन हो जाएगी। यह अपराध लोवल नामक एक पागल ने किया था, परन्तु उदार मन्त्रि-मंडल को हटाने के लिए यह बहुत अच्छा बहाना हो गया और डिकेजीज तुरन्त अपने स्थान से अलग कर दिया गया। उसके पतन से फ्रांस के इतिहास की गति बदल गई। अब ऐसी प्रतिक्रिया शुरू हुई जो शनैः-शनैः अधिकाधिक शक्तिशाली होती गई और आखिरकार सन् 1830 में दूसरी राज्यक्रान्ति हुई।

विलेले—अभी उग्र राजभक्तों के सत्तारूढ़ होने का समय नहीं आया था, इसलिए शासन की बागडोर फिर रिचलू को सौंपी गई। अखबारों पर पाबन्दियाँ फिर लगा दी गईं। एक निर्वाचन कानून पास करके गुप्त मतदान बन्द कर दिया गया। निर्वाचन-क्षेत्र सीमित कर दिया गया और जमींदारों को दो मत देने का अधिकार दे दिया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि राजभक्त लोग बहुत अधिक संख्या में निर्वाचित हो गये और रिचलू को अपने स्थान से हटना पड़ा। अब उग्र राजभक्तों का नेता विलेले (Villele) प्रधानमंत्री बना। यह छः वर्ष तक अर्थात् सन् 1821 से 1827 तक अपने पद पर रहा। अतः उसको अपना कार्यक्रम, जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है, पूरा करने का अवसर प्राप्त हुआ। यद्यपि विलेले की नीति शुद्ध प्रति-क्रियावादी थी, परन्तु उसके तरीके बड़े गूढ़ और जटिल थे। उसका दल 1816 में छिन्न-भिन्न हो चुका था, इसलिए अब वह उन साधनों का उपयोग नहीं करना चाहता था। वह अपनी लम्बी योजनाओं को प्रकट करके देश को डराना नहीं चाहता था। उसने अपने अनुयायियों की जल्दबाजी को रोका। इन लोगों ने न कुछ सीखा था और न कुछ भुलाया था। इन लोगों का विश्वास था कि क्रान्ति से फ्रांस में अब तक जो कुछ हुआ है उसकी उपेक्षा करना सम्भव है। इस बात पर भी विश्वास नहीं किया

जा सकता कि विलेले जैसा शान्त शासक और निपुण राजनीतिज्ञ कोई ऐसा कार्य करने का यत्न करता जो प्रत्यक्ष में ही विफल होने वाला था, देश की प्रवृत्ति को चाहे उसने ठीक समझा हो या गलत। वह चाहता था कि उसके प्रयोगों को करके देखना चाहिए। यह भी स्वीकार करना चाहिये कि उसकी उक्तियाँ सफलता के समीप पहुँच गई थीं। क्रान्ति के कार्य को विफल करने के लिये विलेले ने जो संघर्ष आरम्भ किया उसमें दो शक्तियों का सहारा लिया गया—धर्म और आर्थिक स्वार्थ। वह चर्च की धार्मिक शिक्षा से राजनीतिक प्रचार कराना चाहता था, क्रान्ति की स्मृतियों को निर्मूल करना चाहता था और लोक-चरित्र के ऐसे सिद्धान्तों की शिक्षा देना चाहता था जिससे लोग यह समझने लगें कि पुराने शासन को पुनः स्थापित करना सर्वथा उचित है। आर्थिक स्वार्थों की सहायता से उसको आशा थी कि वह लोक-मत को शान्त कर सकेगा और लोक-शक्तियों को राजनीतिक दिशाओं से हटाकर आर्थिक उन्नति की ओर मोड़ सकेगा। विरोधियों की शक्ति से देखा जाय तो यह युक्ति बहुत भली भाँति सोची गई थी और इससे पता चलता था कि मुख्यमंत्री स्थिति को खूब समझता है। इसको कार्यान्वित करने में विलेले ने कोई जल्दबाज़ी नहीं की और न बिना सोचे-समझे किसी साधन का उपयोग किया। उसका मुख्य सिद्धान्त था ऐसे साधनों का उपयोग करना जो स्थिति के अनुसार आवश्यक हों। उसने बड़ी सावधानी और नरम नीति से काम आरम्भ किया। धीरे-धीरे उसने अपने लिए क्षेत्र तैयार किया और धीरे-धीरे ही इमारत खड़ी की। विलेले के शासनकाल में फ्रेंच लोगों की आज़ादी के लिए जो खतरा खड़ा हो गया था, वह उससे भी बड़ा था जो सन् 1815 में उपस्थित हुआ था। कारण यह था कि यह ज़्यादा व्यापक और गुप्त था, इसलिए इस चाल में फ्रांस के लोग बहुत अरसे तक फँसे रहे और आखिरकार उस समय छूटे जब यह फन्दा सफल होने ही वाला था। विलेले की विफलता विरोधियों की बुद्धि के कारण नहीं हुई बल्कि उसी के दल की फूट के कारण हुई, उसके समर्थकों की जल्दबाज़ी से उनका दल उस समय नष्ट हुआ जब उनकी विजय होने ही वाली थी।

प्रतिक्रिया की मंजिलें—पहले बतलाया जा चुका है कि मंत्रिमंडल की नीति यह थी कि गुप्त और धीमी गति से राजभक्तों के विलीन अधिकारों को पुनः प्राप्त किया जाये। इस नीति के अनुसार प्रतिक्रिया धीरे-धीरे हुई। सन् 1822 में प्रेस पर पाबन्दियाँ और भी सख्त कर दी गईं। इस सम्बन्ध में जो मुकद्दमे दायर होते थे उनमें जूरी बिठाना बन्द कर दिया। इससे मानो लोकमत का गला घोंट दिया गया। इसके द्वारा सरकार को पादरियों और सरकारों के विरोध में जो पुस्तकें प्रकाशित होती थीं उन पर नियंत्रण करने का अधिकार प्राप्त हो गया। अब सरकार ऐसे लेखों का दमन कर सकती थी जो क्रान्ति के विचारों को जीवित रखना चाहते थे। इसके साथ ही बाहर से आने वाले माल पर भारी कर लगा दिया गया। इससे ज़मींदारों को और धनवानों

मिल-मालिकों को बड़ा सन्तोष हुआ। शिक्षा का नियन्त्रण भी चर्च हाथ में दे दिया गया। जब विलेले आर्थिक शासन से दूरदर्शिता के द्वारा उस शक्ति को दृढ़ कर रहा था जो एक पागल की अदूरदर्शिता के कारण सरकार को मिली थी, तो चेटू ब्रियन्ड ने इस बात की ज़िद की कि अपनी स्थिति को दुर्भेद्य बनाने के लिए कुछ अधिक प्रयास करना चाहिये। उसका कहना था कि साम्राज्य की कीर्ति और ऐश्वर्य को पुनर्जीवित किया जाय, फ्रांस के कुण्ठित हथियारों को फिर तीक्ष्ण किया जाये और मेरंगो, ओस्टर-लिट्स और जीना जैसी विजयों के द्वारा उनको चमकाया जाय। नैपोलियन ने भी इस बात को स्वीकार किया था कि घरेलू असन्तोष को दबाने का सबसे अच्छा तरीका यह है कि विदेशों में सैनिक विजयें प्राप्त की जाएँ। उसके युद्धों का एक उद्देश्य यह था कि अपने देश में उसकी निरंकुशता से लोगों का ध्यान हटकर विदेशों की ओर आकर्षित हो। विलेले भी यह चाहता था कि क्रान्ति के द्वारा फ्रांस के लोगों को जो समानता और राजनीतिक अधिकार प्राप्त हुए हैं उनको खो देने से उनकी जो हानि होगी, उसकी क्षतिपूर्ति यूरोप में पुनः अपना महत्त्व स्थापित करके की जाय। चेटू ब्रियन्ड का यह मत था कि रोम की भाँति फ्रांस भी साम्राज्य की खातिर अपनी आज़ादी का बलिदान कर देगा। इस विश्वास के कारण सन् 1823 के आरम्भ में उसने विलेले को विवश करके स्पेन के बादशाह की, अपनी बागी जनता के विरुद्ध सहायता करने के लिए, पीरेनीज़ पहाड़ के दूसरी ओर सेना रवाना करवाई। इससे बादशाह की बड़ी प्रशंसा हुई और जो जोश उत्पन्न हुआ उसमें लोग इस बात को भूल गये कि फ्रांस निरंकुशता के पक्ष में युद्ध कर रहा है और फ्रांस की सेना आजादी की शक्तियों का दमन करने में लग गई है।

विलेले की असफलता—चेटू ब्रियन्ड अब नई कीर्ति प्राप्त करने के स्वप्न देखने लगा और उसका ध्यान राहिन की ओर गया। परन्तु इसी समय विलेले पीछे हट गया। उसने कठिनता और अनिच्छा से स्पेन के साथ युद्ध करने की स्वीकृति ली थी।[1] इस विजय से उसको जो लोकप्रियता प्राप्त हुई, उसका उसने खूब उपयोग किया। परन्तु उसके दिमाग में जो बड़ी-बड़ी योजनाएँ थीं उनको कार्यान्वित करने के लिए वह अभी तैयार नहीं था। वह वाल्पोल की भाँति खूब दूरदर्शी था और इस बात को मानता था कि राजवंश की शक्ति का आधार सम्पन्न राजकोष है। इसलिए उसको युद्ध और विदेशों में नामवरी प्राप्त करना पसन्द नहीं था। युद्ध-प्रिय दलों की नीति के समान उसकी नीति में कोई चकाचौंध नहीं थी, परन्तु उसमें स्थायित्व अधिक था। चेटू ब्रियन्ड स्वभाव से आशावादी था और व्यावहारिक राजनीति की अड़चनें स्वीकार नहीं करता था, अतः उसको मन्त्रिमण्डल से हटा दिया गया और बिना दिखावे

1. ए० जी० स्टेपलटन, जार्ज केनिंग एण्ड हिज़ टाइम्स (1859), 553।

के सरकार ने अपना पीछे हटने का सामाजिक और राजनीतिक कार्यक्रम जारी रखा। व्यवस्थापिका सभा पर अपना आधिपत्य अति दृढ़ करने के लिए और ऊपर के सदन में उदार दल को निर्बल करने के हेतु राजमंत्री ने सत्ताईस व्यक्तियों को सरदार बनाया और एक ऐसे कानून का निर्माण किया जिसके अनुसार एक ही पार्लियामेंट सात वर्ष तक रह सकती थी। अब तक नीचे के सदन के पचास सदस्य प्रति वर्ष हटा करते थे। इस भाँति उदार दल ने अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए जिस सदन का निर्माण किया था, अर्थात् पार्लियामेन्ट की पद्धति का, वह उसके ही लिए घातक सिद्ध हुआ। अपने ही प्रतिनिधियों के हाथों से अब कौम राजनीतिक गुलामी की जंजीरों को अपने गले में डलवाने वाली थी। कानून, जो आजादी का उत्पादक है, अब प्रतिक्रिया का साधन बना दिया गया था। विलेले के हाथ अब इसलिए मजबूत हो गये थे कि पार्लियामेन्ट में बहुसख्यक लोग उसके पक्ष में थे और 1824 में चार्ल्स दसवाँ फ्रांस के राजसिंहासन पर आसीन हो गया था। इसलिए विलेले अब उग्र राजभक्तों के कार्यक्रम को पूरा करने में लग गया। कार्यक्रम में मुख्य विषय था उन सरदारों को हरजाना देने का, जो क्रान्ति के आरम्भ में देश से निकल भागे थे और देश के शत्रुओं के पक्ष में लड़े थे। फ्रांस की राज्यक्रान्ति का स्थायित्व उन आर्थिक परिवर्तनों पर आश्रित था, जो क्रान्ति के समय हुए थे, अर्थात् बड़े-बड़े जमींदारों की भूमि का किसानों में बँटवारा। तीस वर्ष बीत जाने के बाद यह असम्भव था कि जिन नये लोगों के पास अब जमीनें थीं, उनको बेदखल किया जा सके। इसलिए सन् 1790 में जो भूमि का प्रबन्ध किया गया था उसको ज्यों-का-त्यो रखकर एक दूसरे प्रकार से निर्वासित सरदारों को सन्तुष्ट करने का उपाय सोचा गया। राष्ट्रीय ऋण का ब्याज सन् 1825 में पाँच प्रतिशत से घटा कर चार प्रतिशत कर दिया गया। इससे जो बचत हुई उसके द्वारा सरकार ने उन सरदारों की क्षतिपूर्ति की, जिनकी जायदादों के छिन जाने से हानि हुई थी। इसके पश्चात् कार्यक्रम की वे मदें जारी की गईं, जिनका संबंध संस्थाओं से और जेसुइट लोगों को पुनः फ्रांस में बुलाने से था। परन्तु जब खुल्लमखुल्ला पादरियों में और राजवंश में एकता होने लगी और पादरियों का प्रभाव बढ़ने लगा तो देश में भय व्याप्त हो गया। इसी समय सरदार सदन-सुधारों को रोकने के लिए और अपना पक्ष मजबूत करने के लिए यत्न करने लगा। इन लोगों ने कानून में ऐसा हेर-फेर करना चाहा जिससे सम्पत्ति का उत्तराधिकार सबसे बड़े पुत्र को ही प्राप्त हो। इस प्रस्ताव के अनुसार भविष्य में बड़ी जायदादें फिर बन जातीं, परन्तु यह प्रस्ताव पास नहीं हो सका। यही दशा उस प्रस्ताव की हुई जिसके अनुसार नये प्रकाशनों के लिए बादशाह की अनुमति आवश्यक मानी गई थी। जब मंत्रिमंडल की हार हुई तो लोगों ने हर्ष के साथ इसका स्वागत किया। जब बादशाह 'राष्ट्रीय रक्षकों' का निरीक्षण कर रहा था तो सिपाहियों ने झल्लाकर कहा, 'मंत्री लोग मुर्दाबाद'। यह भविष्य के लिए

अपशकुन था, परन्तु मंत्रिमंडल जान-बूझकर आँखें मूँदे रहा। अपनी नीति को जो धक्का लगा उससे विलेले ने हार नहीं मानी, बल्कि उसने सेना तोड़ दी, प्रेस पर पाबन्दियाँ लगा दीं और ऊपर के सदन में छिहत्तर सदस्य और नामज़द कर दिये ताकि उदार दल और कमज़ोर हो जाय। अब तक विलेले सोच-समझकर प्रतिक्रिया का काम करता था, परन्तु अब उसने उस नीति का अनुसरण करना छोड़ दिया। यह इस बात का सूचक था कि उसका प्रभाव कम होता जाता था और उसकी निर्बलता बढ़ती जाती थी, परन्तु इससे गरम दल वालों का विरोध कम नहीं हुआ। गरम दल का नेता चेटू ब्रियन्ड था और जो कुछ विलेले करता था उसमें चेटू ब्रियन्ड को स्वार्थ और कपट की दुर्गन्ध आती थी। किसी हद तक ये लोग स्वार्थ से काम कर रहे थे। इनको कोई मन्त्री पसन्द नहीं था और इस बात पर उनको रोष था कि उनको मंत्रिमंडल में शामिल क्यों नहीं किया जाता। परन्तु ये लोग अपना विरोध किसी सिद्धान्त के नाम पर करते थे। विलेले के प्रपंच और शान्त नीति की ये घोर निन्दा करते थे। उनकी दृष्टि में इसी के कारण प्रतिक्रिया की गति रुकी हुई थी। ये चाहते थे कि अधिक उग्र तरीकों से काम लिया जाये। चिढ़कर वे लोग उदार दल वालों का भी साथ देने को तैयार थे। विलेले ने निश्चय किया कि अपने दल में जो भी विरोधी लोग हैं उनको नष्ट किया जाय। वह समझता था कि उदार लोग तो बहुत थोड़े-से हैं। उनकी अपेक्षा अपने ही दल में विरोधी लोगों का होना खतरे की बात है। इसलिए उसने कौम से अपील की। फलस्वरूप 1827 में नये निर्वाचन हुए। इसमें ऐसे बहुसंख्यक लोग निर्वाचित हुए जो वर्तमान मंत्रिमडल के विरोधी थे। अपने विरोधियों के प्रयत्नों के कारण विलेले को हटना पड़ा। उसने मंत्रि-पद से त्याग-पत्र दे दिया।

मार्टिग्नेक—विलेले के बाद मार्टिग्नेक प्रधान मंत्री बना। उसने लोकमत को शान्त करने के लिए जनता की बहुत-सी माँगें स्वीकार कर लीं। प्रेस से पाबन्दियाँ हटा ली गईं। जेसुइट लोगों को लोक-शिक्षा देने से रोक दिया गया। परन्तु यह समझौते की नीति सफल नहीं हुई। न उदार लोगों ने इसका समर्थन किया और न उग्र राजभक्तों ने। वास्तव में अब नरम दल वालों के लिए कोई स्थान ही नहीं था। मार्टिग्नेक ने दोनों दलों को खुश करना चाहा, परन्तु खुश एक भी नहीं हुआ। इसलिए वह न घर का रहा न घाट का। उदार दल वालों की माँग थी निर्वाचनाधिकार विस्तृत किये जायें। 1827 में उन्होंने अपने निर्बल पक्ष को अपने खतरनाक विरोधियों की सहायता से अर्थात् उग्र राजभक्तों की सहायता से दृढ़ किया था। राजभक्तों की एकमात्र आकांक्षा उस समय उन लोगों को हराने की थी जिनको मंत्रियों ने खड़ा किया था। इसलिए उदार दल वाले सुरक्षित तभी हो सकते थे जब वे किसी की सहायता के बिना स्वतन्त्र रूप से खड़े रह सकें। इस समय तो उनको राजनीतिक सुरक्षा मौके से मिल गई थी। मार्टिग्नेक ने उदार लोगों के साथ समझौता

करना चाहा । जनता की आकांक्षा थी कि प्रवन्ध के विषय में उनको अधिकार प्राप्त हों । इन दोनों को खुश करने के लिए मार्टिग्नेक ने प्रान्तीय धारा-सभाओं के निमित्त निर्वाचन-अधिकार विस्तृत करना चाहा, परन्तु उसके प्रस्ताव को व्यवस्थापिका सभा के दोनों सदनों के उग्र नेताओं ने मंजूर नहीं किया । एक पक्ष कहता था कि प्रस्ताव बहुत पिछड़ा हुआ है और दूसरा पक्ष कहता था कि यह अत्यधिक आगे बढ़ा हुआ है । इस प्रकार दोनों ही दल किसी रचनात्मक कार्य के सम्वन्ध में एकमत नहीं हो सके । ये केवल एक बात पर मिले । दोनों ने मिलकर मन्त्रिमंडल को हटा दिया ।

चार्ल्स दसवाँ—अब स्थिति बिल्कुल नाजुक हो गई थी । चार्ल्स दसवें के सामने वही पहेली उपस्थित हुई, जो तेरह वर्ष पहले लुई अठारहवें के सामने खड़ी हुई थी; अर्थात् वर्तमान युग और अतीत युग की माँगें । उसके सामने दो सवाल थे । या तो वह वैधानिक शासक बने और अपने उन समर्थकों के दूषित प्रयत्नों से कोई सम्बन्ध न रखे जो क्रान्ति के सिद्धान्तों को उलट देना चाहते थे; या वह उग्र राज-भक्तों का साथ दे और चार्टर अर्थात् पट्टे में बादशाह पर जो पाबन्दियाँ लगाई थीं उनमे अपने-आपको मुक्त करने का प्रयास करे । राजवंश की पुनः स्थापना के बाद राजनीतिक वर्गों के सामने जो सवाल थे, वे अब स्पष्ट हो गये थे । एक ओर सर-दारों की आकांक्षाएँ थीं और पादरियों का प्राधान्य था । दूसरी ओर थी समानता और धर्म-निरपेक्षता । बादशाह ने निश्चय करने में कोई बहुत समय तक आगा-पीछा नहीं किया । वह प्रतिक्रियावादी दल का प्रधान समर्थक था । शान्त और दूरदर्शी लुई अठारहवें के लिए यह दल कंटक समान था । सन् 1821 में जब काउंट डी आरटोइज ने उसको इस बात पर मजबूर किया कि विलेले को प्रधान मंत्री बनाया जाय तो उसने उत्तर दिया था, "इसने लुई सोलहवें के विरुद्ध षड्यन्त्र किया था, उसने मेरे विरुद्ध भी षड्यन्त्र किया है और अन्त में भी वह मेरे विरुद्ध षड्यन्त्र करेगा ।" नई पुश्त लोकाधिकार चाहती थी । चार्ल्स दसवें ने इसके विरोध में दैवी अधिकारों की नीति खड़ी की । क्रिया के सामने उसने प्रतिक्रिया उपस्थित की । चार्टर के सम्मुख उसने लुई सोलहवें के विशेषाधिकार उपस्थित किये । उसने मार्टिग्नेक से कहा कि "इन लोगों के साथ बर्ताव करने के लिए कोई मार्ग नहीं है । अब समय आ गया है कि हम आगे नहीं बढ़ें । नरम नीति के दिन अब गुजर चुके थे । बादशाह ने अब पोलिग्नेक को मंत्रिपद स्वीकार करने के लिए आमंत्रित किया । यह पुराने शासन का प्रथम समर्थक था । उसने सारे देश को ही चुनौती दी और ऐसी खाई तैयार कर दी जो भरी नहीं जा सकती थी । उसने मानो संसार को यह घोषणा कर दी कि वह अब अपना कार्यक्रम आगे बढ़ायेगा । अब तक मंत्री लोग अपने काम के लिए अपने को जिम्मेवार मानते थे और बादशाह को सुरक्षित रखते थे । अब पोलिग्नेक ने इस नीति का परित्याग कर दिया । अब बादशाह स्वयं अपने कामों के लिए जिम्मेवार बन गया । अब देखना था कि

क्या होता है ? अब लोग जेम्स द्वितीय की गति का स्मरण करने लगे। वैलिंगटन ने कहा, "राजनीतिक अनुभव जैसी किसी चीज का संसार में अस्तित्व नहीं है। जेम्स द्वितीय का उदाहरण अपने सामने होते हुए भी चार्ल्स दसवाँ पादरियों की हुकूमत स्थापित कर रहा है। यह हुकूमत पादरियों के द्वारा होगी और पादरियों के लिए ही होगी।"

बोरबन राजवंश का पतन—पोलिग्नेक ने अपने निश्चय की घोषणा इस प्रकार की, "समाज का पुनर्निर्माण होगा। राजकाज में पादरियों का प्रभाव पुनः स्थापित होगा। शक्तिशाली सरदार कायम किये जायेंगे और उनको विशेष अधिकार मिलेंगे।" कार्यक्रम की घोषणा करना तो आसान था, परन्तु उसको कार्यान्वित करना आसान बात नहीं थी। शासन-संचालन में यह राजमंत्री कुछ ढीला-ढाला साबित हुआ। उसके निश्चय दृढ़ नहीं थे और वह कुछ डाँवाडोल-सा रहता था। लोग हँसी में कहा करते थे कि उसने विचार तो कर लिया है 'लेकिन उसको यह पता नहीं है कि विचार किस लिए किया है।' फ्रांसीसी कौम की कीर्ति और साम्राज्य के स्वप्नों से चकाचौंध करने के लिए उसने विदेशों में हड़प नीति जारी करने की तजवीज़ तैयार की। उसने एलजियर्स में सेना भेजी और इसने जो विजय प्राप्त की उससे उत्तर अफ्रीका में फ्रांसीसी राज्य की नींव पड़ी। यह सम्भव था कि यह नीति सफल होती। क्रान्ति के इतिहास में ऐसी घटनाएँ हो चुकी थीं जिनके आधार पर यह कहा जा सकता था कि विदेशों में आक्रमणात्मक नीति यदि सफल हुई तो घरेलू स्थिति की कठिनाइयों का सामना करने के लिए सरकार के हाथ मजबूत हो जायेंगे। परन्तु यह जरूरी था कि जब तक लोहा गर्म न हो जाय, उस पर चोट न मारी जाय। चार्ल्स ने सबसे बड़ी भूल यह की कि उसने कार्य के लिए अनुपयुक्त समय सोचा। उदार दल के सदस्यों ने बादशाह से यह प्रार्थना की थी कि मंत्रिमंडल को पार्लियामेंट का समर्थन प्राप्त नहीं है, उसको नहीं रखा जाये। बादशाह ने इस विरोध को अपना अपमान समझा और सन् 1830 में पार्लियामेंट को भंग कर दिया। जब निर्वाचन हुए तो सरकारी पक्ष के पचास सदस्य कम हो गये। अब धारा-सभा में सरकार का समर्थन अत्यन्त अल्प-संख्यक रह गया। इसी मौके पर सेना का संचालन किया गया। चार्टर की एक धारा के अनुसार बादशाह को यह अधिकार था कि राज्य की रक्षा के लिए और कानून को लागू करने के लिए वह उप-नियम बना सकता है और विशेष आज्ञाएँ जारी कर सकता है। इस धारा का सहारा लेकर चार्ल्स ने 25 जुलाई को तीन विशेष आदेश जारी किये : 1—वर्तमान निर्वाचन रद्द कर दिये जाय और नई पार्लियामेन्ट बनाई जाये। 2—निर्वाचनाधिकार सीमित कर दिया जाये। 3—प्रेस का गला घोंटा जावे। दूसरे ही दिन पत्रकारों के भड़काने से पेरिस नगर में बलवा हो गया और जगह-जगह रास्ते बन्द कर दिये गये। बलवे में सबसे आगे तो पत्रकार ही थे, परन्तु प्रजावादी लोगों ने इसकी तैयारियाँ पहले से ही कर रखी थीं। उन्होंने नगर में

कितनी ही सोसाइटियां कायम कर दी थीं जो क्रान्ति की प्रतीक्षा कर रही थीं। मंत्रिमंडल स्थिति को देखकर भौंचक्का रह गया। वह राजधानी का दमन नहीं कर सका। एक कामचलाऊ सरकार होटेल डी विले (Hotel d Ville) में स्थापित कर दी गई। इसका अध्यक्ष था प्रसिद्ध क्रान्तिकारी नेता लफाटे (Lafayette)। बादशाह ने चाहा कि विशेष आदेश वापस ले लिये जायें, परन्तु अब इसका समय निकल चुका था। उसने इस बात की कोशिश की कि उसके पोते को गद्दी पर बिठा दिया जाये और वह स्वयं राजसिंहासन का परित्याग कर दे, परन्तु उसकी यह बात नहीं चली। अन्त में वह स्वयं देश से निकल गया।

सन् 1830 की राज्यक्रान्ति का महत्व—1830 की राज्यक्रान्ति फ्रांस के इतिहास की बड़ी महत्त्वपूर्ण घटना थी। प्रत्यक्ष में ऐसा प्रतीत होता था कि इसके कारण कोई बड़े परिवर्तन नहीं होंगे। यद्यपि इस क्रान्ति का आयोजन प्रजातंत्रवादी लोगों ने किया था और उन्होंने ही इसको कार्यान्वित किया था, परन्तु तब भी जिन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए वे लोग पेरिस के बाज़ारों में लड़े थे, उनसे वे वंचित रहे। बोरबन वंश की बड़ी शाखा को तो हटा दिया गया, परन्तु उसके स्थान पर उसी वंश की ओरलियन शाखा जम गई। एक राजवंश का तो अन्त हुआ, परन्तु एकतन्त्र सत्ता का अन्त नहीं हुआ। इसका कारण यह था कि राजनीतिज्ञों ने घटनाओं का संचालन बड़ी चतुरता से किया था। होटेल डी विले में जो कामचलाऊ सरकार स्थापित की गई थी, वह जन-शासनवादी लोगों (Republicans) ने स्थापित की थी। उनकी दृष्टि में फ्रांस की राज्यक्रान्ति बोरबन वंश के विरोध में ही नहीं, किन्तु यूरोप की अन्य शक्तियों के भी विरोध में थी और इन शक्तियों ने ही 1815 में फ्रेंच कौम का बहुत बड़ा अपमान किया था। परन्तु स्थिति में पेचीदगी इस कारण उत्पन्न हो गई थी कि जिन परिस्थितियों के कारण बोरबन वंश का पतन हुआ, उन्हीं के कारण यह भी असम्भव हो गया कि जनतन्त्र शासन की स्थापना हो सके। यदि 1830 में गण-तन्त्रीय शासन स्थापित कर दिया जाता, तो उसका मतलब यह लिया जाता कि फ्रांस ने सारे यूरोप को चुनौती दी है और चूंकि विजेताओं के दिमाग में 1789 की घटनाओं की स्मृतियां अब तक ताजा थीं, इसलिए वे भावी खतरे का निवारण करने के लिए तत्काल यत्न करते। इस प्रकार जनतन्त्रवादियों के हाथ बँध गये। धारा सभा में उन्होंने एकतन्त्रवाद का विरोध तो अवश्य किया, परन्तु देश में उन्हें जोरदार समर्थन प्राप्त नहीं हो सका। इन परिस्थितियों में उदार नेताओं (Liberal) ने फ्रांस का भाग्य-निर्णय अपने हाथ में ले लिया और ऐसा समझौता पेश किया जिसको जनतन्त्रवादियों ने भी स्वीकार कर लिया; क्योंकि उनके सामने कोई दूसरा हल नहीं था। अतः राज-मुकुट ड्यूक ऑफ़ आरलियन्स अर्थात् लुई फिलिप के सिर पर रखा गया जो बोरबन-वंशीय था, परन्तु वह क्रान्तिकारियों

की ओर से लड़ा था । इस कदम से जनतंत्रवादी लोग शान्त हो गये। नये बादशाह ने भी इन लोगों की बातों का आदर करके इनको प्रसन्न किया और इससे यूरोप के शासकों का भय भी शान्त हो गया । 1830 की राज्यक्रान्ति से एकतन्त्रवाद नष्ट नहीं हुआ । इतना ही नहीं, तत्कालीन विधान में भी इसके कारण जो परिवर्तन हुए, वे नगण्य थे । उस समय राजनीतिज्ञ लोग वैधानिक राजसत्ता का राग अलाप रहे थे, लेकिन नवीन विधान में इसका कोई जिक्र तक नहीं किया गया । इतना अवश्य हुआ कि चार्टर की चौदहवीं धारा के अनुसार विशेष अवस्थाओं में बादशाह को जो विशेष आज्ञाएँ जारी करने का अधिकार था, वह समाप्त हो गया और नये कानून के प्रस्ताव का अधिकार धारा सभा (Chambers) को सौंप दिया गया । कैथोलिक धर्म अब राष्ट्र-धर्म नहीं रहा और प्रेस की पाबन्दियाँ हटा ली गईं । परन्तु सबसे बड़ी माँग थी निर्वाचनाधिकार का विस्तार । उस समय दो करोड़ अस्सी लाख जनता में केवल एक लाख लोगों को निर्वाचन का अधिकार प्राप्त था । इसमें कोई हेर-फेर नहीं हुआ। लोगों को ऐसी सरकार को सहयोग देने से वंचित रखा गया जिसकी सृष्टि उन्हीं के प्रयत्न से हुई थी ।

दैवी लोकाधिकार—फिर भी यह कहना भूल होगी कि इस राज्यक्रान्ति का कोई विशेष महत्त्व नहीं था । हमको यह अत्युक्ति नहीं कहनी चाहिए कि राज्य-क्रान्ति बहुत ही लोकप्रिय थी । यह अंग्रेजी राज्यक्रान्ति से इस बात में मिलती-जुलती थी कि इसका नतीजा निषेधात्मक था, विध्यात्मक नहीं । जैसे 1688 में इंगलैंड के अन्दर जनतन्त्रीय शासन की ओर कोई विशेष कदम नहीं उठाया गया, वही बात 1830 में फ्रांस में हुई । जो कुछ राजनीतिक परिवर्तन हुए, उनके साथ-ही-साथ न धारा सभा में कोई सुधार हुआ और न आर्थिक सुधार हुए । और ऐसे सुधारों के बिना जनतंत्र शासन एक विडम्बना मात्र है । परन्तु इंगलैंड और फ्रांस दोनों में ही इन क्रान्तियों से दैवी राजाधिकार के स्थान पर दैवी लोकाधिकार अवश्य स्थापित हो गये । विलियम तृतीय को इंगलैंड की राजगद्दी पर लोकमत ने बिठाया था । यही बात फिलिप के विषय में निःसंदेह कही जा सकती थी । यदि भविष्य में बादशाह और जनता में कोई संघर्ष होता तो जनता की विजय अवश्यंभावी थी । यह सिद्धान्त स्वीकार कर लिया गया था कि बादशाह जनता के अधिकारों का सम्मान करेगा, क्योंकि जनता ने ही उसको राजसिंहासन पर बिठाया है । वियना की कांग्रेस में जो वंशाधिकार (Legitimacy) का सिद्धान्त स्वीकार किया गया था, उसको फ्रांस ने हमेशा के लिये ठुकरा दिया । चार्ल्स दसवें के अत्याचारों ने उन लाभों को धुँधला कर दिया जो बोरबन वंश के शासन में फ्रांस को प्राप्त हुए थे । डिकेंजीज के शब्दों में लाभ ये थे—'वैधानिक शासन की स्थापना, शत्रु द्वारा दबाये हुए प्रदेश की मुक्ति, उस भारी ऋण की अदायगी जो एक सौ दिवसीय शासन की दण्डनीय मूर्खता के कारण

फ्रांस पर लादा गया था, शान्ति और सुरक्षा की स्थापना।' बोरबन राजवंश के पतन के कारण उग्र राजभक्तों का कार्यक्रम हमेशा के लिए समाप्त हो गया। पादरी लोगों ने और सामन्तों के दल ने जो राजनीतिक सत्ता प्राप्त कर ली थी, उसका भी अब अन्त हो गया। संक्षेपतः यह कहना चाहिये कि 1789 की राज्यक्रान्ति में जो काम बच गया था, वह 1830 की राज्यक्रान्ति में पूरा हो गया। अब भविष्य के लिए क्रान्ति-भावना के मूल तत्त्वों की अर्थात् समानता, धर्म-निरपेक्षता और वैधानिक स्वतंत्रता की नींव दृढ़ हो गई। अब यह नहीं माना जाता था कि चार्टर बादशाह की निर्बलता के कारण लोगों ने ज़बर्दस्ती से छीन लिया है और बादशाह अपनी मर्ज़ी के अनुसार उसको रद्द कर सकता है। अब तो यह चार्टर फ्रेंच कौम का ऐसा सहज अधिकार बन गया जो उससे छीना नहीं जा सकता था।

ओरलियन राजसत्ता, 1830-1848—ओरलियन्स राजघराने ने फ्रांस पर अठारह वर्ष तक राज्य किया। यह युग इसलिए प्रसिद्ध है कि इसमें फ्रांस की कई संस्थाओं का विकास हुआ और प्रतिनिधि प्रणाली का कार्य प्रौढ़ हुआ। पार्लियामेन्ट में अनेक संघर्ष हुए। कभी एक तरफ का पलड़ा भारी होता था और कभी दूसरी तरफ का। परन्तु अब जो समस्याएँ पार्लियामेन्ट के सामने थीं वे उन समस्याओं से बिल्कुल भिन्न थीं, जिनके कारण बोरबन वंश के युग में देश क्षत-विक्षत और छिन्न-भिन्न हो गया था। अब राज्यक्रान्ति के राजनीतिक और सामाजिक कार्यक्रम में ऐसे आदमियों का खतरा नहीं था जैसा पहले विलेले या पोलिग्नेक से था। अब धारा-सभा के विभिन्न तत्त्व सिद्धान्त के लिए नहीं, शक्ति के लिए लड़ते थे। इस संघर्ष में दो व्यक्ति प्रमुख थे—एक गीज़ो (Guizot), जो अनुदार यानी कंज़रवेटिव दल का नेता था और दूसरा थीयर्स (Thiers) जो उदार दल का मुखिया था। दोनों ने ही, जो राजसत्ता जुलाई में कायम हुई, उसको स्वीकार कर लिया था और शासन के वर्तमान स्वरूप की रक्षा करने के लिए वे बँधे हुए थे, अर्थात् आनुवंशिक राजसत्ता के समर्थकों का उनको विरोध करना था और इसी प्रकार जनतन्त्रवादियों का भी उनको सामना करना था। इन दोनों नेताओं के मत की स्पष्ट परिभाषा करना कठिन है। पार्लियामेंट की परिस्थितियों के अनुसार ये दोनों ही अपने पैंतरे बदलते रहते थे और ऐसे लोगों का सहयोग प्राप्त करने में ये बिल्कुल संकोच नहीं करते थे जो सिद्धान्ततः उनके विरोधी थे। गीज़ो ने पादरियों से समझौता करने की कोशिश की और थीयर्स ने उग्र दल के साथ सम्बन्ध जोड़ना चाहा। ये दोनों ही इस बात को नहीं मानते थे कि अपने विषयों की चर्चा करने से अपने पक्ष की नींव कमजोर होती है और राजसत्ता की जड़ भी हिलती है। इन लोगों की विदेश-नीति भी डांवाडोल और अनिश्चित थी। गीज़ो की नीति थी इंगलैंड के साथ मैत्री स्थापित करना, और पश्चिमी यूरोप के दो उदार राष्ट्रों में सन्धि स्थापित करके पूर्वी यूरोप के तीन प्रतिक्रियावादी राष्ट्रों का मुकाबला करना। फिर भी 846 में इसने जान-बूझकर इंगलैंड की मैत्री खतम कर दी। कारण यह था कि

वह अब स्पेन में फ्रांस का आधिपत्य स्थापित करना चाहता था। थीयर्स दूसरे देशों में युद्ध करना चाहता था, इसलिये इंगलैण्ड की सन्धि का वह विरोध करता था। परन्तु यूरोप की परम्पराओं को पुनर्जीवित करने के साथ-ही-साथ उसकी नीति यह थी कि अपने देश में लोकप्रियता प्राप्त करके अपने विरोधियों को पदच्युत कर दे। जिन घटनाओं के कारण लुई फिलिप को हटना पड़ा, वे इन पार्टियों के संघर्ष से उत्पन्न नहीं हुई थीं, वल्कि विदेश-नीति के कारण और जनतंत्रीय जागृति के कारण हुई थीं। 1848 की राज्यक्रान्ति से पार्लियामेन्ट के दोनों ही दल भौंचक्के रह गये। अब तक वे आपसी झगड़ों में इतने व्यस्त थे कि वे वास्तविकता से बहुत दूर हट गये थे। क्रान्ति बहुत आसानी से हो गई थी। उसका कारण यह था कि सरकार और उसके विरोधी दोनों को ही उन शक्तियों का पता नहीं था जो धीरे-धीरे उनके विनाश के लिये पार्लियामेन्ट के बाहर देश में बढ़ती जाती थीं। इसलिये यह आवश्यक है कि उन शक्तियों का विवेचन किया जाय, ताकि हम उस युग के स्वरूप को भली भाँति समझ सकें, जिसका अभी वर्णन किया जा रहा है।

लुई फिलिप की बदनामी के कारण—लुई फिलिप की बदनामी का मूल कारण यह था कि वह अपने आपको फ्रेंच लोगों की भावनाओं के अनुकूल नहीं बना सका। वह ऐसी पर-राष्ट्र-नीति का निर्माण नहीं कर सका जो राष्ट्र को स्वीकार होती। सन् 1815 के फैसले की स्मृतियाँ बड़ी अपमानजनक थीं। इसलिये ओरलियन राजवंश राजसिंहासन पर उसी अवस्था में टिक सकता था जब वह विदेशों में ऐसा कार्य कर सकता जिससे राष्ट्र का सिर ऊँचा हो। दो मौके ऐसे आये जब यह बात सम्भव थी। परन्तु बादशाह ने कौम की आकांक्षाएँ पूरी नहीं कीं। यह उसका ऐसा अपराध था जिसको लोग क्षमा नहीं कर सकते थे। पहला मौका था जब वह राजसिंहासन पर आसीन हुआ। सन् 1789 की भाँति पेरिस 1830 में और 1848 में भी यूरोप का उत्पात-केन्द्र था। फ्रांस की राजधानी में जो बलवे हुए उससे यूरोप के प्रत्येक राष्ट्र को धक्का लगा और प्रत्येक सिंहासन डगमगा उठा। इसलिये बोरबन राजवंश का पतन होते ही विभिन्न राष्ट्रों में ऐसी हलचल शुरू हो गई, जिसकी तैयारी पहले से ही हो रही थी। बेलजियम ने अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी और हालैण्ड से सम्बन्ध तोड़ दिया। पोलैण्ड ने रूस के खिलाफ बगावत कर दी तथा जर्मनी तथा इटली में भी राष्ट्रीय भावनाएँ कुछ जागृत होने लगीं। ये सब हलचलें फ्रांस का मुँह ताक रही थीं। लोग देख रहे थे कि फ्रांस क्या करता है। उस बात की प्रतीक्षा थी कि देखें फ्रांस का बादशाह यह सब-कुछ देखकर चुप बैठा रहेगा या क्रान्ति को मदद देगा। ओरलियन राजवंश का भविष्य इस समय इधर-उधर झोंके खा रहा था। लुई फिलिप की दूरदर्शी नीति से उसके वंश के हाथ में चाहे 18 साल तक राज्य बना रहा हो, परन्तु उसकी नीति ने राजा और प्रजा के बीच एक खाई तैयार कर दी और ज्यों-ज्यों समय निकलता गया, त्यों-त्यों वह खाई और गहरी होती गई।

विदेशी नीति 1. 1830—फ्रेंच लोगों ने माँग की कि दलित राष्ट्रों की हिमायत की जाये। वे लोग 1815 के समझौते के विरोधी थे। इससे उनके स्वाभिमान को आघात पहुँचा था। नैपोलियन के साम्राज्य की स्मृतियों का उन्माद उन लोगों में अब तक बना हुआ था। इसके अतिरिक्त पैरिस के निवासी कुछ अरसे तक तो शान्त थे, परन्तु अब उनका रोष उमड़ चला था। उनकी दुर्दमनीय भावनाओं ने एक राजवंश को समाप्त कर दिया था। उनके अन्दर प्रचार का वही जोश जागृत हो गया था जिसने एक पुश्त पहले संसार-भर में क्रान्ति की ज्वालाएँ धधका दी थीं। अब इतिहास का चक्र घूम रहा था। कन्वेन्शन के दिनों की भाँति फ्रांस अब एकतन्त्र व्यवस्था को चुनौती देने के लिये तैयार था और प्रत्येक राष्ट्र की प्रजा का आह्वान करना चाहता था कि निरंकुशता के विरुद्ध सब खड़े हो उठें। इसकी कल्पना करने से कोई लाभ नहीं है कि अगर लुई फिलिप लोगों के क्रोध को नहीं रोकता, तो क्या परिणाम होता। परिणाम तो हर हालत में विनाशकारी ही होता। यदि वह रोकथाम नहीं करता तो रूस, प्रशिया और आस्ट्रिया तीनों राष्ट्र फ्रांस के विरुद्ध एक हो जाते। इस बात की भी सम्भावना कम थी कि नैपोलियन के युद्धों की थकान के बाद, और जिस जोश के कारण उन्होंने फ्रांस की भूमि से आक्रान्ताओं को धकेल दिया था, उसके अभाव के कारण, अब फ्रांसीसी लोग विदेशों के आक्रमण को रोकने में सफल होते। कुछ भी हो, लुई ने यूरोप के झगड़ों में फँसने से इन्कार कर दिया और इस प्रकार प्रतिक्रियावादी राष्ट्रों को फ्रांस की घरेलू बातों में दखल देने का बहाना नहीं मिलने दिया। हर हालत में वह युद्ध से अलग रहना चाहता था। उसको पसन्द नहीं था कि शेर का मुँह खोला जाय। पोलैण्ड और इटली की क्रान्तियों के साथ फ्रेंच लोगों की सहानुभूति थी, परन्तु लुई फिलिप ने उनको प्रोत्साहन नहीं दिया और इस बात से भी इन्कार नहीं किया कि उसका पुत्र बेलजियम का राजमुकुट ग्रहण कर ले। उसकी पर-राष्ट्रनीति में चतुरता थी, क्योंकि उसके कारण यूरोप की सरकारों ने जुलाई के एकतन्त्र शासन को स्वीकार किया और यूरोप में जो युद्ध की ज्वाला धधकने वाली थी, उसको शान्त किया। परन्तु फ्रेंच जाति का रोष इससे शान्त नहीं हुआ। उनकी भ्रान्ति अब दूर हो गई थी। अब लोग बादशाह को माफ नहीं करना चाहते थे।

2. 1840—1840 में अंतर्राष्ट्रीय परिस्थिति ने ओरलियन राजवंश को अपनी शान्तिप्रिय नीति का परित्याग करने और राष्ट्रीय आकांक्षाओं के साथ मेल करने का दूसरा मौका दिया। इस समय मिस्र के पाशा मोहम्मद अली को युद्ध-क्षेत्र में कई विजयें प्राप्त हुईं जिससे फ्रांस के लोगों में बड़ा जोश उमड़ा और वे इस प्रभाव में बह चले कि पाशा भी नैपोलियन की भाँति विजय प्राप्त करने वाला है। कुछ समय तक बादशाह डाँवाडोल रहा। फिर लोगों की माँगों को पूरा करने के लिये उसने थीयर्स को मुख्य

मन्त्री बना दिया जिसने मोहम्मद अली का साथ देने का निश्चय किया। वह समझता था कि यह देश-भक्ति का काम है और राष्ट्र के स्वाभिमान का प्रश्न है। परन्तु लुई फिलिप ने, अपनी पर-राष्ट्र-नीति को ढीला नहीं छोड़ा। वह इस बात को मानता था कि थीयर्स की विरोधी तैयारियाँ यूरोपीय युद्ध को जन्म देंगी, क्योंकि यूरोपीय राष्ट्रों ने मिस्र के पाशा से इस बात की माँग की थी कि वह तुर्की के खिलाफ युद्ध करना बन्द कर दे। कुछ महीनों के बाद लोक-आन्दोलन शान्त हो गया। तब थीयर्स को अपने पद से अलग कर दिया गया। अब गीजो को प्रधान मंत्री नियुक्त किया और वह क्रांति तक अपने पद पर बना रहा। उसकी कूटनीति के कारण फ्रेंच कौम को संतोष या स्वाभिमान का कोई मौका नहीं मिला। लेमराटिन ने दो शब्दों में इस स्थिति का इस प्रकार वर्णन किया है—"फ्रांस निद्रा ले रहा है।" इस स्थिति ने क्रान्ति को जन्म दिया।

घरेलू नीति—पर-राष्ट्र-नीति के बारे में लुई फिलिप ने अपनी प्रजा के साथ अकेले युद्ध किया और राष्ट्र पर ऐसी सन्धि लाद दी जो लोक-प्रिय नहीं थी। उस समय फ्रांस अपनी कीर्ति चाहता था। इसलिए यह बात सम्भव हुई। इसी प्रकार लुई फिलिप की घरेलू नीति भी लोक-सम्मत नहीं थी। यही कारण था कि बादशाह के पैरों के नीचे की ज़मीन शनैः शनैः खिसकती गई और जब आसानी से बादशाह को सिंहासन से उतार दिया गया तो उसके शत्रुओं को भी अचम्भा हुआ कि यह क्या हो गया। चेटू ब्रियन्ड और थीयर्स दोनों इस बात को मानते थे कि दमन नीति के कारण जो घरेलू असन्तोष था, उसको शान्त करने के लिये यह आवश्यक है कि दूसरे देशों में विजय प्राप्त करके फ्रांस का नाम ऊँचा किया जाये; लेकिन लुई फिलिप और उसके मन्त्री गीजो का खयाल था कि राष्ट्र के साथ किसी प्रकार की रियायत किये बिना ही उसको राजनीतिक अधिकारों से वंचित किया जा सकता है। गीजो ने अपनी नीति का इस प्रकार वर्णन किया था—"अपने देश में क्रांति की गति को रोकना और दूसरे देशों में ऐसी नरमी से बर्ताव करना जिससे वर्तमान सन्धियों का पालन हो और दूसरे राष्ट्रों के मामलों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप न हो।" परन्तु यह समझना घातक भूल थी कि अवरोध-नीति से क्रान्ति की गति रोकी जा सकती है। जनता साथ दे, तब तो दूसरी बात है; अन्यथा दमन नीति प्रायः विफल हुआ करती है, और जो इसका आश्रय लेते हैं यह उन्हीं पर उल्टी पड़ती है। फ्रांस में पर-राष्ट्र-नीति की अप्रियता के कारण सरकार का अनुमोदन नहीं हुआ और अवरोध नीति से विरोध में वृद्धि हुई। अतः अब हम उन प्रगतियों का विवेचन करेंगे, जिनको क्रान्ति की धाराएँ कहा जा सकता है और जिनके कारण राजतन्त्र की जड़ें खोखली होती जाती थीं।

मध्यवर्ग की बादशाहत—लुई फिलिप का सिंहासन मध्यम वर्ग के समर्थन और अनुमोदन पर टिका हुआ था। इन्हीं के पास शक्ति का एकाधिकार था और

इन्हीं की सहायता से उसने 1830 से 1848 तक शासन किया था। इस वर्ग ने उन लोगों के हाथ से विजय-लाभ छीन लिया था जिन्होंने संघर्ष की प्रचंड ज्वाला का सामना किया था। जुलाई में अब इस वर्ग की ऐसी बादशाहत कायम हुई जिसमे वह स्वयं शासकवर्ग बन जाये। राजनीतिक अधिकार का उपभोग करना भी इन्हीं के हाथ में था, क्योंकि निर्वाचन का अधिकार उन्हीं लोगों तक सीमित था जो कर के रूप में प्रतिवर्ष 200 फ्रैंक राज को देते हों और पार्लियामेंट में वे ही लोग जा सकते थे जो 500 फ्रैंक वार्षिक कर देते हों। इस प्रकार वे लोक सभा के आकार-प्रकार के विधाता थे और अपनी इच्छाओं को वे देश के ऊपर थोप सकते थे। ये सब लोग धन-संग्रह में लगे हुए थे। बड़े-बड़े सरकारी पद इनको प्राप्त थे। इस प्रकार ये लोग अपने सांसारिक लाभों की पूर्ति में निरत थे। ऐसी परिस्थिति में लोक सभा का यह दावा निराधार था कि वह राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करती है। इसमें पार्टियों का आन्तरिक कलह खूब हुआ करता था, जिससे इसको निर्बलता और इसके परामर्श की निस्सारता बिल्कुल प्रकाश में आ जाती थी। वास्तव में यह पार्लियामेंट्री प्रणाली का कोरा घोंघा था और जब सामाजिक और राजनीतिक प्रश्न लोगों के सामने खड़े हो रहे थे, तो इस प्रकार की पार्लियामेंट का उपहास हुए बिना नहीं रह सकता था। लोगों में ऐसा ज्ञान जागृत होता जाता था कि आर्थिक मामलों से समाज का नियन्त्रण होना चाहिये और आर्थिक तथा राजनीतिक आधार पर ही जनतन्त्रीय प्रणाली टिक सकती है। वास्तव में यह समय ऐसी ही विचारधाराओं का युग था, इसलिए इसने उस शासन को ढहा दिया जिसकी घरेलू और पर-राष्ट्र-नीति सब प्रकार की प्रगति का विरोध करती थी। अब जनतन्त्रवादियों का ध्यान मजदूरवर्ग की तकलीफों ने आकर्षित किया। पहले इन लोगों की शक्तियाँ समय से पहले बलवे करवाने में और क्रांतिकारी परम्पराओं का आह्वान करने में व्यतीत हुआ करती थीं, अब इन लोगों ने अपनी शक्तियों को पार्लियामेंट्री सुधार पर केन्द्रीभूत किया। ये लोग इसको नए निर्माण का श्रीगणेश समझते थे। जनतन्त्रवादी दल ने इस बात को स्वीकार कर लिया था कि उनकी आतंकवादी नीति का राष्ट्र ने साथ नहीं दिया। इसलिये इन लोगों ने समाज और पार्लियामेंट के सुधारों पर विशेष ध्यान देना शुरू किया। यह नये वेग का आरम्भ था। प्राउढन (Proudhon) के इस सूत्र को तो मानने वाले बहुत नहीं थे कि सम्पत्ति चोरी है, परन्तु लुई ब्लैंक के इस सिद्धान्त को बहुत लोग मानते थे कि प्रत्येक व्यक्ति का यह अधिकार है कि उसको काम मिले। 1834 में लाइन्स के मजदूरों ने अपने संघों की रक्षा के निमित्त हथियार उठा लिये थे। कारण यह था कि उस समय व्यवसाय-संघों को भंग करने के लिये एक कानून बनाया गया था। कुछ वर्ष बाद, अर्थात् सन् 1842 में, यह कहा गया था कि फ्रांस में राजनीतिक प्रगतियों का समय गुजर चुका। आने वाली क्रान्ति अब सामाजिक क्रान्ति होगी।

इस राजनीतिक और सामाजिक असन्तोष के सामने सरकार ने एक दुर्भेद्य दीवार खड़ी की। सरकार चाहती थी कि क्रान्ति और प्रतिक्रिया के बीच में मध्यम मार्ग का अनुसरण किया जाये। इस नीति में कोई राजनीतिक कार्यक्रम नहीं था। गीजो इस बात को मानता था कि अगर जनता के साथ कोई रियायत की तो यह आत्म-समर्पण की सूचक मानी जायेगी और यदि उसमें राजनीतिक सुधारों को स्वीकार करने के लिए कोई सुझाव था भी, तो भी उसके हाथ इस बात से बँधे हुए थे कि उसको पूँजीपतियों के सहारे रहना पड़ता था। इस प्रकार फ्रांस की दृष्टि में जुलाई की एकतन्त्रता टिकने के योग्य नहीं थी। न तो यह यूरोप के राजनीतिक झमेलों से फ्रांस को अलग रख सकी और न यह पर-राष्ट्रीय मामलों में फ्रांस को अपमान से बचा सकी। अपने घर में यह क्रियाशील तत्त्वों से दूर रही। इसने अपना सहारा एक मात्र पार्लियामेंट के बहुमत को समझा, परन्तु यह बहुमत भ्रम मात्र था। यह फ्रेंच जाति का प्रतिनिधित्व नहीं करता था।

बादशाह राज्य करेगा, शासन नहीं—जब इस एकतन्त्रता का अन्त एकाएक हो गया तो लोगों को अचम्भा हुआ और उस पतन के ढंग से उसकी अन्दरूनी कमजोरी प्रगट हुई। लुई फिलिप को केवल राज्य करने से सन्तोष नहीं था। वह शासन करना चाहता था। वह काम की शक्ति चाहता था, न कि केवल नाम की। वह गद्दी पर बैठा, तभी से अनुदार दल के नेता लोग उस पर अपना आधिपत्य स्थापित करना चाहते थे। उन्होंने चार्ल्स दसवें को गद्दी से उतारने में मदद दी थी। और अब वे अपनी मदद की कीमत चाहते थे; परन्तु लुई फिलिप ने आरम्भ से ही इन लोगों का विरोध किया। उसने यह तो किया कि सरकार प्रत्यक्ष में वैधानिक और पार्लियामेंट की सरकार जान पड़े और राजमन्त्रियों के उत्तरदायित्व की कहानी भी ज्यों-की-त्यों बनी रहे, परन्तु उसका यह इरादा नहीं था कि वह अपनी सत्ता इन आन्दोलनकारियों के सुपुर्द कर दे। उस समय एक व्यक्ति ने कहा था कि ये लोग प्रतिनिधि शासन के सरदार हैं। इन लोगों का विश्वास है कि देश के मामलों का सचालन करना इनका जन्म-सिद्ध अधिकार है। कई बार ऐसा हुआ कि बादशाह और उसके मन्त्रिमण्डल में खुल्लमखुल्ला अनबन हुई और 1830 में उसने गीजो को हटाकर उसके स्थान पर मोले को नियुक्त कर दिया। यह अवसरवादी था और ऐसा औजार था जिसको मालिक अपनी मर्जी के अनुसार मोड़ सकता था। पार्लियामेंट ने इसका बड़ा विरोध किया। तो भी लुई फिलिप ने मोले को दो साल तक पदारूढ़ रखा। विशेषकर विदेशनीति को उसने अपनी मुट्ठी में से नहीं निकलने दिया और उसकी दृढ़ता के कारण ही फ्रांस की युद्ध लिप्सा काबू में रही। उसका यह निश्चय था कि युद्ध करने से तो यह अधिक अच्छा है कि पार्लियामेंट का बारंबार दमन कर दिया जाय। इसलिए थीयर्स ने, जो नैपोलियन की परम्पराओं का उपासक था और जो पद-वंचित होने के कारण महा दुखी था बादशाह के व्यक्तिगत प्रभाव का विरोध

किया था, जिसका उपयोग वैधानिक अमल के प्रतिकूल किया जाता था। बादशाह के विरोध के कारण उसकी युक्तियाँ सफल नहीं हुईं। चेम्बर में वह आगे नहीं बढ़ सका। इसलिये वह जनतन्त्रीय दल के और अधिक पास आने लगा और निर्वाचन-अधिकार का अनुमोदन करने लगा। देश-भर में कितनी ही दावतें हुईं ताकि लोकमत जागृत हो सके और सरकार पर जोर डल सके। बादशाह की ओर से गीजो ने सुधारकों के अन्धाधुन्ध द्वेष और क्रोध का विरोध किया। अपने प्रचार-कार्य की निन्दा का विरोध करने के लिए सुधारकों ने प्रदर्शन करने का निश्चय किया। आखिरकार विरोधी नेताओं ने इस बात से डरकर कि कहीं नाजुक परिस्थिति उत्पन्न न हो जाय, अपना हाथ खींच लिया और घोषणा वापस ले ली, लेकिन यह कार्यवाही बहुत देर में हुई। 22 फरवरी सन् 1848 का दिन प्रदर्शन के लिए निश्चित किया गया था। उस दिन पेरिस के जनतन्त्रवादी लोग नगर के बाजारों में ठसाठस भर गये। तब नेशनल गार्ड को बुलाया गया। ये लोग आये जरूर, परन्तु इन्होंने प्रगट कर दिया कि इन लोगों की सहानुभूति प्रदर्शनकारियों के प्रति है। जुलाई की एकतन्त्रता नेशनल गार्ड को ही अपना आधार समझती थी। इससे वंचित हो जाने पर इसका खोखलापन साफ नजर आने लगा। अब जनतन्त्रवादी नेताओं ने इस अवसर का लाभ उठाकर, जो जनमत लोक-विरोधी मन्त्री के खिलाफ था, उसको बादशाह के खिलाफ कर दिया। लुई फिलिप ने इस बात का प्रयास किया कि गीजो को पदच्युत करके उत्पातियों को शान्त किया जाय और थीयर्स को उसके स्थान पर नियुक्त किया जाय, परन्तु लोगों ने इस बात को नहीं माना। अन्त में लुई फिलिप ने सिंहासन त्याग दिया। अब लेमरटाइन की अध्यक्षता में एक कामचलाऊ सरकार का निर्माण हुआ और फ्रांस में दुबारा जनतन्त्रीय शासन स्थापित हुआ।

सन् 1848 की क्रान्ति का महत्व—सन् 1848 की क्रान्ति की तुलना उस आन्दोलन से की जानी चाहिए जो लुई सोलहवें और चार्ल्स दसवें के विरुद्ध खड़ा किया गया था। साधारणतया हम यह कह सकते हैं कि पहली क्रान्ति का ध्येय राजसत्ता का विरोध था और दूसरी क्रान्ति का ध्येय था सामन्त वर्ग के विशेष अधिकारों का विरोध, तथा तीसरी क्रान्ति का ध्येय था मध्यवर्ग के हाथ से शासन-सत्ता को छीनना। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि 1789 में कानूनी समानता, 1830 में सामाजिक समानता और 1848 में राजनीतिक समानता स्थापित हुई। जब फ्रांस ने इस बात को स्वीकार कर लिया कि बालिग मताधिकार स्थापित किया जाये, तभी सरकार में पूँजीपतियों का प्रभाव नष्ट हो गया। अब राजनीतिक सत्ता उनके हाथ से खिसककर आम जनता के हाथ में आ गई। जुलाई में स्थापित होने वाली राजसत्ता अभिमान के साथ कहती थी कि वह क्रान्ति और प्रतिक्रिया के बीच में मध्यम मार्ग का अनुसरण करती है, लेकिन वह न सामन्त

वर्ग के अत्याचार होने देती है और न जनतंत्रीय अन्धाधुन्धी; परन्तु इसका आसन डगमगा रहा था और आरम्भ से ही ऐसा प्रतीत होता था कि इसका पतन एक दिन होना है। सब ओर से इसकी आलोचना होने लगी और देश की सब शक्तियाँ इसको नष्ट करने के लिये प्रयत्न करने लगीं। हम देख चुके हैं कि राजसत्ता के स्तम्भ मध्यमवर्ग के लोग थे। उन लोगों की सत्ता का आधार था मताधिकार, परन्तु दूसरे लोगों की अपेक्षा न उनमें अधिक चरित्र था, न ज्ञान। राजसत्ता धारण करने का उनके पास कोई ऐतिहासिक अधिकार नहीं था। यदि ऐसा होता तो फ्रांस शायद उनके दावों को स्वीकार कर लेता। ये लोग आर्थिक सत्ता के प्रतिनिधि माने जाते थे। जो लोग यह समझते थे कि तत्कालीन सामाजिक और आर्थिक स्थिति अन्याय के आधार पर खड़ी हुई है, वे इस वर्ग के बड़े विरोधी थे। इसलिये पूँजीपतियों का समर्थन राजसत्ता की कमजोरी थी, न कि शक्ति। यह लुई फिलिप की गलती थी कि उसने अपने शासन के आधार को विस्तृत नहीं किया। यह गलती इसलिये और भी घातक सिद्ध हुई कि मध्यम वर्ग के लोग इसका समर्थन शिथिलता से करते थे, और कभी करते थे और कभी चुप भी हो जाते थे, और यह भी प्रतीत होता था कि न जाने कब उनसे समर्थन प्राप्त होना बन्द हो जाय। मध्यमवर्ग के हित तो राजवंश के स्थायीपन में घुले-मिले थे। डूबना या तैरना दोनों साथ-साथ था, परन्तु फिर भी इस वर्ग के लोगों में बड़ी सुस्ती और उपेक्षा थी। गवर्नमेन्ट की शान्त नीति को, अनिच्छा होते हुए भी, वे मानने लग गये थे और पार्लियामेन्ट में जो व्यर्थ बहस हुआ करती थी, उसमें उनकी कोई सजीव रुचि नहीं थी। इसलिये लुई फिलिप की एक मात्र आशा यही थी कि वह फ्रांस जाति का खयाल किसी अन्य दिशा में मोड़ दे, परन्तु इसमें वह सफल नहीं हुआ। उसकी राजनीति का मंत्र था यूरोप में शान्ति-रक्षा करना। परन्तु इससे जनता का क्षोभ शान्त नहीं हुआ। लोगों को वह इसलिये पसन्द नहीं था कि उससे कौम की उमंगें पूरी नहीं हुईं। वास्तव में बात यह थी कि शान्ति और सम्मान का उपभोग करने के लिये इस बात की जरूरत थी कि फ्रांस रक्त और शस्त्र से एक बार फिर अपना अभिषेक करे।

काम करने का अधिकार—राजनीतिक जनतंत्र के इतिहास में 1848 की क्रांति एक नये युग का आरम्भ है, क्योंकि अब दैवी मताधिकार मध्यम वर्ग के हाथों से समस्त राष्ट्र के हाथों में चला गया था। आर्थिक जनतंत्र के लिये भी यह एक नवीन युग था; क्योंकि इसने प्रथम बार समाजवाद का अनुभव किया। यह बात अवश्य है कि यह इसका आरम्भ मात्र ही था। पेरिस के निवासियों ने राजसत्ता का अन्त केवल इसलिये नहीं किया था कि वे जनतंत्र स्थापित करना चाहते थे। शासन के स्वरूप के लिये मूर्ख लोग विवाद किया करते हैं। सबसे अच्छा शासन वह है जिसके द्वारा अच्छा इन्तजाम किया जा सके। लुई ब्लैंक ने कहा है कि कोई भी शासन ऐसा नहीं जिसका है राष्ट्रीय

हितों के विरुद्ध शस्त्र की भाँति, उपयोग नहीं किया जा सके। इसलिये शासन का प्रधान उद्देश्य यह होना चाहिये कि काम करने वाले व्यक्ति को अपने काम का फल मिले; जो लोग दरिद्रता से दबे हुए हैं उनको अपना मस्तक ऊँचा करने का अवकाश मिले; जिन लोगों की बुद्धि, अंधकार में मन्द दीपक की भाँति, छिपी हुई है, उनको प्रकाश प्राप्त हो। सारांश यह है कि लोगों की दोहरी दासता, अर्थात् अज्ञान और दारिद्र्य, दोनों का अन्त करके जनता को मताधिकार दिया जाये।[1] क्रान्ति का नारा था काम करने का अधिकार। इसलिये लुई ब्लैंक का ग्रन्थ (Organization du Travail) 1848 की बाइबिल बन गया था। इसी प्रकार 1789 में रोशों का Contract Social धर्म-ग्रन्थ माना जाने लगा था। दुःख की बात यह थी कि लुई ब्लैंक का नाम ऐसी तजवीज़ के साथ जोड़ा जाता था जिसका वह स्वयं भी समर्थन नहीं करता था। उसने यह नहीं कहा था कि सरकारी कारखाने स्थापित किये जायें; वह तो यह चाहता था कि सहकारी कारखाने कायम हों, जिनके लिये प्रारंभिक पूँजी सरकार दे। लेकिन उद्योग का प्रबन्ध और नियन्त्रण मज़दूरों के हाथ में हो। यह सरकारी साम्यवाद (State Socialism) नहीं है। यह एक प्रकार का औद्योगिक साम्यवाद Industrial Syndicalism) है। इसमें स्वयं-शासित कारखानों में माल उत्पन्न होता है। ये कारखाने अपने कर्मचारियों को स्वयं नियुक्त करते हैं और इसी प्रकार के दूसरे औद्योगिक संघों से इनका सम्बन्ध रहता है। नये जनतंत्र ने सबसे पहला काम यह किया कि लक्जमबर्ग में लुई ब्लैंक की अध्यक्षता में एक लेबर पार्लियामेन्ट स्थापित की। जिस आशा से यह स्थापित की गई, वह ध्यान देने योग्य है। आशा यह थी—यह खयाल करके कि लोक-क्रान्ति लोक-हित के लिये होनी चाहिये, अब समय आ गया है कि मजदूर लोगों की लम्बी और अन्यायपूर्ण यातनाओं का अन्त किया जाय। श्रम-जीवियों की समस्या बहुत बड़े महत्त्व का विषय है। इसके लिये एक स्थायी कमीशन बनाया जाये।[2] उसका मुख्य उद्देश्य यह होगा कि वह मज़दूर लोगों की सामाजिक स्थिति का अध्ययन करेगा।

सरकारी कारखाने—उधर यह कमीशन तो अपने विचारों में लगा हुआ था और सोच रहा था कि लेवर एक्सचेंज कैसे हों, कौमी बीमा किस प्रकार किया जाय, मज़दूरों के लिये निवास-स्थान किस प्रकार के हों, कृषि-उपनिवेशों का क्या स्वरूप हो और मजदूरों को प्रतिदिन दस घंटे से अधिक काम न करना पड़े; इधर सरकार ने स्वतन्त्र रूप से सरकारी कारखाने कायम करने का निश्चय कर लिया। यह आयोजन बड़े महत्त्व का था, लेकिन इसका निश्चय बडी जल्दबाजी के साथ हुआ और यह वश में नहीं आया। इसलिये उस समय इसको बड़ी दुखदाई विफलता हुई। सारे देश में इसमें 1,20,000 आदमी शामिल हुए। सरकार इन लोगों को उत्पादक काम में नहीं

1. लुई ब्लैंक, आर्गेनीजेशन द् ट्रावेल।
2. वही।

लगा सकी, यहाँ तक कि इनको व्यर्थ काम में भी नहीं लगा सकी : इनको केवल उदरपूर्ति के लिये कुछ थोड़ा-बहुत दिया जा सका। लुई ब्लैंक ने लिखा है कि सरकारी कारखानों में केवल गरीब और निकम्मे आदमियों का जमघट रहता था। यह कोई नहीं जानता था कि उनको किस प्रकार काम दिया जाये। इसलिये यह काफी समझा जाता था कि उनको कुछ खाने के लिये दे दिया जाये। इन कारखानों में कोई उत्पादन नहीं हुआ। इनमें रहने वाले आदमियों में काम करने की आदत नहीं थी। इनमें राज्य का रुपया व्यर्थ नष्ट हुआ। इनमें जो कुछ रुपया खर्च होता था वह सुस्ती के ऊपर खर्च होता था। जो कुछ मदूज़रों को दिया जाता था वह मज़दूरी नहीं थी, बल्कि एक प्रकार का छिपा हुआ दान था।[1] इन कारखानों में ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई जो समाज के लिये खतरनाक थी। इसलिये कारखाने बन्द कर दिये गये। इससे मज़दूर लोगों में बड़ी निराशा हुई और वे लोग उत्तेजित होकर बलवा करने लगे। पेरिस के बाज़ार में भयंकर उत्पात हुए। चार दिन तक रक्तपात जारी रहा। अन्त में सरकार की विजय हुई। इस उत्पात के अन्त के साथ ही सामाजिक जनतंत्र के स्वप्न का भी अन्त हो गया।

द्वितीय साम्राज्य—क्रान्तियों के विषय में पहले से यह कोई नहीं कह सकता कि उनकी प्रगति क्या होगी और परिणाम क्या निकलेगा। 1789 के और उसी प्रकार 1848 के क्रान्ति-विधाताओं ने जिस उद्देश्य से क्रान्ति आरम्भ की थी, वह तो सिद्ध हुआ नहीं और परिस्थितियों ने दूसरे तो परिणाम को जन्म दिया। दोनों ही अवसरों पर प्रयत्न इस बात का था कि लोकराज्य स्थापित किया जाय, लेकिन दोनों ही अवसरों पर हुआ यह कि नैपोलियन का साम्राज्य स्थापित हो गया, बालिग मताधिकार के अधिकार के आधार पर जब पहली बार निर्वाचन किया गया तो यूरोप दंग रह गया; क्योंकि जनतंत्र के कट्टरपन ने अभी लोगों की नसों में प्रवेश नहीं किया था। मुख्यतः ऐसे लोग पार्लियामेंट के सदस्य निर्वाचित हुए जो नरम नीति के थे। इन सदस्यों में महासम्राट नैपोलियन बोनापार्ट का भतीजा लुई नैपोलियन भी निर्वाचित हुआ और वह दिसम्बर 1848 में पचास लाख मतों के बहुमत से अध्यक्ष निर्वाचित हुआ। तीन साल बाद एक ही प्रहार से जनतन्त्र का अन्त हो गया और लगभग अस्सी लाख के बहुमत से साम्राज्य खड़ा कर दिया गया। इसी प्रकार जैसा पहले जनतन्त्र का अन्त हुआ, वैसा ही दूसरे का भी हुआ। इसके समर्थक परस्पर मिले हुए नहीं थे और सामाजिक प्रगति का इसने विरोध किया था। इसलिए जनतन्त्रवादी इससे घृणा करने लग गए थे। पहले साम्राज्य के पतन के एक पुश्त बाद स्वयं फ्रांसीसियों ने देखा कि उनको जनतन्त्र के नेता आतंकवाद से दबा रहे हैं। इसलिये नैपोलियन के नाम का उन पर

---

1. लुई ब्लैंक, आर्गेनीजेशन डू ट्रावेल।

जादू चलने लगा और आखिरकार उन्होने अपनी सत्ता एक व्यक्ति के हाथों में सौंप दी और फिर साम्राज्य शासन स्थापित हो गया। दूसरा प्रयत्न एक ऐसी सरकार स्थापित करने के लिए किया गया था जिससे अपने देश में स्थिरता हो और दूसरे देशों में विजय-कीर्ति प्राप्त हो। अब हम दूसरे साम्राज्य के कार्यक्रम का विवेचन करेंगे और देखेंगे कि व्यवहारतः इसने क्या काम किया। इस कार्यक्रम का आधार नैपोलियन की श्रुति परम्परा पर था।

नैपोलियन विषयक श्रुति परम्परा का विकास—जिन परिस्थितियों के कारण लुई नैपोलियन को फिर फ्रांस का राजसिंहासन प्राप्त हुआ, वे इस बात की परिचायक हैं कि किसी व्यक्ति-विशेष का इतिहास पर क्या प्रभाव हो सकता है। नैपोलियन प्रथम के व्यक्तित्व ने अपने समय में फ्रांसीसी जनता की कल्पना को घेरे रखा और उसकी मृत्यु के बाद भी उस पर अपनी छाप बनाये रखी और उसके भतीजे ने इसी कारण नैपोलियन के कुल में उत्पन्न होने का खूब लाभ उठाया, वरना उसके पास इस कुलीनता के अतिरिक्त और कोई ऐसा अन्य गुण नहीं था जिससे फ्रांसीसी कौम प्रभावित होती। सिकन्दर के सेनापतियों के लिये यह कठिन बात है कि वे सिकन्दर के रिक्त राजसिंहासन पर आसीन हो सकें। नैपोलियन के उत्तराधिकारियों के लिये भी यही कठिनाई थी। वे लोग नैपोलियन महान् का अनुकरण नहीं कर सकते थे, इसलिए उनमें यह क्षमता नहीं थी कि उसकी भांति वे फ्रांसीसियों के दिलों में उस स्थान की पूर्ति करें जो उसकी मृत्यु से खाली हो गया था। पुनः स्थापित राजसत्ता ने कौम में कोई खास जोश पैदा नहीं किया। क्रान्ति से जो नुकसान हुआ उसकी इसने कुछ क्षति-पूर्ति अवश्य की; परन्तु इससे उसका विरोध कम नहीं हुआ। पूँजीपतियों के शासन ने शान्ति की रक्षा के लिए यद्यपि सेवा की, परन्तु वह देश में अपना कदम दृढ़ नहीं कर सका और जो कुछ इसने किया, उससे पिछले शासन का कार्य और भी उज्ज्वल प्रतीत होने लगा। अब फ्रांसीसियों का खयाल उस एक व्यक्ति की ओर दौड़ने लगा जो इस समय सेंट हेलिना के टापू में बन्दी था और उनको अब अफसोस होने लगा कि दुर्दैव ने क्यों उसका पतन किया। उसके कार्य को अब लोग ठण्डे दिल से नहीं परखते थे। अब तो बड़ी सहानुभूति के साथ उसकी याद आने लगी और उसके ऐसे कार्यों पर भी, जिनको अच्छा नहीं माना जाता था, पर्दा डाला जाने लगा। वे उन साधनों की उपेक्षा करने लगे जिनके द्वारा उसने शक्ति प्राप्त की थी। वे इस बात को भी भूल गये कि उसने वन्दा तो किया था स्वतन्त्रता स्थापित करने का, और स्थापित किया दमनकारी शासन। अब तो वे केवल इस बात की याद करने लगे कि नैपोलियन एक बहुत बड़ा शूरवीर राष्ट्रीय नेता था। अब 1915 की सन्धियाँ उनको याद आने लगीं।

नैपोलियन के इतिहास का नया अध्ययन—नैपोलियन-विषयक श्रुति परम्परा के कारण नैपोलियन के इतिहास को भी नई दृष्टि से देखा जाने लगा। अभी वह जीवित

ही था। अब वह उदार विचारों का प्रचारक और क्रान्ति का उत्तराधिकारी मालूम होने लगा। अब वह 1789 के विचारों का प्रतीक बन गया। नये प्रकाश में वह समाज का रक्षक दिखाई देने लगा। लोग समझने लगे कि वह यूरोप में स्वर्णयुग की स्थापना करना चाहता था और शान्ति और स्वाधीनता का युग लाने वाला था, परन्तु दुर्भाग्य ने यह स्वप्न सिद्ध नहीं होने दिया। इसलिये वह अपने उद्देश्यों की पूर्ति नहीं कर सका और विवश होकर उसको रक्तपात करना पड़ा। यह धारणा लोगों के अन्ध-विश्वास के कारण नहीं बनी थी। यह तो इस बात का प्रमाण थी कि फ्रांसीसी कौम अपने महान् से महान् शासक की स्मृति का आदर करना चाहती थी। इस श्रुति परम्परा में असंख्य लोगों का विश्वास था परन्तु ऐसे लोगों में प्रथम स्थान था, लुई नैपोलियन का। देश से निर्वासित हो जाने के बाद उसने बहुत गहनता के साथ नैपोलियन के विचारों का मनन किया था; अपने लेखों में उनकी व्याख्या की थी और वह समझने लगा था कि दैव ने उसको इसलिए उत्पन्न किया है कि वह अब अपने नामधारी की पोशाक स्वयं धारण कर ले। अत: 1849 में लोकराज के अध्यक्ष ने घोषणा की कि "नैपोलियन का नाम देश के अन्दर व्यवस्था और जनहित का प्रतीक है और दूसरे देशों में यह कौमी प्रतिष्ठा का सूचक है।" संक्षेपतः वह घोषणा द्वितीय साम्राज्य के कार्यक्रम की सूचक थी।

द्वितीय साम्राज्य का कार्यक्रम—तृतीय नैपोलियन की घरेलू नीति यह थी कि लोगों को राजनीतिक शिक्षा दी जाय और यह बतलाया जाय कि शान्ति ही तो स्वाधीनता है। स्थायी सरकार स्थापित करने के लिये पहली शर्त यही है कि उसकी हुकूमत को माना जाये। जो कौम आज़ाद होना चाहती है उसके लिये यह जरूरी है कि वह आज्ञा पालन करना सीखे। इतिहास का क्रम यही है कि पहले शान्ति और फिर आज़ादी, क्योंकि उच्छृंखलता स्वाधीनता नहीं है, यह तो स्वाधीनता की घातक है। इस आधार पर यह जरूरी माना गया कि स्वाधीनता को अभी स्थगित रख जाय। यही काम नैपोलियन ने किया था। उद्देश्य यह था कि पहले कौम हुकूमत का आदर करना सीखे, वह आज्ञापालन की शिक्षा प्राप्त करे। उस समय एक व्यक्ति ने कहा था कि फ्रांस एक महान् जनतन्त्र देश है, परन्तु इसको अनुशासन की जरूरत है, इसलिये नैपोलियन को युद्ध करना बहुत आवश्यक है। इस उद्देश्य का बहाना लेकर लुई नैपोलियन ने कौम के राजनीतिक अधिकारों का अन्त करना शुरू किया और यह वचन दिया कि वह धीरे-धीरे अपनी शक्ति को नियमित करेगा और फिर लोगों के हाथों में अधिकार सौंप देगा। उसने यह वचन दिया कि स्वाधीनता तो इस भवन का कलश है। अपने अन्तिम दिनों में तृतीय नैपोलियन ने अपनी हुकूमत जरूर कुछ ढीली कर दी थी, परन्तु इसका उद्देश्य था जनमत को शान्त करना। उसका यह खयाल नहीं था कि इसके लिये समय आ गया है। इस साम्राज्यवादी हुकूमत के लक्षण को समझने के

लिये साम्राज्य के उस विधान का वर्णन करना ज़रूरी है जिसका एकतन्त्र सत्ता के समय उपयोग होता था और इसी के साथ-साथ यह भी बतलाना ज़रूरी है कि अगले सालों में इस विधान में क्या संशोधन हुआ।

साम्राज्य का विधान 1—हुकूमत—बादशाह हुकूमत का केन्द्र था। स्थल सेना और नौसेना की कमान उसके हाथ में थी। सन्धि और विग्रह की शक्ति उसी के पास थी। प्रशासन के लिये कानून का सूत्रपात वही कर सकता था। वह केन्द्रीभूत शासन-सत्ता का अध्यक्ष था। फ्रांस के कोने-कोने में उसकी सत्ता व्याप्त थी। उसके हाथ में अपार शक्ति थी। उस समय कोई परिषद् नहीं थी। विधान सभा में मन्त्रियों को कोई स्थान नहीं था। वे लोग विधान सभा की सम्मति के अनुसार शासन नहीं करते थे। उनकी ज़िम्मेदारी भी मिली-जुली नहीं थी। वे एक-दूसरे के साथ सहयोग नहीं करते थे। उन पर पार्लियामेन्ट का कोई नियंत्रण नहीं था। व्यक्तिशः वे बादशाह के प्रति उत्तरदायी थे। वे तभी तक अपने पद पर रह सकते थे जब तक बादशाह चाहे। इसलिये वे सर्वांश में उसके अधीन थे। स्वायत्त शासन का कोई निशान शेष नहीं रहा था। सारी सत्ता ऐसे लोगों के हाथ में पहुँच गई थी जो बादशाह ने नामज़द किये थे और जो उसी की इच्छा के अनुसार काम करते थे। सब म्यूनिसिपल अधिकारी, यहाँ तक कि मेयर भी, बादशाह के द्वारा नियुक्त किये जाते थे। उनका निर्वाचन नहीं होता था। प्रेस पर पुलिस का नियंत्रण था और व्यक्तिगत स्वतंत्रता भी पुलिस के द्वारा संकुचित कर दी गई थी। सरकार की टीका-टिप्पणी करना खतरे की बात थी, यहाँ तक कि न्याय विभाग भी निरंकुश सत्ता के हाथ में एक हथियार बन गया था।

2. **विधान सभा**—विधान सभा के तीन अंग थे—लेजिस्लेटिव बॉडी, कौंसिल और सीनेट। लेजिस्लेटिव बॉडी का निर्वाचन बालिग मताधिकार के आधार पर किया जाता था, परन्तु मतदाताओं के रास्ते में अगणित बाधाएँ थीं। जिन उम्मीदवारों को मंत्री खड़ा करते थे उनके लिये दबाव डालकर मत प्राप्त किये जाते थे। मतसंग्रह में तो भ्रष्टाचार था ही। इसके अतिरिक्त सदन के हाथ में नाम मात्र की भी स्वतंत्रता नहीं थी। न वह नये कानून का प्रस्ताव कर सकता था और न सरकार द्वारा प्रस्तावित किये हुये किसी बिल का संशोधन कर सकता था। अध्यक्ष को बादशाह नामज़द करता था। सदन का अधिवेशन वर्ष-भर में केवल तीन मास के लिए होता था। बजट पर सबको एकमत होना पड़ता था। काउन्सिल का कानून बनाने में अधिक हाथ था। यही सदन के लिए प्रस्ताव तैयार किया करती थी। विधान के शब्दों में इसमें ऐसे लोग थे जो वक्तृत्व-कला का प्रदर्शन नहीं करते थे बल्कि व्यावहारिक बातें करते थे। परन्तु इसका अध्यक्ष भी बादशाह ही नियुक्त करता था। सीनेट के सब सदस्यों को बादशाह मनोनीत करता था। इनमें प्रायः ऐसे लोग थे जो बड़े-बड़े पदों पर काम कर चुके थे। इस संस्था का काम था कानून के लिए प्रस्ताव तैयार करना, विधान का भाष्य

करना और अतिक्रमण से उसकी रक्षा करना। इस प्रकार नैपोलियन फ्रांस का निरंकुश शासक था। सिद्धान्ततः उसकी शक्ति का आधार था लोगों की मर्जी और इसको जानने का साधन था जनमत। परन्तु वस्तुतः इसका आधार था उसकी सेना। संक्षेप में नैपोलियन-विषयक जनश्रुति परंपरा का मतलब था जनतन्त्र को उलटना, अर्थात् लोकमत के आधार पर निरंकुशता की स्थापना।

उदार साम्राज्य—पहले कहा गया है कि नैपोलियन विवश होकर 1860 के बाद धीरे-धीरे अपनी सत्ता को संकुचित करने और उदार साम्राज्य (1860-70) स्थापित करने लगा। वह इस बात का स्पष्ट वचन दे चुका था कि उसका इरादा फ्रांसीसी जनता को वे राजनीतिक अधिकार वापस सौंपना है, जो उसने छीन लिये थे। अगले सालों में उसको इस बात की अनुभूति होने लगी कि अपने वचन को काफी हद तक पूरा करने की अब जरूरत आ गई है। नैपोलियन प्रथम की भाँति उसने भी कैथोलिक लोगों को अपने पक्ष में ले लिया और उनके समर्थन का पुरस्कार यह दिया कि शिक्षा उनके सुपुर्द कर दी और वे लोग अपनी धार्मिक संस्था का उपयोग हुकूमत के प्रति नम्रता और अधीनता का प्रचार करने के लिए करने लगे। लेकिन 1859 में उसने आस्ट्रिया के विरुद्ध पीडमौन्ट का साथ दिया जिससे कैथोलिक लोग चिढ़ गये और इटली के आन्दोलन (जिसका वर्णन पाँचवें अध्याय में होगा) से यह आशंका होने लगी कि पोप की शक्ति का अन्त होने वाला है। अतः स्वभावतः ही फ्रांस के पादरियों में विरोध का तूफान खड़ा हो गया। इसके साथ-साथ कल-कारखाने वालों में भी उसका विरोध होने लगा। नैपोलियन चाहता था कि व्यापार निर्बाध हो। 1860 में उसने इंगलैण्ड के साथ एक व्यापारिक सन्धि की, जिसके अनुसार फ्रांस के आयात पर महसूल कम कर दिया गया। वह मजदूरवर्ग का हित दिल से चाहता था और उसको इस बात का विश्वास था कि निर्बाध व्यापार से कौम में शान्ति और सद्भावना स्थापित होगी; परन्तु उसके कार्य का नतीजा यह हुआ कि व्यापारी वर्ग उसका विरोधी बन गया। इस प्रकार दो जोरदार दल बादशाह के विरोधी हो गये। उसकी नीति के कारण इन दोनों के हितों की हानि हुई थी। पहला दल था कैथोलिक पादरियों का और दूसरा संरक्षकों (Protectionists) का। अब उसके लिये जरूरी हो गया कि अपने पक्ष का समर्थन करने के लिए वह दूसरे कोने टटोले। उसके सलाहकारों ने उस पर जोर डाला कि अपनी कुछ सत्ता लोगों को दे ताकि उसकी जिम्मेदारी कम हो जाये, वरना इंगलैण्ड के बादशाह जार्ज तृतीय की भाँति, जो बिना सलाह के हुकूमत करना चाहता था, उसकी जिम्मेदारी बहुत बढ़ जाएगी। इसलिए पार्लियामेंट्री शासन स्थापित करने के लिए पहला कदम सन् 1860 में उठाया गया। अब सीनेट और लेजिस्लेटिव बॉडी को यह अधिकार दे दिया गया कि बादशाह के वार्षिक भाषण पर बहस और आलोचना की जा सकती है। इसके साथ ही यह भी

हुक्म दिया गया कि पार्लियामेंट में जो बहस हो, उसकी पूरी रिपोर्ट छपनी चाहिए। सन् 1861 में नैपोलियन ने विधान सभा को यह अधिकार दिया कि बजट के एक-एक मद पर अलग-अलग मत दिया जा सकता है। सन् 1867 में मंत्रियों से प्रश्न पूछने का अधिकार भी दे दिया गया। अगले साल प्रेस पर से अनेक पाबन्दियाँ हटा ली गईं और सभाएँ करने की अनुमति दे दी गई। परन्तु इन सब साधनों से भी जनमत बादशाह के अनुकूल नहीं बन सका। सब लोग इस बात को जानते थे कि बादशाह का विरोध बढ़ता जाता है और अपनी कमज़ोरी के कारण वह अपने अधिकारों को संकुचित कर रहा है। इसलिए वास्तव में बात यह हुई कि इन साधनों का उपयोग सरकार के विरोधियों ने सरकार को उलट देने के लिये किया। अब वंशानुक्रम के पोषकों (Legitimists), ओरलियन के अनुयायियों, नरम दल वालों, जनतंत्रवादियों, पादरियों और संरक्षकों ने मिलकर नैपोलियन की निरंकुशता का विरोध करना शुरू किया, जिसके दबाव से उसकी सत्ता चकनाचूर हो गई। अब ये सब दल बादशाह के हाथों से अधिक वैधानिक सत्ता छीनना चाहते थे।

द्वितीय साम्राज्य की सामाजिक और आर्थिक नीति—प्रबन्धक की हैसियत से नैपोलियन तृतीय ने उन उन्नत निरंकुश शासकों की परम्पराएँ प्राप्त की थीं, जो अठारहवीं शताब्दी में यूरोप का शासन करते थे। वह अपने को राष्ट्र का परम सेवक मानता था। इस प्रकार वह लुई चौदहवें का उत्तराधिकारी नहीं, बल्कि जोजफ द्वितीय या फ्रेड्रिक महान् का उत्तराधिकारी था। उसने लिखा है कि नैपोलियन का आदर्श युद्ध नहीं बल्कि सामाजिक, औद्योगिक, व्यापारिक और मानवीय आदर्श है। साम्राज्य की सामाजिक और आर्थिक नीति का ध्येय था कि फ्रांस को जो राजनीतिक अधिकारों की क्षति हुई है उसकी पूर्ति की जाय। इसलिए साम्राज्य के कार्यक्रम में कौम का हित सबसे पहला काम माना गया था। यह कहा जाता था कि ईसाई धर्म ने दासता का अन्त किया है। फ्रांस की राज्यक्रान्ति ने किसानों की दासता का अन्त किया और अब जनतन्त्र से गरीबी का अन्त होगा। नैपोलियन के कामों से प्रकट होता था कि गरीबों के लिए उसके दिल में वास्तव में दर्द था और वह लोगों की हालत को सुधारना चाहता था। सत्ता प्राप्त करने से पूर्व उसने एक पुस्तक लिखी, जिसका नाम था 'निर्धनता का अन्त'। इस ग्रन्थ से प्रगट होता था कि उसमें परोपकार की भावना थी। उसकी छत्र-छाया में फ्रांस ने बड़ी उन्नति की, औद्योगिक और व्यापारिक प्रगति को उसके समय में बहुत प्रोत्साहन मिला। दो प्रधान संस्थाओं के द्वारा फ्रांस की साख खास तौर पर बढ़ गई। एक संस्था ने सम्पत्ति के आधार पर खूब कर्ज़ दिया और दूसरी संस्था ने बड़े-बड़े धन्धों के लिए रुपया दिया। बैंक आफ फ्रांस की शाखाएँ सारे राज्य में फैल गईं। इसके साथ ही रेलवे का बहुत विकास हुआ और डाक और तार के महकमे खूब जम गए। सम्पत्ति की वृद्धि हुई, जिससे उद्योगों को जीवन प्राप्त हुआ। इसके साथ-

ही-साथ यातायात के साधन बढ़े जिससे वाणिज्य की उन्नति हुई। इसके परिणाम-स्वरूप कल-कारखाने उन्नत हुए। नये-नये आविष्कार होने लगे और बीस साल के अन्दर उत्पादन दुगुना हो गया। 1855 में एक बहुत बड़ी प्रदर्शनी हुई जिससे प्रगट हुआ कि फ्रांस के औद्योगिक जीवन में क्या अद्भुत उलटफेर हो रहा है। फिर भी हमको यह स्मरण रखना चाहिये कि राष्ट्र की समृद्धि की जाँच इससे नहीं होती कि उसके पास कितना धन है। जाँच यों होती है कि सम्पत्ति का विभाजन किस प्रकार होता है। यदि सम्पत्ति चन्द लोगों के ही पास है तो इससे कौम को बड़ा नुकसान होता है. इसलिए आर्थिक उन्नति का प्रमाण वास्तव में मजदूरो की दशा है, क्योंकि इन्हीं के शारीरिक और आर्थिक हितों पर वास्तव में समाज-कल्याण की नींव खडी होती है। यह सत्य बात है कि 1850 और 1860 के बीच में अर्थात् इन दस वर्षो में मजदूरी चौगुनी हो गई थी, परन्तु वास्तव में देखा जाय तो यह बढ़ी नहीं, बल्कि घट गई थी; क्योंकि जीवन की आवश्यकताओं का मूल्य पहले से ड्योढ़ा हो गया। सरकार सामाजिक समस्याओं की ओर उदासीन नहीं थी, परन्तु उसका प्रयत्न समस्याओं को हल करने के लिए नहीं, बल्कि वक्त टालने के लिये था। पेरिस में कसाई संघ का एकाधिकार छीन लिया गया था और एक ऐसा कोष बनाया गया था जिसके द्वारा गरीब लोगों को सस्ती रोटी मिल सके। मजदूरों के लिये अच्छे मकान बनाने के वास्ते कोष संग्रह किया गया था। जनहित के लिए सोसाइटियाँ बनाई गई थीं और व्यापारिक संघों को भंग करने के लिये प्रोत्साहन दिया गया था। दानगृह खड़े किये गये। विपत्ति के समय लोगों को सहायता देने के लिये सरकार की ओर से कोष एकत्रित किया गया। सरकार ने मजदूरो के लिये बहुत काम निकाले और बेकारी को दूर करने के लिये बहुत काम चलाये, जिससे बड़े-बड़े नगरों का स्वरूप बदल गया। पेरिस का तो एक प्रकार से रूपान्तर हो गया। उसमें अच्छी-अच्छी इमारतें खड़ी हो गईं। पेरिस की वर्तमान भव्यता का निर्माण उसी समय हुआ था।

साम्राज्य की विदेश-नीति—अब हम साम्राज्य की विदेश-नीति का वर्णन करेंगे। हम इस बात पर ज़ोर देना चाहते हैं कि फ्रांस के उन्नीसवीं शताब्दी के इतिहास को समझने के लिए यह आवश्यक है कि उसके आन्तरिक विकास पर ही ज़ोर नहीं दिया जाय। विदेशों की परिस्थिति का प्रभाव फ्रांस की आन्तरिक स्थिति पर पड़ा था। बाहर कुछ ऐसी प्रगतियाँ चल रही थीं जिन पर फ्रांस की सरकार का कोई वस नहीं था, लेकिन इनका असर फ्रांस की आन्तरिक अवस्था पर पड़े बिना नहीं रह सकता था। नैपोलियन ने घोषणा की थी कि सरकार का उद्देश्य अन्दरूनी हालत को सुधारना है, परन्तु साथ ही वह इस बात का महत्त्व भी समझता था कि दूसरे देशों के साथ फ्रांस का रुख दृढ़ और सशक्त हो। परन्तु यह सन्देह की बात थी कि उसके दिमाग में इसका ठीक नक्शा था या नहीं। बिस्मार्क कहा करता

था कि नैपोलियन युद्ध करना चाहता है, परन्तु इसकी रूपरेखा उसके दिमाग में स्पष्ट नहीं है। वह यह इरादा कर चुका था कि लुई फिलिप की भाँति उसका पतन न हो। लुई फिलिप हर हालत में अमन-चैन चाहता था, परन्तु नैपोलियन को यह नीति पसन्द नहीं थी। उसने अंग्रेज राजदूत से कहा था कि "फ्रांस स्वभावतः लड़ाकू देश है। यह दबकर नहीं रहना चाहता और मेरा निश्चय है कि इन भावनाओं को सन्तुष्ट किया जाय।" परन्तु साथ ही वह सावधानी के साथ आगे बढ़ना चाहता था। उसको यह आशंका थी कि जल्दबाजी में यदि कोई अतिक्रमण किया गया तो कहीं सारा यूरोप सशस्त्र होकर फ्रांस का सामना करने के लिए न उठ खड़ा हो और इस प्रकार कौम के सामने एकाएक भयंकर परिस्थिति उपस्थित हो जाये। प्रथम साम्राज्य की परम्पराएँ अभी लोगों की स्मृतियों में जीती-जागती थीं और संसार को यह विश्वास दिलाने की आवश्यकता थी कि नैपोलियन तृतीय का इरादा यूरोप को रक्त-रंजित करने का नहीं है। इस प्रकार नैपोलियन दुविधा में पड़ा हुआ था और इसमें उसके आत्म-विनाश का बीज मौजूद था। उसकी हार्दिक इच्छा थी शान्ति। इस नीति के द्वारा वह यूरोप को अपने अनुकूल रखना चाहता था और समाज-कल्याण की जो योजनाएँ उसके दिमाग में थीं, उनको पूरी करना चाहता था। लेकिन अपने राजवंश की नींव दृढ़ करने के लिए यह जरूरी था कि फ्रांसीसियों की कीर्ति-अभिलाषा को, जो युद्ध से ही पूरी हो सकती थी, पूरा किया जाये। उसकी परिस्थिति कठिनाइयों से भरी हुई थी, लेकिन उसके स्वभाव में यह क्षमता नहीं थी कि वह इन कठिनाइयों का हल निकाल सके। उसमें वास्तविक राजनीतिज्ञता नहीं थी। उसके साधन उसके उद्देश्यों के अनुकूल नहीं थे। उसमें अनेक सद्गुण थे। उसमें उदार भावनाएँ थीं, परन्तु अपने डाँवाडोलपन और कायरपन के कारण वह कूटनीति के जाल में फँस गया था और इस कारण अनुचितरूपेण लोग समझने लगे कि वह नीच और प्रपंची व्यक्ति है। वास्तव में उसकी दृष्टि विशाल थी और उसका विचार प्रशस्त था। उस समय के लोगों में वह बहुतों से ऊँचा था, परन्तु अपने विचारों को कार्यान्वित करने के लिए जिन साधनों का वह उपयोग करना चाहता था वे उतने ऊँचे नहीं थे जितने ऊँचे उसके विचार थे। उसमें सद्भावनाएँ थीं परन्तु उनकी पूर्ति के लिए उसमें साहस नहीं था और अन्त में उसने अपनी सम्पूर्ण सद्-अभिलाषाओं को छोड़ दिया। परन्तु जब उसके पतन का समय आया तो उसकी सहायता के लिए किसी ने हाथ नहीं उठाया। फिर भी आरम्भ में नैपोलियन तृतीय को भारी कामयाबी हुई। उसके जीवन में नाजुक घड़ी वास्तव में 1859 में आई। उस समय उदार साम्राज्य का आरम्भ हो रहा था, परन्तु ये दोनों बातें साथ-साथ ऐसे संयोग से ही नहीं हो गई थीं। उसकी निरंकुशता का कोई सामना नहीं हो सकता था। जब फ्रांस बड़े युद्धों में व्यस्त था तो अपने विरोध का सामना करने की उसमें क्षमता थी। परन्तु ज्यों ही उसकी विदेशी कार्य-

वाहियों का पता लगने लगा, त्योंही राष्ट्र का राजनीतिक स्वभाव जागृत होने लगा। असन्तोष ने सिर उठाया और उसके हाथ से राजनीतिक सत्ता खिसकने लगी। इन कार्यवाहियों से प्रगट हो गया होगा कि विदेश में वह किस नीति का अनुसरण कर रहा था।

क्रीमियन युद्ध—नेपोलियन के जीवन में यह परस्पर विरोधी बात मालूम होती है कि उसका पहला कार्य ऐसे हितों के लिए था जिनका अन्त में उसने प्रबल और घातक विरोध किया। फ्रांस के कैथोलिक वर्ग की ओर से उसने जेरुसलम के पवित्र स्थान पर कब्जा रखने का दावा पेश किया। यह एक ऐसा दावा था जिसे रूस भी यूनानी और पुरातन चर्च की ओर से पेश करना चाहता था। यह धुँधला-सा विरोध चार साल तक अर्थात् 1850 से 1854 तक चलता रहा। इस विरोध का स्वरूप ठीक-ठीक कभी स्पष्ट नहीं हुआ। परन्तु इसी के कारण क्रीमियन युद्ध जारी हुआ, जिसमें लगभग पाँच लाख पुरुषों का बलिदान हो गया। नेपोलियन स्वयं इस युद्ध के धार्मिक पक्ष की परवाह नहीं करता था; परन्तु वह कैथलिक समर्थकों को अलग भी नहीं करना चाहता था। उधर रूस का जार बिल्कुल झुकना नहीं चाहता था। इसलिए नई-नई उलझनें उपस्थित होती जाती थीं। पहले तो एक बालिश्त-भर बादल प्रगट हुआ, परन्तु फिर उसने सम्पूर्ण आकाश को ढक लिया। कूटनीतिज्ञ राजदूतों के सन्देह के कारण और गलतफहमियों के कारण एक भयंकर कलह का बीज पड़ गया। इंगलैण्ड इस युद्ध में इसलिए शामिल हुआ कि उसको इस बात का विश्वास था कि तुर्की साम्राज्य छिन्न-भिन्न होने वाला है। उसको विश्वास इसलिये उत्पन्न हुआ कि जार निकोलस प्रथम ने प्रस्ताव किया था कि टर्की के टुकड़े-टुकड़े कर दिए जायँ और इंगलैण्ड की यह परम्परागत नीति थी कि रूस को दक्षिण की ओर बढ़ने से रोका जाय। इसलिए अंग्रेज दूत के उकसाने से तुर्की के सुल्तान ने जार की इस माँग को अस्वीकार किया कि टर्की की रोमन कैथोलिक प्रजा को, रक्षार्थ रूस के सुपुर्द कर दिया जाय। ऐसी परिस्थिति में रूस का यह दावा मुनासिब नहीं था; परन्तु फिर भी ऐसी बात नहीं थी कि इसमें से कोई रास्ता न मिले। लेकिन जब निकोलस ने देखा कि उसकी प्रतिष्ठा को धक्का लगने वाला है तो उसने मोल्डेविया और वेलेशिया पर कब्जा कर लिया। उसके इस कार्य से ग्रेट ब्रिटेन के युद्ध प्रिय-दल एबरडीन मंत्रिमंडल को युद्ध छेड़ने का बहाना मिल गया और युद्ध छिड़ गया। अब इतिहासकार स्वयं इसको प्रायः मानने लग गये हैं कि तात्कालीन समस्याओं का हल युद्ध किये बिना भी हो सकता था। युद्ध का जो परिणाम निकला उससे भी प्रगट हुआ कि इसमें जो धन और जन की हानि हुई, वह बहुत ही ज्यादा थी। थोड़े-से परिणाम के लिये इतनी क्षति उठाना उचित नहीं था। 1856 में युद्ध का अन्त हुआ और पेरिस की सन्धि हुई। इसके अनुसार काले सागर पर सबका समान अधिकार हो गया। डेन्यूब नदी पर नावें चलाने का सब राष्ट्रों को हक हासिल हो गया। डेन्यूबी रियासतों से तुर्की का नियंत्रण

हट गया। टर्की को यूरोप के कानून में शामिल कर लिया गया और यूरोप के राष्ट्रों ने अपना यह कर्तव्य मान लिया कि टर्की को छिन्न-भिन्न होने से बचाया जाये। इसके बदले में सुल्तान ने अपनी ईसाई प्रजा को धार्मिक सहिष्णुता का और मुसलमानों की भाँति पूर्ण अधिकारों का वचन दिया। यह सन्धि थोड़े ही समय तक चली। अहदनामे की स्याही भी नहीं सूखने पाई थी कि उसका उल्लंघन होने लगा। टर्की ने अपना वादा पूरा नहीं किया। इसलिये देश छिन्न-भिन्न होने से भी नहीं बचा और काले सागर की तटस्थता केवल सन् 1870 तक ही रही। सबसे बड़ी बात यह हुई कि यूरोप की चालीस साल की शान्ति भंग हो गई। इसके बाद युद्धों का युग आरम्भ हुआ जिससे संसार का स्वरूप और का और हो गया। बल्कि यों कहना चाहिये कि सारा संसार युद्ध-क्षेत्र बन गया। विनाश करना मानवीय प्रयास का ध्येय और राष्ट्रीय आकांक्षा का मूल मंत्र बन गया। उस समय परिस्थितियों ने बड़े जोश के साथ रूसी युद्ध के परिणाम का स्वागत किया। यह नेपोलियन के लिये एक बहुत बड़ी कामयाबी थी। पेरिस में जो काँग्रेस हुई, उसने उसकी अध्यक्षता की। इस काँग्रेस में बहस हुई कि सन्धि की क्या शर्तें होनी चाहिये। नेपोलियन चाहता था कि संसार की दृष्टि में वह यूरोप का भाग्य-विधाता मालूम पड़े। वह शस्त्र-संघर्ष को पार कर चुका था और फ्रांस के परम्परागत मित्र को उसने नष्ट होने से बचा लिया था। 1815 और 1840 के धब्बे भी उसने धो डाले थे। फ्रांस के लिये उसने कीर्ति प्राप्त कर ली थी और मानवता के शिखर पर वह पहुँच चुका था। बस, यहीं से उसका पतन आरम्भ हो गया। आखिरकार 1870 में विपत्तियों ने उसको दबा लिया।

द्वितीय साम्राज्य का राष्ट्रीय कार्यक्रम—पेरिस की सन्धि से नेपोलियन का शासन कुछ अर्से के लिये और बना रहा। विजय से उसको प्रोत्साहन प्राप्त हुआ और वह ऐसे साधनों की तलाश करने लगा जिससे उसकी प्रतिष्ठा जम जाये। नेपोलियन प्रथम के कार्यों ने प्रगट कर दिया था कि जो राष्ट्र कीर्ति के पीछे दौड़ते हैं, उनमें ऐसी आकांक्षा जागृत हो जाती है जो पराजय और यातना में ही शान्त होती है। उसके बाद उसके भतीजे के जीवन ने भी यही पाठ पढ़ाया। वह भी अपार महत्त्वाकांक्षा के जाल में फँस गया। ऐसा मालूम होता था कि अब वह समय आ गया है कि दुर्दैव जिस प्रकार उसका अन्त करना चाहता है उसका आरम्भ हो। अब तक तो नेपोलियन का आदर्श कुछ धुँधला था, परन्तु अब स्पष्ट होने लगा। अब मालूम हुआ कि यूरोप का नक्शा बदला जाने वाला है और 1815 का फैसला भंग होने वाला है। फ्रांस की सीमा राईन नदी तक पहुँचने वाली है और सताये हुए राष्ट्र मुक्त होने वाले हैं। यूरोप के पर-राष्ट्रमंत्री नेपोलियन को खतरनाक मानने लगे। उसकी शक्ति, स्वभाव और अननुमेय प्रवृतियाँ तत्कालीन राजनीतिक स्थिरता के लिये खतरनाक थीं। उसके राष्ट्रीय कार्यक्रम का पहला परिणाम यह हुआ कि उसने डेन्यूबी रियासतों

को एक राष्ट्र बना दिया जो पेरिस की कांग्रेस में स्वतन्त्र हो गयी थीं। इससे भी अधिक आकांक्षा-भरी योजना थी इटली को स्वतन्त्र करना। इसका हम अगले अध्याय में वर्णन करेंगे। यहाँ इतना ही कहना काफी है कि नेपोलियन की इटालियन नीति ने अधूरे साधनों से काम लिया जिससे कोई भी सन्तुष्ट नहीं हुआ और साम्राज्य के पतन का यहाँ से आरम्भ हो गया। इससे फ्रांस में अन्तर्दलीय कलह शुरू हो गया और नेपोलियन की स्थिति कमजोर हो गई। फ्रांस में पादरियों की संख्या बढ़ी। फ्रांस के लोग दक्षिणी इटली से बोरबन वंश को निकालने के आयोजन का विरोध करने लगे और फ्रांस का एक दल इसलिये असन्तुष्ट हो गया कि बादशाह ने एकदम इटली से अपनी सेना हटा ली और वहाँ के लोग कहीं के भी न रहे। उधर उसको इटली की भी कृतज्ञता प्राप्त नहीं हुई। उसने नाइस और सेवोय पर कब्जा कर लिया, इसलिए इंगलैण्ड के साथ भी उसकी मित्रता भंग हो गई। उसने पीडमोन्ट से मित्रता स्थापित कर ली, इसलिए आस्ट्रिया अलग हो गया। इस मित्रता के कारण ही इटली में प्रगति आरम्भ हुई थी। जब उसके आक्रमणात्मक इरादे प्रगट होने लगे तो प्रशिया भी भयभीत हो गया। सन् 1863 में जब पोलैण्ड में उत्पात हुआ और उसको दबाने के लिए नेपोलियन ने पोलैण्ड की सहायता की, तो रूस नाराज हो गया। फ्रांस के लोग बड़े जोश के साथ पोल लोगों का साथ देना चाहते थे। अगर बादशाह एकदम उनकी सहायता के लिए सेना रवाना कर देता तो सब दल उसका साथ देते। पोलों की राष्ट्रीयता की सहायता करना नेपोलियन के आदर्श और फ्रांसीसियों के स्वभाव के अनुकूल था, लेकिन इंगलैण्ड और आस्ट्रिया उदासीन रहे और नेपोलियन ने देखा कि वह केवल शब्दों द्वारा राजनीतिक विरोध ही कर सकता है, और कुछ नहीं। इससे पोलैण्ड का हित नहीं हुआ और रूस चिढ़ गया। अब द्वितीय साम्राज्य की कीर्ति बड़ी तेजी से क्षीण होने लगी। मैक्सिको की विपत्ति के बाद उसका सदा के लिए अन्त हो गया।

मैक्सिको की दुर्घटना—मैक्सिको की घटना ने यह प्रगट कर दिया कि बादशाह का दिमाग अस्थिर है और उसकी कल्पना में बहुत बड़ी-बड़ी योजनाएँ भरी हुई हैं। उसमें न दूरदर्शिता है, न दृढ़ निश्चय; और इसलिए वह अपनी योजनाओं में सफल नहीं हो सकता। जब यूरोप में उसको सफलता प्राप्त नहीं हुई तो उसने सोचा कि नवीन संसार में एक कैथोलिक और लैटिन साम्राज्य की सृष्टि की जाये, जिसके द्वारा एंग्लो-सेक्शन जातियों के बढ़ते हुए प्रभाव को रोका जा सके। उसने यह भी देखा कि ऐसा संसार उसको मैक्सिको में प्राप्त हो सकता है। इस समय वह देश अन्त:कलह में क्षत-विक्षत था और बाहर के अतिक्रमण का विरोध नहीं कर सकता था। नेपोलियन को वहाँ जल्दी ही हस्तक्षेप करने का बहाना भी मिल गया। सन् 1861 में एक आर्थिक संकट उत्पन्न हुआ जिसके कारण दो साल के लिए सरकार ने विदेशी कर्ज की अदायगी स्थगित कर दी। ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस और

स्पेन ने इसका विरोध किया, परन्तु यह निष्फल सिद्ध हुआ। तब इन देशों ने अपनी जनता के अधिकारों की रक्षा करने के लिए सेना-संचालन कर दिया। परन्तु साथ ही यह भी प्रगट किया कि मैक्सिको की आन्तरिक स्थिति में हस्तक्षेप करने का विचार नहीं है। वह चाहे जैसी सरकार अपने यहाँ स्थापित कर ले, इसमें कोई बाधा उपस्थित नहीं की जाएगी। इसको मैक्सिको ने मान लिया, परन्तु थोड़े ही अर्से में यह प्रगट हो गया कि नेपोलियन मैक्सिको के जनतन्त्र राज्य का अन्त करना चाहता है और वहाँ पर एक रोमन कैथोलिक राजवंश की स्थापना करना उसका ध्येय है। यह भी ज्ञात हुआ कि वह 1864 में आस्ट्रिया के सम्राट् के भाई मेक्स-मिलन को वहाँ अभिषिक्त करना चाहता है। कुछ अर्से तक फ्रांस की सेनाएँ विजयी होती रहीं, परन्तु अगले वर्ष अमेरिका का सयुक्तराष्ट्र अपने घरेलू युद्ध से मुक्त हो गया। उसने कहा कि मुनरो सिद्धान्त का उल्लंघन नहीं किया जाय। इस सिद्धान्त के अनुसार यूरोपियन राष्ट्रों को नये संसार में किसी प्रकार का हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं था। अब नेपोलियन के सामने दो मार्ग थे। पहला यह कि वह अपनी सेना हटा ले और दूसरा यह कि नतीजा कुछ भी हो, वह मैक्सिको और यूनाइटेड स्टेट्स के विरुद्ध युद्ध करता रहे। उसने प्रथम मार्ग का अवलम्बन किया। 1867 में फ्रांस की सेना मैक्सिको से वापस आ गई, परन्तु मेक्समिलन ने सिंहासन नहीं छोड़ा। इसलिये उसको गिरफ्तार किया गया और गोली से उड़ा दिया गया। मैक्सिकन युद्ध के इस विनाशकारी परिणाम से फ्रांस में बड़ा विक्षोभ उत्पन्न हुआ। लोगों ने देखा कि साम्राज्यवादी सरकार ने ऐसे काम पर जन और धन को स्वाहा कर दिया जिसकी सफलता की कोई आशा ही नहीं थी और यूनाइटेड स्टेट्स के सामने आखिरकार उसको घुटने टेकने पड़े। उससे फ्रांस की मान-हानि हुई। उसने एक दूसरे देश के राजा को पहले तो प्रोत्साहन दिया और फिर उसका पक्ष करना छोड़ दिया।

साम्राज्य का अन्त—अब नेपोलियन की स्थिति अत्यन्त नाज़ुक हो गई थी। उदार दल का साहस, जो वैधानिक सरकार स्थापित करना चाहता था, अब दुगुना हो गया था। 1870 में जनमत लिया गया तो प्रगट हुआ कि लोगों का नेपोलियन पर विश्वास है। फिर भी यह स्पष्ट हो गया था कि विदेशों में यदि विजय प्राप्त हो तभी साम्राज्य टिक सकता है और जनतन्त्र की बाढ़, जो साम्राज्य को डुबोना चाहती थी, रोकी जा सकती है। जिन घटनाओं के कारण फ्रांस और प्रशिया में युद्ध हुआ, उनका अगले अध्याय में वर्णन किया जायगा। युद्ध साम्राज्य के लिए घातक सिद्ध हुआ। अब कौम को साम्राज्य से कोई प्रेम नहीं रहा। बार-बार पराजय होने के कारण साम्राज्य की प्रतिष्ठा जाती रही। अब ऐसी घड़ियाँ आ गई थीं कि नई सरकार स्थापित की जाये और यह सरकार ऐसी हो जिसका अस्तित्व विदेशों में विजय प्राप्त करने पर आश्रित न रहे। तीन दिन बाद अर्थात् 1 दिसम्बर 1870 को सेडान में फ्रांसीसी सेना हार गई और असेम्बली ने तृतीय रिपब्लिक की घोषणा कर दी।

अध्याय 2

जर्मन साम्राज्य का विकास 1815-1870

कौमों का विकास—उन्नीसवीं शताब्दी के यूरोप के इतिहास का प्रमुख स्वरूप है कौमों का विकास। फ्रांस के एक मंत्री ने इस बात को स्वीकार किया था कि नेपोलियन की शक्ति का मुख्य आधार दूसरी सरकारों की भूलें और दीर्घ सूत्रताएँ थीं। उसके पतन का कारण था उग्र राष्ट्रीयता की भावना की जागृति, जिसने उसके संसार-साम्राज्य के स्वप्न को छिन्न-भिन्न कर दिया। फ्रांस की विजय से यूरोप में कौमों की जागृति हुई, जिससे ऐसी शक्ति की सृष्टि हुई जिसने यूरोप का नक्शा बदल दिया और एक नवीन राजनीतिक तन्त्र को जन्म दिया। यह था राष्ट्रीयता का सिद्धान्त, जिसका यूरोप के विकास पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा है और जिसने ऐसी सजीव और जागृत समस्याएँ उत्पन्न कर दी हैं जिनका हल भविष्य के गर्भ में है।

जर्मनी फ्रांस की राज्यक्रान्ति से पहले—नेपोलियन की शक्ति कहीं इतनी नहीं थी जितनी जर्मनी में; और उसके आधिपत्य का विरोध भी इतना प्रबल कहीं नहीं था जितना वहाँ। जब फ्रांस की राज्यक्रान्ति आरम्भ हुई तो यूरोप के देशों में जर्मनी सबसे अधिक विभक्त देश था। इसमें लगभग 200 रियासतें थीं जो नाम मात्र के लिये वहाँ के सम्राट् का हुक्म मानती थीं। व्यवहारतः अपने आन्तरिक मामलों में ये सब रियासतें स्वतन्त्र थीं और उनके पारस्परिक सम्बन्धों की भी यही स्थिति थी। इनमें अग्रणी आस्ट्रिया था और उसका हेब्जबर्ग राजवंश शाही शान से चमक रहा था। सैनिक शक्ति प्रशिया की सबसे अधिक थी और यही सरकार किसी शक्ति का विरोध कर सकती थी। जर्मनी की अन्य रियासतें या तो आस्ट्रिया के साथ रहती थीं या प्रशिया के, परन्तु ये अपनी स्वतन्त्रता की भी रक्षा करती थीं और जब कोई उनके शासनाधिकार पर अतिक्रमण करता था तो वे उसको सहन नहीं करती थीं। सब रियासतें नाम मात्र के लिये सम्राट् के अधीन थीं। इन सब रियासतों में पारस्परिक बन्धन यह था कि इन सबकी एक प्रतिनिधि सभा थी। यह डाइट (Diet) कहलाती थी। इसमें जर्मनी के शासक और मुख्य नगरों के प्रतिनिधि सम्मिलित थे। ये लोग वास्तव में अपनी रियासतों का सब बातों में प्रतिनिधित्व नहीं करते थे और न अपनी रियासतों के हितों की रक्षा करना इनका कोई कर्तव्य था। ये लोग एक विशेष काम के लिये प्रतिनिधि बनाये जाते थे। इसलिये 'डाइट' पार्लियामेन्ट नहीं थी, बल्कि एक प्रकार से विभिन्न रियासतों के दूतों की एक सभा थी। न इसके पास कोई कोष था और न ही कोई सेना। अतः इसके पास कोई शक्ति नहीं थी। फिर भी यह चलती

रही। इसलिये नहीं कि इससे कोई मतलब सिद्ध होता था, बल्कि केवल इसलिये कि यह मध्यकालीन साम्राज्य का एक अवशेष थी। अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक जर्मनी की ऐसी स्थिति रही। फिर भी मध्य युग के आरम्भ मे इंग्लैंड और फ्रांस की अपेक्षा जर्मनी के अन्दर अधिक राजनीतिक मेल था। लेकिन पश्चिमी यूरोप में लगातार योग्य शासक होते गये और उन्होंने अपना मुख्य लक्ष्य यह बनाया कि उनकी शक्ति दृढ़ आधार के ऊपर स्थापित की जाय और एक शक्तिशाली केन्द्रीय सरकार बनाने में समस्त साधनों का उपयोग किया जाय। परन्तु जर्मनी में शार्लमेन (Charle Magne) के समय से एक ऐसी परम्परा चली आ रही थी जो इसके राजनीतिक भविष्य के लिये अर्थात् होली रोमन एम्पायर के लिये घातक थी। मध्य युग के आरम्भ मे लोग इस बात पर विश्वास नहीं करते थे कि रोमन साम्राज्य का अस्तित्व मिट जायगा। सन् 800 ई० में जब फ्रेंकिश बादशाह के सिर पर सम्राट् का मुकुट रखा गया तो लोग ऐसा मानने लगे कि वह जार वंश का उत्तराधिकारी होगा। उसका साम्राज्य बहुत लम्बा-चौड़ा था, इसलिये उसको जार कहा जा सकता था। इसकी मृत्यु के पश्चात् उसका साम्राज्य छिन्न-भिन्न हुआ और फिर सम्राट् कहलाना भी बन्द हो गया। लेकिन जर्मनी के बादशाह ओटो प्रथम ने इस पदवी को फिर धारण कर लिया। इसके बाद जर्मनी के प्रत्येक शासक की यह अभिलाषा रही कि उसका राज्याभिषेक रोम में हो और वह होली रोमन एम्पायर का सम्राट् कहलाए। वोल्टेर कहा करता था कि होली रोमन एम्पायर न होली (धार्मिक) है, न रोमन है, और न एम्पायर (साम्राज्य)। जर्मनी के दिल में यह अभिलाषा थी कि वह संसार पर राज्य करे। इस आकांक्षा की उसको भारी कीमत चुकानी पड़ी। कई भागों में तो साम्राज्य का दबदबा केवल नाम-मात्र का रह गया था। इंग्लैण्ड, फ्रांस, स्पेन और स्केण्डिनेविया इसको कुछ नहीं समझते थे। इसका प्रभाव जर्मनी के लिये बड़ा निराशाजनक सिद्ध हुआ। उसके शासकों ने इस बात का प्रयत्न किया कि इटली में उनका आधिपत्य स्थापित हो जाय। इस कारण उनका पोपों से संघर्ष हुआ और इसी के परिणामस्वरूप जर्मनी का महाप्रतापी राजवंश अर्थात् होहेनस्टोफन नष्ट हुआ। इससे उनकी शक्तियाँ विकीर्ण हो गईं, उनके साधन क्षीण हो गये और सामन्ततंत्र की शक्तियों से संघर्ष करने के लिये उनमें कोई बल नहीं रहा। अब बादशाह तो कोई था नहीं, जो इटली में बार-बार सेना भेजता और संघर्ष जारी रखता। इसलिये बड़े-बड़े जागीरदारों और सामन्तों ने अपनी शक्ति को सुदृढ़ करके राज-सत्ता अपने हाथ में ले ली और केन्द्रीय सरकार को निर्बल कर दिया। इसके बाद तीस-वर्षीय युद्ध जारी हुआ और सुधार-युग (Reformation) का आरम्भ हुआ। इससे जर्मनी के टुकड़े-टुकड़े हो गये। अब लोगों का होली रोमन एम्पायर पर कोई विश्वास नहीं रहा। इसने देश को दो दलों में विभक्त कर दिया—एक प्रोटेस्टेन्ट और दूसरा कैथोलिक। गिरजाघरों की आमदनी और सम्पत्ति को छीन-छीन

कर छोटे-छोटे शासकों ने अपनी शक्ति खूब बढ़ा ली। जर्मन देश निर्बल और क्षीण हो गया और स्थायी राजनीतिक तन्त्र स्थापित करने के लिए उसमें कोई ऐसा तत्त्व नहीं रहा जो सबको एक कर सकता। उसमें छोटे-छोटे अगणित राज्य बन गए। इनमें कोई वियेना की तरफ झुकता था और कोई बर्लिन की तरफ खिंचता था।

नेपोलियन के कार्य का जर्मनी पर प्रभाव—यह इतिहास की एक विचित्रता है कि नेपोलियन ने वर्तमान जर्मनी का निर्माण किया। अपनी रचनात्मक राजनीति के कारण तो सीधे तरीके से; और उसके शासन के कारण जो विरोध उत्पन्न हुआ उससे उल्टे तरीके से, उसके द्वारा संयुक्त जर्मनी का निर्माण हुआ और जर्मन साम्राज्य की नींव पड़ी। पहले तो उसने जर्मनी की रियासतों को, उनकी भूमि का पुनर्विभाग करके, पुनः संगठित किया। पहले 200 से अधिक स्वतन्त्र रियासतें थीं। अब उसने केवल 31 रखीं। उसने ऐसी छोटी-छोटी रियासतों को खत्म कर दिया जिन पर छोटे-छोटे सरदारों का अधिकार था और जिनका क्षेत्रफल केवल कुछ वर्गमील था। उसने स्वतन्त्र नगरों को भी खत्म कर दिया। इनमें केवल हेम्बर्ग, फ्रेंकफोर्थ, ब्रीमेन और ल्यूबेग शेष रहे। इससे ऐसी समस्त छोटी रियासतों का अन्त हो गया जिनके कारण जर्मनी में अब तक बहुत अड़चनें थीं। इसलिये जर्मनी का नया नक्शा आसान हो गया और संयुक्त राष्ट्र बनने की सम्भावना हो गई। इसका नतीजा यह भी हुआ कि जो रियासतें बच गईं वे शक्तिशाली हो गईं। उनकी स्वतन्त्रता की भावना और पारस्परिक ईर्ष्या प्रबल हो गई। सन् 1806 में होली रोमन एम्पायर का अन्त हो गया। यह भी एक मार्मिक घटना थी, इसके स्थान पर रियासतों का एक दूसरा संघ बन गया जो फ्रांस के अधीन था। होली रोमन एम्पायर बहुत अर्से से एक नाम मात्र था, लेकिन फिर भी जब इसका वास्तव में अन्त हो गया तो ऐसा मालूम पड़ा मानो अतीत के साथ वर्तमान का एक बहुत बड़ा विच्छेद हो गया हो। वास्तव में इसका मतलब यह था कि अब नया जर्मन राज्य एक साफ-सुथरी जमीन पर खड़ा करना था। हेब्जबर्ग राजवंश बहुत अर्से से जर्मनी का शासन करता आ रहा था। इस ऐतिहासिक दावे का उसने अब परित्याग कर दिया। अब ऐसे जर्मनी की कल्पना करना सम्भव हो गया जिसमें आस्ट्रिया का कोई स्थान नहीं हो। लेकिन नेपोलियन का सबसे बड़ा काम ऐसा था जिसकी उससे कोई आशा नहीं करता था। यह था राष्ट्रीयता का विकास। जर्मनी ने अनेक युद्ध लड़े थे; लेकिन नेपोलियन के विरुद्ध जो उसने आजादी का युद्ध लड़ा वह सबसे भिन्न था। यह युद्ध ऐसी सरकार ने नहीं लड़ा था जो संसार को हड़पना चाहती हो। यह ऐसे सशस्त्र लोगों का युद्ध थी जो विदेशी आधिपत्य से अपने को मुक्त करना चाहते थे। गेटे को इस बात का अभिमान था कि वह अपने को विश्व का नागरिक मानता था। अब नई राष्ट्रीय भावना का दिग्दर्शन आरन्ट के प्रसिद्ध युद्ध-गीत के द्वारा हुआ। गीत था "हमारा पितृदेश जर्मनी क्या है।" नेपोलियन के आधिपत्य को उखाड़

फेंकने के लिए जर्मनी के उत्तम लोगों में जो एक उदार आवेश आया था, उसको यदि उपयुक्त क्षेत्र मिलता तो जर्मनी देश का इतिहास उन्नीसवीं शताब्दी में कुछ और ही होता। यह बतलाना आवश्यक है कि जर्मनी के देश-भक्तों में जो प्रबल आशाएँ जागृत हुईं वे किस प्रकार शान्त हुईं, और अन्त में जर्मनी का एकीकरण जनता के द्वारा नहीं, बल्कि सरकार के द्वारा हुआ। इसके ऐसे परिणाम हुए जिनका यूरोप के भावी विकास पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा।

संयुक्त जर्मनी के विकास में बाधाएँ—(1) **थकान** : नेपोलियन के पतन के एक पीढ़ी बाद तक जर्मनी अपनी पूर्व दशा में ही बना रहा। स्वाधीनता की प्राप्ति के लिए जो बलिदान हुआ था उसको लोग भूल गए या उसकी उपेक्षा करने लगे और उनके शासकों ने राष्ट्रीय एकता की उचित अभिलाषा को पूर्ण करने के लिए कोई प्रयत्न नहीं किया। मुख्यतः चार कारण ऐसे हैं जिनसे विदित होता है कि लगभग 25 वर्ष तक जर्मनी के राजनीतिक जागरण के लिए जो प्रयत्न किए गए वे सफल क्यों नहीं हुए। किसी भी महायुद्ध के बाद का युग महत्त्वपूर्ण सुधारों के लिए प्रायः उपयुक्त नहीं होता। देश की शक्तियाँ, युद्ध की क्षति-पूर्ति में और अपनी आर्थिक अवस्था का पुनर्निर्माण करने में लग जाया करती हैं। अतः अपनी राजनीतिक स्थिति का पुनर्निर्माण करने से पहले जर्मनी को वह थकान दूर करनी थी जो नेपोलियन के साथ युद्ध करने में हुई थी और उसके बाद उसके राज्य के क्षेत्रफल में जो हेर-फेर हुए थे, उनके अनुसार उसको अपना कार्यक्रम बनाना था।

(2) **दलबन्दी** : जर्मनी में सुधारों को जारी करने में जो देर हुई, इसका दूसरा कारण यह था कि जर्मनी के सुधारकों में भी मतभेद था। एक व्यापक कार्य-क्रम पूरा करने में जुट जाने के बजाय उन लोगों ने विभिन्न प्रकार की योजनाएँ प्रस्तुत कीं। कुछ लोग चाहते थे कि आस्ट्रिया को अलग कर दिया जाय और प्रशिया के नेतृत्व में जर्मनी का संयुक्त राज्य बनाया जाय। दूसरे लोग, जो प्रतिक्रियावादी सामन्त थे, चाहते थे कि हेब्जबर्ग के राजवंश की छत्रछाया में जर्मन साम्राज्य को पुनः स्थापित किया जाय। कुछ लोग ऐसे भी थे जो ऐसे जनतन्त्र की स्थापना करना चाहते थे जो एक और अविभाज्य हो। कार्ल मार्क्स ने लिखा है कि "जर्मनी का एकीकरण एक बहुत बड़ा प्रश्न है। इसके गर्भ में भेद और फूट भरी हुई है और ऐसी भी अवस्था आ सकती है कि घरेलू युद्ध हो जाये।"[1] जर्मन सुधारकों के विचार अन्य समस्याओं के विषय में भी भिन्न थे। सबसे पहले आन्तरिक प्रबन्ध की समस्याएँ थीं। प्राचीनता के पुजारी उन लोगों का चाकू और छुरे से विरोध करते थे जो क्रान्ति की राजनीतिक और सामाजिक परम्पराओं की हिमायत करना चाहते थे।

1. के० मार्क्स, रिवोल्यूशन एण्ड काउन्टर रिवोल्यूशन, (1904, 30)।

यह निश्चय करना कठिन हो गया था कि आजादी का युद्ध उन लोगों की विजय है जो आजादी के सिद्धान्तों को मानते थे, या उन लोगों की, जो प्रतिक्रियावादी भावनाओं के अनुयायी थे। पहला वर्ग निरंकुश साधनों से घृणा करता था, इसलिय नेपोलियन बोनापार्ट के सिद्धान्त उसको पसन्द नहीं थे और दूसरा वर्ग बोनापार्टवाद को इसलिये नहीं चाहता था कि इसका उदय क्रान्ति के गर्भ से हुआ था। यह विचारों का जंजाल और पारस्परिक मतों का तूफान था। यह दलों का वितंडावाद-मात्र था।

बौद्धिक प्रगति—जर्मनी के इतिहास की यह विशेषता है कि उसके विकास पर पंडितों और विद्वानों का बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा है। उनकी प्रबल प्रेरणा से नेपोलियन के विरुद्ध सब देश खड़ा हो गया था। वियना की कांग्रेस के बाद जब राष्ट्रीय आकांक्षाएँ दब गई थीं तो विश्वविद्यालयों ने, विशेषकर जेना के विश्वविद्यालय ने, लोगों की मानसिक उदासीनता को दूर किया था और तत्कालीन राजनीतिक आवश्यकताओं की ओर लोकमत आकर्षित किया था। मेटरनिक ने लिखा था कि "जो पुश्त शिक्षा पा चुकी है वह जर्मनी के लिये किसी काम की नहीं है, इसलिये सुधारक लोगों का ध्यान नई पुश्त की ओर आकर्षित हो रहा है जो अब शिक्षा प्राप्त करेगी। जो लोग बहुत अधीर हैं वे भी इस कार्यक्रम को पसन्द करते हैं। वे लोग जानते हैं कि विद्यार्थियों को तैयार होने में लगभग चार वर्ष लगेंगे।" मेटरनिक को इस बात की शिकायत थी कि जर्मनी के विश्वविद्यालय नवयुवकों को तत्कालीन सरकार से घृणा करने और उसका विरोध करने की शिक्षा दे रहे हैं। वास्तव में उनका ध्येय लोगों को क्रान्ति की शिक्षा देना था। मेटरनिक को यह बात पसन्द नहीं थी कि जर्मनी संयुक्त राष्ट्र बन जाये। इसलिये जर्मन देश के नवयुवकों की क्रान्ति-शिक्षा को वह सतर्कता से देखता था। वह कहता था कि भावी कर्मचारी, शिक्षक, लेखक और विद्वान सब क्रान्ति के लिये पकाये जा रहे हैं।[1] विद्यार्थियों की एक राष्ट्रीय सभा थी जिसका नाम बुर्शनशेफ्ट था। इसको मेटरनिक क्रान्तिकारी और खतरनाक संगठन मानता था। थोड़े अर्से बाद दो घटनाएँ ऐसी घटीं जिनके कारण स्थिति अत्यन्त गम्भीर हो गई। पहली घटना थी वार्टबर्ग त्यौहार और दूसरी थी कोजेब्यू की हत्या। इन दोनों घटनाओं को ऐसा रंग दिया गया और इनको इतना बढ़ा-चढ़ाकर दिखाया गया कि यह भय होने लगा कि कहीं जर्मन संघ भंग न हो जाय। सन् 1817 में वार्टबर्ग त्यौहार मनाया गया। इसका आयोजन जेना विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों ने किया था। यह एक प्रकार से देश-भक्ति का प्रदर्शन था। प्रत्यक्ष मे लिप्जिग के युद्ध की जयन्ती मनाने के लिये इसका आयोजन किया गया था। यह सुधार-युग की तीसरी शताब्दी थी। परन्तु इस त्यौहार का अन्तिम प्रदर्शन ऐसे ढंग से किया गया

1. मेटरनिक, मेमोयर्स iii, 206, 300, 317।

कि उत्पात की आशंका होने लगी। विद्यार्थियों ने प्रतिक्रिया के सम्पूर्ण प्रतीकों की होली मनाई और बड़े आवेग और रोष के साथ प्रदर्शन किया। वास्तव में जो कुछ हुआ वह जोशीले नवयुवकों की अभिलाषा का तूफान मात्र था, परन्तु विरोधियों ने इसका अत्युक्ति के साथ भाष्य किया। अधिकारीवर्ग इसको खतरनाक समझने लगे। कितने ही थर-थर काँपने लगे और 1819 में जब कोजेब्यू की हत्या हुई तो शासक लोगों में त्राहि-त्राहि मच गई। कोजेब्यू विश्वविद्यालयों का बड़ा विरोधी था। वह शिक्षा-संस्थाओं पर बड़े हमले करता था और कहता था कि ये राजनीतिक उत्पातों के केन्द्र हैं। इसलिये सुधारवादी जर्मन लोग उससे घृणा करते थे। उन लोगों की धारणा हो गई थी कि सम्राट् अलैग्जेंडर का रुख उसी के प्रभाव से बदला था, वरना लोगों को इस शासक से बड़ी-बड़ी आशाएँ थीं।[1]

(3) **कार्ल्सबाद आदेश**—परिणाम यह हुआ कि जर्मनी की सरकारों ने एका-एक लोगों पर बड़े दमनकारी अत्याचार किये। जब त्रास फैल जाता है तो यह स्वाभाविक है। मेटरनिक ने इस व्याप्त त्रास को और बढ़ाया। उसने लिखा था कि "अब सरकारें इतनी भयभीत हो गई हैं कि वे कुछ कार्यवाही अवश्य करेंगी।" स्थान-स्थान पर प्रतिक्रिया होने लगी। इसका विरोध शैक्सवेयर के ड्यूक ने बड़े जोरदार शब्दों में किया। वह जर्मन के प्रसिद्ध विद्वान् गेटे और स्कीलर का संरक्षक था। आस्ट्रिया का मंत्रिमंडल उसको जर्मनी के उत्पातों का कर्ता-धर्ता मानता था। ड्यूक ने जर्मनी की राजसभा अर्थात् डाइट (Diet) में दमन-चक्र के विरुद्ध शिकायत की। उसका कहना था कि विश्वविद्यालयों में विचार और अध्ययन-अध्यापन की स्वतन्त्रता होनी चाहिये। जब विभिन्न प्रकार की सम्मतियाँ प्रकट की जा सकेंगी तभी विश्वविद्यालयों में सत्य के दर्शन हो सकेंगे और तभी विद्यार्थियों को हुकूमत-परस्ती से दूर रखा जा सकेगा और तभी नवयुवकों में स्वाधीनता की भावना जाग्रत और पुष्ट होगी। ड्यूक की अपील का कुछ असर नहीं हुआ। मेटरनिक कहता था कि ये बचपन की बातें हैं। यह क्रान्ति के प्रचार की चरम सीमा है।[2] 1819 में संघ की राजसभा (Federal Diet) ने कार्ल्सबाद से कुछ आदेश जारी किये। यह दमन का प्रथम अध्याय था। इसके कारण अगले तीस वर्ष तक जर्मनी पर निरंकुशता का चक्र चलता रहा। इन आदेशों के अनुसार जर्मनी की सब सरकारों ने ऐसे कमिश्नर नियुक्त किये जिनका काम था विश्वविद्यालयों पर कड़ी नजर रखना और उनके प्रकाशनों की बड़ी कठोरता से जाँच करना। मेन्ज नगर में एक केन्द्रीय कमीशन स्थापित किया गया। इसका कार्य था गुप्त सोसाइटियों की जाँच करना और कानूनी

1. मेटरनिक मेमोयर्स iii, 254।
2. वही (1881) iii, 271-272।

अदालतों को मदद पहुँचाना। इस प्रकार मेटरनिक की नीति सफल हुई। सारी घटनाएँ उसके लिये हस्तामलक हो गईं और उनके नियंत्रण के लिये उसने बड़ी कुशलता से काम लिया। उसने रूस के जार अलेग्जेंडर को अपने पक्ष में कर लिया। वह अपने को उदारदलीय कहता था, परन्तु अब तक के जर्मनी में प्रतिक्रियावादी विचारों के विकास को रोकना चाहता था। साथ ही साथ मेटरनिक ने प्रशिया के राजा को भी डराया और उसको यह विश्वास दिलाया कि उसके राज्य में बड़े खतरनाक षड्यन्त्रों का जाल फैला हुआ है। फ्रेडिक विलियम तृतीय बहुत समय से यह सोच रहा था कि अपने राज्य में कोई विधान जारी करे। जब नेपोलियन का पतन शुरू हुआ और इससे उसको बड़ा आनन्द हुआ, तो उसने उमंग में आकर लोगो को विधान जारी करने का वचन दे दिया; परन्तु अब वह मेटरनिक के प्रभाव से दब गया और उसने घोषणा कर दी कि जो कुछ वचन दिया गया है उसको पूरा करने का कोई विचार नहीं है। मेटरनिक जानता था कि जर्मनी के सुधारवादी लोग प्रशिया में क्रान्ति की शिक्षा को जागृत करेंगे। उसको इस बात का भय था कि प्रशिया को यदि पुन: संगठित कर दिया गया तो जर्मनी और आस्ट्रिया पर उसका इतना प्रभाव पड़ेगा जिसकी कोई सीमा नहीं है। इसका मतलब यह होगा कि सबको क्रान्ति की शरण में जाना पड़ेगा। इसलिये उसने इस बात पर जोर दिया कि प्रशिया की सबसे पहली जरूरत यह है कि उसके पास स्वतन्त्र और सुसंगठित सैनिक शक्ति हो। यह प्रतिनिधि शासन में नहीं हो सकता था। इसलिये उसने सुझाव दिया कि विधान के विषय में राजा को आगे नहीं बढ़ना चाहिये। प्रान्तों में छोटी-छोटी राजसभाएँ कायम कर दी जाएँ, इतना काफी है। और ये सभाएँ भी बहुत सोच-समझकर जारी की जाएँ।[1] और इनके विधान ऐसे बनाये जाएँ जिससे इनको पूरी स्वतन्त्रता प्राप्त न हो जाये। अपनी दलील के लिए उसको इस बात से भी जोर मिलता था कि दक्षिण जर्मनी में जो विधान जारी किया गया था वह सफल नहीं हुआ। बवेरिया, बेडन और वर्टम्बर्ग में पार्लियामेन्ट्री शासन इस उद्देश्य से स्थापित किया गया था कि सैनिक शासन के विरोध में जनता का समर्थन प्राप्त हो; परन्तु प्राप्त हुई पारस्परिक अनबन और अशान्ति।

(4) **देश की पिछड़ी हुई राजनीतिक दशा**—मेटरनिक को जर्मनी की क्रान्ति का उन्मूलन करने में जो सफलता प्राप्त हुई, यह केवल उसी की चातुरी का परिणाम नहीं था। उसने अपने विरोधियों की मूर्खता से भी खूब लाभ उठाया था। इन लोगों ने बहुत बढ़-चढ़कर अपनी योजनाएँ बनाई थीं। उनमें राजनीतिक अनुभव की भारी कमी थी। इसका मेटरनिक ने बड़ी बुद्धिमत्ता से लाभ उठाया। लेकिन ये सब कारण

1. मेटरनिक मेमोयर्स, iii, 198, 301।

मुख्य नहीं थे। जर्मनी की विफलता का मुख्य कारण यह था कि उसकी जनता में राष्ट्रीय भावना की जड़ अभी गहरी नहीं जमी थी। इसलिये उसको स्वतन्त्रता-संग्राम के लिए एकता प्राप्त नहीं हो सकी। जर्मनी के एकीकरण की मांग के पीछे अभी सारा लोकमत नहीं था। यह मांग मुख्यत: बुद्धिवादियों और शिक्षित समाज तक ही सीमित थी और इन लोगों का जोश विवेक से बहुत आगे बढ़ा हुआ था।

जर्मन संघ—हम उन कारणों का उल्लेख कर चुके हैं जिनसे 1815 के बाद जर्मनी में राष्ट्रीय सरकार स्थापित करने के प्रयत्न निष्फल हुए। फिर भी 'होली रोमन एम्पायर' के विलीन हो जाने पर यह आवश्यक हो गया था कि उसके स्थान पर कोई राजनीतिक संघ स्थापित किया जाय। इसलिये वियेना की कांग्रेस ने जर्मन संघ स्थापित किया। यह नाम मात्र के लिये आधी शताब्दी तक चलता रहा। संघ[1] के विधान में इसका उद्देश्य बतलाया गया था जर्मनी में बाह्य और आन्तरिक सुरक्षा स्थापित करना और देश की विभिन्न रियासतों में स्वाधीनता स्थापित करके उनको दुर्दमनीय बनाना। यह गारन्टी उन देशों पर लागू नहीं की गई थी जो आस्ट्रिया और प्रशिया के अधीन थे और जहाँ की जनता जर्मन जाति की नहीं थी। लेकिन जर्मन रियासतों को इस बात के लिये सहमत किया गया था कि उनमें से कोई एक-दूसरे पर आक्रमण न करे और आवश्यकता होने पर एक-दूसरे की सहायता करे। संघ की मुख्य संस्था का नाम 'डाइट' था। संघ के विभिन्न अंगों पर नियंत्रण रखने का इसको अधिकार दिया गया था, परन्तु प्रशासनीय विषयों में इसके सब सदस्य स्वतन्त्र थे। इस डाइट के अन्तर्गत दो भिन्न-भिन्न संस्थाएँ थीं। एक संस्था बड़ी थी और एक छोटी। छोटी संस्था में सत्रह सदस्य थे। इनमें ग्यारह प्रतिनिधि बड़ी-बड़ी रियासतों के थे और शेष प्रतिनिधि छोटी अट्ठाईस रियासतों के। लेकिन महत्त्वपूर्ण काम इस संस्था में नहीं होता था। यह साधारण सभा (General Assembly) में किया जाता था। इस सभा में प्रत्येक रियासत को कम-से-कम एक मत देने का अधिकार था। बड़ी-बड़ी मुख्य रियासतें प्रत्येक चार मत दे सकती थीं और कुछ दो या तीन। प्रतिनिधि संख्या उनहत्तर थी। मूल कानून, मुख्य संस्थाएँ, व्यक्तिगत अधिकार और धार्मिक विषयों में परिवर्तन-विषयक कानून केवल सर्व-सम्मति से ही बनाया जा सकता था। यह एक ऐसी शर्त थी जिसके कारण इन विषयों में न कोई संशोधन हो सकता था और न कोई नवीनता ही आ सकती थी। विशेष सावधानी रखने के लिये डाइट का अध्यक्ष आस्ट्रिया का सदस्य बनाया गया था। उस देश में नियंत्रण का सूत्र मेटरनिक के हाथ में था, इसलिये वह देश प्रतिक्रिया का दुर्ग माना जाता था।

इसमें त्रुटियाँ—केवल कागज पर तो इस संविधान में कुछ खूबियाँ दिखाई देती

---

1. ई०, हर्ट्स, दी मेप ऑफ यूरोप, बाई ट्रीटी (1875) i, 244।

होंगी, परन्तु व्यवहार में यह विपत्तिकारी सिद्ध हुआ। आरम्भ से ही यह बात स्पष्ट थी कि यह सफल नहीं होगा। जर्मनी में मेटरनिक के अतिरिक्त कोई भी इस संविधान से सन्तुष्ट नहीं था और मेटरनिक भी इसलिए सन्तुष्ट था कि वह अपने स्वार्थ के अनुसार इसको तोड़-मरोड़कर इसका भाष्य कर सकता था। आरम्भ से ही इसने एक प्रकार की दोहरी हुकूमत स्थापित की, जो अठारहवीं शताब्दी में जर्मनी के लिए पहले ही बहुत घातक सिद्ध हो चुकी थी। संविधान में इस बात का प्रयत्न किया गया था कि आस्ट्रिया और प्रशिया में, जो दोनों सैनिक राज्य थे, एक प्रकार की सैनिक समानता स्थापित की जाय; परन्तु यह हो नहीं सका। आस्ट्रिया का प्रभाव सर्वाधिक रहा और मेटरनिक की चातुर्यपूर्ण चालों से जर्मनी की छोटी-छोटी रियासतें उसकी ओर झुक गईं। उसके आधिपत्य के कारण उन लोगों की सब आशाएँ विफल हो गईं जो यह चाहते थे कि डाइट के द्वारा जर्मनी का एकीकरण हो सकेगा। जब डाइट के अध्यक्ष ने इस बात की घोषणा की कि जैसे बाइबिल के उपदेश अटल हैं, उसी प्रकार संविधान भी अटल है, तब लोगों ने अनुभव किया कि डाइट के द्वारा कोई सुधार नहीं हो सकता। और मामलों में भी डाइट बहुत कमजोर संस्था सिद्ध हुई। इसमें मुख्यतः दो त्रुटियाँ थीं—(1) इसके सदस्य जर्मन शासकों के प्रतिनिधि थे। जो उनको आदेश मिलता था उसको वे अक्षरशः पालन करते थे और जर्मन शासक अपने शासनाधिकारों से चिपके रहना चाहते थे। जब डाइट उनके अधिकारों पर कुछ अतिक्रमण करना चाहती थी, तभी वे गुर्राते थे। वास्तव में वे अपना कोई भी विशेषाधिकार डाइट का अर्पण नहीं करना चाहते थे। वे लोग जर्मन संघ को रियासतों का संघ (Staatenbund) मानते थे न कि संयुक्त संघ (Bundes Staat)। इन परिस्थितियों मे डाइट के सदस्यों को काम करने की कुछ भी स्वतन्त्रता नहीं थी। पग-पग पर उनको अपनी-अपनी सरकारों से आदेश प्राप्त करना पड़ता था। इसलिये डाइट की स्थापना से जर्मनी के एकीकरण में कोई सहायता नहीं मिली, बल्कि इससे तो इस बात पर और जोर पड़ा कि जर्मनी में कितनी रियासतें हैं। सदियों से जर्मन रियासतों के शासक स्वाधीन थे। यह जर्मनी के विकास के लिए बहुत अहितकर बात था। अब यह बीमारी केन्द्रीय सरकार तक जा पहुँची। (2) डाइट का दूसरा दोष यह था कि यह अपने आदेशों को कार्यान्वित नहीं करवा सकती थी। इस काम के लिए इसके पास कोई सेना नहीं थी। ज्योंही इसने काम करना शुरू किया, त्योंही इसकी कमजोरी प्रकट होने लगी। जब हैस (Hesse) के निवासियों ने अपने इलेक्टर के खिलाफ डाइट में अपील दायर की और यह उज्र पेश किया कि जब उसके राज्य पर फ्रांसीसियों का अधिकार था उस समय उस प्रदेश में जो भी काम हुआ वह कानून के विरुद्ध माना जाय, तो डाइट प्रार्थियों की मदद नहीं कर सकी। इस संस्था ने इलेक्टर की तो निन्दा की, परन्तु इससे काम कुछ नहीं चला। इलेक्टर ने एक प्रकार

का बलवा कर दिया और यह घोषणा की कि इसके राज्य पर डाइट का कोई अधिकार नहीं है। मेटरनिक ने इलेक्टर की तरफदारी की और आस्ट्रियन अध्यक्षन को बुरा-भला कहा; क्योंकि उसने इस बात को स्वीकार किया था कि राजा और प्रजा में यदि कोई मतभेद खड़ा हो जाए तो डाइट को हस्तक्षेप करने का अधिकार है। डाइट के पास इतनी शक्ति नहीं थी कि वह इलेक्टर को आदेश स्वीकार करने के लिए बाध्य कर सके। इससे डाइट की प्रतिष्ठा कम हुई और प्रत्येक रियासत की सरकार के सामने यह स्पष्ट हो गया कि डाइट के आदेश को मानना हर एक सरकार के लिये वैकल्पिक है। यह केन्द्रीय सरकार के लिए कोई अच्छा आरम्भ नहीं था। स्वाधीनता के अभिलाषियों को जर्मनी की भावी मुक्ति के विषय में डाइट से बड़ी-बड़ी आशाएँ थीं। ये सब विफल हुईं और इसका भावी इतिहास अयोग्यता और अक्षमता का इतिहास हो गया। इसने अत्याचार-पीड़ितों की रक्षा करने के लिए कोई प्रयत्न नहीं किया। इसने किसी भी प्रकार के वैधानिक प्रश्नों का हल नहीं किया और दीर्घसूत्रता के लिए यह देश में बहुत प्रसिद्ध हो गई। मेटरनिक ने इसके क्षेत्र को इतना संकुचित कर दिया कि अब इसके सामने केवल दो काम रह गये। वह कह सकता था कि विदेशों में डाइट का काम यह है कि जर्मनी की सब रियासतें मिलकर जर्मनी के हित में काम करें, लेकिन घरेलू मामलों में किसी भी रियासत को स्वतन्त्रतावादियों की ओर से कोई आँच न आये। डाइट का चिर-स्मरणीय काम था कार्ल्सबाद के आदेशों को जारी करना। इनका उल्लेख पहले ही किया जा चुका है। डाइट ने यह सिद्धान्त निश्चित कर दिया कि उत्तरदायी सरकार स्थापित करना जर्मन संविधान के प्रतिकूल है। 1828 के बाद इसके अधिवेशन भी नहीं हुए। जर्मनी का एकीकरण करना तो दूर रहा, इसमें तो और रुकावटें पैदा हो गईं।

मेटरनिक का राजनीतिक सम्प्रदाय—जो सरकारें जनमत पर खड़ी नहीं होतीं, उनमें यह सहज रोग होता है कि जन-आन्दोलन के प्रथम धक्के से ही वे उन्मूल हो जाती हैं। मेटरनिक वास्तव में अवसरवादी था और कूटनीति के प्रपंचों में बहुत कुशल था। परन्तु उसकी सारी धारणाएँ और अनुमान बालू की दीवार पर खड़े हुए थे। उसका यह विश्वास था कि राजनीतिक शान्ति का आधार शासकों की परस्पर मैत्री और परम्पराओं की रक्षा है। व्यवहार में उसका अर्थ यह था कि सब शासक लोग अपना संघ बनाकर जनता का विरोध करें। यद्यपि स्वभावतः वह प्रतिक्रियावादी नहीं था और शक्ति[1] के दुरुपयोग की वह निन्दा करता था, क्योंकि उस समय जर्मनी के बहुत से छोटे-छोटे शासक ऐसा किया करते थे, तो भी उसकी नीति का प्रधान स्वर वस्तुतः प्रतिक्रियावादी ही था। इसलिए उसने उन भावी प्रवृत्तियों के विरुद्ध युद्ध करना शुरू किया जो उसके मतानुसार तत्कालीन सरकारों को उलट

1. मेटरनिक मेमोयर्स (1881), iii, 199, 202।

सकती थीं। लेकिन जो राजनीतिक सिद्धान्त दमन के आधार पर खड़ा किया जाता है वह आरम्भ से ही विनाश की ओर बढ़ने लगता है। कार्ल मार्क्स ने जर्मन समाज के विभिन्न तत्वों का सूक्ष्म अध्ययन किया था और सन् 1851 में उसने लिखा था कि अब वह समय चला गया जब लोगों में यह अन्ध-विश्वास प्रचलित था कि क्रान्तियाँ थोड़े-से आन्दोलनकारियों की दुर्भावना के कारण हुआ करती हैं। अब प्रत्येक व्यक्ति इस बात को जानता है कि क्रान्ति तब होती है जब उसके पीछे कोई सामाजिक माँग होती है और यह माँग अत्यन्त प्राचीन और बेकार संस्थाओं के कारण पूरी नहीं होती। जब दमन के लिए प्रयास किया जाता है तो आन्दोलन अधिकाधिक प्रबल हो जाता है, यहाँ तक कि आखिरकार वह अपनी जंजीरों को तोड फेंकता है।[1] सन् 1848 में जर्मन जनता ने एकता और वैधानिकता दोनों साथ-साथ प्राप्त करने के लिये निष्ठा के साथ यत्न किया। फ्रांस में ओरलियन राजवंश के पतन से जर्मनी को भी मानो चेतावनी मिली थी, लेकिन क्रान्ति की शक्तियाँ बहुत पहले से जुट रही थीं। अब जर्मनी के कोने-कोने में क्रान्ति की भावनाएँ तेजी के साथ प्रचलित हो गई, जिससे प्रगट हुआ कि जनता के प्रत्येक वर्ग में गहरा असन्तोष है।

1848 की क्रान्ति का दोहरा स्वरूप—सन् 1848 की क्रान्ति के दो स्वरूप थे। पहली बात यह थी कि प्रत्येक रियासत में स्वतन्त्र संस्थाओं के लिये प्रबल माँग थी। दूसरी बात यह थी कि केन्द्रीय प्रतिनिधि संस्था और एकीकरण के लिये भी लोगों में प्रबल इच्छा थी। इन दोनों स्वरूपों का अलग-अलग अध्ययन करना चाहिए; परन्तु साथ ही इस बात को भी नहीं भुलाना चाहिये कि अन्ततोगत्वा ये दोनों स्वरूप एक ही प्रगति के अंग थे।

1. **वैधानिक प्रगति**—स्वतन्त्रता के संघर्ष में जिस पीढ़ी ने जर्मनी के लिए युद्ध किया था उसकी दो भ्रान्तियों का निवारण हुआ। स्टीन के नेतृत्व में जो दल जर्मनी का एकीकरण चाहता था, उसको अनुभव हुआ कि उसकी आशाएँ शासकों के कारण विफल हुईं। ये लोग राष्ट्रीयता की बलिवेदी पर अपने स्वार्थों को समर्पण करना नहीं जानते थे। जर्मनी के उदार दल को एक और भी बड़ी गम्भीर शिकायत थी। संघ के विधान की तेरहवीं धारा में प्रत्येक शासक के लिये यह लाजिमी था कि वह अपनी जनता के लिए प्रतिनिधि सरकार स्वीकार करे। यह सम्पूर्ण जनता के प्रति एक वैधानिक स्वतन्त्रता का वचन था। वेमर के ड्यूक ने तत्काल अपने देश में विधान जारी करके एक आदर्श खड़ा किया, परन्तु स्वयं डाइट ने, जिसका कर्त्तव्य विधान की रक्षा करना था, उक्त धारा को कार्यान्वित करने से इन्कार किया और उसने विभिन्न शासकों की मर्जी पर यह बात छोड़ दी कि वे इस धारा को मानें या न मानें। मेटरनिक का यह कहना था कि प्रत्येक राज्य को यह अधिकार है कि वह

1. मार्क्स, मेटरनिक मेमोयर्स (1881), iii, 199, 202।

अपने आन्तरिक विषयों में जो चाहे करे।[1] परन्तु इस सिद्धान्त का पालन वह हमेशा ही नहीं किया करता था। हम पहले देख चुके हैं कि कार्ल्सबाद के आदेशों को स्वीकार करने के लिए उसने जर्मनी के समस्त शासकों को बाध्य किया था। इसलिए जब यह कहा जाता था कि जर्मन सरकारों को इस बात की आजादी है कि वे चाहे जो करें, तो इसका मतलब यह था कि वे, जो आस्ट्रिया चाहता है, वैसा करें। हाँ, एक बात के लिए उन पर बिल्कुल दबाव नहीं था अर्थात् प्रतिक्रियावाद की ओर वे चाहे जितना बढ़ सकती थीं। अधिकांश सरकारें इस छूट का उपयोग करने में बिल्कुल भी नहीं हिचकिचाईं। परन्तु दक्षिण जर्मनी की तीन रियासतों ने अर्थात् बवेरिया, वर्टम्बर्ग और बेडन ने वेमर के ड्यूक का अनुसरण किया।

(अ) **दक्षिण जर्मनी में**—बवेरिया चाहता था कि अपनी अध्यक्षता में उन्नतिशील रियासतों में परस्पर मेल कराकर प्रशिया का आधिपत्य छीन लिया जाय। उसका दाँत बेडन पर भी लगा हुआ था। लोकमत को अपने अनुकूल बनाने के लिये यह जरूरी मालूम होता था कि उदार दल के साथ सहानुभूति प्रगट की जाए। जब बेडन के शासक ने देखा कि उसको बवेरिया से भारी खतरा है तो अपने राजवंश की लोकप्रियता को मजबूत बनाने के लिये और सम्राट् अलेग्जेंडर की कृपा प्राप्त करने के लिये जनता को एक विधान प्रदान किया। वर्टम्बर्ग में वैधानिक शासन की परम्पराएँ अब भी जीवित थीं। यदि वर्तमान ढग का विधान वहाँ जारी कर दिया जाता तो बड़ी सफलता प्राप्त होती। परन्तु सामन्त और पादरी लोग अपने मध्यकालीन विशेष अधिकारों को पुनः प्राप्त करना चाहते थे। इसलिये उन्होंने वैधानिक प्रयोग सफल नहीं होने दिया और आयोजन नाकामयाब हो गया। दूसरी छोटी रियासतों के विषय में इतना हो कहना पर्याप्त है कि वहाँ उदार दल के सिद्धान्तों की कोई प्रगति नहीं हुई।

(ब) **प्रशिया में**—वास्तव में जर्मनी में वैधानिक प्रगति के भाग्य की बागडोर प्रशिया के हाथ में थी। उसके पास इतनी भूमि और सैनिक शक्ति थी कि अनिवार्यतः वह जर्मनी में प्रधान रियासत मानी जाती थी। कुछ समय बाद कार्ल मार्क्स ने लिखा था कि "आस्ट्रिया या प्रशिया की नीति और विधान में मौलिक परिवर्तन किये बिना दूसरे दर्जे के प्रयत्नों या कामयाबियों में कोई सार नहीं है।" प्रशिया का शासक कमजोर था लेकिन जिद्दी था। वह कभी प्रतिक्रिया की ओर झुकता था और कभी प्रगति की ओर। कुछ समय तक तो ऐसा प्रकट हुआ कि उसका मंत्री हार्डनबर्ग, जिसने स्टीन के साथ कंधे से कंधा भिड़ाकर प्रशिया को डूबते-डूबते बचाया था, उदार दल के कार्यक्रम को सहायता देगा। परन्तु आस्ट्रिया ने उसको दूसरी ओर घसीट लिया। सन् 1818 के बाद जार अलेग्जेंडर भी आस्ट्रिया का साथ देने लगा। अब आस्ट्रिया

1. मेमोयर्स, iii, (312)।

और रूस का सम्मिलन दुर्धर्ष हो गया और जैसा कि हम पहले बतला चुके हैं मेटरनिक का प्रभाव सबसे अधिक प्रबल हो गया। यह बात भी स्वीकार करनी चाहिये कि प्रशिया में वैधानिक समस्याएँ बड़ी पेचदार थीं। सिद्धांतवादी उदार दल को चाहे इसमें पेचीदगी नहीं मालूम पड़ती होगी, परन्तु व्यावहारिक राजनीतिज्ञ उन कठिनाइयों को समझते थे जो प्रशिया के मार्ग में बिछी हुई थी। वास्तव में प्रशिया कोई सुसंगठित रियासत नहीं थी। यह तो छोटे-छोटे विकीर्ण प्रान्तों का एक प्रकार का भानमती का पिटारा था। स्थानीय देश-भक्ति तो सर्वत्र थी लेकिन राष्ट्रीय भावना कहीं नहीं थी। इसलिये राइन प्रदेश, पूर्वी और पश्चिमी प्रशिया और पोल प्रान्त जैसे विभिन्न प्रदेशों में अगर कोई एकता का बन्धन था तो वह केवल इतना ही कि सर्वत्र नौकरशाही सरकार थी। सन् 1815 में जो प्रशिया ने छोटे-छोटे कई भागों पर कब्जा कर लिया था उनको आत्मसात् करने में उसके राजनीतिज्ञों की सब शक्तियाँ लगी हुई थीं। इन छोटे प्रदेशों के कारण प्रशिया की आबादी लगभग दुगुनी हो गई थी और इस बात की जरूरत महसूस की जा रही थी कि वैज्ञानिक सीमाएँ निश्चित की जाएँ। आन्तरिक प्रबन्ध की जरूरी समस्याओं के अतिरिक्त प्रशिया में विभिन्न राजनीतिक दलों का पारस्परिक जाल भी था। इसके साथ ही अटल सामाजिक रूढ़ियों का भी बुरा प्रभाव था। हमेशा की भाँति इस समय भी प्रशिया सैनिकवाद और जंकरटम ((Junker-tum) की विशेष भूमि बन गया था। सामन्तवाद और सैनिकवाद के दावे वैधानिक विकास के लिये घातक थे। आखिरकार उदारता की उन्नति जर्मनी में धीरे-धीरे ही हुई। उसका कारण था प्रशिया के लोगों का स्वभाव। समस्त उदार सिद्धान्तों का आधार है व्यक्तिवाद। जब स्वतन्त्र संस्थाओं के लिये अर्थात् विचार-स्वतन्त्रता और कार्य-स्वतन्त्रता के लिये माँग की जाती है तो इसका वास्तव में यह अर्थ है कि व्यक्तिगत अधिकारों की माँग हो रही है। परन्तु प्रशिया में यह बात नहीं थी। वहाँ प्राधान्य रियासत का था, व्यक्ति का नहीं। उसका ऐतिहासिक कारण यह था कि प्रशिया का विकास प्रशिया की रियासत ने किया था। अतः उदारता का पौधा ऐसी जमीन में नहीं जम सकता था जहाँ व्यक्ति पैतृक निरंकुशता के हाथ में अपनी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता सौंपने के लिये तैयार हो। इन विभिन्न बातों से पता लग सकता है कि प्रशिया के उदार दल ने 1818 में जो राजनीतिक शक्ति प्राप्त करने का प्रयत्न किया उसका दमन आसानी से क्यों हो गया।

फ्रेड्रिक विलियम चतुर्थ (1840—1861)—1830 की फ्रेंच राज्यक्रान्ति का जर्मनी पर बहुत कम प्रभाव पड़ा था। लेकिन कुछ रियासतें ऐसी थीं जहाँ जनता की स्थिति असह्य थी। वहाँ जनता की कुछ माँगें स्वीकार करनी पड़ीं। लेकिन मुख्य परिणाम वास्तव में यह हुआ कि दमन नीति को, जो कुछ शिथिल होने लगी थी, और अधिक बल प्राप्त हो गया। अब डाइट ने और नये प्रतिक्रियावादी आदेश जारी किये।

1840 में फ्रेड्रिक विलियम चतुर्थ प्रशिया के राजसिंहासन पर आसीन हुआ। अब नये युग का आरम्भ निकट ही प्रतीत होता था। इस बात को लोग जानते थे कि पिछले शासक की नौकरशाही या सेनाशाही सरकार के साथ उसकी कोई सहानुभूति नहीं है। वह प्रतिनिधि सरकार को किसी-न-किसी रूप में स्वीकार करने के लिये भी तैयार मालूम होता था। व्यापार और कारखानों से सम्बन्ध रखने वाले पूँजीपतियों के हृदय में यह आशा थी कि सरकार के संचालन में उनसे भी सहयोग लिया जायगा। यद्यपि वे इंग्लैण्ड और फ्रांस के मध्यम वर्ग से धन और संख्या में पिछड़े हुए थे, तथापि वे समझते थे कि वे नौकरशाही की निरंकुशता से दबे हुए थे। इसलिये वे चाहते थे कि उनकी राजनीतिक हलचलों को अधिक विस्तृत क्षेत्र प्राप्त हो। लेकिन उनकी आशाएँ विफल हुईं, क्योंकि शासक सामन्ती संस्थाओं को और उस वर्ग के विशेष अधिकारों को पुनर्जीवित करना चाहता था। वास्तव में उसकी इच्छा थी कि सरदारों की सामाजिक स्थिति पुनः वैसी ही हो जाय जैसी पहले थी। इसलिये पूँजीपतियों को निराशा हुई। फिर भी सन् 1848 में इस वर्ग को अपनी शक्ति का परिचय देने का अवसर मिला। जब इन लोगों ने सुना कि पेरिस में बगावत हो गई तो बर्लिन में भी दंगा हुआ और बाजारों में रास्ते रोक दिये गये। मार्च दिवसों (March days) का परिणाम यह हुआ कि फ्रेड्रिक विलियम चतुर्थ को जर्मन साम्राज्य की वर्दी पहने हुए बाजारों में घूमना पड़ा। प्रेस की पाबन्दियाँ कम की गईं और डाइट का अधिवेशन किया गया। इस अधिवेशन में प्रान्तीय धारा-सभाओं के प्रतिनिधि भी शामिल थे। जर्मनी की छोटी-छोटी रियासतों की राजधानियों में भी इसी प्रकार के दृश्य दिखाई दिये। उस समय एक लेखक ने लिखा था कि जर्मन जनता अब क्रान्तिवाद की ओर तेजी से बढ़ रही है। सर्वत्र जिम्मेदार हकूमत के लिये लोकप्रिय मन्त्रिमण्डल के लिये, स्वतन्त्र प्रेस के लिये, जूरी के द्वारा मुकद्दमों की सुनवाई के लिये, और धार्मिक सहिष्णुता के लिये नारा बुलन्द हुआ। इस तूफान के आगे कुछ समय के लिये जर्मनी के शासकों ने अपना सिर झुकाया। फिर भी वैधानिक दल की विजय थोड़े ही दिन रही। वास्तव में इसका भविष्य प्रशिया पर आश्रित था। इस देश के पूँजीपतियों को अपनी ही कामयाबी से डर लगने लगा। पेरिस की फरवरी की क्रान्ति से प्रशिया को भी प्रेरणा मिली। परन्तु अब उससे चेतावनी भी मिल रही थी। अब मालूम हुआ कि यह क्रान्ति मजदूरों ने की थी और मध्यम वर्ग के आधिपत्य के विरोध में की थी। प्रशिया के लोगों ने देखा कि उनका उद्देश्य बिल्कुल भिन्न है। प्रशिया के लोग मध्यम वर्ग को मजबूत करना चाहते थे। प्रशिया के पूँजीपति यह कभी नहीं चाहते थे कि मजदूर लोग आगे बढ़ें। उनको तो यह भय था कि कहीं बर्लिन की जनता का बड़ा भागी न हो जाय। घटनाओं के चक्र ने एक ऐसी स्थिति उत्पन्न कर दी जैसी फ्रांस में 1830 में थी। उस समय फ्रांस के पूँजीपतियों ने विवश होकर लुई फिलिप से

प्रार्थना की थी कि उनकी मदद करे। अब प्रशिया के पूँजीपतियों की बारी थी। उन्होंने देखा कि शासक की सहायता के बिना उनका काम नहीं चल सकता। मजदूर वर्ग की राजनीतिक आकांक्षाएँ बहुत प्रबल हो गई थीं और पूँजीपति लोग चाहते थे कि वे आत्म-रक्षा करें। वे हारे हुए दल के साथ चुपके से समझौता कर लें ताकि क्रान्ति का क्रोध, जो उन्हीं के ही यत्नों से उमड़ा था, दबाया जा सके। उन्होंने सरकार का विरोध तो किया लेकिन डरकर और रुककर। क्रान्ति की शक्तियाँ बढ़ती गईं। अब उनको इस बात का पता लग गया था कि मध्यम वर्ग से डरने का कोई कारण नहीं है। वे धैर्य के साथ समय की प्रतीक्षा में रहे और जब काम करने के लिये अवसर आया तो उन्होंने तत्काल निश्चित कदम उठाया। विधान बनाने के लिये जो धारा-सभा बुलाई गई थी उसको उन्होंने भंग कर दिया और एक ऐसा विधान जारी करवाया जो शासक की राजसभा में तैयार हुआ था और यह कहा गया कि इस विधान को राजा प्रदान कर रहा है। यह कौम का कोई जन्म-सिद्ध अधिकार नहीं है। इस प्रकार प्रशिया में वैधानिक प्रगति, जिसका आरम्भ शुभ ढंग से हुआ था, टिमटिमाकर शान्त हो गई। इसका कारण था उसके विधाताओं की कमजोरी और डगमग नीति।

2. राष्ट्रीय प्रगति—अब हम जर्मनी के एकीकरण के इतिहास की रूपरेखा देंगे। यह हलचल साथ-साथ चल रही थी। इस राष्ट्रीय दल का अखाड़ा दक्षिण-पश्चिम में था। जर्मनी की बिखरी हुई शक्तियों का एकीकरण करने के लिये यह उपयुक्त स्थान था। उस समय एक लेखक ने लिखा था कि रियासतें जितनी छोटी थीं उतनी ही बदखर्च थीं। शासकों का खर्चा अत्यधिक बढ़ा हुआ था। शासन और सेना पर भी बहुत खर्चा होता था। रियासतें जितनी छोटी थीं उतने ही वहाँ कर अधिक लगाये जाते थे।[1] 1848 की फ्रेंच राज्य-क्रान्ति से जर्मनी में राष्ट्रीय प्रगति आरम्भ नहीं हुई थी। इससे प्रेरणा अवश्य प्राप्त हुई थी और इस बात का भी वहाँ असर पड़ा था कि आस्ट्रिया आतरिक मतभेदों के कारण अचेत हो गया है। 1 47 में उदार दल के प्रतिनिधियों की एक सभा हुई जिसमें कौमी पालियामेन्ट स्थापित करने के लिये माँग की गई ताकि सम्पूर्ण जनता की शक्ति एक स्थान पर केन्द्रीभूत की जा सके। पेरिस की राज्य-क्रान्ति से जर्मनी की राष्ट्रीय पार्टी को प्रबल प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। 5 मार्च को हेडलबर्ग में उदार दल के कुछ नेता एकत्र हुए जिन्होंने सात व्यक्तियों की एक कमेटी बनाई और उसके सुपुर्द यह काम किया कि वे प्रारम्भिक सभा (Vor Parliament) बुलावें। सरकारों ने इसकी अनुमति नहीं [illegible] 31 मार्च को फ्रेंकफर्ट नगर में इसका अधिवेशन हुआ और इसने यह आदेश जारी किया कि निर्वाचन का सिद्धान्त यह हो कि पचास हजार मतदाता एक प्रतिनिधि

1. मार्क्स, पूर्वोक्त।

चुनें। इस आयोजन का बहुसंख्यक जनता ने समर्थन किया, जिससे विवश होकर डाइट ने भी इसको अनुमति दी। जर्मनी के शासकों का साहस नहीं हुआ कि इसका विरोध करें। फ्रेड्रिक विलियम चतुर्थ ने भी अपनी जनता के नाम एक घोषणा जारी की जिसमें कहा गया कि भविष्य में प्रशिया और जर्मनी का हित एक ही माना जायेगा। अब घटनाओं ने प्रगट कर दिया कि प्रशिया बहुत हद तक अपने-आपको जर्मनी में विलीन करने के लिये तैयार है।

फ्रेंक फर्थ असेम्बली (1848)—एकीकरण के लिये जर्मनी लोगों की उत्कट अभिलाषा ने आखिरकार एक मूर्त स्वरूप धारण किया। डाइट से जनता भी सन्तुष्ट नहीं थी। आरम्भ से ही यह केवल राजाओं का संघ मात्र माना जाता था। अब यह एक सड़ी-बुसी संस्था रह गई थी और बहुत अरसे से इसका कोई ध्येय नहीं था। परन्तु अब जर्मन जनता को एक ऐसा अनोखा अवसर प्राप्त हुआ जिससे उसका भविष्य या तो उज्ज्वल हो सकता था या अन्धकारमय। आस्ट्रिया क्रान्ति का सतर्क विरोधी था, परन्तु अब वह स्वयं क्रान्ति के भँवर में फँस गया था। फ्रेड्रिक विलियम चतुर्थ और जर्मनी के दूसरे छोटे-छोटे नरेश बड़ी चिन्ता के साथ धीमे-धीमे कदम उठाना चाहते थे और जन-जागृति के विरोध से पीछे रहना चाहते थे। अब राष्ट्रीय कार्यकर्ताओं की विजय बहुत ही नजदीक मालूम होती थी। उनके शत्रु स्थायी रूप से निःशस्त्र हो गये थे और जर्मनी की पार्लियामेंट का अब अधिवेशन हो रहा था। यदि फ्रेंक फर्थ की असेम्बली का उद्देश्य पूरा हो जाता और राष्ट्रीय प्रगति को जीवन-तत्व प्राप्त हो जाता तो जर्मनी के इतिहास का दूसरा ही स्वरूप होता। उस अवस्था में सोंडोपा नहीं देखना पड़ता और संभवतः सेडान भी नहीं, और जर्मन साम्राज्य की नींव सैनिकता की अस्थायी नींव पर खड़ी नहीं होती, बल्कि सतर्क और सुशिक्षित जनतन्त्र के आधार पर खड़ी की जाती और इससे भावी शान्ति की रक्षा होती। परन्तु राष्ट्रीय असेम्बली की घोर असफलता हुई। वास्तव में इसमें उपयुक्त लोग नहीं थे और यह ऐसे नेताओं के हाथ में पड़ गई थी जो वस्तुस्थिति को नहीं समझ सकते थे और जिसकी दृष्टि दूषित थी। विजय-मार्ग पर चलने के लिये न उनमें चातुर्य था न साहस। कार्ल मार्क्स ने अपार उपहास के साथ कहा है कि यह बूढ़ी औरतों की सभा थी। उसने लिखा है कि असेम्बली में बहुमत उन लोगों का था जो उदार दल के वकील थे और सिद्धान्तवादी प्रोफेसर थे। अतः असेम्बली इस बात का तो दावा कर सकती थी कि इसमें जर्मन देश के ऊँचे-से-ऊँचे बौद्धिक तथा वैज्ञानिक तत्व मौजूद हैं। परन्तु वास्तव में देखा जाय तो यह एक ऐसा रंचमंच था जहाँ बूढ़े और बेकार राजनीतिक लोग अपने विचारों की निस्सारता और उपहास्यता जर्मन जाति के सामने प्रकट करते थे।[1]

---

1. मार्क्स, पूर्वोक्त, 53।

मार्क्स पक्षपाती द्रष्टा था। परन्तु इस बात से भी इन्कार करना असम्भव है कि प्रतिनिधि लोग अपना काम इस प्रकार करते थे मानो असेम्बली एक विद्वानों की मंडली है, जो अपना राजनीतिक मत लोगों के सामने रखना चाहती है। इग्लैण्ड में प्यूरिटन लोगों की क्रान्ति से कार्य-संचालन का सूत्र राजा के हाथ से निकलकर उन लोगों के हाथ में चला गया था जिनको स्थानीय सरकार में काम करने की शिक्षा मिला करती थी, और उस काम को कर सकते थे जो संयोग से उनके सुपुर्द कर दिया गया था। सन् 1848 में जर्मनी ने बहुत बड़ी क्षति उठाई। इसका कारण यह था कि सरकार के अन्दरूनी दायरे से बाहर किसी को भी शासन-संचालन का अनुभव नहीं था। यही दशा 1789 में फ्रांस की थी।

इसका इतिहास—असेम्बली का प्रथम अधिवेशन 13 मई को हुआ। इसने पहले कामचलाऊ सरकार स्थापित की। इस सरकार में सबसे बड़ा अधिकारी साम्राज्य का विकर अर्थात् प्रतिनिधि मुकर्रर किया गया, जो अनुत्तरदायी था परन्तु उत्तरदायी मंत्रिमंडल के द्वारा काम करता था। इस स्थान पर आर्क ड्यूक जोन नियुक्त किया गया और जर्मनी के सम्पूर्ण नरेशों ने उसकी हकूमत को माना। अब जर्मन संघ-विधान का सुधार हाथ में लिया गया। जो अमेरिका और फ्रांस में हुआ उसी की नकल करके जर्मनी में भी नागरिकों के मौलिक अधिकार पर बड़े जोश के साथ बहस हुई। यदि इन सैद्धान्तिक वाद-विवादों में समय नष्ट न किया जाकर असेम्बली को सैनिक आधार पर खड़ा किया जाता तो अधिक अच्छा होता। परन्तु प्रतिनिधियों में राजनीतिक ज्ञान का अभाव था। उन लोगों में जो अत्यन्त अनुभव-शून्य थे वे भी इस बात को तो समझ गये कि आस्ट्रिया और प्रशिया अस्थायी रूप से अचेत पड़े हुए हैं। इस अवस्था में जर्मनी की पुनर्जागृति इतनी दृढ़ हो सकती है कि आस्ट्रिया और प्रशिया को वह स्वीकार करनी पड़े। शक्तिवादी नरेश सैनिकता के अतिरिक्त और किसी दलील को नहीं मानते थे। परन्तु जब स्कल्सविग और होल्स्टन का नाजुक प्रश्न फ्रेंक फर्ट असेम्बली के सामने उपस्थित हुआ तो इसकी अक्षमता और अयोग्यता समस्त जर्मन देश के सामने प्रकट हो गई। होल्स्टन और स्कल्सविग नामक जागीरों (Duchies) ने डेनमार्क के विरुद्ध बलवा करके इस बात की कोशिश की वे जर्मनी में मिल जायें। प्रशिया ने उनकी मदद की, परन्तु यूरोप के राष्ट्रों ने डेनमार्क के टुकड़े-टुकड़े नहीं होने दिये और फ्रेड्रिक विलियम को मालयो की संधि करने और अपनी सेनाओं को हटाने के लिये विवश किया। इस पर इन जागीरों ने राष्ट्रीय सभा में अपील पेश की सभा का खयाल था कि जर्मन हितों की रक्षा नहीं हो रही है। इसलिये उसने इस नीति का विरोध किया और अहदनामा (Convention) स्वीकार नहीं किया। जब मंत्रिमंडल फ्रेड्रिक विलियम पर जोर नहीं डाल सका तो उसने त्याग-पत्र दे

दिया और आखिरकार असेम्बली को विवश होकर समझौता स्वीकार करना पड़ा। तत्काल ही फ्रैंकफर्थ के बाजारों में बलवा हो गया और बलवा करने वालों ने क्रोध में दो डेपुटियों (Deputies) को मार डाला। आस्ट्रिया और प्रशिया की सेनाओं ने बलवे को दबा दिया, परन्तु इसके पश्चात् जर्मन पार्लियामेंट की शान और प्रतिष्ठा को ऐसा धक्का लगा कि वह कभी नहीं सँभली। डगमग करने से उसकी हुकूमत का आधार नष्ट हो गया। यह आधार था जनता का अनुमोदन। लोगों के बलवे को दबाने के लिये इसने प्रशिया से सैनिक सहायता माँगी थी। इसलिये अब इसकी आजादी भी जाती रही। बाद में जो घटनाएँ हुईं उनसे प्रकट हो गया कि जर्मनी के शासक इसकी निर्बलताओं से लाभ उठाने के लिये सतर्क और सजग थे। आरम्भ में निराशा होने पर भी धारा-सभा ने जर्मन विधान का संशोधन करने का कार्य जारी रखा। अब इसके सामने दो समस्याएँ थी—(1) आस्ट्रिया की स्थिति और (2) संघ सरकार का स्वरूप।

आस्ट्रिया का जर्मनी से सम्बन्ध—(1) आस्ट्रिया का जर्मनी के साथ संबंध एक जटिल प्रश्न था। इससे एक ऐसी समस्या खड़ी हो गई जो घोर कठिनाइयों से भरी हुई थी। एक हल तो यह हो सकता था कि जर्मन साम्राज्य में उन सब जर्मन प्रदेशों को मिला लिया जाये जो हेप्जबर्ग वंश के अधीन थे, लेकिन यह होने वाली बात नहीं थी, विशेषकर उस समय जबकि आस्ट्रिया का ही एकतन्त्र राज्य छिन्न-भिन्न होता हुआ मालूम होता था। दूसरा हल यह था कि आस्ट्रिया को भी शामिल कर लिया जाय, परन्तु इसके लिये भी जर्मनी तैयार नहीं था और यदि वह ऐसा करता तो फ्रेड्रिक विलियम का क्रोध बहुत बढ़ जाता। प्रशिया के प्रतिनिधि डहलमैन ने कोशिश की कि मध्यम मार्ग का अनुसरण किया जाय। उसने ऐसा प्रस्ताव पेश किया जो फ्रैंक फर्थ के विधान में शामिल कर लिया गया। इसमें इस बात का ऐलान किया गया कि जर्मन साम्राज्य का कोई भी भाग ऐसे राज्य में नहीं मिलाया जायेगा जिसमें जर्मन कौम की बस्ती न हो। यदि एक ही राज्य में विभिन्न जाति के लोग बसे हुए हों तो उसके जर्मन और अजर्मन प्रदेशों में केवल व्यक्तिगत पारस्परिक सम्बन्ध हो सकता था अन्यथा नहीं। इसका मतलब यह था कि उनको अलग-अलग राज्य माना जाय और दोनों में परस्पर सम्बन्ध केवल इतना ही समझा जाय कि दोनों एक ही बादशाह के अधीन हैं। इसी प्रकार इंगलैण्ड और स्काटलैण्ड स्टुअर्ट राजवंश के अधीन थे। इस धारा से आस्ट्रिया के टुकड़े-टुकड़े होने लगे। इसने उसके जर्मन हिस्से को तो शामिल कर लिया लेकिन शेष हिस्से को अलग कर दिया। आस्ट्रिया का मिनिस्टर स्वारजनवर्ग इस बात के लिये तो तैयार था कि पूरे हेप्जबर्ग राजतंत्र को शामिल कर लिया जाय; परन्तु उसको यह बात पसन्द नहीं थी कि इसके टुकड़े-टुकड़े कर दिये जायें और इस प्रकार साम्राज्य के अन्दरूनी स्वरूप में घोर

परिवर्तन हो जाये। परन्तु राष्ट्रीय असेम्बली ने जब देखा कि वह इन्कार करता है तो आस्ट्रिया को जर्मन संघ से अलग कर दिया।

प्रशिया का जर्मनी में स्थान—(2) पहले प्रश्न का हल तो संयुक्त जर्मनी से आस्ट्रिया को अलग करने से हो गया। दूसरे प्रश्न का हल यह सोचा गया कि साम्राज्य का मुकुट प्रशिया के राजा के सिर पर रखा जाय। प्रशिया को यह राज-मुकुट देने का प्रस्ताव क्यों हुआ और उसके नरेश ने इस मुकुट को ग्रहण करने से क्यों इन्कार किया, यह गहराई से सोचने का विषय है। किसी भी राज्य को नेपोलियन के कारण इतनी विपत्तियाँ नहीं सहनी पड़ी थीं जितनी प्रशिया को। युद्धों में उसकी आधी जनसंख्या स्वाहा हो गई थी और अब शत्रु की सेना ने उसको दबा रखा था और उस पर अपार ऋण लदा हुआ था। अब उसको पुनर्जीवित करने का काम भी उन लोगों ने किया था जो प्रशिया के निवासी नहीं थे अर्थात् मुख्यत: स्टीन, आरन्ट, फिच, हाडनबर्ग और स्कार्नहोस्ट ने। ये सब लोग जर्मनी के विभिन्न देशों से प्रशिया में इसलिये चले गये थे कि उनको यह मालूम हुआ था कि राष्ट्रीय उत्थान का नेतृत्व करने की शक्ति और गुण प्रशिया में ही हैं। उसका राजा फ्रेड्रिक द्वितीय अब राष्ट्रीय नेता माना जाता था और इसके बावजूद कि उसको केवल फ्रांस की संस्कृति की ही चिन्ता थी, जर्मन संस्कृति की नहीं और उसने अपने राज्य को बढ़ाने का ही यत्न किया था। लेकिन उसका आदर इसलिये था कि जिन लोगों ने जर्मनी की भूमि पर आक्रमण किया उन पर उसने विजय प्राप्त की थी। स्टीन के सुधारों से पुनर्जीवित होकर और फिच तथा आरन्ट के राजभक्तिमय उपदेशों से प्रभावित होकर प्रशिया ने सन् 1813 में एकदम युद्ध-घोषणा की थी और स्वतन्त्रता के लिये जो संग्राम हुआ उसमें सबसे आगे कदम प्रशिया का ही था। इस संघर्ष का परिणाम यह हुआ कि उसको राइन प्रदेशों पर अधिकार प्राप्त हो गया, जो दो प्रकार से उपयोगी सिद्ध हुआ। अब जर्मनी की किसी भी रियासत के पास इतनी शुद्ध जर्मन भूमि नहीं थी जितनी प्रशिया के पास थी। इसलिये उसका स्थान अब आस्ट्रिया से भी ऊँचा हो गया था। फिर फ्रांस के आक्रमण से राइन सीमा की रक्षा करना अब उसका कर्त्तव्य हो गया था और जर्मनी के संरक्षक की हैसियत से आखिरकार यह उसी का कर्त्तव्य था कि जर्मनी का नेतृत्व ग्रहण करे। उधर आस्ट्रिया को भी इसमें कोई आगा-पीछा नहीं था कि वह जर्मनी के प्रति अपने कर्त्तव्य से मुक्त हो जाय। उसने नेपोलियन का साथ देकर जर्मन जनता के भावों को ठेस लगाई। उसने नेपोलियन के साथ अपनी राजकुमारी का विवाह कर दिया। उसने इस बात को भी नहीं छिपाया कि इसका स्वार्थ राइन की ओर नहीं है बल्कि डेन्यूब नदी की तरफ है। उसका रुख पूर्व की ओर था। अठारहवीं शताब्दी में भी वह बेलजियम से छुटकारा लेना चाहता था और वियना की कांग्रेस में सन् 1815

में उसने बहुत खुशी के साथ बेलजियम का पिंड छोड़ दिया था। मेटरनिक भी इस बात को स्वीकार करता था कि ऑस्ट्रो-जर्मन[1] हितों की अपेक्षा केवल आस्ट्रिया का हित उसके हृदय के अधिक निकट था, अर्थात् केवल आस्ट्रिया की रक्षा के लिए वह अधिक प्रयत्नशील था। उसकी नीति थी जर्मनी को छिन्न-भिन्न और निर्बल बनाये रखने की। जर्मनी के देशभक्तों को ऐसे व्यक्ति से कोई प्रोत्साहन प्राप्त करने की आशा नहीं थी जिसकी सरकार का एकमात्र सिद्धान्त यह हो कि उन्नतिशील प्रगतियों का दमन किया जाय। इन विभिन्न कारणों से राष्ट्रीय भावना हेब्जबर्ग के राजवंश से हटकर प्रशिया के राजवंश की ओर झुकने लगी। फिर भी प्रशिया पचास वर्ष तक यह सोचता रहा कि जर्मनी पर जो आस्ट्रिया का दबदबा और आधिपत्य है उसके हथियाने के लिये वह कोशिश करे या नहीं। आधी शताब्दी के बाद उसने निश्चय किया कि जर्मनी में उसी का आधिपत्य होना चाहिए। बहुत वर्षों तक प्रशिया को इस बात पर सन्तोष था कि वह दूसरे दर्जे की रियासत बनी रहे और वह जर्मनी के विषय में आस्ट्रिया को प्रथम स्थान देता रहे। सन् 1818 में जेंट्स ने लिखा था कि "मैं एक लम्बा पत्र लिखकर आपको बतला सकता हूँ कि प्रशिया के लोग आस्ट्रिया की प्रत्येक बात को जर्मनी के मामलों से ऊपर परखते हैं। ऐसा मालूम होता है कि मेटरनिक ने उन पर जादू कर दिया है।" परन्तु हेब्जबर्ग के राजवंश के प्रति जो लोगों की पुरानी राज-भक्ति थी वह शीघ्र विलीन होने वाली नहीं थी। इस राजवंश ने पाँच सौ वर्ष तक साम्राज्य की परम्पराओं की रक्षा की थी। साम्राट फ्रांसिस जब सन् 1818 में कोलीन नगर के केथेड्रल (मठ) में आया तो उसका वर्णन मेटरनिक ने इस प्रकार किया है, "जिन लोगों ने बादशाह के आने से पहले अपने दरवाजे बन्द कर लिए थे वे एकदम उसके चरणों में आ गिरे और प्रशिया का राजा अपनी जनता के बीच में खड़ा हुआ, कुछ क्षुब्ध-सा इस दृश्य को देखता रहा।[2] यह आस्ट्रिया के राजवंश के प्रति लोगों की सहज राजभक्ति थी। बिस्मार्क कहता था कि यह मध्यकालीन युग का पागलपन है। यह साम्राज्य की केवल भावात्मक स्मृति है[3] जो अभी चल रही है। इसी के कारण फ्रेड्रिक विलियम ने उस सम्मान को प्राप्त करने से इन्कार किया था जो राष्ट्रीय असेम्बली उसको देना चाहती थी। उसने समझा कि असली दावेदार का स्थान उसको नहीं लेना चाहिए। वास्तव में वह आस्ट्रिया के साथ युद्ध करने के लिये तैयार नहीं था और वह इस बात का भी खतरा समझता था कि शायद रूस के साथ युद्ध छिड़ जाये। उसमें राजनीति की कमी थी। इसलिये वह उन कठिनाइयों से घबराया जिनमें, यदि वह सम्मान प्राप्त कर लेता, तो फँस जाने की सम्भावना थी। उसने इस बात

---

1. मेमोयार्स iii, 304।
2. ,, ,, 143।
3. बिस्मार्क, रिफलेक्शन्स एण्ड रेमेनीसेंसेज (1898), i, 44, 47।

को स्वीकार किया कि फ्रेड्रिक महान् इस अवसर के योग्य हो सकता है। वह स्वयं कोई बहुत बड़ा शासक नहीं है। शायद उसने यह बात भी सोची होगी कि विधान ने बादशाह को केवल इतना अधिकार दिया है कि वह किसी विषय को स्थगित करने के लिये अपने मत का उपयोग कर सके, लेकिन उसको हमेशा के लिए रद्द करने के लिये नहीं। उसको इस बात का दृढ़ निश्चय था कि वह लोकसभा के हाथों से ऐसा ताज ग्रहण न करे जो शर्म की बात हो। हाँ यदि जर्मनी के नरेशगण आग्रह करते तो वह इस सम्मान को स्वीकार कर लेता। उसकी दृष्टि में फ्रेंक फर्थ की पार्लियामेन्ट एक क्रान्तिकारी सभा थी जिसको नये राजा बनाने का कोई हक नहीं था, क्योंकि यह सभा जर्मनी के शासकों की मंजूरी से नहीं बनी थी।[1] उसने केवल राजमुकुट ग्रहण करने से ही इन्कार नहीं किया, उसने फ्रेंक फर्थ के संविधान के लिए भी अनुमति नहीं दी और इस प्रकार उसने राष्ट्रीय असेम्बली के भाग्य का निर्णय कर दिया। आस्ट्रिया और चार छोटे-छोटे राजाओं, अर्थात् बवेरिया, सेक्सनी, हेनोवर और वर्टम्बर्ग ने उसका अनुसरण किया और जब आस्ट्रिया और प्रशिया ने इस सभा से अपने प्रतिनिधि वापस बुला लिये तो जर्मन पार्लियामेन्ट समाप्त हो गई। अट्ठाईस रियासतों ने तो संविधान के लिये अनुमति दे दी थी। परन्तु राजनीतिक दृष्टि से उनका महत्त्व बहुत कम था और अपने शक्तिशाली पड़ोसी के प्रभाव को वे कम नहीं कर सकते थे। इस प्रकार जर्मन जनता ने जो अपनी आजादी के लिये प्रयत्न किया था वह बुरी तरह से विफल हुआ।

प्रशिया की संघ योजना—फ्रेंक फर्थ की असेम्बली की विफलता के लिये, जो जर्मनी का संयुक्त करना चाहती थी, प्रशिया जिम्मेवार था। अब प्रशिया ने एक योजना उपस्थित की जिसको आस्ट्रिया ने विफल कर दिया। यह योजना एक दूसरे ही आधार पर खड़ी की गई थी। फ्रेंक फर्थ की क्रान्तिकारी असेम्बली के संविधान के बजाय अब इसने एक संघ का प्रस्ताव किया जिसमें जर्मनी की सब सरकारें शामिल हों और जिसमें प्रशिया का आधिपत्य रहे। यह तजवीज केवल परीक्षार्थ उपस्थित की गई थी। किसी रियासत पर दबाव नहीं डालना था। संघ में जो नरेश राजी से शामिल होना चाहे वह हो सकता था। बर्लिन में एक सभा बुलाई गई। इसमें केवल हेनोवर और सेक्सनी के प्रस्ताव का अनुमोदन किया। ये दोनों रियासतें प्रशिया के साथ मिल गईं जिससे तीन राजाओं का संघ (The league of the three kings) बन गया। आस्ट्रिया, बवेरिया और वर्टम्बर्ग अलग रहे। परन्तु जब संविधान का वचन दिया गया तो इन राज्यों के राष्ट्रीय नेता आकर्षित हो गये और फिर इसी कारण अन्य छोटी-छोटी रियासतें भी प्रशिया के साथ मिल गईं। हेनोवर और सेक्सनी की रियासतें कुछ बेकार-सी सिद्ध हुईं। आरम्भ से ही उनकी सरकारों का संचालन सचाई के साथ नहीं होता था। वे संघ में जान-बूझ-

---

1. पूर्वोक्त i (62)।

कर इस इरादे से शामिल हुई थीं कि ज्यों ही मौका मिले वे संघ से हट जायें। गुप्तरूपेण वे प्रशिया के प्रस्ताव के विरुद्ध थीं और इस विषय में बराबर प्रचार करती रहती थीं। उनका यह कपट वेष बहुत अर्से तक नहीं चला। जब यह प्रस्ताव हुआ कि राष्ट्रीय असेम्बली का अधिवेशन किया जाय तो उनका पर्दा फाश हो गया। उन्होंने तत्काल ही यह उज्र खड़ा किया कि सन् 1815 के संघ ऐक्ट के अनुसार विधान में परिवर्तन करने के लिए जर्मनी के समस्त नरेशों की सम्मति और सहमति आवश्यक है। यह आपत्ति वास्तव में संघ से हटने के लिए एक बहाना था। इनको इस बात का पता था कि आस्ट्रिया दूसरी राष्ट्रीय असेम्बली बुलाने के लिए राजी नहीं होगा। इस परिस्थिति में प्रशिया के सामने इसके सिवाय और कोई रास्ता नहीं था कि उनकी आपत्ति पर ध्यान न दे। परन्तु फ्रेड्रिक विलियम पहले ही कुछ डगमगाने लग गया था और बिस्मार्क जैसे रूढ़िपंथी लोग इस सम्पूर्ण आयोजन के विरुद्ध थे। अब प्रशिया इतना आगे बढ़ गया कि पीछे नहीं हट सकता था। इसलिये आस्ट्रिया का जो हैनोवर और सेक्सनी पर प्रभाव था उसके कारण तीन रियासतों के इस संघ का अन्त हो गया। परन्तु इन रियासतों के अलग हो जाने पर भी निर्वाचन हुआ और मार्च सन् 1850 में एर्फर्ट की पार्लियामेंट हुई।

आस्ट्रिया की विजय--अब आस्ट्रिया ने प्रशिया की संघ-आकांक्षाओं का विरोध करना शुरू किया। हंगरी का उपद्रव शान्त हो चुका था। इसलिए आस्ट्रिया अब जर्मनी के मामलों की तरफ ध्यान देने के लिये तैयार था और चाहता था कि जो राजनीतिक स्थिति सन् 1815 में थी वह पुनः स्थापित हो जाये। यह तो अब बिल्कुल स्पष्ट हो गया था कि राष्ट्रीय प्रगति तो तभी हो सकती है जब जर्मनी से आस्ट्रिया का आधिपत्य हटा दिया जाय। क्योंकि आस्ट्रिया इस बात पर सहमत नहीं होता था कि उसके जो जर्मन प्रदेश हैं वे उसके साम्राज्य से अलग माने जायें। राष्ट्रीय असेम्बली में जो वैधानिक परिवर्तन जारी करने का प्रस्ताव आया उसका विरोध करना भी उसकी परम्परागत नीति के अनुसार था। इसलिए आरम्भ से ही उसने इस बात का विरोध किया कि फ्रेड्रिक विलियम जर्मनी का अधिपति माना जाय। वास्तव में राष्ट्रीय ढंग से जर्मनी का पुनर्निर्माण आस्ट्रिया को पसन्द ही नहीं था। अड़चन उत्पन्न करने वाली इन तरकीबों के साथ-साथ अब स्कवार-जेनवर्ग ने उस संघ का साथ देना शुरू किया जो चार राजाओं का संघ कहलाता था, अर्थात् ववेरिया, बर्टम्बर्ग, हेम्बर्ग और सेक्सनी का संघ। उसकी इच्छा थी कि जर्मनी के पुराने संघ को पुनः स्थापित किया जाये। वह वास्तव में नष्ट हो चुका था। केवल कानूनन यह अभी जीवित था, लेकिन पुराने संघ कौंसिल के स्थान में वह अब सात रियासतों की अर्थात् आस्ट्रिया, प्रशिया और चार छोटी रियासतों और दोनों हैस्सों की एक डाइरेक्टरी स्थापित करना चाहता था। उसके प्रस्ताव को कई रियासतों ने स्वीकार किया और इस प्रकार पुनर्जीवित संघ की एक

प्रकार से शुरुआत हो गई। परन्तु फ्रेड्रिक विलियम ने इस संघ में प्रवेश करने से इन्कार किया। इस प्रकार जर्मनी दो दलों में विभक्त हो गया। एक तरफ प्रशिया छोटी-छोटी रियासतों के संघ के साथ था और दूसरी ओर आस्ट्रिया अपने नये संघ के साथ। इन परिस्थितियों ने एक नाजुक स्थिति उत्पन्न कर दी और अब इन दो दलों में संघर्ष उत्पन्न हो गया। हैसलकेसल का इलेक्टर उस समय अपनी प्रजा के साथ झगड़ा कर रहा था। उसकी प्रजा उसके विरुद्ध इसलिए हो गई थी कि वह प्रशियन लीग से अलग हो गया था। उनके विरोध का कारण यह भी था कि वह पार्लियामेन्ट के अधिकारों पर अतिक्रमण करता था। उसने सहायता के लिए संघ की डाइट से अपील की। यह संघ आस्ट्रिया ने पुनः स्थापित किया था। इसमें इलेक्टर का बहुत प्रभाव था। डाइट ने उसके हक में फैसला दिया और आस्ट्रिया, बवेरिया तथा वर्टम्बर्ग ने दो लाख सैनिक युद्ध में खड़े कर दिए ताकि इलेक्टर के विरोधियों का दमन किया जा सके। अब प्रशिया के नरेश के सामने एक घोर दुविधा खड़ी हो गई। हैस्स की जनता का यह स्वाभाविक अधिकार था कि वह इलेक्टर से सहायता के लिये प्रार्थना करे। वह संघ का अध्यक्ष था और ये लोग संघ में सम्मिलित थे, और संघ का अध्यक्ष ही यदि उनकी वैधानिक स्वाधीनता की रक्षा नहीं करेगा और प्रतिक्रिया की सेना के द्वारा उनके अधिकारों का दमन होने देगा तो फिर संघ में उसका क्या स्थान रहेगा, परन्तु साथ ही वह आस्ट्रिया के साथ भी विरोध उत्पन्न नहीं करना चाहता था। आस्ट्रिया की माँग थी कि प्रशिया संघ के आदेशों की पूर्ति में दखल न दे। वास्तव में समस्या इतनी ही नहीं थी कि हैस्स प्रदेश में शान्ति स्थापित की जाय। मूलतः तो प्रश्न यह था कि यूनियन की नीति सफल हो या संघ की। यूनियन में केवल जर्मनी के ही राज्य थे और वे वैधानिक सिद्धान्तों को मानते थे। जर्मन संघ में आस्ट्रिया का साम्राज्य भी सम्मिलित था जो खुल्लमखुल्ला प्रतिक्रियावादी था। प्रशिया के मंत्रिमंडल ने आस्ट्रिया की सब बातों को मानकर इस समस्या का हल किया। कारण यह था कि उसकी सेना इतनी सुसंगठित और शक्तिशाली नहीं थी कि सफलतापूर्वक आस्ट्रिया का विरोध कर सके। बाद में बिस्मार्क ने लिखा था कि उस समय सैनिक दृष्टि से हमारे हाथ बँधे हुए थे। नवम्बर सन् 1850 में ओलमुट्ज में एक विशेष सभा की गई तो प्रशिया ने हैस्स को अपने भाग्य पर छोड़ दिया और यह बात स्वीकार कर ली कि संघ का अन्त कर दिया जाये। इसके बाद ड्रेस्डन में कई सभाएँ हुईं जिनमें पुराने जर्मन संघ को और संघ की डाइट को पुनर्जीवित किया गया। इस प्रकार तीन वर्ष तक क्रान्ति और प्रतिक्रिया होती रही। इसमें आस्ट्रिया को विजय प्राप्त हुई और प्रशिया को घोर मानहानि सहनी पड़ी। बिस्मार्क ने प्रशिया के मंत्रिमंडल के रुख का समर्थन करते हुए चिरस्मरणीय शब्द बोले। उसने कहा कि चाहे कोई राजनीतिज्ञ कैबीनेट में हो या चेम्बर में, उसके लिये यह तो आसन बात है कि युद्ध की घोषणा कर दे

और अपनी समरभेरी में लोक-प्रियता की हवा भर दे और फिर आग के साथ बैठा-बैठा मौज से तामा करे। सभा में उछल-उछलकर व्याख्यान दे और फिर शेष काम उन सिपाहियों के सुपुर्द कर दे जो खून बहाएँ और बर्फ के मैदानों में धराशायी हो जायें। उस राजनीतिज्ञ को इस बात की चिन्ता नहीं होती कि उसको कीर्ति या विजय प्राप्त होगी या नहीं। इससे आसान बात और कोई है भी नहीं। लेकिन मुझे उन राजनीतिज्ञों पर अफसोस होता है जो आजकल युद्ध के कारणों को बहुत ध्यान से नहीं सोचते। कारण ऐसे होने चाहियें जो युद्ध के पहले और युद्ध के बाद भी सच्चे प्रतीत हों।"[1]

प्रशिया का सैनिक पुनर्निर्माण—आलमुट्ज की विशेष सभा (Convention) के बाद ऐसी स्मृतियाँ रह गईं जो मिट नहीं सकती थीं। जर्मनी में आधिपत्य प्राप्त करने के लिये जो संघर्ष हुआ उसमें आस्ट्रिया ने प्रशिया को छका दिया था। कारण यह था कि प्रशिया की सैनिक व्यवस्था में अनेक भारी दोष थे। उसके शासकों ने इससे सबक सीखा और अब वे ऐसे साधनों के निर्माण में व्यस्त हो गये जिनके द्वारा प्रशिया यूरोप में दुर्धर्ष शक्ति बन सके। उसकी शासक जाति की परम्पराएँ और वैभव सब सैनिक थे। आस्ट्रिया के राजवंश की शक्ति का आधार तो कई शादियाँ थीं, लेकिन प्रशिया की राजशक्ति तलवार के बल से बनी हुई थी। इसलिये प्रशिया की आंतरिक राजनीति का मूल मंत्र अब सेना का पुनर्निर्माण बन गया और इस महान और मौलिक ध्येय की पूर्ति में जो वैधानिक या आर्थिक विघ्न आये उनको दूर किया गया। फिर भी पुनर्निर्माण का काम बड़ी गम्भीरता से 1857 में शुरू हुआ जब विलियम प्रथम उसके भाई के बाद पहले तो रीजेन्ट बना और फिर 1861 में राजा बना। उसकी तजवीज यह थी कि अनिवार्य सैनिक सेना जारी करके 31 रेजीमेन्ट खड़े किये जायें। इस प्रकार दो लाख से पाँच लाख सेना तैयार करनी थी, जो काम पड़ते ही रणक्षेत्र में खड़ी की जा सके। दूसरी कामचलाऊ सेना (Militia), जो उस समय चार लाख थी, उसकी संख्या एक लाख तिरेसठ हजार रखी गई। प्रशिया के उदारदलीय नेताओं ने इस बात का विरोध किया। वे चाहते थे कि जर्मनी में एकता तलवार के बल से नहीं बल्कि राष्ट्रीय विचार के प्रचार और जनमत की दृष्टि से होनी चाहिये। चेम्बर में ये लोग बहुसंख्यक थे और आवश्यक बजट नामंजूर कर सकते थे। इसलिये ऐसा प्रतीत होता था कि स्थिति पर उन्हीं का काबू है। जर्मन नरेश ने इस विषय में देश से अपील की, परन्तु जब निर्वाचन हुआ तो लोगों ने अधिक संख्या में उदार दल के लोगों को ही निर्वाचित किया। इससे वैधानिक सकट उपस्थित हो गया। विलियम का यह दृढ़ निश्चय था कि नये रेजीमेन्टों को बर्खास्त करने के बजाय तो सिंहासन का परित्याग करना अधिक अच्छा है। साथ ही लोगों के प्रतिनिधि भी दृढ़तापूर्वक सरकार

1. बिस्मार्क, रिफलेक्शन्स, i, 79।

पर नियन्त्रण रखने के लिए पार्लियामेंट के अधिकारों की रक्षा करना चाहते थे। अंत में नरेश ने बिस्मार्क को प्रधान मन्त्री बनाया (1862)। अब उसके सामने यही अंतिम साधन था। उसके इस कार्य ने प्रशिया और जर्मनी में एक नये युग का आरम्भ कर दिया। उसको क्या पता था कि ऐसा होगा।

बिस्मार्क—सन् 1848 में एक सूची तैयार की गई कि किस-किसको मन्त्रि-परिषद में लिया जाये। उस समय प्रशिया की धारा-सभा और राज-सभा में घोर संघर्ष चल रहा था। उस सूची में बिस्मार्क का भी नाम था। इस नाम के आगे फ्रेड्रिक विलियम चतुर्थ ने लिख रखा था कि जब संगीनें निर्बाध रूप से राज करने लगें तब इसकी नियुक्ति की जाय।[1] बिस्मार्क के पिछले कार्यों से उसके ऐसे सद्गुण प्रकट हो चुके थे जिनके लिये वर्तमान परिस्थिति में अब उपयुक्त क्षेत्र तैयार हो रहा था। वह एकतन्त्र की भावना के लिये प्रसिद्ध था। उसने अपने 'रिफ्लेक्शन्स एण्ड रेमेनिसेन्सेज' नामक ग्रन्थ में लिखा था कि "मैं हमेशा से हुकूमत के साथ सहानुभूति करता आया हूँ। बचपन में न्याय के विषय में मेरे ये विचार थे कि हारमोडियस, ऐरिस्टोजेटन और ब्रूटस सब मुलज़िम थे और टेल भी बलवाई और हत्यारा था। तीस-वर्षीय युद्ध से पहले जो कोई रईस सम्राट का विरोध करता था तो मुझे क्रोध आया करता था, लेकिन ग्रेट इलेक्टर के बाद से मेरे विचार साम्राज्य-विरोधी बन गये।" सन् 1847 में जब फ्रेड्रिक विलियम ने धारा-सभा का अधिवेशन करवाया तो बिस्मार्क प्रतिक्रिया-वादी दल का मुख्य वक्ता था और मार्च के दिनों में उसने राजा को सलाह दी थी कि बलवे को तलवार के बल से खतम करना चाहिए। उस समय जर्मनी की एकता का विचार सर्वत्र प्रचलित था। स्वयं बिस्मार्क का भी यही विचार था। भेद केवल इतना ही था कि तत्कालीन जनता के साधन और थे तथा बिस्मार्क के और। वह फ्रेड्रिक विलयम चतुर्थ और फ्रेंक फर्थ को सभा की इस सम्मति को नहीं मानता था कि "युद्ध के बिना ही जर्मन का आधिपत्य प्रशिया के हाथ में आप से आप आ जायगा। और यह सब काम प्राचीन वंशवाद के विचार के अनुकूल हो जायगा।" बिस्मार्क ने इस बात की घोषणा की कि यह ऐसी आशा दोहरी गलती पर खड़ी हुई है। "पहले तो जर्मनी के राजवंश और उनकी रियासतों की शक्ति का कम अन्दाजा लगाया गया था। दूसरे लोक-शक्ति का अत्यधिक अनुमान किया गया था। लोकशक्ति से मतलब है आन्दोलन, बाजारों में लड़ाई की धमकी, रास्ते रोक देना इत्यादि कार्य।"[2] इन सब का मतलब यह था कि राष्ट्रीय पार्लियामेंट की हिमायत करने वाले यह बात नहीं समझते थे कि उनके प्रस्ताव केवल कागजी कार्यवाही थी और यदि उनका जर्मनी के

---

1. बिस्मार्क, रिफ्लेक्शन्स, i. 55।
2. ,, ,, i. 60।

रईसों के साथ संघर्ष हुआ तो विजय उस पक्ष की होगी जो पशुबल का उपयोग कर सकेगा। सन् 1848 में जो प्रतिक्रियावादी तत्वों को कुछ अस्थायी विजय प्राप्त हुई थी उसके बारे में कहा जाता था कि यह लोक-आन्दोलन के बल से प्राप्त नहीं हुई थी बल्कि इस कारण हुई थी कि जर्मनी के रईस थोड़ी देर के लिये भौंचक्के रह गये थे और उनके मन्त्री अपने दिलों मे बलवाइयों के साथ सहानुभूति रखते थे। इसलिए जब नरेशों ने ऐसे मन्त्री नियुक्ति कर दिये "जो राजाओं के विशेष अधिकारों की रक्षा करने के लिए तैयार थे और जिनको पार्लियामेंट के निश्चयों की कोई चिन्ता नहीं थी" तो सब खतरा जाता रहा और प्रत्येक रियासत की सरकार ने क्रान्ति को दबा दिया। बिस्मार्क इस तरीके से 1848 की घटनाओं का भाष्य करता था और इनसे जो कुछ नतीजा निकलता था इससे उसके विश्वास दृढ़ होते जाते थे। उसकी यह दृष्टि एक विचार के आधार पर बनी थी। वह विचार था 'रक्त और शस्त्र', जिसका यह अभिप्राय था कि शस्त्र का काम बहस से नहीं चलता। प्रशिया की नैतिक विजय के विषय में वह अपनी पुस्तक रेमेनिसेन्सेज में उपहास करता है कि जर्मन साम्राज्य विचारों के प्रचार पर खड़ा नहीं हो सकता, यह तलवार के प्रयोग पर खड़ा होगा।

उसके ध्येय—बिस्मार्क ने लगभग पच्चीस वर्ष तक जर्मनी के भाग्य का नियन्त्रण किया और उसको यूरोप मे सबसे अधिक शक्तिशाली बना दिया। इतिहास बतलाता है कि उसमें कैसी नीतिकुशलता थी और उसका उपयोग वह कैसी दूरदर्शिता, सूक्ष्मता और निर्मम शक्ति के साथ करता था। वह जानता था कि दोहरी हुकूमत का अन्त होना चाहिए और यह तभी हो सकता है जब जर्मन संघ से वह आस्ट्रिया को अलग कर दे। इस ध्येय की पूर्ति में उसने शान्त साधनों का उपयोग नहीं किया। वह इनकी पूर्ति युद्ध के द्वारा करना चाहता था। फ्रांस के साथ युद्ध करना उसके मूल ध्येय का सार नहीं था। वह युद्ध तो उस इमारत की डाट की चाबी थी जो उसने परिश्रम के साथ खड़ी की थी। उसकी नीति के क्षेत्र और साधनों का विवेचन करते समय हमको विचार करना है कि प्रशिया के चेम्बर्स के साथ, आस्ट्रिया के साथ और फ्रांस के साथ उसका क्या सम्बन्ध था। अन्त में जोल-वेरन का वर्णन करके और बिस्मार्क और कावूर की तुलना करके हम इस विवेचन को समाप्त करेंगे।

प्रशिया की धारा-सभा के साथ सम्बन्ध—बिस्मार्क ने स्वयं लिखा है कि लुई चौदहवें के वर्णन में जिस घोर निरकुशता का उल्लेख है वह उसको पसन्द नहीं है। वह इस बात के पक्ष में था कि प्रेस और स्वतन्त्र प्रतिनिधि सभा सरकार की टीका-टिप्पणी करे। उसने कई दरबार देखे थे जिससे उसको यह विश्वास हो गया था कि किसी भी नरेश के विषय में यह विश्वास नहीं करना चाहिए कि जनता जिन गुणों की आशा करती है वे सब उसमें हों। प्रजा आशा करती है कि राजा में "निष्पक्षता,

ईमानदारी, कर्त्तव्यपरायणता, तत्परता, और नम्रता होनी चाहिए।" वह सर्वद्रष्टा हो और उसको चाटुकारी पसन्द नहीं होनी चाहिए। ये सब गुण शासक में होने चाहिए। परन्तु यह सिद्धान्त की बात है व्यवहार की नहीं। अपने ध्येय की पूर्ति में जिस भी साधन की आवश्यकता होती है उसका उपयोग करने में उसको कोई हिचकिचाहट नहीं होती थी। अगर वह देखती कि संस्थाएँ और प्रेस उसके मार्ग में बाधक हैं तो वह दोनों का दमन करने में पीछे नहीं हटता था। उसने प्रशिया की चेम्बर के साथ जो बर्ताव किया उससे यह बिलकुल स्पष्ट हो गया। उसने अपने विरोधियों को कहा कि यदि आपको मेरी सैनिक तजवीजें मंजूर हैं तो मैं आपमें से कुछ लोगों को केबिनेट में लेने के लिये तैयार हूँ। उसका प्रस्ताव मंजूर नहीं हुआ। धारा-सभा ने सैनिक सुधार ही नामंजूर नहीं किये बल्कि इस काम के लिए धन भी नामंजूर कर दिया। तब बिस्मार्क ने अपने दृढ़ निश्चय और इच्छा-शक्ति का प्रदर्शन किया। उसने धारा-सभा का घोर विरोध किया और बजट की कोई चिन्ता न करके सेना का पुन-र्निर्माण अपने हाथ में लिया। पार्लियामेंट के बहुमत की चिन्ता न करके सरकार का संचालन करना और जनता के प्रतिनिधियों का विरोध होते हुए भी अपनी तजवीजों को आगे बढ़ाना; संविधान को फाड़ फेंकने के बराबर था। परन्तु बिस्मार्क ने स्थिति को खूब समझ लिया था। वह जानता था कि यदि लोगों ने शस्त्र द्वारा विरोध किया तो वह अपनी सेना के द्वारा उसको कुचल देगा। वह राजसत्ता का पक्षपाती था और उसके हित में वह बल-प्रयोग करने के लिये तैयार था। इसके अतिरिक्त उदार दल का विरोध मध्यम वर्ग तक ही सीमित था। साधारणतया देश की जनता वैधानिक अधिकारों का उल्लंघन सहने के लिये तैयार थी। बिस्मार्क जानता था कि उसकी विदेश-नीति तभी सफल हो सकती है जब वह अपने विरोधियों को चुप कर दे। वह समझता था कि जब कामयाबी हो जाती है तो बहुत सी बातें माफ कर दी जाती हैं और जब नाकामयाबी होती है तो उसको संसार क्षमा नहीं करता। आगे चलकर जो घटनाएँ हुईं उनसे सिद्ध हो गया कि बिस्मार्क ने ठीक हिसाब लगाया था। कूटनीतिज्ञता और युद्ध के क्षेत्र में जो उसको चकाचौंध करने वाली विजय प्राप्त हुई उसके कारण सारी कौम उसके साथ हो गई और उसको महानता के शिखर पर बिठा दिया। उसने प्रशिया की सैनिक राजसत्ता का जीवन और लम्बा कर दिया। इसका अन्त उस समय हुआ जब सन् 1914-15 के महायुद्ध में जर्मनी हार गया। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि इंगलैण्ड में स्टेफर्ड और फ्रांस में विलेले की जहाँ हार हुई वहाँ बिस्मार्क को प्रशिया में विजय प्राप्त हुई। कारण यह था कि कौम की आजादी छिन जाने से जो स्थान खाली हुआ उसकी पूर्ति उसने यश और कीर्ति के द्वारा की। बिस्मार्क ने लिखा था कि हमारी कौम बड़ी घमंडी है। चाहे हमको चोट लगे लेकिन यदि दूसरे देशों में हमारी कीर्ति और महत्ता बढ़ती है तो लोग सरकार को सब कुछ करने देते हैं। यहाँ

तक कि सरकार हमसे रुपया छीने तो भी हम माफ करने के लिए तैयार हैं।"[1] सन् 1866 में बिस्मार्क को बजट की मंजूरी के बिना शासन का संचालन करते हुए पाँच वर्ष हो गये थे। यह बहुत बड़ा अपराध था, परन्तु उसी साल सेडोवा के युद्ध क्षेत्र में उसने आस्ट्रिया को हराया और वह देश प्रशिया के चरणों में जा पड़ा तो प्रशिया की धारा सभा ने बिस्मार्क के कार्य का अनुमोदन किया अर्थात् पाँच वर्ष तक उसने बजट मंजूर कराये बिना जो शासन चलाया उसको क्षमा कर दिया। विजयोल्लास में कौम ने अपने मंत्री के अवैधानिक व्यवहारों को क्षमा कर दिया और अब उसको विश्वास हो गया कि विदेशी नीति के विषय में जो कुछ वह करेगा उसका प्रशिया की धारा-सभा बहुमत से अनुमोदन करेगी।

आस्ट्रिया के साथ सम्बन्ध—(2) प्रशियन चेम्बर के साथ जो संघर्ष जारी हुआ केवल संघर्ष के लिये नहीं बल्कि एक उद्देश्य की पूर्ति के लिये था। बिस्मार्क केवल शुद्ध प्रतिक्रियावादी नहीं था। वह लोक-प्रतिनिधियों के साथ भी सहयोग करने के लिये तैयार रहता था। शर्त यह थी कि उसके विदेशी कार्यक्रम को वे लोग स्वीकार करें। इस विषय में वह चार्ल्स दसवें के मन्त्रियों से भिन्न था। वे लोग समझते थे कि विदेशों में जो विजय होती है उसके सहारे ही घरेलू सरकार का संचालन होता है, परन्तु बिस्मार्क के लिये पर-राष्ट्र-नीति का स्वप्न सबसे आगे था और जर्मन-संघ से आस्ट्रिया को निकालना वह अपना चरम लक्ष्य मानता था और इसके लिये अपनी सम्पूर्ण शक्तियों का उपयोग करने को तैयार था। जिस समय यह सत्तारूढ़ हुआ तो जर्मनी में प्रशिया का भविष्य अच्छा नहीं मालूम होता था। उस समय ऐसा जान पड़ता था कि नेपोलियन तृतीय और रूस में अवश्य ही कोई सन्धि हो जायेगी और यदि यह सन्धि हो जाती तो बिस्मार्क की सब तजवीजें विफल हो जातीं, क्योंकि नेपोलियन तृतीय इस बात को कभी भी पसन्द नहीं करता कि प्रशिया की अध्यक्षता में जर्मनी का एकीकरण हो। परन्तु एक ऐसी अनुकूल घटना घटी जिसके कारण यह खतरा टल गया और बिस्मार्क ने इस घटना का सर्वाधिक लाभ उठाया। 1863 के आरम्भ में पोलैण्ड के अन्दर बलवा हुआ और फ्रांस और इगलैण्ड में लोग बहुत जोर से पोल जनता के साथ सहानुभूति करने लगे। बिस्मार्क ने तत्काल रूस की सरकार को सहायता दी और अपनी सीमा पर सेना इकट्ठी करने लगा। अब रूस को इस बात की चिन्ता नहीं रही कि यूरोप के दूसरे राष्ट्रों का रुख उसकी तरफ कैसा है। परन्तु जनमत के दबाव से फ्रांस के सम्राट ने पोलैण्ड की जनता की तरफदारी की और रूस की सरकार को विरोध-पत्र लिखा। इससे पोलैण्ड की जनता को तो कोई लाभ नहीं हुआ लेकिन फ्रांस और रूस में जो सन्धि थी वह बिल्कुल टूट गई। इसके स्थान

---

1. रिफलेक्शन्स i. 177।

पर अब रूस और प्रशिया में सन्धि हो गई और बिस्मार्क को इस बात का विश्वास दिला दिया गया कि वह आस्ट्रिया के साथ जैसा चाहे वैसा बर्ताव कर सकता है। बिस्मार्क की कूटनीति एक खतरनाक सीमा तक पहुँच गई थी और ऐसा मालूम होता था कि उसने इस विषय में जल्दबाजी की है। यदि फ्रांस, आस्ट्रिया और इंगलैण्ड रूस के खिलाफ युद्ध जारी कर देते तो इसका सबसे पहला धक्का प्रशिया को ही लगता। उसने रूस के साथ जो सन्धि की उससे प्रशिया का नरम दल उसके विरुद्ध हो गया, परन्तु बिस्मार्क के ध्येय की अवश्य पूर्ति हुई। वह ध्येय था जर्मनी से आस्ट्रिया के आधिपत्य का अन्त करना।

स्कलस्विग और होल्स्टन का प्रश्न—जर्मन संघ के दो शक्तिशाली सदस्यों में जो युद्ध हुआ उसका कारण था स्कलस्विग और होल्स्टन की जागीरों (*Duchies*) का जटिल प्रश्न। ये दोनों जागीरें डेन्मार्क के राजा के अधीन थीं, परन्तु वस्तुतः ये चार शताब्दियों से स्वतन्त्र ही थीं। डेनमार्क के एल्डरडैन दल ने इस बात की कोशिश की थी कि इनको डेन्मार्क में मिला लिया जाये, परन्तु ये इसका घोर विरोध करती रहीं। स्थिति पेचीदा इस तरह से हुई कि डेन्मार्क के राजवंश में अब कोई पुरुष उत्तराधिकारी नहीं था, इसलिये राजवंश का अन्त होता-सा जान पड़ता था। इन जागीरों में सैलित (Salit) कानून प्रचलित था, जिसके अनुसार कोई स्त्री उत्तराधिकारी नहीं बन सकती थी। हाँ, यदि इसकी स्वायत्त सत्ता पहले ही समाप्त हो जाती तो दूसरी बात थी। अतः डेन्मार्क और इनका सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता। यह नाजुक स्थिति 1848 में उपस्थिति हुई। होल्स्टन में डेन्मार्क के विरुद्ध एक बलवा संगठित किया गया और इसने जर्मन जनता से सहायता की अपील की और जर्मनी ने उसका साथ दिया। इस प्रकार होल्स्टन और स्कलस्विग राष्ट्रीय आवेश की लहर में फँस गईं। यह लहर जर्मनी में खूब फैल रही थी। अब इनका भाग्य जर्मन कौम के साथ बँध गया। परन्तु यह केवल जर्मनी का प्रश्न नहीं था। यह यूरोप का भी प्रश्न था, क्योंकि डेन्मार्क के टुकड़े-टुकड़े करके जर्मनी को बाल्टिक समुद्र में नाविक शक्ति बना देने पर बहुत बड़े विरोध का खड़ा होना अवश्यंभावी था। प्रशिया ने इन जागीरों के पक्ष में हस्तक्षेप किया, परन्तु उसकी बात नहीं चली और 1852 में लंदन में एक सन्धि हुई जिसमें यह स्वीकार किया कि डेनिश की राजसत्ता के टुकड़े न किये जायें। परन्तु साथ ही इन जागीरों को अपने अन्दरूनी मामलों में किसी हद तक स्वतन्त्रता दे दी गई। इस समझौते से काम नहीं चला और डेन्मार्क और जर्मन संघ का पारस्परिक सम्बन्ध बिगड़ता ही गया। आखिर 1863 में स्थिति बहुत उग्र हो गई। इस समय यूरोप के राष्ट्र पोलैण्ड के बलवे के प्रश्न को हल करने में व्यस्त थे। उस समय डेन्मार्क के एल्डरडेन दल ने इन जागीरों पर एक ऐसा विधान थोप दिया जिससे स्कलस्विग की स्वतन्त्रता का करीब-करीब अन्त हो गया और लंदन में जो सन्धि हुई थी वह भी रद्द

हो गई। बस अब बिस्मार्क को ऐसा मौका मिल गया जिससे वह प्रशिया के लिये लाभ उठाना जानता था। कुछ अर्से बाद उसने लिखा था, "मैं आरम्भ से ही इस बात की ताक में था कि इन जागीरों को जर्मन संघ में मिला लूँ।" परन्तु अभी उसने सावधानी की और हाथ आगे नहीं बढ़ाया और अपने आन्तरिक ध्येय को प्रकट नहीं किया। 1848 की घटनाओं ने बतला दिया कि यदि यूरोप के राष्ट्रों ने इस विषय में कोई हस्तक्षेप किया तो प्रशिया का काम किसी राष्ट्र की सहायता के बिना नहीं चलेगा। इस अवसर पर उसने आस्ट्रिया से बातचीत करना शुरू किया। आस्ट्रिया को नेपोलियन की इटली सम्बन्धी नीति से इस समय डर था और वह चाहता था कि प्रशिया के साथ उसकी मैत्री हो जाये। इसलिये उसने मित्रता स्वीकार कर ली। बिस्मार्क ने प्रस्ताव किया कि प्रशिया और आस्ट्रिया दोनों मिलकर इन जागीरों में हस्तक्षेप करें। इसको आस्ट्रिया ने स्वीकार कर लिया और बहाना भी आसानी से मिल गया। वह यह था कि डेन्मार्क ने लंदन में की गई सन्धि को रद्द कर दिया था। इसलिये अब इंगलैंड, फ्रांस और रूस कोई कानूनी विरोध नहीं कर सकते थे। युद्ध जारी हुआ और डेन्मार्क हार गया और दोनों जागीरें उससे छीन ली गईं। पहले वहाँ प्रशिया और आस्ट्रिया का संयुक्त शासन रहा जिसमें फिर गास्टीन की सन्धि (1865) के अनुसार संशोधन हुआ और इसी अर्से में बिस्मार्क ने कोशिश करके नेपोलियन को उदासीन बना दिया और इटली का सहयोग प्राप्त कर लिया। बिस्मार्क इस बात को जानता था कि यदि प्रशिया ने इन डचीज को अपने राज्य में शामिल किया तो आस्ट्रिया सहमत नहीं होगा। इसलिये उसने लगातार ऐसी तरकीब की जिससे आस्ट्रिया के साथ लड़ाई हो जाए। उसने आस्ट्रिया को वास्तव में युद्ध के लिए विवश कर दिया। इसमें प्रशिया के लोग उसके साथ नहीं थे और जर्मनी की दूसरी रियासतें भी कहती थीं कि ओगस्टेनबर्ग का ड्यूक इन जागीरों का स्वामी बनने का अधिकारी है। फिर भी बिस्मार्क ने अकेले ही युद्ध की तैयारी कर दी और आस्ट्रिया को यह चुनौती मंजूर करनी पड़ी। जुलाई सन् 1866 में सेडोवा की रणभूमि में प्रशिया को विजय प्राप्त हुई जिससे सिद्ध हो गया कि वह आस्ट्रिया से अधिक शक्तिशाली है। इसके बाद उसने जर्मनी की उन छोटी-छोटी रियासतों को हराया जिन्होंने आस्ट्रिया का साथ दिया था। अब जर्मनी के राजतन्त्र में बिस्मार्क ने हेर-फेर किया, जिससे प्रशिया की शक्ति बहुत दृढ़ हो गई और वर्तमान जर्मन साम्राज्य की नींव डली।

उत्तर-जर्मन-संघ—यद्यपि वेनेशिया इटली को दे दिया गया था तो भी बिस्मार्क ने विलियम के इस प्रस्ताव का विरोध किया कि आस्ट्रिया का कोई हिस्सा जर्मनी में मिला लिया जाय। बिस्मार्क का यह दृढ़ निश्चय था कि जर्मनी से आस्ट्रिया को बिल्कुल निकाल देना चाहिए, जिससे प्रशिया को विस्तार के लिये निर्द्वन्द्व क्षेत्र मिल जाये। लेकिन साथ ही वह प्रशिया और आस्ट्रिया के बीच ऐसी स्थायी अड़चनें भी पैदा नहीं

करना चाहता था जिससे भविष्य में फ्रांस और रूस के विरुद्ध उसके साथ कोई सन्धि न हो सके। 1857 में उसने फ्रांस से एलसेसलारन छीन लिया था, परन्तु अब उसकी नीति नरम हो गई थी। फ्रांस के साथ जिस नीति का अनुसरण किया गया था उससे स्मृतियाँ बहुत कटु हो गई थीं। ज्यों-ज्यों समय निकलता गया त्यों-त्यों उनकी कटुता बढ़ती ही गई। अगस्त सन् 1866 में प्राग की सन्धि हुई, जिसके अनुसार प्रशिया ने स्कलस्विग और होल्स्टन की जागीरों को अपने राज्य में मिला लिया। इसके अतिरिक्त उसने हनोवर के राज्य और हैस की इलेक्टोरेट को और हैस हर्मसटेट के कुछ हिस्से को और फ्रेंक-फर्थ नगर को भी अपने राज्य में सम्मिलित कर लिया। इस प्रकार जर्मनी की जनसंख्या चालीस लाख और बढ़ गई। 1815 में जो जर्मन संघ बना था वह खतम कर दिया गया और अब आस्ट्रिया को जर्मन मामलो से अलग कर दिया गया। साथ ही प्रशिया उत्तर जर्मन संघ का अध्यक्ष बन गया और मेन नदी से ऊपर की सब रियासतें इसमें सम्मिलित हो गईं। इस नये संघ का राजतन्त्र जो बिस्मार्क ने बनाया उसके निम्नलिखित अंग थे: (1) रेस्टाग (Reichtag)—यह एक प्रकार की पार्लियामेन्ट थी। इसके निर्वाचन का अधिकार समस्त बालिग पुरुषों को था। (2) बंडसराथ (Bundusrath)—यह संघ की कौंसिल थी। इसमें विभिन्न रियासतों के प्रतिनिधि थे। इस कौंसिल में तेतालीस वोट थे, जिनमें प्रशिया को सत्रह वोट देने का अधिकार था। प्रत्यक्ष में प्रशिया का बहुमत नहीं था, लेकिन उसका अल्पमत नाममात्र का था। उसकी महत्ता इन सत्रह वोटों में छिप-सी गई थी। दूसरी रियासतों की स्थिति बहुत नीची थी, परन्तु इन वोटों के जाल के कारण उनको अपनी वस्तु-स्थिति का ठीक अन्दाजा नहीं होता था। बिस्मार्क इन रियासतों को अब ऐसी छोटी-छोटी छूटें दे सकता था जो केवल भ्रम मात्र थीं। तमाम मामलों में असली शक्ति प्रशिया के राजा के हाथ में थी। समस्त सेना का कमांड अब प्रशिया के राजा के हाथ में था और समस्त रियासतों की पर-राष्ट्र-नीति भी उसी के हाथ में थी। अन्दरूनी मामलों में हर एक रियासत काफी स्वतन्त्र थी और किसी का व्यक्तित्व संघ में विलीन नहीं हुआ था। लेकिन कितनी ही समस्याएँ ऐसी थीं जो अभी अनिश्चित और धुँधले रूप में छोड़ दी गई थीं। बिस्मार्क चाहता था कि अगला कदम अहतियात के साथ उठाया जाय। परन्तु यह भी स्वाभाविक बात है कि बड़े राज्य छोटे राज्यों को हमेशा अपनी ओर खींच लेते हैं। लेकिन यह बात निश्चित थी कि संघ सरकार का प्रभाव कानून-निर्माण में और दूसरे सामाजिक और राजनीतिक महकमों के विषय में विस्तृत हो गया और इससे छोटी-छोटी रियासतों को हानि हुई। मेन नदी के दक्षिण में स्थित रियासतें अर्थात् बवेरिया, वर्टम्बर्ग बेडन और हैस-डर्मस्टेड की स्वतन्त्रता अभी बनी हुई थी, परन्तु उनको डर था कि कहीं नेपोलियन उनको न हड़प ले, क्योंकि बिस्मार्क ने इन रियासतों पर प्रकट कर दिया था कि राइन के आसपास नेपोलियन को क्षति-

पूर्ति करना है। इसलिए ये रियासतें अपने पैरों पर खड़ी नहीं हो सकती थीं। इन्होंने यह अनुभव किया कि आक्रमणों से रक्षा करने के निमित्त प्रशिया के साथ कोई मेल होना आवश्यक है। इसका परिणाम यह हुआ कि इन रियासतों की सेना पर प्रशिया का अधिकार हो गया।

फ्रांस—(3) जर्मन साम्राज्य के विस्तार में आस्ट्रिया और प्रशिया का युद्ध पहला कदम था और दूसरा कदम था प्रशिया और फ्रांस का युद्ध। यहाँ यह बतलाना आवश्यक है कि इसका अवसर और कारण क्या था और दोनों में क्या वैमनस्य था। जैसे आस्ट्रिया और प्रशिया के युद्ध का अन्तिम कारण स्केलिस्विग और होल्स्टन नहीं माना जा सकता, इसी प्रकार यह भी नहीं कहा जा सकता कि स्पेन के उत्तराधिकारी के विषय में जो विवाद खड़ा हुआ वह फ्रांस और प्रशिया के युद्ध का कारण था।

मध्य राज्य—फ्रांस और जर्मनी के बीच में एक ऐसा स्थल है जिसके विषय में हमेशा बहस चलती रही है। इतिहास में यह एक दुर्भाग्य की बात है कि यह प्रदेश मध्यस्थ राज्य नहीं बन सका। चार्ल्स महान् की मृत्यु के बाद उसके राज्य के तीन भाग हो गये थे। पश्चिमी भाग स्थूल रूप से इस समय का फ्रांस माना जा सकता है और पूर्वी भाग वर्तमान जर्मनी, तथा मध्य भाग लोथारिंगिया को समझना चाहिए। इसमें ट्यूटोनिक जातियों की राजधानी एचन, और लेटिन लोगों की राजधानी रोम शामिल थीं, परन्तु मध्यस्थ राज्य के रूप में लोथारिंगिया निभा नहीं। पड़ोसियों ने इसको निगल लिया। पन्द्रहवीं शताब्दी में बर्गण्डी के चार्ल्स बोल्ड ने फिर प्रयत्न किया कि एक मध्यस्थ राज्य की रचना की जाये। अगर उसका प्रयत्न सफल हो जाता तो यूरोप के विकास की धारा और ही तरफ मुड़ जाती, लेकिन उसकी असामयिक मृत्यु के कारण उसकी तजवीजें नष्ट हो गईं और फ्रांस और जर्मनी एक-दूसरे की ओर गुर्राते ही रहे। अब फ्रांस ने देखा कि बहुत बड़े-बड़े परिवर्तन हो रहे हैं प्रशिया की सैनिक शक्ति बढ़ रही है और वह सयुक्त जर्मनी का अध्यक्ष बन गया है। इसको फ्रांस उपेक्षा से नहीं देख सकता था। इस विरोध के कारण सन् 1870 का युद्ध हुआ।

नेपोलियन तृतीय और प्रशिया—सन् 1806 में नेपोलियन प्रथम ने जीना के युद्ध क्षेत्र में प्रशिया को बुरी तरह हराया था। तब से फ्रांस और प्रशिया का पारस्परिक सबध बहुत बिगड़ा हुआ था। दोनों में किसी प्रकार की मित्रता नहीं थी, लेकिन परम्परागत द्वेष का बिस्मार्क पर कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता था। वह कहता था कि यह तो सड़ता हुआ द्वेष है। वह बड़ी चतुराई के साथ किसी भी ऐसी विदेशी शक्ति का उपयोग करने से पीछे नहीं हटता था जिसकी सहायता से उसके उद्देश्य की पूर्ति हो सके और जिसकी पूर्ति के लिये वह यत्नशील हो। सन् 1857 में उसने

कोशिश की थी कि प्रशिया और फ्रांस के सम्बन्ध सुधर जायें। पाँच वर्ष बाद जब वह पदारूढ़ हुआ तभी से नेपोलियन के साथ वह बड़ी चतुराई से सम्पर्क बढ़ाने लगा। उसने कूटनीति में ही नहीं युद्ध-क्षेत्र में भी उसको खूब मात दी। जर्मनी के राजनीतिक प्रवाह को फ्रांस के बादशाह ने ठीक नहीं समझा। वह इटली की प्रगति से सहानुभूति करता था, इसलिए वह आस्ट्रिया को अपना शत्रु समझता था। इसीलिये हैब्सबर्ग राजवंश के खिलाफ उसने प्रशिया के साथ प्रेम-भाव स्थापित करने का यत्न किया। उसको आस्ट्रिया की सैनिक निपुणता का ठीक पता नहीं था। वह उसको बहुत बढ़ी-चढ़ी समझता था, इसलिये वह इस बात पर राजी हो गया कि उत्तर जर्मनी में प्रशिया का प्रभाव बढ़े ताकि फ्रांस के प्रतिद्वन्द्वी आस्ट्रिया का प्रभाव दक्षिण में कम हो। उसको बिस्मार्क के गुप्त ध्येयों का कुछ पता नहीं था। उसको प्रशिया की ओर से खतरे का ध्यान उस वक्त आया जब कुछ नहीं हो सकता था। राइन नदी की फ्रांसीसी सीमाओं को दुरुस्त करने के लिये उसने कुछ धुँधले से विचार बना रखे थे और उसका यह भी विचार था कि नेपोलियन प्रथम की भाँति जर्मनी के अन्दर वह अपने लिये एक स्थान तैयार कर ले। नेपोलियन प्रथम ने छोटी-छोटी जर्मन रियासतों का एक राइन संघ बनाया था और उसका संचालन फ्रांस के हाथ में रखा था। इसलिये अब नेपोलियन की नीति का ध्येय था जर्मनी को निर्बल और विभक्त बनाये रखना और आस्ट्रिया या प्रशिया को प्रभावशाली बनने से रोकना। इसलिये जब आस्ट्रिया और प्रशिया में युद्ध शुरू हुआ तो वह उदासीन बना रहा, परन्तु जब सेडोवा में जर्मनी को विजय प्राप्त हुई तो उसके मनसूबे एकदम रद्द हो गये। उसको यह आशा थी कि युद्ध अर्से तक चलेगा। दोनों पक्ष थक जायेंगे और फिर फ्रांस दोनों में समझौता करायेगा और उसकी बात चल जायेगी, तथापि सेडोवा की विजय से उसका भ्रम-निवारण नहीं हुआ। उसने प्रशिया के विस्तार के विरुद्ध कुछ नहीं कहा। उत्तर जर्मनी की प्रदेश-लिप्सा से उसको फ्रांस के लिये कोई खतरा नहीं मालूम होता था, बल्कि वह तो यह भी मानता था कि इससे जर्मनी का राष्ट्रीय विकास और एकीकरण रुक जायेगा। उसको विश्वास था कि जर्मनी के वे हिस्से, जो प्रशिया में शामिल नहीं हैं अब फ्रांस की सहायता की आवश्यकता महसूस करेंगे।

फ्रांस-प्रशियन युद्ध के कारण, 1870—नेपोलियन की भूलों का बिस्मार्क खूब स्वागत करता था। वह चाहता था कि अपनी सैनिक तैयारियाँ पूरी न हो जायें तब तक लड़ाई न हो। वह जल्दबाजी से फ्रांस के साथ संघर्ष नहीं छेड़ना चाहता था। वह मामले को स्थगित करता रहा, परन्तु आरम्भ से ही उसके कार्यक्रम का नकशा उसके दिमाग में साफ-साफ बन चुका था। उसको इस बात का विश्वास था कि संयुक्त जर्मनी बहुत जल्दी बनने वाला है और इस मामले को हल करने के लिये उत्तर जर्मन संघ पहला कदम है। वह इस बात को भी मानता था कि संयुक्त जर्मनी की रचना से पहले फ्रांस के साथ युद्ध हो जाना चाहिये।[1] उसने बाद में कहा था कि यह तो इतिहास के तर्क

1. रिफलेक्शन्स, ii 57।

की बात है कि आस्ट्रिया के साथ युद्ध हो, उसके बाद फ्रांस के साथ युद्ध होना ही चाहिये। दो कारणों से जर्मन साम्राज्य के ताने-बाने को पूरा करने के लिये उसको युद्ध की आवश्यकता थी—(1) वह खूब जानता था कि प्रशिया के नेतृत्व में जब जर्मनी के एकीकरण का प्रयत्न होगा तो फ्रांस उसका डटकर विरोध करेगा। सेडोवा के युद्ध के बाद नेपोलियन कुछ हस्तक्षेप करने लगा था, इसलिये बिस्मार्क अहतियात के साथ कदम उठाने लगा और आस्ट्रिया से जो उसने माँगें की थीं उनको भी उसने नरम कर दिया। (2) दक्षिण जर्मनी के रईस संघ में सम्मिलित होने के लिये राजी नहीं थे। बिस्मार्क चाहता था कि एक और कौमी सनसनी पैदा की जाये, जिससे इन रईसों के दिल का आगा-पीछा खतम हो जाये और वे संघ में सम्मिलित हो जायें। उसका खयाल था कि मेन नदी के दक्षिण में जर्मन रियासतों में 1866 की सैनिक विजय के कारण जो राष्ट्रीय भावना उत्पन्न हुई है और जिसके कारण दक्षिण की रियासतें सन्धियाँ करने के लिये तैयार हो गई हैं वह फिर ठंडी हो जायेगी।[1] युगों से राजवंशों के प्रभाव के कारण और जीवन की जुदी-जुदी आदतों के कारण उत्तर और दक्षिण जर्मनी के बीच एक खाई बन गई थी। बिस्मार्क का खयाल था कि यह खाई किसी नये साधन से इतनी अच्छी नहीं पुर सकती जितनी फ्रांस के साथ युद्ध करने से, जो बरसों से जर्मनी पर आक्रमण कर रहा था। घटनाएँ भी मानो उसके हाथ में खिलौना बन गईं। फ्रांस में भी ऐसे शक्तिशाली प्रभावों का वेग चला जो कौम को युद्ध के लिए उकसाने लगा। प्रशिया की देश-लोलुपता से फ्रांस के सब दल नाराज हो गये। नेपोलियन के तरफदारों ने भी सोचा कि यदि युद्ध में विजय प्राप्त हुई तो उसके राजवंश की जड़ जम जायेगी और उसकी कीर्ति के कलंक धुल जायेंगे। फ्रांस और जर्मनी के लोकमत में जो तनाव और खिचाव बढ़ रहा था वह तभी दूर हो सकता था जब उसके शासकों में हार्दिक समझौता हो। लेकिन इस की कोई आशा नहीं थी। दोनों देशों में आग लगाने के लिए केवल एक चिनगारी की जरूरत थी। जब कोई सरकार युद्ध करना ही चाहती है तो उसके लिए बहाना ढूँढने में देर नहीं लगती। अब स्पेन के तख्त के विषय में एक विवाद खड़ा हो गया। वहाँ उत्तराधिकारी का प्रश्न हल होने ही वाला था, परन्तु विवाद बहुत बढ़ गया और इससे फ्रांस और प्रशिया मे युद्ध जारी हो गया। सितम्बर सन् 1870 में सेडान में युद्ध हुआ और 26 अक्टूबर को मेट्स में एक लाख सत्तर हजार आदमियों ने शस्त्र डाल दिये। जनवरी 1871 में चार महीने के घेरे के बाद पेरिस का पतन हो गया। इस युद्ध के परिणामस्वरूप[2] जर्मनी ने एलसिस और पूर्वी लोरेन को ही नहीं छीन लिया जिनमें मेट्ज और स्ट्रेसबर्ग भी शामिल थे, बल्कि उसके उस ध्येय की भी पूर्ति हो गई जिसके

1. रिफलेक्शन्स, ii 571।
2. फ्रांस-प्रशिया के युद्ध के परिणामों के लिए देखिये अध्याय 8।

लिए बिस्मार्क ने फ्रांस के साथ युद्ध छेड़ा था, अर्थात् मेन नदी से दक्षिण की रियासतें उत्तर जर्मन संघ में सम्मिलित हो गईं। जनवरी 1871 में प्रशिया के राजा के सिर पर वरसाइल में जर्मन सम्राट् का ताज रखा गया। लोगों की दृष्टि में यह रस्म जर्मन जाति की नवजात एकता की प्रतीक थी।

जोलवेरिन—बिस्मार्क ने जर्मन साम्राज्य का तानाबाना डाला परन्तु संयुक्त जर्मनी की नींव तो पहले ही जोलवेरिन अर्थात् जकात् संघ के द्वारा डाली जा चुकी थी, आर्थिक एकता ने राजनीतिक एकता के लिए मार्ग तैयार कर दिया था। जब आर्थिक हित सबके एक हो गए तो राष्ट्रीय भावना और राष्ट्रीय जागृति के विकास को सहायता मिली। सन् 1818 में एडमस्मिथ के सिद्धान्तों के अनुसार मासेन ने आर्थिक सुधार जारी किये थे। यही जोलवेरिन का श्रीगणेश था। प्रशिया के जुदे-जुदे प्रान्तों का एकीकरण करने के लिए उसने जकात के ऐसे नियम बनाये जिनसे सब अन्दरूनी महसूल खतम कर दिए गए और प्रशिया के समस्त राज्य में निर्बाध व्यापार जारी हो गया। विदेशों से जो पक्का माल आता था उस पर भी थोड़ा-सा महसूल रखा। कच्चे माल पर किसी प्रकार का महसूल नहीं था। परन्तु साथ ही प्रशिया में होकर यदि किसी रियासत का माल जाता था तो उस पर भारी महसूल लिया जाता था। इसका उद्देश्य यह था कि दूसरी रियासतें विवश होकर जोलवेरिन में शामिल हो जायें। यह नीति छोटी-छोटी रियासतों की स्वाधीनता के लिए घातक थी। इनके सामने अब यह प्रश्न था कि यदि वे प्रशिया के महसूल नियम से अलग रहती हैं तो उनकी आर्थिक क्षति अवश्यंभावी है, क्योंकि प्रशिया के विभिन्न प्रदेशों में ये जर्मनी की रियासतें ओतप्रोत ही नहीं थीं, बल्कि उन्हीं में होकर उनके व्यापारिक मार्ग गुजरते थे। प्रशिया के खिलाफ इन रियासतों ने आवाज उठाई, परन्तु इसकी कोई परवाह नहीं की गई। आस्ट्रिया ने इन समस्याओं को गम्भीरता से अनुभव नहीं किया, इसलिए वह तटस्थ रहा। ऐसे व्यापारिक संघ खड़े किये गए जो प्रशिया के विरोधी थे, परन्तु 1825 के बाद प्रशिया के अर्थ सचिव मोट्ज ने बड़ी दूरदर्शिता के साथ इन रियासतों के साथ उदारता का बर्ताव करना शुरू किया, जिससे विरोध धीरे-धीरे ठंडा हो गया और एक दूसरी रियासत प्रशिया के संघ में सम्मिलित होने लगी। सन् 1834 में बवेरिया, वर्टम्बर्ग और सेक्सनी की बड़ी-बड़ी रियासतें जोलवेरिन में शामिल हो गईं। अन्त में जोलवेरिन सब जर्मनी पर लागू हो गया। आस्ट्रिया स्वयं ही इससे अलग था। इसलिए जर्मनी के व्यापार पर उसका कोई प्रभाव नहीं रहा। वह इससे वंचित हो गया। अब प्रशिया के आधिपत्य को चुनौती देने वाला कोई नहीं रहा। इस प्रकार शान्त लेकिन निरन्तर आर्थिक दबाव के कारण वे सब राजनीतिक रुकावटें नष्ट हो गईं जिन्होंने जर्मनी के टुकड़े-टुकड़े कर रखे थे। प्रादेशिक और राजवंशीय प्रभाव भी खतम हो गये जिनके कारण पार्थक्य को सहायता मिलती थी।

बिस्मार्क और कावूर की तुलना—उन्नीसवीं शताब्दी में जर्मनी की राष्ट्रीय प्रगति का पर्यवेक्षण समाप्त करने के पूर्व यह अच्छा होगा कि जर्मनी के वर्तमान विधाता बिस्मार्क तथा इटली के वर्तमान विधाता कावूर की तुलना की जाये। इनकी तुलना करने से प्रकट होगा कि दोनों में कई ऐसी बातें समान थीं और साथ ही दोनों में कई ऐसी बातें भिन्न थीं जो आश्चर्यजनक हैं। दोनों का ध्येय एक ही था। एक जर्मन की एकता चाहता था और दूसरा इटली की। दोनों के सामने एक ही शत्रु था। आस्ट्रिया के कारण ही प्रशिया के विकास में अड़चन थी और इसी प्रकार पीडमोन्ट के विकास में भी उसी के कारण रुकावट थी। कुशल राजनीतिकता के द्वारा दोनों ही देशों ने अपार कठिनाइयों को पार कर लिया और आश्चर्यकारी विजय प्राप्त की। बस इतनी ही बातें दोनों में समान थीं। दोनों में भेद दो प्रकार के थे। पहली बात यह थी कि कावूर नरम दल का था और बिस्मार्क प्रतिक्रियावादी। कावूर पीडमोन्ट के वैधानिक दल का नेता था और उसके राजनीतिक सम्प्रदाय का प्रधान सिद्धान्त था स्वतन्त्र संस्थाओं में विश्वास। उसने इटली के अन्तरीप से आस्ट्रिया को निकालने के लिए आवश्यकतावश बल का प्रयोग किया। परन्तु इटली का एकीकरण सब लोग चाहते थे और इसके विषय में कई बार जनमत लिया जा चुका था। अपनी राष्ट्रीय अभिलाषाओं की प्राप्ति के लिये इटली की जनता ने राजवंश के साथ कन्धे से कंधा भिड़ाकर प्रयास किया था। बिस्मार्क प्रतिक्रियावादी था। प्रत्यक्षतः उसको इस बात का विश्वास था कि सरकार का आधार विचार नहीं, शक्ति है। इसीलिए उसने प्रशिया में पार्लियामेंट के विधान को नष्ट करके सबल और सैनिक राजतन्त्र खड़ा किया। जिस जर्मन साम्राज्य की उसने स्थापना की थी उसका आधार तलवार पर था और उसकी नींव उन अहदनामों पर खड़ी की गई थी जो विभिन्न सरकारों के बीच हुए थे। संक्षेपतः जर्मन साम्राज्य एक संघ राज्य था। दूसरी ओर कावूर को पीडमोन्ट का इटली में विलय करने पर सन्तोष था, लेकिन बिस्मार्क जर्मन राष्ट्र में प्रशिया का व्यक्तित्व विलय करने के लिए बिल्कुल तैयार नहीं था। इन दोनों देशों में जो भेद था उसको यों कहा जा सकता है कि इटली मे पीडमोन्ट का विलय हुआ, लेकिन प्रशिया में जर्मनी का विलय हुआ। यह जर्मनी के राजनीतिक तन्त्र में दूसरी सफलता थी। प्रशिया के आधिपत्य के कारण संघ के अन्य सदस्यों में क्रोध था। जब कावूर का देहान्त हुआ तो उसका कार्य ठोस रूप से पूरा हो चुका था, परन्तु जब बिस्मार्क का देहान्त हुआ तो वह ऐसी समस्याएँ छोड़ गया जिसके कारण जो इमारत उसने खड़ी की थी उसका भविष्य अनिश्चित-सा हो गया। बिस्मार्क के देहान्त के बाद अब तक की घटनाओं का प्रभाव हमको इस नतीजे की ओर ले जाता है कि जिस भावना के साथ उसने काम किया और जिन साधनों का उसने उपयोग किया, उससे जर्मनी के राजनीतिक विकास को गलत रास्ता मिला।

अध्याय 3

रूस में सुधार-प्रगति (1815—1914)

रूस के इतिहास में उन्नीसवीं शताब्दी का स्थान—उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में रूस लगभग एशिया से मिलता-जुलता था। रूस में तारतार लोगों के कई आक्रमण हुए, जिनके कारण देश तहस-नहस हो गया और फिर बहुत अर्से तक जंगलीपन बना रहा। इससे कई शताब्दियों तक रूस का साधारण विकास रुक गया। पीटर महान् ने (1682—1725) रूस को पश्चिमी सभ्यता के स्तर तक उठाने का महान् कार्य सबसे पहले अपने हाथ में लिया। दुर्भाग्यवश उसका उत्तराधिकारी इतना योग्य नहीं हुआ जो उसके कार्य को जारी रखता। केथारिन महान् ने (1762—1796) यूरोप में अपने राज्य की प्रतिष्ठा बढ़ाई और पर-राष्ट्र नीति में रूस वजनदार राष्ट्र माना जाने लगा। परन्तु वास्तविक समस्या थी आन्तरिक पुनर्निर्माण। इस दिशा में उसने कोई प्रयास नहीं किया। उन्नीसवीं शताब्दी में भूमिदासों की दासता का अन्त हुआ, जिसका श्रेय अलेग्जेण्डर द्वितीय को है। रूस के इतिहास में इस युग की दूसरी विशेषता है व्यापक जन-जागृति। रूसी समाज के उत्तम तत्त्व जागृत हो गये और अनुभव करने लगे कि देश में राजनीति और सामाजिक जागृति की बड़ी आवश्यकता है। अठारहवीं शताब्दी में वैधानिक विचार धीरे-धीरे फैले और फिर सारे देश में प्रचलित हो गया। यह बीच का युग था जिसका फल आगे चलकर मिला। इसलिये रूस के इतिहास को समझने के लिए यह आवश्यक है कि प्रगति और प्रतिक्रिया के बीच जो निरन्तर संघर्ष हुआ उसके स्वरूप को जाना जाय। प्रतिक्रिया ने बार-बार प्रगति को दबाया लेकिन स्वाधीनता की गति, चाहे प्रत्यक्ष में वह बन्द हो गई हो, छिपे-छिपे अपना काम करती रही और जार-शासन के ताने-बाने को काटती रही। मध्य काल की दासता से रूस धीरे-धीरे और कष्टपूर्वक ऊँचा उठा और प्रथम विश्व-युद्ध के समय (1914-1918) एक नवीन जीवन के द्वार पर आ खड़ा हुआ। उस समय यह विश्वास था कि संघर्ष का अवश्यम्भावी परिणाम यह होगा कि आंतरिक स्थिति पर उसका अच्छा असर पड़ेगा।[1] घटनाएँ ऐसी घटीं जिनकी आशा नहीं थी। इसका दिग्दर्शन अगले अध्याय में किया जायेगा,[2] परन्तु

---

1. "यूरोप के जनतन्त्र की विजय हमारे भी जनतन्त्र को विजय हो" जी० एलेजिन्स्की, रशिया एण्ड दी ग्रेट वार' (1915), 3500।
2. देखो यूरोप, 1914—39।

रूस की समस्याओं को समझने के लिए यह अनिवार्य है कि 1815 से 1914 तक की रूसी दशा का सिंहावलोकन किया जाये।

1815 में रूस की हालत—(क) भूमि-दासता—सन् 1815 में सबसे बड़ी समस्या थी रूस के किसानों की दासता। 1861 में ये लोग बन्धन से मुक्त हुए। उससे पहले लगभग चार करोड़ पच्चानवे लाख दास थे, जिनमें दो करोड़ तीस लाख दास बादशाह के थे और लगभग इतने ही बड़े-बड़े सामन्तों के। शेष या तो चर्च के दास थे या अन्य संस्थाओं के या घरेलू सेवा करने वाले।[1] जो किसान खालसे की भूमि पर काम करते थे उनकी दशा उन लोगों की अपेक्षा अधिक असह्य थी जो सामन्तों या दूसरे लोगों के यहाँ काम करते थे। इन लोगों के ग्राम, वर्ग या जातियाँ थीं, जो रूस में मीर कहलाती थीं। इनको स्वायत्त शासन का थोड़ा-सा अधिकार था। गाँव के मुखिया के द्वारा या एक निर्वाचित कौंसिल के द्वारा ये लोग अपने कामों की व्यवस्था करते थे, परन्तु इन लोगों को अनेक कठिनाइयाँ सहनी पड़ती थीं। उनके आने-जाने पर, सम्पत्ति प्राप्त करने पर या उसको बेचने के अधिकारों पर अनेक प्रकार की रुकावटें थीं, लेकिन उनकी खास तकलीफ यह थी कि उनके ऊपर गैर-कानूनी टैक्सों का भार लदा हुआ था। उनसे जबरदस्ती रिश्वत ली जाती थी और बेगार करने पर उनको मजबूर किया जाता था। सन् 1826 में एक रूसी देश-भक्त ने वक्तव्य जारी किया था, जिससे हम अनुमान कर सकते हैं कि जो भूमि-दास सामन्तों के मातहत थे उनकी कैसी भयकर दुर्दशा थी। उसने लिखा है कि "इन रूसी दासों की दशा की अपेक्षा उन हब्शियों की दशा अधिक अच्छी है जो अमेरिका में चाय के खेतों पर काम करते हैं। ये सामन्त लोग प्राय: ऋण से लदे रहते थे, इसलिए ये लोग दासों को पशुओं की भाँति बेच दिया करते थे और एक ही कुटुम्ब के लोगों को अलग कर दिया करते थे। बेचते-बेचते जो दास उनके पास बच जाते थे उनसे वे और अधिक काम कराते थे। रूस के कानून में लिखा था कि "मालिक अपने दासों से हर प्रकार का काम ले सकता है। उनसे कर्ज वसूल कर सकता है और निजी सेवा भी करा सकता है। वह उनको पीट सकता है, जबरदस्ती उनको सेना में भर्ती करवा सकता है या उनको साइबेरिया[2] में भेज सकता है।" एक वर्तमान इतिहासकार ने इन लोगों का बड़ा भयावना चित्र खींचा है। वह कहता है कि "सामन्त दासों पर बड़े अत्याचार करते थे। सेन्ट पीटर्स-बर्ग में निवास करने वाले बड़े-बड़े सामन्तों के दास भी इसी प्रकार दुखी थे। बड़े सामन्तों के एजेन्ट और

1. ए० रेम बोड, हिस्टोयरे डिलारशी (संपादित 1900), 677।
2. देखो डी० एम० वालेस, रशिया (संपा० 1912) सी xxviii।

जमींदार इन लोगों को कई प्रकार के दुख देते थे। इन बड़े-बड़े सामन्तों की आमदनी को बढ़ाने के लिये जो कल-कारखाने जारी किये गये थे उनमें दास लोग काम करने के लिये मजबूर किये जाते थे। उनमें सैकड़ों काल के ग्रास बन जाया करते थे। उनको अमानुषिक दण्ड दिया जाता था। उनको तहखानों में बन्द रखा जाता था और हाथ-पैर जंजीरों से बांध दिये जाते थे। कोड़ों से मारते-मारते उनके प्राणान्त कर दिये जाते थे। ये सब काम सामन्त के हुक्म से उसके एजेन्ट लोग किया करते थे। बड़े-बड़े सामन्त सेंट पीटर्स वर्ग में रहते थे और ऐसा माना जाता था कि इनमें बड़े-बड़े राजनीतिज्ञ और कुछ बड़े-बड़े परोपकारी भी थे।[1] परन्तु इनके कितने ही अपराध प्रकाश में आ चुके थे। केथरिन महान् ने, जिसकी नसों में जर्मन रक्त था और जो वोल्टेयर के साथ और विश्व-कोष के लेखकों के साथ पत्र-व्यवहार किया करती थी, इन दासों को सम्पूर्ण अधिकारों से वंचित कर दिया था और हुक्म दिया था कि जो अपने कष्ट निवारण कराना चाहते हैं उनके कोड़े मारे जायें और निर्वासित करके उनसे खानों में काम लिया जाये (1667)।[2] इंगलैण्ड की दशा इससे बहुत भिन्न थी। रूस में दासों को मुक्त किया। इससे 600 वर्ष पहले इगलैण्ड में उनके साथ अधिक मानवता का व्यवहार किया जाता था। उनके विषय में जज ब्रेक्टन ने लिखा है कि यदि दास को कोई शारीरिक नुकसान हुआ है तो उसका मालिक कोई भी हो, उसको अधिकार है कि उसके खिलाफ वह मुकद्दमा दायर कर सके।[3]

(ख) आंतरिक प्रबन्ध—इस युग का रूसी आन्तरिक प्रबन्ध बयान से बाहर है। प्रबन्ध की हर बात में अनाचार, अन्याय और बेईमानी थी। और हो ही क्या सकता था? राज्य का हर पद या तो रिश्वत से प्राप्त होता था या प्रभाव से। उम्मीदवार की योग्यता का कोई ध्यान नहीं रखा जाता था। रिश्वतखोरी, जो पूर्वी प्रशासनों में प्रायः एक परम्परा-सी है, यहाँ सब जगह मौजूद थी। रूस में यह और अधिक खराब इसलिये हो गई थी कि साम्राज्य-भर में राज्य-कर्मचारियों को नाकाफी वेतन मिलता था। इसलिये प्रान्तों के सैनिक गवर्नर लोगों का धन छीन-छीनकर बड़े मालदार बन गये थे। उनके मातहत उन्हीं का खूब अनुकरण करते थे। जिससे जितना हो सकता था उतना धन बटोरता था। रोमन गवर्नरों के अधीन सिसली की दुर्दशा का चित्र सिसिरो ने एक भाषण में खींचा था। बस इसी से रूस की हालत की तुलना की जा सकती है। यहाँ अधिकारियों के अनाचार घर-घर की

---

1. एस स्केवेजी, 'रशा' इन केम्ब० पोड० हिस, 426-7।
2. वालेस
3. ई० लिप्सन, इकॉनामिक हिस्ट्री (1915) 1, 42।

कहानी बन चुके थे। लोग जानते थे कि शिकायत करना निष्फल है। गवर्नरों के तबादले से स्थिति में कोई अन्तर नहीं आता था। रिश्वत दिये बिना छोटी-से-छोटी और बड़ी-से-बड़ी अदालत से कोई इन्साफ की उम्मीद नहीं थी। प्रजा के धन का दुरुपयोग करना एक साधारण-सी बात हो गई थी।

रूसी सामन्तों का असंतोष—फ्रांस की राज्यक्रान्ति इसलिए नहीं हुई थी कि वहाँ आर्थिक संकट यूरोप के अन्य स्थानों से अधिक था, बल्कि इसलिये हुई थी कि मध्यम वर्ग के शिक्षित लोगों में तत्कालीन सरकार के प्रति असन्तोष था, जिसको दार्शनिक लोगों के लेखों ने उत्पन्न किया था। परन्तु रूस में तो ऐसा कोई मध्यम वर्ग नहीं था जो आजादी के विचारों से ओत-प्रोत हो और जो सरकार के खिलाफ बलवे का नेतृत्व कर सके। कृषक लोग इतने दबे हुए थे कि उनमें कोई नेता नहीं मिल सकता था। लेकिन नेपोलियन के युद्धों के बाद उन लोगों को ऐसी सहायता मिल गई जिसकी कहीं से पहले आशा नहीं थी। सामन्त लोग सरकार से असन्तुष्ट थे और इसके विशेष कारण थे। रूस की तत्कालीन स्थिति का किसी अंश में प्रशिया की तत्कालीन स्थिति से मुकाबला किया जा सकता है। दोनों ही देशों के सामन्तों और केन्द्रीय नौकरशाही में घोर द्वेष था। सामन्त लोग इस बात पर नाराज थे कि राजकर्मचारियों के हाथों मे राजकाज की बागडोर है और उन्हीं का सब जगह दब-दबा है। रूस के सामन्तों में यह दुर्भावना और अधिक प्रबल इसलिये हो गई थी कि सरकारी पदों को ऐसे लोग भरते जाते थे जो जर्मनी में पैदा हुए थे। इसलिए वे लोग दिखाने के लिये तो जार के वफादार थे, लेकिन तत्कालीन सरकार के खिलाफ आक्रमण कराने में उनको कोई आगा-पीछा नहीं था। इसके अतिरिक्त सैनिक अफसर, जिनका सामन्ती घरानों से सम्बन्ध था, पश्चिमी यूरोप के लम्बे युद्धों के बाद फ्रांस में तीन साल निवास करके उदार और सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि साथ लेकर रूस में वापस आये थे। अमेरिका की राज्य-क्रांति से फ्रांस की राज्य-क्रांति की नींव पड़ी थी। इसी प्रकार रूस की और उसके दासों की अधोगति से और स्वाधीन संस्थाओं के अभाव से और साथ ही फ्रांस में जो स्थिति थी उससे सैकड़ों रूसियों के दिलों में क्रान्ति का बीज जमा था। एक प्रसिद्ध रूसी अफसर कर्नल पाल पेस्टल (Paul Pestal) ने अपनी आत्म-जीवनी में लिखा है कि "तब वैधानिक राजतन्त्र के विचार और क्रांति के विचार मुझमें उत्पन्न होने लगे। फिर भी क्रान्ति के विचार अभी कुछ कमजोर और धुंधले-से थे। तो भी शनैः शनैः वे दृढ़ और स्पष्ट होने लगे। पहले मेरे विचार वैधानिक राजतन्त्र के पक्ष में थे। फिर वे जन-सत्तात्मक हो गये।" उन लोगों ने गुप्त सोसाइटियाँ बनाना शुरू किया। इसके द्वारा वे अपने विचारों का प्रचार करना चाहते थे। इस समय दक्षिण यूरोप में इटली में कारबोनेरी और ग्रीस में हिटेरिया लगभग ऐसे उपायों का उपयोग कर रहे थे और संगठन में भी इन्हीं तरीकों से काम

लेते थे। उन्होंने कुछ अनुभवों की आजमाइश की और 1818 में एक सोसाइटी कायम की, जिसका नाम था यूनियन आॅफ पब्लिक गुड। यह तीन साल बाद दो संस्थाओं में विभक्त हो गई—एक उत्तर की सोसाइटी और दूसरी दक्षिण की सोसाइटी। उत्तर की सोसाइटी को पेट्रोग्राड में स्थित सेना से सदस्य मिलते थे और इसका कार्यक्रम था वैधानिक राजतन्त्र। दक्षिण की सोसाइटी के सदस्य दक्षिण की सेना से आते थे और वे प्रजातन्त्र के पक्ष में थे। एक तीसरी सोसाइटी भी थी लेकिन वह आगे चलकर दक्षिण की सोसाइटी में मिल गई। यह सोसाइटी थी, स्लाव लोगों की सोसाइटी। इस सोसाइटी का मन्तव्य था स्लाव जाति के लोगों का एक संघ बनाना। इन सोसाइटियों के सदस्य ऐसे लोग थे जिनके न पिता थे और न पुत्र और उनकी हालत उन अगुवाओं की-सी थी जो अपने युग से आगे हों। ये लोग बहुत थोड़े-से थे। अपने समय के लोगों से ये अलग नहीं थे। इनको पश्चिमी जीवन के स्वतन्त्र वायुमण्डल से प्रेरणा प्राप्त होती थी। इनमें स्वाधीनता की उत्कट अभिलाषा थी, परन्तु ये केवल एक मुट्ठी-भर थे। इस प्रकार उनकी हार तो होनी ही थी लेकिन उनके बाद उनके त्याग की स्मृतियाँ रह गईं, जिनके कारण रूस के इतिहास में उनका स्थान अमर हो गया।

दिसम्बर की प्रगति 1825—अलेग्जेंडर प्रथम की मृत्यु के बाद कुछ समय तक दूसरा जार सिंहासन पर नहीं बैठा। इससे गुप्त संस्थाओं ने लाभ उठाया और बल प्राप्त किया। अलेग्जेंडर के तीन भाई थे। इनमें सबसे बड़ा कोन्सटेन्टाइन था, लेकिन सम्राट ने समझा-बुझाकर उससे अपने अधिकार का परित्याग करा दिया था और उसके अधिकार उसके छोटे भाई निकोलस को दिला दिये थे। इस त्याग के कारण उत्तराधिकार के विषय में कुछ अनिश्चितता आ गई थी, क्योंकि यह सन्देह था कि उसका त्याग वास्तव में उचित है या नहीं। इस सन्देह-ही-सन्देह में तीन सप्ताह निकल गये। इसके बाद कोन्सटेन्टाइन के बजाय निकोलस राजसिंहासन पर बैठा। इस अर्से में असन्तोष के सब तत्व और भी बलवान हो गये। गुप्त संस्थाओं ने क्रान्ति करने के लिये इस अवसर का लाभ उठाया। 26 दिसम्बर को पेट्रोग्राड में एक बलवा हुआ। यहाँ मास्को के रेजीमेन्ट ने अपने अफसरों के उकसाने से बादशाह के प्रति वफादारी की शपथ लेने से इन्कार कर दिया। यह बलवा बहुत जल्दी बेकार साबित हुआ। यह केवल सैनिक बलवा था और एक ही रेजीमेन्ट तक सीमित था। इसमें न तो राजकर्मचारी लोग शामिल थे और न राजधानी के कोई लोग। इसका संगठन खराब तरीके से हुआ था और इसके नेता भी उस परिस्थिति के योग्य साबित नहीं हुए। दक्षिण की सोसाइटी ने फौज में एक बलवा कराया, जो बड़ी आसानी से दबा दिया गया और जहाँ-जहाँ भी इस बलवे की चिनगारी उछलने लगी वहीं वह आसानी से शान्त कर दी गई। इस षड्यंत्र के कहाँ-कहाँ फैलने की सम्भावना थी, इस बात

को तहकीकात करने के लिये एक कमीशन नियुक्त किया गया और इसने बड़े-बड़े प्रतिष्ठित विद्वान, कलाकार और दार्शनिक तथा राजनीतिज्ञों को साइबेरिया में भेज दिया। ऐसा कहा जाता था कि रूस में उस समय जो सभ्य और बच्चे सामन्त थे उनको वहाँ भेज दिया गया। इनमें कितने ही लोग बुरी तरह से मरे और नष्ट हो गये। इनमें पोल पेस्टल भी था। फाँसी के तख्ते पर खड़े होकर उसने कहा था कि "मेरी गलती यह हुई कि बीज बोने से पहले ही मैंने फसल काटने की कोशिश की। मैं यह जानता था कि मुझे अपने जीवन का बलिदान करना चाहिये। फसल काटने का समय बाद में आयेगा।" इसलिये दिसम्बर की प्रगति का समय से पूर्व ही अन्त हो गया। इसकी सृष्टि करने वाले लोगों की राजनीतिक क्षेत्र में अनुभव-शून्यता के कारण बहुत वर्षों का काम एकदम छिन्न-भिन्न हो गया और जिस काम के लिये वे अर्से से प्रयास कर रहे थे वह खतरे से घिर गया। उन लोगों ने यह कार्यक्रम सोचा था—कानून के सामने सबकी समानता, भूमि-दासों की रिहाई और वैधानिक सरकार। इस कार्यक्रम का अच्छा अन्त होता तो उत्तम बात थी। फिर भी ऐसी बात नहीं है कि इन लोगों का बलिदान यों ही गया। शहीदों के खून से ही स्वाधीनता का बीज जमता है। दिसम्बर की क्रान्ति करने वाले लोगों ने यह प्रकट कर दिया कि रूस की जनता ने बलिदान की उपेक्षा नहीं की। इस बलिदान से ऐसे देशभक्त उत्पन्न हुए जो देश की पुनर्जागृति के लिये अपना खून देने के लिये तैयार थे।

निकोलस प्रथम (1825—55)—निकोलस प्रथम निरंकुशता का अवतार था। जब वह राजसिंहासन पर बैठा तो घोर विपत्ति के युग का आरम्भ हुआ और तीस वर्ष तक उसने रूस में निर्दयता और कठोरता के साथ शासन किया। वैधानिक सिद्धान्त निरंकुशता से दब गये और इसने अपनी स्थिति दुर्भेद्य बनाने के लिये कोई कोशिश उठा न रखी। जब पश्चिमी यूरोप के देशों में स्वाधीनता और प्रतिक्रिया का पैशाचिक संघर्ष चल रहा था तो संसार ने देखा कि रूस में किसी प्रकार की हलचल नहीं हो रही है। दूसरे देशों में भी निकोलस बड़ी तत्परता के साथ निरंकुशता का समर्थन करता था और वह सम्पूर्ण प्रगतिशील परिवर्तनों का निर्मम शत्रु था। सन् 1830 में जब फ्रांस के बोरबन राजवंश को देशनिकाला दिया तो वह हस्तक्षेप करना चाहता था, परन्तु उसी समय पोलैण्ड में उत्पात हो गया। इससे वह रुक गया। सन् 1848 में उसने आस्ट्रिया के सम्राट की मदद की और हंगरी की राज्य-क्रान्ति को दबाने का श्रेय प्राप्त किया। उसकी घरेलू नीति थी क्रूरतापूर्वक दमन करना, रूढ़िवाद से चिपके रहना, और लोग कुछ प्रदर्शन करें तो उनको घोर कठोरता के साथ दबाना। उसकी पागल शासन-प्रणाली ने विचार-स्वातंत्र्य और कार्य-स्वातंत्र्य के सब रास्ते रोक दिये। उसके पहले के दयालु शासक ने खुफिया पुलिस को खतम

कर दिया था, परन्तु 1826 में उसने इसको पुनर्जीवित भी कर दिया था। इस पुलिस की बड़ी निन्दा थी और लोग कहते थे कि जार के दमन-चक्र में यह एक तीसरा शस्त्र है जिससे रूसी इतिहास के पन्ने काले होते हैं। पुलिस के अध्यक्ष को गिरफ्तार करने का, कैद कर देने का, निर्वासित करने का और जो उसको पसन्द नहीं उसको मार देने का पूरा अधिकार था। उस पर किसी प्रकार की रोक नहीं थी। ऐसा कहा जाता था कि यह घोर संस्था स्पेन की इंक्विजीशन से बढ़कर शायद न हो, लेकिन उसके बराबर तो थी ही। स्पेन का बादशाह फिलिप द्वितीय भी ऐसा ही था। उसकी भाँति निकोलस ने इस बात की कोशिश की कि उसकी प्रजा को यूरोप के प्रभाव से बचाया जाये और पश्चिमी विचारों से दूर रखा जाये। उसको इसका भय था कि यदि ऐसा न किया गया तो उनकी राजनीतिक धाराओं से इन भोले-भाले लोगों के विचारों में परिवर्तन होगा। इसलिए विदेश-यात्रा पर प्रतिबन्ध लगाये गये। रूस के नवयुवकों को दूसरे देशों में पढ़ने के लिये जाने से मना किया गया और विदेशों से पुस्तकें मँगवाना भी बन्द कर दिया। सेन्सर आफ़ीसर बड़ी सख्त छानबीन करने के बाद ही किसी पुस्तक को रूस में घुसने देता था। विद्यार्थियों को यह भी सिखाया गया कि विश्वविद्यालयों में हाजिर रहने की कोई जरूरत नहीं है। विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम से दर्शन-शास्त्र की शिक्षा बिल्कुल निकाल दी गई। इसकी पढ़ाई पादरियों का काम रह गया। मध्यकालीन पांडित्य की भाँति अब यह भी एक धार्मिक अध्ययन की शाखा मात्र रह गई। मानवीय मस्तिष्क को और अधिक बन्दी बनाने के लिये और सरकार की प्रतिकूल टीका-टिप्पणी को रोकने के लिये प्रेस पर अनेक प्रकार की पाबंदियाँ लगा दीं। सख्ती इतनी थी कि अगर किसी ने बिना सोचे-समझे शब्द बोल दिये या जब्त की हुई पुस्तक किसी के पास मिल गई, तो बिना मुकद्दमे या अपील के उसके लिये साइबेरिया तैयार था। यह प्रतिक्रिया साम्राज्य के प्रबन्ध की एक कुंजी थी। आदि से अन्त तक अपने राज्य में निकोलस प्रगतिशील और प्रकाशमान प्रवृत्तियों का निर्मम दमन करने से नहीं घबराया। मानव जाति की दुर्निवार्य प्रगति के खिलाफ वह डटकर खड़ा हो गया।

निकोलस प्रथम और फिलिप द्वितीय की तुलना—निकोलस प्रथम की स्पेन के फिलिप द्वितीय के साथ तुलना करने पर अनोखी समानताएँ ही प्रगट नहीं होतीं, बल्कि इससे यह भी समझ सकते हैं कि उसके शासन के तरीकों में क्या मौलिक दोष थे। फिलिप की भाँति निकोलस अपने समय का व्यक्ति नहीं था। वह एक सामन्ती शेखचिल्ली था, जो अपने युग की भावना का कट्टर विरोधी था और पुराने आदर्शों से चिपके रहने के लिये लोगों से संघर्ष किया करता था। यूरोप में वह जनतन्त्र का दुर्दम्य दुश्मन था, ठीक उसी भाँति जैसे सोलहवीं शताब्दी में स्पेन का राजतंत्र रिफार्मेशन (Reformation) का कट्टर शत्रु था। दोनों ने समान शस्त्रों का प्रयोग

किया—एक ने इंक्विजीशन का और दूसरे ने थर्ड सेक्शन का। और अपने-अपने राज्य को दोनों ने बुद्धि की कोरेन्टाइन बना दिया ताकि यूरोप के विचारों का विकासकारी प्रभाव न पड़े और उनके राज्य यूरोप से अलग रहें। रूस में राजतन्त्र की शक्ति का आधार अपनी प्रजा की वफादारी पर था। उन लोगों में राज्य के प्रति दयनीय उपेक्षा थी और राजभक्ति के विषय में वे कभी कोई प्रश्न ही नहीं करते थे। यही दशा स्पेन में थी। यह स्थिति इन राज्यों की निर्बलता का भी कारण थी, क्योंकि कौम के अन्दर राजनीतिक जागृति और चेतना उत्पन्न होने पर यह जरूरी था कि ऐसा राज्य टुकड़े-टुकड़े हो जाये। रूस में 1855 तक इस प्रकार की जागृति नहीं हुई उस वर्ष जब क्रीमिया का युद्ध हुआ तो रूसी जनता में समझ आई और जब स्पेन की अजेय नौसेना (Armada) नष्ट हुई तो इंगलैण्ड की जनता जागृत हो गई। तत्कालीन राजसत्ता से उनका विश्वास जाता रहा और उनको यह भरोसा हो गया कि वे स्वयं अजेय हैं। लगभग अर्द्ध-शताब्दी तक रूस के लोग बड़े अभिमान के साथ इस बात का स्मरण किया करते थे कि मास्को से नेपोलियन बहुत हानि उठाकर वापस हटा था। इससे रूस की राज-सत्ता का सैनिक दबदबा बहुत बढ़ गया था और लोगों का दमन करते समय इसको यह विश्वास था कि बाहर के लोग उसके दबदबे का समर्थन करके उसकी कार्यवाही को उचित समझेंगे। 1818 से अब तक रूस में जो इस प्रकार की भ्रान्तियाँ थीं, क्रीमिया के युद्ध के बाद, एकदम लुप्त हो गईं। अब प्रबन्ध के दोषों का भंडाफोड़ होने लगा और अब उसको अपनी नौकरशाही की घातक अयोग्यता का खामियाजा उठाना पड़ा। क्रीमिया के युद्ध के बाद एक अंग्रेज ने रूस की यात्रा की और उसके कुछ वर्ष बाद उसका रूस के शिक्षित वर्ग पर जो प्रभाव पड़ा उसका निम्नलिखित शब्दों में वर्णन किया।

रूस और क्रीमिया का युद्ध—सरकार ने इस बात की कोशिश की कि अप्रिय समाचारों को दबाया जाये। तो भी यह बात सभी लोगों पर प्रकट हो गई कि सैनिक संगठन करीब-करीब उतना ही खराब और शिथिल है जितना नागरिक प्रबन्ध। सेनानायकों की अयोग्यता के कारण दूसरे अफसरों और सैनिकों की वीरता बेकार हो गई थी। सेना के कर्मचारी कर्त्तव्यविमुख थे, विलास-प्रिय थे और रसद का विभाग बिल्कुल बेशर्म था। ऐसा कहा जाता था कि सम्राट् ने सैनिक अफसरों की नैतिकता, शक्ति और व्यक्तित्व को नष्ट कर दिया था। जिन लोगों में कोई विवेक, निश्चय-शक्ति या कोई पुरुषार्थ था, वे केवल काले समुद्र की नौ-सेना के अफसर थे। इसका कारण यह था कि वे लोग तत्कालीन प्रबन्ध के शिकजे में कम फँसे हुए थे। ज्यों-ज्यों संघर्ष चला त्यों-त्यों यह स्पष्ट हो गया कि वास्तव में देश कितना कमजोर है और लम्बे युद्ध के लिये इसके साधन कितने अपर्याप्त हैं। 1825 मे एक व्यक्ति ने आँखोंदेखा वर्णन लिखा है कि यदि दूसरे साल भी युद्ध चलता रहा तो समस्त

दक्षिण रूस नष्ट हो जायेगा। जहाँ-तहाँ समस्त देश मे काम-चलाऊ सेना की भर्ती की गई और कितने ही पूँजीपतियों ने स्वयंसेवकों की कम्पनियों को रसद, शस्त्र और वस्त्र आदि दिये। लेकिन लोगों को बहुत शीघ्र इस बात का पता लग गया कि देश-भक्ति के कारण जो प्रयत्न किया जा रहा है इससे लोग मालदार होते जा रहे हैं। इससे शत्रु को कोई विशेष हानि नहीं होती। जब लोगों को ऐसा अनुभव होने लगा तो सबका जोश ठंडा हो गया। अब कौम को बहुत नीचा देखना पड़ा और इस डंक की चोट ऐसी लगी कि ऊँचे वर्ग के लोग, जो आशावाद के कारण चुपचाप बैठे थे, जागृत हो गये। वे लोग अब तक अर्द्ध-सैनिक शासन के दमन को शान्तिपूर्वक सहते जाते थे। अब निकोलस के ढंग की खूब आजमायश हो चुकी थी और लोगों को पता लग गया था कि वह निस्सार है। अब लोग जान गये कि जिस नीति के कारण साम्राज्य की सैनिक शक्ति को बढ़ाया और सब-कुछ बलिदान करना पड़ा, वह घातक भूल थी। कटु अनुभव से सिद्ध हो गया कि कठोर सैनिक शासन बिल्कुल बेकार है। 25 वर्ष तक यह शासन कौम को बेड़ियों में जकड़े रहा और लोगों का प्रयास दबा रहा। परन्तु इससे हुआ क्या? ये बेड़ियाँ जिस सीमित अभिप्राय की प्राप्ति के लिए निर्मित की गई थीं वह भी हाथ नहीं आया। सरकार ने कुछ बाह्य शान्ति तो स्थापित की, परन्तु यह शान्ति स्वस्थ और साधारण नहीं थी। यह मृत्यु की शान्ति थी और इसके नीचे एक छिपा हुआ अत्याचार था जो तेजी के साथ फैलता जाता था। रूसी सिपाहियों ने बड़ी बहादुरी दिखाई। परन्तु इसके बावजूद भी विजय नहीं, पराजय प्राप्त हुई। इसका क्या कारण हो सकता था, सिवाय उन राजनीतिक मौलिक दोषों के जिनका दृढ़ धैर्य के साथ बहुत अर्से से उपयोग हो रहा था। सरकार यह कल्पना करती थी कि वह अपनी बुद्धि और शक्ति के द्वारा सब-कुछ कर सकती है, लेकिन वास्तव में उसका काम शून्य के बराबर था, बल्कि उसको शून्य से भी कम कहा जा सकता है।

शिक्षित वर्ग का असन्तोष—तीस वर्ष तक शिक्षित लोगों में कोई चेतना नहीं आई। वे उपेक्षा के साथ सब-कुछ सहते रहे। इसके बाद उनमें भी असन्तोष प्रकट होने लगा। प्रेस की पाबन्दियों से छपे हुए प्रकाशन तो किसी हद तक रुके लेकिन वे उस साहित्य को बन्द नहीं कर सकीं जो हाथ से लिखा जाता था और जिसका प्रचार हाथों-हाथ किया जाता था। इसका एक नमूना, जो बहुत तकसीम किया गया था, सर डोनाल्ड मेकेन्जी वेलेस ने छपवाया है। इसमें निकोलस के शासन की तीव्र आलोचना की गई है। इससे प्रकट होता है कि रूस के जनमत में कितना गहरा परिवर्तन हो रहा था।[1]

1. वालेस, रशा, 444-45।

निरंकुशता की आलोचना—'जार ने हमसे कहा, 'परमात्मा ने मुझे रूस का शासक बनाया है। आपको मुझे सलाम करना चाहिए, क्योंकि मेरा सिंहासन ईश्वर का सिंहासन है। आप जनता के कार्यों की चिन्ता छोड़ें। आप लोगों की चिन्ता मैं करता हूँ और प्रतिपल मैं आपकी देखरेख करता हूँ। मेरी सजग आँख से अन्दरूनी बुराइयों और विदेशी दुश्मनों के प्रपंचों का पता लग जाता है। मुझे किसी की सलाह की आवश्यकता नहीं है। मुझे बुद्धि भगवान् से प्राप्त हुई है। आपको इस बात पर अभिमान होना चाहिए कि आप मेरे दास हैं। हे रूस के लोगो, यह समझो कि मैं आपके लिए कानून हूँ।'

"हमने गहन भक्ति के साथ इन शब्दों को सुना और चुप रहकर अपनी स्वीकृति जाहिर की, परन्तु परिणाम क्या हुआ ? सरकारी कागजों के पहाड़ों के नीचे जनता के हित दब गये। कानून के अक्षरों का पालन हुआ। जिन लोगों ने लापरवाही की या जुर्म किया उनको कोई दण्ड नहीं मिला। राज-कर्मचारी मन्त्रियों के पैरों में पड़ते थे, परन्तु चोरी करते समय उनको कोई लज्जा नहीं आती थी। चोरी करना साधारण बात हो गई थी। जो सबसे अधिक चोरी करता था वह सबसे अधिक प्रतिष्ठित माना जाता था। अफसरों को सामने खड़े करके उनकी योग्यता की जाँच की जाती थी। जिसको जनरल की पदवी मिलती थी उसको तत्काल गवर्नर बनने के योग्य माना जाता था और उसी के लिए यह भी समझा जाता था कि वह बहुत अच्छा इंजीनियर है और बड़ा कुशल विधानवेत्ता भी हो सकता है। जो लोग गवर्नर के पद पर नियुक्त किये जाते थे वे प्रायः सामन्त होते थे और जो प्रान्त उनके सुपुर्द किया जाता था उसके लिए वे एक प्रकार के अभिशाप थे। दूसरे पदों को भरते हुए भी उम्मीदवारों की योग्यता का बहुत कम ध्यान रखा जाता था। तबेले में काम करने वाला एक छोकरा प्रेस की पाबन्दियों को देखने पर नियुक्त हो जाता था और सम्राट को रिझाने वाला एक भाँड नौसेना का अध्यक्ष बना दिया गया था।

"जब यह सब-कुछ हो रहा था तो हम रूसी लोग क्या कर रहे थे ? हम लोग सो रहे थे। कृषक लोग कराह-कराहकर सालाना लगान अदा करते थे और कराह-कराहकर ही जायदाद वाले अपनी सम्पत्ति के आधे हिस्से को गिरवी रखकर कर्मचारियों को रिश्वत देते थे। कभी-कभी हम गम्भीरता से अपना सिर हिलाते और कानाफूसी करते कि यह कितनी लज्जा की बात है कि अदालतों में इन्साफ नहीं है और शाही दौरों और सजावट पर लाखों रुपये खर्च किये जाते हैं। वास्तव में सब अन्धाधुन्धी है, परन्तु फिर एक-दूसरे के साथ कशमकश करके जिस मुलाजमत की हम निन्दा करते थे उसी में उन्नति भी करना चाहते थे। इस प्रकार हम अपनी अन्तरात्मा को भुलावे में डाला करते थे। इस व्यापक मोह-निद्रा में यदि कोई खड़े होकर हमसे कहता कि 'उठो, सत्य के लिए लड़ो और अपने देश के लिए संघर्ष करो' तो यह हास्यप्रद प्रतीत

होता था। जनमत की इस सुषुप्ति में यदि कोई सुदूर साइबेरिया में जाकर खानों में काम करने वालों को देखता तो उसको ऐसा अनुभव होता था कि निरपेक्ष दासों की निद्रा को भंग करना बहुत बड़ा पाप है। परन्तु इस वातावरण में भी हमको एक बात का सन्तोष था और एक ही बात का अभिमान था। वह बात थी रूस की शक्ति। और हम क्या देखते हैं कि हम तो शेखी ही मारते रहे और हमको अचानक पकड़ लिया गया जिससे हमको बड़ा अचम्भा हुआ।

"हे रूस, जाग! विदेशी शत्रु तुझे खा रहे हैं। दासता ने तुझे दबा रखा है। मूर्ख अधिकारी और गुप्तचर निर्लज्ज होकर तेरा दमन कर रहे हैं। अपने अज्ञान की महा निद्रा को छोड़, उपेक्षा को छोड़, निरंकुश शासक के आसन के सामने शान्ति से खड़ा हो और उससे इस बात का जवाब-तलब कर कि कौम पर आफत क्यों आ रही है?"

अलेग्जेंडर द्वितीय, 1855-31—रूसी इतिहास का सुधार युग अलेग्जेंडर द्वितीय के राजसिंहासन पर बैठते ही आरम्भ हुआ। 1855 में जब क्रीमिया का युद्ध चल रहा था तब वह राजसिंहासन पर बैठा। अपने पूर्वज की भाँति यह नया सम्राट् केवल ताजधारी और कवायद कराने वाला सार्जेन्ट नहीं था। आरम्भ से ही उसके शासन की विशेषता थी अधिक दया और अधिक बुद्धि। इस प्रकार जब रूसी लोगों की नसों में अधिक आजादी के साथ खून दौड़ रहा था तब उनके भाग्य की बागडोर ऐसे व्यक्ति के हाथ में आई जो प्रतिक्रियावादी नहीं था बल्कि रचनात्मक राजनीतिज्ञता की मौलिक आवश्यकता को समझता था। शुरू में ही उसने जो कार्य किया उससे प्रगट हो गया कि उसका इरादा अपने पिता की नीति को बिल्कुल बदल देने के लिए रास्ता तैयार करना था। दिसम्बर में आन्दोलन करने वालों में से जो लोग अब बच रहे थे उनको 30 साल के निर्वास के बाद स्वदेश लौट आने की इजाजत मिल गई और दूसरे राजनीतिक अपराधियों को भी क्षमा दे दी गई। साथ-ही-साथ निकोलस ने जो विश्वविद्यालयों और विदेशी यात्राओं पर पाबन्दियाँ लगा रखी थीं वे भी हटा दी गईं। इस प्रकार की छूटों का रूसी लोगों ने अपार जोश के साथ स्वागत किया। पुराने शासन की दारुणता के बाद नये शासन की नरमी शुरू हुई तो लोगों को ऐसा अनुभव होने लगा कि शीत के बाद बसन्त आने वाला है। अब बड़ी-से-बड़ी आशाएँ होने लगीं और लोगों ने उन विघ्नों की भी चिन्ता नहीं की जो उन्नति के मार्ग में प्रायः आया करते हैं। प्रेस की पाबन्दियाँ शिथिल हो गईं। प्रेस में कल्पनातीत तजवीजों की बाढ़ आ गई जिनके विषय में आशा थी कि अठारहवीं शताब्दी की दार्शनिक सुधार-भावना वाला बुद्धिमान निरंकुश शासक उनको केवल एक कलम से कार्यान्वित कर देगा। वे कहने लगे कि हमें इस युद्ध को धन्यवाद देना चाहिए जिसने हमारी आँखें खोल दीं और हमारे राजनीतिक और सामाजिक संगठन के काले पहलुओं को प्रकट कर दिया।

हमारा कर्त्तव्य है कि अब इस सबक से हम लाभ उठावें। एक अग्रणी समाचारपत्र ने यह विश्वास प्रकट किया कि अब रूस में शान्ति के साथ और बिना प्रयास के ही ऐसे सुधार होने वाले हैं जो यूरोप ने सदियों तक रक्त बहाकर हासिल किये हैं। यही नहीं, ऐसे सुधार भी होने वाले हैं जिनको पश्चिम की कौमें सामन्तवादी परम्पराओं और वर्गवादी पक्षपातों के कारण अब तक प्राप्त नहीं कर सकीं। यह ध्यान देने की बात है कि इस समय रूस की व्याप्त भावना प्रत्यक्ष में राजतन्त्र के विरुद्ध नहीं थी, बल्कि सब लोगों की आँखें जार की ओर लगी हुई थीं और आशा की जाती थी कि जिन लाभों के लिये लोग लालायित हैं वे स्वतः ही उनको जार से प्राप्त हो जायेंगे। नीहिलिस्ट (शून्यवादी) आन्दोलन का अभी जन्म नहीं हुआ था। यह प्रचलित विश्वास था कि सामाजिक सुधारों में सब वर्ग के लोग राजभक्तिपूर्वक सहयोग देंगे और आत्म-त्याग के लिये एक-दूसरे के साथ उदार प्रतिस्पर्धा करेंगे। ऐसी आशाएँ बिल्कुल विफल नहीं हुईं। नये युग का आरम्भ ऐसी घटनाओं के साथ हुआ जिसका महत्व फ्रांस की राज्य-क्रान्ति के मुकाबले में दूसरे दर्जे का माना जा सकता है।

दासों की उन्मुक्ति—अलेग्जेंडर का स्मरणीय कार्य था रूसी किसानों की उन्मुक्ति। सब सुधारक इस बात पर एकमत थे कि दासता खत्म होनी चाहिये और राष्ट्रीय जागृति के लिये यह अनिवार्य आरम्भ है। जब तक दासों की बहुत बड़ी संख्या मौजूद है और यह संख्या लगभग आधी आबादी के बराबर है, तब तक ऐसा वायु-मण्डल बना रहेगा जिसमें मानवीय आत्म-सम्मान गिरता जायेगा और उदार भावनाओं का गला घुटता रहेगा। रूसी समाज में प्रमाद और सुस्ती का मौलिक कारण यह दासता ही थी। इसी के कारण समाज जहाँ-का-तहाँ बना हुआ था। इसका नैतिक, बौद्धिक और आर्थिक जीवन आगे नहीं बढ़ता था। उस समय की स्थिति को भी दासता से खतरा था। सरकार के दिमाग में हमेशा दासों के युद्ध का डर बना रहता था। लगभग ऐसी दशा प्राचीनकाल में रोम के शासकों की थी। सन् 1762 में पीटर तृतीय ने सरदारों को सैनिक सेवा से उन्मुक्त कर दिया था। इससे पहले उनके लिए लाजिमी था कि वे सैनिक सेवा करें। तभी से रूस के किसान भी आजादी की माँग करने लगे और निरन्तर करते ही रहे। उनका कहना था कि पीटर के हुक्म के बाद उनकी उन्मुक्ति भी हो जानी चाहिये। अगर उनकी दासता को न्यायानुकूल माना जा सकता था तो इसका एक ही कारण हो सकता था और वह यह था कि प्राचीनकाल में सरकार सामन्तों से नौकरी कराती थी, इसलिये सामन्त भी दासों से सेवा कराते थे। निकोलस के राज्य में एक के बाद दूसरा और दूसरे के बाद तीसरा, इस प्रकार कई बलवे हुए। इससे समाज के प्रत्येक अंग ने अनुभव किया कि दासों की उन्मुक्ति आत्मरक्षा के लिये ही नहीं बल्कि इन्सानियत के लिये ही उतनी ही जरूरी है। 1856 में सन्धि हुई तो अलेग्जेंडर ने फौरन ही यह विचार प्रकट किया कि अब वह दासता

के प्रश्न को हल करना चाहता है। उसने सबके सामने सामन्तों से कहा, "अब हम ऐसे युग में हैं कि दासों को उन्मुक्त करना ही पड़ेगा। मेरा ख्याल है कि इस विषय में आप भी मुझसे सहमत होंगे। अतः यह ज्यादा अच्छा होगा कि हम दासों को मुक्त कर दें, बजाय इसके कि वे अपने-आपको मुक्त करवा लें।" इसमें अनेक प्रकार के हित ओत-प्रोत हो रहे थे। उनमें सामंजस्य करना था। प्रबल विरोध को भी शान्त करना था। इन कारणों से इस मामले की गति कुछ मन्द रही, लेकिन सम्राट् ने दृढ़ निश्चय कर लिया था कि वह इस काम को करेगा। 1861 में दासों की उन्मुक्ति का हुक्म (Edict of Emancipation) जारी हुआ और एक ही हुक्म से चार करोड़ रूसी जनता आजाद हो गई। यह हुक्म रूस के इतिहास में बहुत महत्वपूर्ण है, इसलिये यह जरूरी है कि इसके मूल-सिद्धान्तों का कुछ वर्णन किया जाय और ग्रामीण समाज पर इसका किस प्रकार का प्रभाव पड़ा उसका अनुमान लगाया जाय। सबसे पहले हमको यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि इंगलैण्ड में दासता का अन्त आर्थिक क्रान्ति से हुआ था और इन कारणों ने धीरे-धीरे जोर पकड़ा था। लेकिन रूस में दासता का अन्त कानून के द्वारा हुआ, इसलिये इसके परिणामों का विवेचन करना अधिक कठिन है। कानून से जो काम होता है उसमें इतना तत्त्व नहीं होता जितना माना जाता है। इससे आर्थिक स्थिति में नाम मात्र का हेर-फेर होता है। कभी-कभी वह ज्यों-की-त्यों रह जाती है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि नैतिक दृष्टि से रूस को अपार लाभ था, लेकिन इस विषय में यह भी याद रखने की बात है कि रूस के किसान को अपनी प्रतिष्ठा की कोई विशेष चिन्ता नहीं थी, वह तो चाहता था कि उसकी आर्थिक स्थिति का सुधार हो। लेकिन जब हम उन्मुक्ति के आर्थिक महत्व को समझने का यत्न करते हैं तो मालूम होता है कि इस प्रश्न में कितनी जटिलता है। बहुत आसानी से इसका विवेचन नहीं किया जा सकता।

उन्मुक्ति के प्रभाव—एडिक्ट (आदेश) के आधार पर तीन सिद्धान्त थे। पहला सिद्धान्त यह था कि रूसी दास को नागरिक अधिकार दे दिये जायें। अब वह स्वयं किसान बन गया। अपने मालिक के साथ दासता के बन्धन से वह मुक्त हो गया। दूसरे सिद्धान्त के अनुसार भूमि का स्वामित्व सरदारों और किसानों में विभक्त कर दिया गया और यह इसलिये किया गया कि किसानों की बेदखली न हो सके और मजदूर वर्ग में भूमिहीन लोगों की संख्या न बढ़ जाये। रूसी लोग पश्चिमी सभ्यता के पुजारी थे, लेकिन उसके दोषों के प्रति वे आँखें बन्द नहीं करते थे। दोषों की उपेक्षा करके पश्चिमी संस्थाओं को ज्यों-की-त्यों रूस में स्थापित करना वे खतरनाक समझते थे। कानूनी दासता के बन्धन से मुक्त करके यदि दास को आर्थिक दासता में डूबने दिया जाता और उसको गृह-हीन बना दिया जाता तो उसकी दशा पहले से भी बुरी हो जाती। कहने को वह स्वतन्त्र होता, परन्तु गरीबी की चक्की में वह पिस

जाता और पूँजीपतियों के शोषण का वह आसानी से शिकार हो जाता। प्रायः यह मान लिया जाता है कि आर्थिक उन्नति और सामाजिक अभ्युदय अवश्य ही एक-दूसरे के पूरक हैं, परन्तु कभी-कभी सामाजिक अभ्युदय को हानि पहुँचाकर आर्थिक उन्नति की जाती है, क्योंकि वर्ग-विशेष का हित समाज के हित से भिन्न हो सकता है। उदाहरणार्थ अठाहरवी शताब्दी में इंगलैण्ड में कृषि का बड़ा विकास हुआ। परन्तु साथ ही अंग्रेजी सरदारों की बड़ी क्षति हुई। और यदि रूसी किसान को अंग्रेजी किसान जैसा बना दिया जाता तो भूस्वामियों को बहुत सस्ते मजदूर मिलने लगते और इससे उत्पादन खूब बढ़ता, परन्तु इसके सामाजिक प्रभाव अत्यन्त ही हानिकर होते। इसलिये उन्मुक्ति का प्रमुख स्वरूप मुख्यतः कानूनी बाधाओं का निवारण ही नहीं था बल्कि दासों को स्वतन्त्र भूस्वामी भी बनाना था। जो जमीन उसके पास पहले से थी उसका अब वह स्वामी बन गया था और गाँव के समाज में उसको एक स्थान प्राप्त हो गया था। इसका मतलब था सम्पत्ति के पवित्र अधिकारों पर आक्रमण करना, लेकिन रूसी सरदारों के लिये यह प्रशंसा की बात है कि उन्होंने ऐसे कानून में कोई बाधा नहीं डाली जिसके द्वारा उनको अपनी जायदादों के बड़े-बड़े भागों से और बेगार के लाभों से वंचित कर दिया गया। कानूनन यह निश्चय नहीं किया गया था कि भूस्वामी कितनी जमीन छोड़ेंगे। इसका निश्चय उन मजिस्ट्रेटों ने किया था जिनकी नियुक्ति विशेषकर इस काम के लिये की गई थी कि दासों और भूस्वामियों में वे समझौता करा दें। ये मजिस्ट्रेट लोग 'आरबीटर्स ऑफ दी पीस' कहलाते थे और स्वयं स्थानीय भूस्वामी थे। इनके सुपुर्द बहुत कठिन काम किया गया था। परन्तु उनके धैर्य और निष्पक्ष भाव के कारण यह काम पूरा हो गया। इसके साथ ही इन लोगों के व्यवहार से भी यह प्रकट हो गया कि सरकार की सेवा करने के लिए रूस में ऐसे लोग मौजूद थे जो अपने आदरणीय व्यवहार और कर्त्तव्य-भावना के कारण इस कार्य के लिए बिल्कुल उपयुक्त थे। अब भूमि का बँटवारा होने लगा तो सर्वत्र यह भाव था कि किसानों के पास उतनी जमीन अवश्य रह जानी चाहिए, जो उन्मुक्ति के समय उनके कब्जे में थी। हरजाने के रूप में भू-स्वामियों को वार्षिक किस्त के रूप में कुछ रुपया दिये जाने की तजवीज हुई थी और इस रुपये की अदायगी का भार गाँव के लोगों पर डाला गया था। एडिक्ट में तीसरा सिद्धान्त यह था कि किसान लोग प्रति वर्ष जितने रुपये के देनदार थे उसकी अदायगी के लिए सरकार ने भूस्वामियों को कर्ज दिया। इस ऋण का परिणाम उनकी सम्पत्ति के बराबर था। यह कर्ज 49 साल में वसूल होना था और किसानों से इस पर छः प्रतिशत ब्याज लिया गया था। यह ध्यान में रखने की बात है कि भूस्वामियों ने जो जायदाद छोड़ी थी उसका स्वामित्व किसानों को व्यक्तिशः नहीं दिया गया था (पश्चिमी रूस के अतिरिक्त), बल्कि गाँव के सम्पूर्ण कृषक समाज को दिया गया था। सारांशतः भूस्वामियों की हुकूमत के स्थान पर अब कृषक समाज की हुकूमत कायम कर दी गई थी। इस व्यवस्था में कुछ भी दोष हो,

इसके द्वारा सरकार ने कर्ज की अदायगी की जिम्मेदारी सब कृषक समाज पर डाल दी थी। इससे यह भी हुआ कि मालदार भू-स्वामी किसानों को अपनी जमीन से बेदखल नहीं कर सके।

एडिक्ट की आलोचना—रूस के किसानों की दशा में इन परिवर्तनों के कारण गहरा हेर-फेर हुआ। उससे हम इन परिवर्तनों के सामाजिक और आर्थिक महत्त्व को समझने में भूल कर सकते हैं। ऊपर से ऐसा मालूम होता था मानो ग्रामीण समाज के स्वरूप में पूरी क्रान्ति आ गई और पुराने चिह्न बिल्कुल मिट गये; पुराने सम्बन्ध बिल्कुल नष्ट हो गये। परन्तु वस्तुत: किसानों की दशा में कोई आमूल उन्नति नहीं हुई। उनकी दशा असन्तोषजनक ही बनी रही। उन्मुक्ति से उनमें कोई जोश जागृत नहीं हुआ, बल्कि घोर असन्तोष हुआ। वे ऐसे नये करों से लद गये जो प्रायः उनके लगान से भी अधिक थे। यह उनकी अल्प आय पर बड़ा भारी बोझ था और यह माना जाता था कि उनके साथ घोर अन्याय हो रहा है। जिस जमीन पर उनका कब्जा था उसको वे अपनी ही मानते आये थे और इतिहास की दृष्टि से उनका यह मानना ठीक भी था। यह सच है कि उनको अपने मालिक की जायदाद पर काम करना पड़ता था और वकील लोग कहते थे कि वे जो कुछ मेहनत करते हैं वह एक प्रकार का जमीन का किराया है, जिससे यह सिद्ध होता था कि किसान हमेशा के लिए एक कैदी मात्र था। वह जमीन का मालिक नहीं था। लेकिन यह पुराना दस्तूर था जो अब तक चलता आ रहा था। उस समय सरकार सरदार और किसान दोनों से ही बेगार कराया करती थी। इसलिए किसानों को यह आशा थी कि उनकी बेगार से मुक्ति हो जायेगी और उसके स्थान पर दूसरे भार उन पर नहीं लादे जायेंगे। सरदार लोगों को अनिवार्य सैनिक सेवा से पहले ही मुक्त किया जा चुका था। किसानों को अब जो जमीन का लगान देना पड़ता था उसका भार प्रायः पुरानी बेगार से भी ज्यादा था और इसी के कारण उनका आर्थिक विकास रुक गया था। दासों की उन्मुक्ति कानूनी दृष्टि से महत्त्व की चीज थी, परन्तु रूसी किसान की दशा में इससे पर्याप्त सुधार नहीं हुआ। किसान स्वयं कहता था कि "मेरी दशा सुधर भी गई और बिगड़ भी गई।" उसकी कुछ कठिनाइयाँ दूर हो गईं, परन्तु किसी-न-किसी रूप में अब वह नई चिन्ताओं तथा नये कर्तव्यों से लद गया। उन्मुक्ति का प्रभाव भूस्वामियों पर भी एकसा नहीं पड़ा। देश के जुदे-जुदे हिस्सों मे इसका जुदा-जुदा प्रभाव पड़ा और इसका नतीजा यह हुआ कि सर्वत्र उनको इस बात के लिए विवश होना पड़ा कि वे अब अपनी नई व्यवस्था करें, अधिक किफायत करना सीखें और अपनी जायदादों के प्रबन्ध पर गम्भीरतापूर्वक अधिक ध्यान दें। एक सरदार ने कहा था कि पहले हम कोई हिसाब नहीं रखते थे और खूब बढ़िया शराब पीते थे। अब हम हिसाब भी रखते हैं और शराब भी सस्ती पीते हैं।

अदालतों और स्थानीय सरकारों में सुधार—अलेग्जेण्डर द्वितीय का राज्य इसलिए प्रसिद्ध है कि उस समय अदालतों और स्थानीय प्रबन्ध में सुधार हुए। अदालती प्रबन्ध की जाँच करने के लिए एक कमीशन नियुक्त किया गया, जिसकी रिपोर्ट में बतलाया गया था कि अदालती व्यवस्था में 25 मौलिक दोष हैं। इसलिए पश्चिमी ढंग की नई संस्थाएँ कायम हो गईं और पुरानी अदालतें खतम कर दी गईं। अंग्रेजी और फ्रांसीसी न्याय-सिद्धान्त (Jurisprudence) जारी किये गये (1864), अर्थात् प्रबन्ध के अधिकारों से अदालती अधिकार अलग कर दिये गये। मजिस्ट्रेट स्वतन्त्र हो गया। दीवानी जाब्ता जारी किया गया। मुकदमे की सुनवाई ज्यूरी (Jury) के द्वारा होने लगी। छोटे-छोटे मुकद्दमों के फैसले लोक-निर्वाचित जस्टिसेज ऑफ दी पीस के द्वारा होने लगे। मजिस्ट्रेटों के फैसले की नाराजगी से मासिक सेशन्स (Monthly Sessions) में अपील दायर की जा सकती थी। ये इंगलैण्ड के क्वार्टर सेशन से मिलते-जुलते थे और इसमें ज्यूरी के सब जज शामिल हुआ करते थे। ज्यादा महत्व के मुकद्दमे बाकायदा अदालतों में ही दायर किये जाते थे। इन अदालतों के जज बाकायदा तालीम पाये हुए होते थे और उनकी नियुक्ति बादशाह करता था, लेकिन इनकी अपीलें भी ऊँची अदालतों में हो सकती थीं। साथ ही अलेग्जेण्डर ने स्वायत्त स्थानीय शासन का सिद्धान्त भी साम्राज्य के प्रान्तों में जारी किया। इसका आधार था विकेन्द्रीकरण और प्रान्तीय स्वशासन। रूस में पहले से ही कई प्रकार की स्थानीय संस्थायें थीं—1. सरदारों की सभाएँ जिनको अधिकार था कि अपनी तकलीफें सरकार के सामने पेश करें। 2. ग्राम पंचायतें जो मीर कहलाती थीं। अब जो नई कौंसिलें स्थापित की गई थीं उनमें सरदार, किसान और प्रमुख ग्रामीण, तीनों वर्गों के लोग शामिल थे। जिला कौंसिल लोक-निर्वाचन द्वारा नियुक्त होती थी और प्रान्तीय कौंसिल (Zemstvo) जिला कौंसिल के द्वारा निर्वाचित की जाती थी। इन संस्थाओं का काम था जस्टिसेज ऑफ दी पीस का निर्वाचन करना, सड़कें और पुलों की मरम्मत कराना, प्रारम्भिक शिक्षा और सफाई का निरीक्षण करना और दुर्भिक्ष के समय राहत पहुँचाना। परन्तु प्रान्तों के गवर्नरों को यह अधिकार दिया गया था कि इन कौंसिलों के निश्चय को रद्द कर सकें। इसलिए इनका कार्य-क्षेत्र सीमित हो गया था। इसके अतिरिक्त उनके पास पर्याप्त आर्थिक साधनों की भी कमी थी। इन सब दिशाओं में अर्थात् दासों की उन्मुक्ति, अदालतों के सुधार और सीमित स्वायत्त-शासन के जारी करने में अलेग्जेण्डर के प्रारम्भिक राज्यकाल की प्रसिद्धि हुई। यह ऐसा युग था जिसमें रूसी समाज को पश्चिमी यूरोप के ढाँचे पर ढाला जा रहा था।

प्रतिक्रिया—यह दुर्भाग्य की बात थी कि बहुत बड़ा काम करने पर भी अलेग्जेंडर को अपने जीवन में ही क्रान्तिकारी शून्यवाद का उदय देखना पड़ा। उसके राज्य के आरम्भ में लोगों को बड़ा जोश था, लेकिन अन्त में निराशा थी। अदालती, प्रबन्ध-

विषयक और खेती-सम्बन्धी सुधारों के दस वर्ष के बाद सरकार में फिर प्रतिक्रिया आई और जिन ज्यादतियों के कारण निकोलस प्रथम का शासन बदनाम था वे ही बातें फिर होने लगीं। कभी आशा और कभी निराशा की स्थिति ने शिक्षित समाज के विश्वासों को हिला दिया, निरंकुशता में उनका विश्वास नहीं रहा और वे लोग आतंकवादियों की ओर तेजी से झुकने लगे। इस क्रान्ति के कारणों से समझ में आ सकता है कि लोक-भावना में शून्यवाद की लहर क्यों शुरू हुई। लोगों में यह विश्वास उत्पन्न होने लगा कि सुधार नीचे से होना चाहिए। जब निरन्तर आन्दोलन का दबाव पड़ेगा तब सरकार टस-से-मस होगी।

इसके कारण—पहली बात यह थी कि अलेग्जेण्डर के सुधार कागज पर तो बहुत अच्छे मालूम होते थे, परन्तु व्यवहार में जब उनकी जाँच हुई तो उतने अच्छे साबित नहीं हुए। किसान लोगों को पता लगा कि उन्मुक्ति का परिणाम केवल इतना हुआ कि पुराने बोझों के बजाय नये बोझ उन पर लद गये। कानूनी दृष्टि से उनकी स्थिति अच्छी हो गई, परन्तु इससे उनकी आर्थिक स्थिति में कोई हेर-फेर नहीं हुए और उनके नैतिक सिद्धान्त तो जैसे-के-तैसे ही बने रहे। रूसी चिन्तकों ने विश्वास के साथ भविष्यवाणी की थी कि दासता के खतम होने पर स्वतन्त्रता का वायुमण्डल बन जायेगा। किसान लोगों में उत्साह और शक्ति आयेगी। वे लोग इस बात को भूले हुए थे कि सदियों का दमन एक ही न्याय-कार्य से खतम नहीं होता, विशेषकर जब वह न्याय-कार्य बहुत विलम्ब से हुआ हो। अदालती और इन्तजामी सुधारों से निस्सन्देह एक अच्छी शासन-व्यवस्था की नींव पड़ी, परन्तु जिन लाभों की उत्सुकता से आशा की जा रही थी उनकी प्राप्ति में बड़ी देर हुई। संस्था की सफलता मुख्यतः उन लोगों पर है जो उसका संचालन करते हों और रूस में न सुशिक्षित जज थे, न कुशल प्रबन्धक। मनोवैज्ञानिक कारणों के आधार पर भी यह बतलाना सम्भव है कि जो लोकमत पहले खुशी से उछल रहा था उसमें गहन निराशा क्यों आ गई। एक पीढ़ी तक रूसी लोगों का साधारण विकास निकोलस प्रथम की कठोर नीति के कारण रुका रहा। ज्यों ही शासन-संचालन से उसका हाथ अलग हुआ, कौम ने उन बेड़ियों को तोड़ फेंका और उन बन्धनों को झटक दिया जिनके कारण लोक-क्रियाएँ कुण्ठित हो रही थीं। पहले तो अपार आशा उमड़ पड़ी। उसकी तरंगों में लोग समझने लगे कि नया स्वर्ग आने वाला है और नया संसार बसने वाला है और थोड़े ही दिन में समस्त रूसी साम्राज्य का अभ्युदय होने वाला है, परन्तु जब अलेग्जेण्डर द्वितीय के सुधारों से वे लाभ प्राप्त नहीं हुए जिनकी उत्सुकता से प्रतीक्षा की जा रही थी, तो लोगों की भावनाएँ बिल्कुल उलट गईं और एक अति से दूसरी अति की ओर झुकने लगीं और समस्त देश में निराशा छा गई। यह निराशा भी उतनी ही निराधार थी जितनी आरम्भ की आशा। अलेग्जेण्डर के राज्य में आगे चलकर प्रतिक्रिया की भावना क्यों उठ खड़ी हुई, उसका

कारण सम्राट् के चरित्र में निहित था। उसका उदार संस्थाओं की उत्तमताओं में कोई स्वाभाविक विश्वास नहीं था। उसने आदर्शवाद की भावना से सुधार नहीं किया था। उसका यह विश्वास था कि अगर कोई परिवर्तन आवश्यक है तो जनता की ओर से नहीं, शासक की ओर से होना चाहिए। जब उसको अनुभव हुआ कि जिम्मेदारियाँ कितनी बढ़ रही हैं तब वह जरा सावधानी से काम करने लगा और उसको अपने निर्णय पर शंका होने लगी। उसके पास न तो उत्पादक दिमाग था, न विस्तृत राजनीतिज्ञता थी। और इनकी ही उसको जरूरत थी। उसको जिन समस्याओं को सुलझाना था उनके लिए इन गुणों की आवश्यकता थी। उसको मजबूर होकर अपने सलाहकारों पर विश्वास करना पड़ा। उसकी प्रकृति में दृढ़ता नहीं थी। कभी वह इधर झुकता था और कभी उधर। उसके सलाहकारों में कोई एक सलाह देता था और दूसरा इसके विपरीत। इन झमेलों में वह उलझ गया। वह ऐसे सलाहकारों से घिरा रहता था जिनका पोषण और शिक्षण निकोलस के सम्प्रदाय में हुआ था। ये लोग प्रतिक्रियावादी सिद्धान्तों से ओत-प्रोत थे। कुछ अर्से तक विवश होकर इन लोगों ने अपना मन प्रकट नहीं किया, परन्तु धीरे-धीरे ये लोग सम्राट पर हावी हो गये। सन् 1864 के बाद अलेग्जेण्डर का सुधार-जोश धीरे-धीरे ठण्डा होने लगा। इसका एक कारण तो था पोलैण्ड का बलवा और दूसरा कारण था उसका भ्रम कि कहीं और अधिक रियायतें की गईं तो निरकुशता में निर्बलता आ जायेगी। उसने थोड़े-थोड़े सुधारों के द्वारा कौम को सन्तुष्ट करने का यत्न किया था। दासों को ऐसी उन्मुक्ति से सन्तुष्ट करना चाहता था जो अधूरी थी। सरदारों को सन्तुष्ट करने के लिए उसने प्रान्तीय आजादी दी थी, परन्तु यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो गई थी कि जब तक शाही हुकूमत पर लोक-नियन्त्रण बिल्कुल नहीं है तब तक कोई वास्तविक उन्नति नहीं हो सकती। साम्राज्य के शासन का भार एक आदमी के कन्धों पर नहीं टिक सकता था। जिम्मेदार हुकूमत के द्वारा ही वे सब खराबियाँ दूर हो सकती थीं जो रूसी जीवन को इस समय परेशान कर रही थीं। सरदारों को आशा थी कि यह न्यायसंगत है कि दासों की कानूनी उन्मुक्ति के बाद उनकी भी राजनीतिक उन्मुक्ति होनी चाहिए। उनसे बड़े-बड़े आत्मत्याग कराये थे और इसके आधार पर उनको अधिकार था कि राजनीतिक शक्ति में उनका भी भाग हो। सन् 1865 में मास्को के सरदारों ने सम्राट् को एक दरख्वास्त पेश की और इस बात की माँग की कि प्रतिनिधि संस्थायें स्थापित की जायें ताकि बेरोक-टोक सम्राट् तक सत्य की गति हो सके। परन्तु, अपने अन्तिम दिनों तक सम्राट् विधान की माँग की उपेक्षा करता रहा। इसलिए सब वर्गों के लोगों की भ्रान्तियाँ अब दूर हो गईं। तत्कालीन परिस्थिति से लोगों में बड़ा असन्तोष फैला। इसी से शून्यवाद का उदय हुआ।

शून्यवाद—शून्यवाद का रूस के इतिहास मे विशेष अर्थ है। तर्जनेव नामी

लेखक ने 'फादर्स एण्ड सन्स' नामक ग्रन्थ में इस शब्द का प्रयोग किया था। इस उपन्यास का प्रधान पात्र है बाजारोव। इसके चरित्र का ऐसा चित्रण किया है जो 1860 से 1870 के युग के नवयुवकों में प्रकट हो रहा था। उपन्यास में बतलाया गया है कि बाजारोव किसी अधिकारी के सामने झुकता नहीं था। वह विश्वास के आधार पर अपने सिद्धान्त नहीं बनाता था। वह श्रद्धा से काम नहीं लेता था। वह कला, पार्लियामेन्ट, ज्यूरी द्वारा समाअत को मूर्खता की बातें समझता था। वह कहता था कि प्रधान प्रश्न है रोटी-दाल। उसका विश्वास था कि रूस के वर्तमान जीवन में, चाहे वह परिवार का जीवन हो या सामाजिक जीवन, एक भी ऐसी संस्था नहीं है जो आमूलचूल विनाश के योग्य न हो। बाजारोव के लिए प्रायः कहा जाता है कि उसकी भावना शून्यवादी थी। उसकी आलोचना में कोई रचना नहीं थी। जब उसे कहा जाता कि केवल विनाश की ही नहीं, रचना की भी आवश्यकता है, तो वह कहता था, "इस समय यह हमारा काम नहीं है। पहले जमीन को साफ करना है।" तर्जेनेव ने तत्कालीन स्थिति को खूब छानबीन करके देखा। उसके तरीके में चाहे दोष हों, परन्तु शून्यवादी दर्शन के एक मौलिक स्वरूप की तरफ उसने लोगों का ध्यान अवश्य आकर्षित किया। उसने भावनाओं और परम्पराओं को बिल्कुल ठुकराते हुए कहा कि "उन्नति रूपी रथ के पहियों को ये ही रोड़े आगे नहीं बढ़ने देते। मनुष्य जाति के दिमाग को इन्हीं की दासता में फँसा रखा है।" यह बर्क के दर्शन के विपरीत सिद्धान्त था, क्योंकि यह अतीत के साथ कोई समझौता नहीं चाहता था और एक नये सिरे से समाज का पुनर्निर्माण जरूरी समझता था। शून्यवादी, अपने समय के लोगों की भाँति, न श्रद्धा के आधार पर किसी बात को मानता था और न पवित्रता के आधार पर। वह वैज्ञानिक ढंग से तर्क करता था और अपने बाप-दादाओं के विश्वासों की परवाह नहीं करता था। इसलिए शून्यवाद एक प्रकार का विनाशवाद था। परन्तु एक दूसरे लेखक ने, जिसका नाम चेरनुई सेवस्की था, 'What is to be done' नामक एक उपन्यास लिखा। उसमें बतलाया कि शून्यवाद का एक दूसरा पक्ष भी है और वह है रचनात्मक पक्ष।

1. शून्यवाद का प्रथम स्वरूप :

दार्शनिक—पहले तो शून्यवाद मूलतः एक प्रकार का निषेधात्मक दर्शन था। इसका ध्येय था अन्धविश्वास और शक्ति-पूजा के बन्धनों को तोड़ना। इस विषय में इसका विकास अठारहवीं शताब्दी के दर्शन से हुआ था, लेकिन विशेष भेद यह था कि इसका आधार विज्ञान था। 'अण्डर ग्राउण्ड रशिया' के लेखक स्टेपनियक ने, जो स्वयं शून्यवादी था, इसका वर्णन इस प्रकार किया है, "शून्यवाद बुद्धि की उन्मुक्ति के लिये संघर्ष करता है। यह चाहता है कि बुद्धि किसी आश्रय पर न टिके। शून्यवाद का मूल सिद्धान्त है नितान्त व्यक्तिवाद। यह व्यक्ति को उन कर्तव्यों से उन्मुक्त करता

है जो समाज या परिवार या धर्म ने उस पर लाद रखे हैं। यह प्रतिक्रिया थी उस नैतिक नृशंसता के खिलाफ जो मनुष्य के आन्तरिक जीवन पर एक प्रकार का बोझ होती है।" कला के प्रेम की भी शून्यवाद निन्दा करता था, क्योंकि इसका आधार तर्क नहीं माना जाता था। यह कहा जाता था कि जूती गाँठने वाला रेफेल (Raphael) के मुकाबले में ज्यादा ऊँचा आदमी है, क्योंकि चमार उपयोग चीजें बनाता है और कलाकार कोई काम की चीज नहीं बनाता।[1] कम-से-कम एक दिशा में शून्यवाद ने अच्छा काम किया। इसने स्त्रियों को आजाद कर दिया और उच्च शिक्षा तथा विभिन्न व्यवसायों तक पहुँचने के लिए उनका अधिकार स्थापित कर दिया।

2. दूसरा स्वरूप :

प्रचार प्रगति—कुछ वर्ष बाद (1860—1870) शून्यवाद की दार्शनिक और साहित्यिक प्रगति का अन्त हो गया और अब यह क्रान्तिकारी और सैनिक प्रगति में परिणत हो गया। इसका यह स्वरूप सन् 1871 में बना। जब सम्राट् अलेग्जेण्डर की हत्या का प्रयत्न हुआ तो फलस्वरूप उसको प्रतिक्रियावादियों का आश्रय लेना पड़ा। सरकार एकदम भयभीत हो गई और खुल्लमखुल्ला सब प्रकार की ज्यादतियाँ करने लगी, जिसको लोग श्वेत-आतंक (White terror) कहने लगे। इसकी सख्तियों ने क्रान्ति के बीज बोये, परन्तु फिर भी क्रान्ति की प्रेरणा बाहर से मिली। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की उत्कट अभिलाषा का, विदेशी प्रभावों के कारण, अब सामाजिक और राजनीतिक स्वतन्त्रता में समावेश हो गया। लोगों के सामने पेरिस के समाजवादी संगठन का उदाहरण था। यह सामाजिक जनतन्त्र स्थापित करना चाहता था। उससे प्रेरणा पाकर रूस के शिक्षित वर्ग के ध्येय ने भी निश्चित स्वरूप धारण कर लिया। इससे उन लोगों के दिमागों में आग धधक गई जो रूस के कृषक समाज की घोर दुर्दशा पर दया करते थे। यह समाज करों के भार से लदा हुआ था जो उसकी आमदनी से बहुत अधिक था। लोग कहते थे कि कृषक भूख से व्यथित है, परिश्रम से थका हुआ है, और अधिकार-सम्पन्न वर्ग की दासता से वह निरन्तर जकड़ा हुआ है। वह निरन्तर परिश्रम करता है और छुटकारे की कोई आशा नहीं है। रूस के राजनीतिक विचार को बदलने में दूसरा प्रभाव इण्टरनेशनल (Internationale) का था। यह समाजवादी संगठन था, जिसका प्रधान स्थान ज्यूरिच में था। रूस के विभिन्न भागों में निवास करने वाले स्त्री-पुरुष इस संगठन की ओर खिंचे जाते थे। 1873 में शाही सरकार ने इन लोगों को हुक्म दिया कि ज्यूरिच छोड़ दें। तब वे वापस अपने देश में आ गये और श्रमजीवियों को उन्मुक्त करने का नवीन उपदेश अपने देशवासियों को देने लगे। राजनीतिक विचारों के इस तूफान के बाद दो विचारधाराएँ निकलीं अर्थात्

1. स्टेपनियक, अण्डर ग्राउण्ड रशा (अंग्रेजी अनुवाद 1883), 4, 8।

समाजवाद और अराजकतावाद। समाजवादियों का मुखिया लेवरोफ (Lavroff) था, जिसका कार्यक्रम था किसानों में शान्तिपूर्वक प्रचार करना, अर्थात् आम जनता को शिक्षित बनाना। मेजिनी के अनुयायियों की भाँति समाजवादियों ने सोचा कि जनता में प्रवेश किया जाये, उनके जीवन में घुला जाय, लेकिन जिन विचारों का ये लोग प्रचार करना चाहते थे, वे राष्ट्रीय विचार नहीं थे। ये समाजवादी और आर्थिक स्वतन्त्रता के विचार थे। दूसरी ओर अराजक लोगों का नेता बकुनीन (Bakunin) था। यह विनाश का अवतार था, जिसकी नीति थी किसानों को भड़काकर तत्काल क्रान्ति उत्पन्न करना। आरम्भ में तो समाजवादियों की नरम नीति का प्रचार हुआ और रूस के सभी स्त्री-पुरुष इस बात के लिये तैयार हो गये कि लोक-सेवा में अपना जीवन लगा देना चाहिए। सन् 1872 और 1875 के बीच समाजवाद के विचारों का शान्तिपूर्वक प्रचार हुआ, परन्तु आरम्भ से ही इसकी गति में घोर बाधाएँ आईं। पैट्रोग्राड (Petrogrede) में तथा नगर के आसपास निवास करने वाले कर्मचारियों में राजकुमार क्रोपोटकिन (Kropotkin) प्रचार किया करता था। उसके दूसरे साथी गाँवों में बसकर काम करने लगे, या कल-कारखानों में अपने संगठन का प्रचार करने लगे। तो भी यह बात असम्भव थी कि पुलिस की नजर इस प्रचार पर नहीं पड़ती। हजारों प्रचारक गिरफ्तार किये गए और उन पर मुकद्दमे चलाये गये। यदि अदालतें इनको छोड़ देती थीं तो इनको उत्तरी प्रान्त में नजर कैद कर दिया जाता था। 1863 और 1874 के बीच कोई-न-कोई बहाना बनाकर लगभग 1,50,000 व्यक्तियों को साइबेरिया में भेज दिया गया था।

3. तीसरा स्वरूप :

क्रान्तिकारी शून्यवाद—इस प्रकार प्रगति का अन्त हो जाने मे क्रान्तिकारियों में बड़ी निराशा आई। बड़े जोशीले लोगों की सारी पुश्त को काटकर गिरा दिया गया और जो कुछ थोड़ी-बहुत सफलता उनको प्राप्त हुई थी वह इन कुरबानियों के मुकाबले में तुच्छ प्रतीत होने लगी। इन परिस्थितियों में अब शून्यवाद ने अपने तृतीय और परम प्रसिद्ध स्वरूप में प्रवेश किया। यह स्वरूप था राजनीतिक आतंकवाद। यह कहा जाता था कि प्रचार-कार्य से यह प्रकट हुआ कि शब्दों में कितनी शक्ति है। स्वाभाविक प्रतिक्रिया के बाद अब लोगों का ध्येय बन गया कार्य करना। कुछ वर्ष पहले इस पार्टी का नारा था 'लोगों में प्रवेश करो।' अब नारा हो गया 'सब काम करो।' शक्ति का जवाब शक्ति से देना था। अब सिद्ध हो गया था कि शान्त आन्दोलन से कोई उन्नति नहीं हो सकती। इसलिए इसके बाद सशस्त्र-क्रान्ति जरूरी थी। अगले तीन साल में (1876—78) कितने ही प्रदर्शन हुए और सड़कों पर बलवे हुए, लेकिन जब बार-बार असफलता हुई तो लोगों ने यह पाठ सीखा कि पेरिस की-सी क्रान्तियाँ रूस में असम्भव हैं। कारण यह था कि नब्बे प्रतिशत जनता देहातों में फैली हुई थी। लोगों के बलवों को सरकार ने सेना के द्वारा दबा दिया और 1878

के बाद क्रान्तिकारी पार्टी स्वयं अनुभव करने लगी कि इसके साधन निष्फल हैं। साथ ही सरकार ने जो निर्दयता के साथ सख्तियाँ कीं उनमें क्रान्तिकारियों के दिलों में घोर घृणा और व्यक्तिगत रोष की भावनाएँ और भी गहरी होने लगीं। राजनीतिक मुकद्दमे खास अदालतों में चलाये जाते थे और तुच्छ अपराधों के लिए सख्त सजाएँ दी जाती थीं। विद्यार्थियों को विश्वविद्यालयों से निकालकर ऊँची सरकारी नौकरियों से वंचित रखा जाता था। जिले की कौंसिलों और अदालतों पर अब अधिक नियन्त्रण रहने लगा। मिल (Mill), स्पेन्सर (Spencer) और लेकी (Leeky) के ग्रन्थों का रूस में प्रवेश नहीं हो सकता था। प्रेस के मुकद्दमे ज्यूरी के बिना ही समाप्त किए जाने लगे। भूतपूर्व शासन की सब बुराइयाँ फिर प्रकट होने लगीं। रिश्वत और अनाचार का बाजार फिर गरम हो गया। सारांशतः सरकार रूस के शिक्षित वर्ग का खुल्लम-खुल्ला विरोध करने लगी। अब सरकार को लोकमत से कोई सम्पर्क नहीं था। उसका शिक्षित समाज से खुले तौर पर संघर्ष रहने लगा। शासक वर्ग अधिकाधिक प्रतिक्रियावादी बनने लगा और शिक्षित वर्ग अधिक क्रान्तिकारी। दोनों ही ओर गरम दल वाले थे और इनको ठण्डा करने के लिए कोई प्रभाव नहीं था। दमन का नतीजा यह हुआ कि शून्यवादियों ने प्रचार करना बन्द कर दिया और अब वे व्यक्तिगत शक्ति के प्रतीक बन गये। शान्त साधनों का परित्याग करके अब शून्यवाद गुप्त षड्यन्त्रों के रूप में परिणत हो गया। अब इनको जनता की मदद की जरूरत नहीं थी। अब ये घातक शस्त्रों का प्रयोग करके हत्याएँ करने लगे। इस प्रकार के साधन पश्चिमी यूरोप में बहुत बुरे माने जाते थे, लेकिन शून्यवादी लोग इनको यह कहकर उचित बतलाते थे कि यूरोपियन ढंग के बरतने रूस में बिल्कुल असम्भव हैं। उनका कहना था कि जो सरकार संगठित अन्याय पर आश्रित हो और संगीनों के बल पर खड़ी हो, उसके खिलाफ सब-कुछ करने की छूट होनी चाहिए। आरम्भ में कहीं-कहीं आतंकवादी कार्य किया गया और इस प्रकार गुप्तचरों के खिलाफ बल-प्रयोग किया गया। इस संगठित आतंक को मुख्य प्रेरणा एक स्त्री से प्राप्त हुई थी, जिसका नाम था वीरा जसूलिक (Vera Zassulic)। इसने फरवरी सन् 1878 में जनरल प्रेकटाफ पर तमंचा चलाया था। इस जनरल ने कानून की अवहेलना करके एक राजनीतिक कैदी के कोड़े लगाये थे। उसका यह महिला बदला लेना चाहती थी। ज्यूरी ने इसको निर्दोष घोषित किया। जब पुलिस ने इसको दुबारा गिरफ्तार करना चाहा तो लोगों की भीड़ ने इसको छुड़ा लिया और सीमा के बाहर निकाल दिया। इससे सारे यूरोप में सनसनी फैल गई और लगभग तीन साल तक एक नाजुक स्थिति उत्पन्न हो गई। आखिर इसका परिणाम हुआ सम्राट की हत्या। अलेग्जेण्डर ने लोकमत से अपील की, लेकिन जिला कौंसिलों ने उत्तर दिया कि विनाशकारी विचारों से तभी संघर्ष लेना सम्भव है

जब जनता के पास बोलने की आजादी, प्रेस में लिखने की आजादी और अपना मत और साधन प्रकट करने की आजादी हो। वास्तव में यही एक उपयुक्त इलाज था, लेकिन अलेग्जेण्डर द्वितीय या उसके उत्तराधिकारी अपनी शक्ति का कोई भी हिस्सा औरों के सुपुर्द नहीं करना चाहते थे।

अलेग्जेण्डर द्वितीय की हत्या, 1881—क्रान्ति की प्रगति का दमन करने के लिए अब एक सोसाइटी बनाई गई, जिसका नाम लैण्ड एण्ड लिबर्टी अर्थात् भूमि और आजादी था। रूस के विभिन्न भागों में इसकी शाखाएँ स्थापित कर दी गईं। लेकिन रूस के क्रान्तिकारियों में बहुत समय से फूट चली आ रही थी। उनमें दो पार्टियाँ थीं—एक ब्लेक पार्टी (काली पार्टी) और दूसरी विल ऑफ दी पीपुल (लोक-निश्चय) पार्टी। ब्लेक पार्टी के साधन शान्तिमय थे, लेकिन विल ऑफ दी पीपुल शक्ति का प्रयोग करती थी। जेसूलिक की रिहाई के कुछ महीने बाद थर्ड सेक्शन अर्थात् गुप्त पुलिस के अध्यक्ष को क्रान्तिकारियों ने दिन-दहाड़े मार दिया। उसकी हत्या पैट्रोग्राड की सड़क पर की गई। हत्यारा भाग गया और पकड़ा नहीं गया। फिर अलेग्जेण्डर द्वितीय को मारने के लिए चार बार प्रयत्न हुए। पहले प्रयत्न के बाद रूस छः सैनिक सरकारों में विभक्त कर दिया गया। हर एक हिस्सा गवर्नर जनरल के अधीन था। उसको मौत और जिन्दगी का पूरा अधिकार था। सैनिक कानून की घोषणा करने का एकमात्र परिणाम यह हुआ कि क्रान्तिकारी और सरगर्मी से काम करने लगे। यद्यपि क्रान्तिकारियों की संख्या बहुत कम थी, परन्तु उनमें शक्ति, निर्भीकता, ध्येय के प्रति लगन आदि ऐसे गुण थे जिनके कारण उन पर कोई जोर नहीं चलता था, परन्तु उनकी कामयाबी का असली भेद यह था कि रूसी सरकार अब जनता से बिल्कुल अलग हो गई थी। उसने लोगों को प्राथमिक राजनीतिक अधिकारों से वंचित कर दिया था। न बोलने की आजादी थी, न प्रेस में लिखने की स्वतन्त्रता और न कौम का प्रतिनिधित्व था। लोगों को यों ही पकड़कर देश से निकाल दिया जाता था। लोकमत आतंकवाद के पक्ष में तो नहीं था, परन्तु अब क्रान्तिकारियों के ध्येयों से उसकी सहानुभूति हो गई और क्रान्तिकारियों को सब वर्गों के लोग गुप्त रूप से सहायता देने लगे। तीसरे प्रयत्न के बाद विन्टर पैलेस अर्थात् शाही महल के बारूदखाने में आग लगी। तब नये साधनों का प्रयोग किया जाने लगा। जब यह मालूम हुआ कि शून्यवाद शक्ति के द्वारा खतम नहीं किया जा सकता तो अलेग्जेण्डर ने कोशिश की कि नरम नीति से इसको निर्बल बनाया जाय। लोरिस मेलिकोफ (Loris Melikoff) को डिक्टेटर बनाया गया। उसको सब अधिकार दे दिये गये। उसने बड़ी चतुरता से लोगों में यह भ्रान्ति उत्पन्न कर दी कि बहुत जल्दी बड़े-बड़े सुधार होने वाले हैं। इससे लोगों का चित्त शान्त हो गया और क्रान्तिकारियों ने भी अस्थायी रूप से संघर्ष बन्द कर दिया। परन्तु यह भ्रान्ति अधिक दिन

तक नहीं टिकी। इस बात का जल्दी पता लग गया कि लोरिस मेलिकोफ का इरादा सरकारी तरीकों में कोई मौलिक सुधार करने का नहीं है। फिर भी उसने युक्ति से एक जनरल कमीशन नियुक्त करने के लिये सम्राट् से मंजूरी ले ली। यह प्रतिनिधि संस्था थी जिसमें डिस्ट्रिक्ट कौंसिलों और मुख्य नगरों के द्वारा निर्वाचित किये हुए कितने ही सदस्य थे। यह सन्देह की बात थी कि इस नई नरम रियायत को लोग मंजूर करेंगे या नहीं, क्योंकि कमीशन का कार्य सीमित था अर्थात् यह केवल सलाह दे सकता था। परन्तु कमीशन की तजवीज को कार्यान्वित नहीं किया गया। जिस दिन अलेग्जेण्डर ने इसकी मंजूरी दी उसी दिन अर्थात् 1881 में अलेग्जेण्डर की हत्या एक वम के द्वारा कर दी गई। क्रान्तिकारी दल ने फौरन ही एक विज्ञप्ति-पत्र निकाला और घोषणा की कि हम आतंकवाद के कार्यों को अब बन्द करने के लिए तैयार हैं, लेकिन शर्त यह है कि (1) बालिग मताधिकार के आधार पर एक कौमी विचार-सभा निर्वाचित की जाय और (2) प्रेस में लिखने के लिए, सभा में बोलने के लिए और सभायें आदि करने के लिए आजादी हो। उसने कहा कि यह एक तरीका है जिसके द्वारा रूस शान्ति और विकास के मार्ग पर अग्रसर हो सकता है।

अलेग्जेण्डर तृतीय 1881-1894—फ्रांसीसी इतिहासकार रेम बोड (Rambaud) ने लिखा है कि अलेग्जेण्डर के उत्तराधिकारी का राज्य निराशा की छाया में आरम्भ हुआ। इसके आरम्भ होते ही जनता के सामने एक स्त्री को फाँसी की सजा दी गई। पिछले पचास वर्ष से ऐसी सजा किसी को नहीं दी गई थी। तख्त पर बैठते ही अलेग्जेण्डर तृतीय ने दिल खोलकर प्रतिक्रिया की नीति का अनुसरण करना शुरू किया। उसने निकोलस प्रथम की गैर-जिम्मेदाराना परम्पराओं को पुनर्जीवित किया। अलेग्जेण्डर तृतीय निकोलस प्रथम से कई बातों में मिलता-जुलता था। गद्दी पर बैठने के बाद उसने एक शाही घोषणा की जिससे उसकी नीति के मन्त्र का पता लगा। उसने कहा, "दैवी वाणी हमको आदेश करती है कि हम सरकार की पतवार मजबूती से पकड़ें और निरंकुश सत्ता की सचाई और शक्ति में विश्वास रखें। यह हमारे जीवन का लक्ष्य है कि हम निरंकुशता की रक्षा करें और इस पर किसी को अतिक्रमण न करने दें। हम इसी में जनता का हित मानते हैं।" जनरल कमीशन नियत करने की मैलिकोफ की तजवीज तो जन्म धारण करने से पूर्व ही मर गई और अव सरकार शिक्षित रूसी जनता के खिलाफ निर्दयतापूर्वक युद्ध करने लगी। उसके तख्त के पीछे था होली सिनाड (Holy Synod) का प्रोक्यूरेटर। इसका नाम पोवेडोनोस्टेव (Pobedonostev) था। यह वास्तव में रूस का राहु था। अलेग्जेण्डर तृतीय पर इसका बहुत वड़ा प्रभाव था और उतना ही प्रभाव निकोसल द्वितीय पर था। निकोलस की शिक्षा वास्तव में इसके सुपुर्द की गई थी। उसने लिखित रूप से अपना राजनीतिक धर्म मंजूर किया है। उमें उसने पश्चिमी संस्थाओं की खूब निन्दा

की है और प्रतिक्रिया को दार्शनिक आधार पर खड़ा करने की कोशिश की है। उसने कहा है कि वैधानिक सरकार तो एक राजनीतिक झूठ है, जिसने हमारे लोगों पर काबू कर रखा है, और पार्लियामेंट एक ऐसी संस्था है जो सदस्यों के स्वार्थ, अभिमान और व्यक्तिगत आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए खड़ी की जाती है। वास्तव में यह इस बात का बहुत बड़ा प्रमाण है कि मनुष्य को किस प्रकार धोखा दिया जा सकता है। जनतंत्र के विषय में वह कहता है कि मानवता के इतिहास में यह शासन का बहुत पेचीदा और भारी तरीका है।[1] जिसको पश्चिमी संस्थाओं का कार्य-प्रणाली का अनुभव है वह इस बात को कहने के लिये तो आगे नहीं बढ़ेगा कि ये संस्थाएँ आदर्श हैं, लेकिन इनकी पूर्णता में चाहे जितनी कमी हो, तो भी ये कम से कम कानून की पवित्रता और व्यवस्थित आजादी तो कायम करती हैं जो कानून से उत्पन्न होता है। किसी संस्था की उत्तमता के विषय में निर्णय देने से पहले यह देखना चाहिए कि उससे क्या लाभ प्राप्त होते हैं। पोलिडोनोस्टेव के तरीके से जो लाभ प्राप्त होने की सम्भावना थी उनका रूसी जनता स्वागत करने के लिए तैयार नहीं थी। प्रेस पर बड़ी सख्त पाबंदियाँ लगाई गईं, कितने ही समाचार-पत्र बन्द कर दिये गये या उनको दूसरे तरीकों से बन्द होने के लिये विवश किया गया। अधिकारी वर्ग विश्वविद्यालयों को भी पसन्द नहीं करता था। अब उनको आन्तरिक प्रबन्ध के विषय में भी कोई आजादी नहीं रही। विद्यालयों में प्रवेश पर अनेक प्रकार के प्रतिबन्ध जारी हो गये। उनको सभा आदि करने का भी अधिकार नहीं रहा। यह नियंत्रण शिक्षा के क्षेत्र में प्राथमिक पाठशालाओं और हाई स्कूलों तक जारी किया गया था। कितने ही अध्यापकों को अपने पदों से अलग कर दिया गया। सबसे बुरा बर्ताव अदालतों और जिला कौंसिलों के साथ किया गया। इससे अलेग्जेंडर द्वितीय के सुधारों की जड़ कट गई।

भूमि-केप्टेन

पहले पृष्ठों में हमने यह दिखलाने का यत्न किया है कि दासों की उन्मुक्ति, जो रूस के उन्नीसवीं शताब्दी के इतिहास में एक बड़ी घटना है, कानूनी दृष्टि से अधिक हितकर थी और आर्थिक दृष्टि से कम। उदाहरणार्थ हम यह देख चुके हैं कि किसानों पर भारी कर लद गया और अधिकांश कृषक के जीवन का लक्ष्य यह बन गया कि कर अदा करने के लिये वह कमाई करता रहे।[2] परन्तु अनेक दोष होते हुए भी उन्मुक्ति के आदेश का एक लाभकारी परिणाम हुआ। वह यह कि किसान लोग सामन्तों की हुकूमत से मुक्त हो गये, इससे स्थानीय भूमि-स्वामियों की सामन्ती हुकूमत

1. पोलिडोनोस्टेव, रिफ्लेक्शन्स (अं० अनु—1898), 34, 35, 43, 45।
2. पी० विनोग्रेडोफ, लेक्चर्स आन दी हिस्ट्री आफ दी नाइन्टीन्थ सेंचुरी (1902), 259।

खतम कर दी गई और अब प्रयत्न किया जाने लगा कि ऐतिहासिक विकास के प्रवाह को, जो दासता से स्वतंत्रता की ओर है, उलट दिया जाय। अब सामन्तशाही पुनः स्थापित की जाय और दमन करके किसानों को कानूनी दृष्टि से भी पुन. दास बना दिया जाये। इसके लिये ग्रामीण जनता पर पुलिस का-सा नियन्त्रण जारी किया गया। भूस्वामी अपने-अपने खेतों पर मजदूरों का दमन करने लगे। जिन-जिनसे किसानों का सम्बन्ध था वे लोग कृषक वर्ग पर अत्याचार ढहाने लगे। सबसे पहले सन् 1886 में इस ओर कदम बढ़ाया गया। एक मजदूर ने मजदूरी करने का मुआयदा तोड़ा। उस पर जुर्म लगाया गया। इसके बाद जब कोई मजदूर अपने मुआयदे के अनुसार काम नहीं करता था तो यह अपराध माना जाता था। तीन साल बाद अदालत में भी एक मौलिक परिवर्तन किया गया। पहले जस्टिसेज ऑफ दी पीस निर्वाचित होते थे, अब उनके स्थान पर नामदज अफसर नियुक्त होने लगे जो भूमि-केप्टेन कहलाते थे। इस नई संस्था में अनेक बहुत ही बुरे दोष थे। पहले मजिस्ट्रेटों को जिला कौंसिलें निर्वाचित करती थीं और वे अपने काम में कुशल सिद्ध हो चुके थे। भूमि कप्तान प्रान्त के गवर्नर के द्वारा स्थानीय सामन्तों में से नियुक्त किये जाते थे और इस प्रकार केन्द्रीय सरकार के हाथ के औजार मात्र थे। इसके अतिरिक्त उनको अदालती और प्रशासनीय दोनों प्रकार के हथियार दिये गये थे। इससे इस उत्तम सिद्धान्त का उल्लंघन होता था कि प्रबन्धक अपने काम के लिए स्वयं न्यायाधीश नहीं होना चाहिए। न्याय की दृष्टि से ये नये अफसर, जिन्होंने कानूनी शिक्षा नहीं पाई थी और जो कानूनी तरीके से बिल्कुल नावाकिफ थे, पहले के जस्टिसेज ऑफ दी पीस के मुकाबले निम्न श्रेणी के साबित हुए, एवं अलेग्जेंडर के सुधारों के साथ-साथ जो कानून का राज्य स्थापित हुआ था उसका एकदम अन्त हो गया। प्रशासनीय अधिकारियों की हैसियत से भूमि कप्तानों के हाथ में ऐसी ताकत दे दी गई थी जिसके द्वारा वे अन्धाधुन्धी कर सकते थे। व्यवहारतः वे डिक्टेटर बन गये थे और किसानों के प्रत्येक कार्य पर वैसी ही कड़ी आँख रखते थे जैसे नर्स या धात्री बच्चे की गति-विधि पर रखा करती है। इन लोगों का किसानों के सब कामों पर पूरा नियंत्रण था। उदाहरणार्थ सम्पति के लेन-देन, अफसरों के निर्वाचन और सफाई के कार्य तथा गरीबों की सहायता पर इनका नियंत्रण था। इन लोगों की हुकूमत पर कोई रोक नहीं थी। इनको अधिकार था कि मुकद्दमा चलाये बिना ही किसी को जेल में रख दें। एक किसान ने कहा था कि अब हमारे यहाँ जज नहीं हैं, लेकिन हुक्म देने वाले अफसर हैं। एक रूसी मजिस्ट्रेट ने कहा था, ऐसा कोई अत्याचार नहीं है जो इस बीसवीं शताब्दी में किसी रूसी किसान पर नहीं किया जा सकता हो। अधिकारियों में भी किसी के साथ लोग इतनी घृणा नहीं करते थे जितनी भूमि कप्तानों के साथ। प्रोफेसर वेनोग्रेडोफ ने लिखा था कि भूमि-कप्तान लोग पुलिस अफसर हैं और न्यायाधीश भी। इसकी पुष्टि कुछ घटनाओं से हो सकती

है। सन् 1892 में जब भयंकर दुर्भिक्ष था तो निजनी प्रान्त के अन्दर कुछ जिलों के भूमि-कप्तानों ने रसद की नीति का खूब विरोध किया और लोगों को मुफ्त रोटियाँ देने पर रोक लगाई। यद्यपि लोग भूख से मरते जाते थे, तो भी भूमि-कप्तान चाहते थे कि उनको मजदूरी कम से कम मिले।[1]

जेम्स-टोव्ज (Zems Tovs) (**जिला काउन्सिलें**)—दूसरी दिशा में भी सन् 1881 से सन् 1904 तक रूस की सुधार-प्रगति में बहुत बाधाएँ आईं। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में रूसी समाज की अन्य किसी संस्था को इतना धक्का नहीं लगा था जितना जिला कौंसिलों को, जिनका स्थानीय सरकारी बोर्डों के द्वारा निर्वाचन होता था और जिन्होंने समाज के पुनर्निर्माण के बहुत बड़े काम किये थे। यही नहीं, इसके द्वारा रूसियों को स्वायत्त शासन की बहुमूल्य शिक्षा प्राप्त हुई थी। क्रान्तिकारी दल, जो अपने ध्येयों की पूर्ति में बहुत जल्दबाज था, इनके काम से बहुत खुश था। स्टेपनियक ने लिखा था कि इस बात से कोई इन्कार नहीं करता था कि जिला कौंसिलों ने प्रशंसनीय कार्य किया है। इन्होंने बड़ी लगन और जोश के साथ जनहित के लिये परिश्रम किया है, अपने वर्ग की भलाई के लिये नहीं। उन्होंने जो कुछ किया उससे सिद्ध हो गया है कि उनके विचार व्यावहारिक हैं और समझ खूब गहरी। यह बात इससे प्रकट होती है कि उन्होंने लोकशिक्षा का कार्य महत्त्वपूर्ण समझा। वे लोग समझते थे कि सब-कुछ लोक-शिक्षा पर निर्भर है। इसके द्वारा ही जनता को स्वावलंबी और आत्मनिरीक्षण के योग्य बनाया जा सकता है।[2] जेम्स-टोव्ज ने प्राथमिक शिक्षा का कार्य अपने हाथ में लिया। उससे पहले रूस में इस प्रकार की कोई पाठशाला नहीं थी। उन लोगों ने चिकित्सा और सफाई के प्रबन्ध में भी बहुत उन्नति की। इस विषय में मास्को प्रान्त के जेम्स-टोव्ज का काम सबसे अधिक अच्छा था, और उसका आदरपूर्वक उल्लेख किया जाता है। उसने जो कुछ भी काम किया उससे पता चलता है कि वे किस प्रकार के काम में व्यस्त रहते थे। इनके प्रयत्नों से दो-दो मील के फासले पर मास्को प्रान्त में स्कूल स्थापित हो गये और पाँच-पाँच मील के फासले पर अस्पताल। सबसे अधिक प्रशंसनीय कार्य यह था कि छोटे-छोटे चिकित्सालयों को सम्पन्न कर दिया गया और पागलों की चिकित्सा के लिये उचित प्रबन्ध की व्यवस्था हो गई। पशुओं के लिये किसानों को एक प्रकार का भूसा देने की व्यवस्था हो गई और जानवरों की नस्ल में बड़ी उन्नति हुई। पशु-चिकित्सक जहाँ-तहाँ नियुक्त कर दिये गये और जो पशु बाहर से लाये जाते थे उनकी जाँच होने लगी। कारखाने वालों को इस बात पर मजबूर किया गया कि इमारतों में से पानी निकाल दिया जाय।

1. विनोग्रेडोफ, लेक्चर्स ऑन दि हिस्ट्री ऑफ दि नाइन्टीन्थ सेंचुरी, 265।
2. एस० स्टेपनियक, रशा अंडर दी जार्स (1885) ii, 169।

जेम्स-टोव्ज ने गाँवों में पानी का अच्छा प्रबन्ध किया। एक हजार मील की सड़क बनवाई। गाँवों में पुस्तकालय स्थापित करने के लिये बहुत कोशिश की। इन सब विभागों में उन्नति करने के लिये जेम्स-टोव्ज बिना वेतन काम करते थे और किसी भी प्रकार की सुस्ती नहीं की जाती थी। मास्को की कौंसिल ने वास्तव में प्रान्त की काया पलट दी।[1] जेम्स-टोव्ज ने जो प्रशंसनीय कार्य किया उससे सरकार का सन्देह तो दूर नहीं हुआ बल्कि केन्द्रीय नौकरशाही का उनके प्रति विरोध और प्रबल हो गया। जो लोग इन कौंसिलों में भर्ती होते थे उनकी बड़े गौर से निगरानी की जाती थी। उद्देश्य यह था कि उन्नतिशील तत्त्व स्थानीय कौंसिलों में प्रविष्ट न हो सकें। सन् 1900 में यह हुक्म दिया गया कि कौंसिलें तीन प्रतिशत से अधिक अपने बजट में वृद्धि न करें। यह अंधाधुन्धी का काम था और इसका अभिप्राय यह था कि कौंसिलें जनहित के कार्य को बहुत अधिक न बढ़ाएँ। एक उदार दलवाले रूसी ने बतलाया था कि प्रतिक्रियावादी दल के विशेष कार्य की अपेक्षा इसके इरादे अधिक ध्यान देने योग्य हैं। असली शत्रु माना जाता है कानून, जो तरंग से मुक्त है और अभिमान-पूर्वक हुकूमत के सामने अपना सिर ऊँचा रख सकता है और जो कहता है कि सब नागरिक बराबर माने जाएँ और प्रत्येक व्यक्ति में जो स्वाभिमान की भावना है उससे अपील की जाय। जिस सरकार ने भूमि कप्तान की सृष्टि की है और अपनी लाखों रूसी जनता के बहुत साधारण-से अधिकार भी छीन लिये हैं, यहाँ तक कि वे अपने बच्चों को शिक्षा भी नहीं दे सकते, वह न्याय और अदालतों की संरक्षक नहीं बन सकती। यह इस बात पर जोर देती है कि हुकूमत की आज्ञाएँ मानी जाएँ कानून की नहीं, और इसके प्रत्येक कार्य से जाहिर होता है कि कानून के प्रति इसमें कितनी घृणा है।[2]

निकोलस द्वितीय :

अलेग्जेंडर तृतीय (1881—1894) तक के राज्य में सरकार का प्रतिक्रियावाद खूब फला-फूला। जार अपनी प्रजा से बिल्कुल अलग रहने लगा। अपने मंत्रियों से भी वह व्यक्तिगत सम्पर्क नहीं रखता था। वह अपने आरामगाह में बन्द रहता था, पहरेदारों से घिरा रहता था। पुलिस उसकी हमेशा रक्षा करती थी। निरन्तर तेरह वर्ष तक उसने उन दुश्मनों के खिलाफ संघर्ष किया जिनका उसने मुँह भी नहीं देखा था परन्तु जो मरने-मारने को तैयार रहते थे।[3] इस राजनीतिक स्थिति में निकोलस द्वितीय के सिंहासन पर बैठने पर भी कोई परिवर्तन नहीं हुआ। शिक्षित लोग दिल

1. बी० पेरेस, चेप्टर ऑन रशा, केम्ब० मोड० हिस्ट० xii, 327।
2. विनोग्रेडोफ, लेक्चर्स ऑन दि हिस्ट्री ऑफ दि नाइन्टीन्थ सेंचुरी, 266।
3. जे० एच० रोज, दी डेवलपमेंट ऑफ यूरोपियन नेशन्स (1915), 302।

से चाहते थे कि कानून बनाने में उनका हाथ हो, लेकिन निकोलस द्वितीय इसको पागलों का स्वप्न समझता था। इसलिये शिक्षित वर्ग में उससे बड़ी निराशा हुई। उसने घोषणा की कि राष्ट्र के अभ्युदय के लिए मैं भरसक यत्न करूँगा, परन्तु मैं निरंकुशता के सिद्धान्तों की उसी दृढ़ता से और धैर्य से रक्षा करूँगा जैसी मेरे स्वर्गीय पिता ने की थी। फिर भी दस वर्ष बीतने पर निरंकुशता के कोट का एक कंगूरा टूटा अर्थात् एक शाही पार्लियामेन्ट की स्थापना हुई। अब हमें देखना है कि किन घटनाओं से रूसी सरकार में युग-प्रवर्तक परिवर्तन हुए।

शून्यवाद का ह्रास :

हम देख चुके हैं कि रूस में सुधार आन्दोलन को उन्नीसवीं शताब्दी में कई स्थितियों में से गुजरना पड़ा। 1860 से 1870 तक इसने अंधविश्वास और प्राचीन परम्पराओं का दार्शनिक विरोध किया। तत्पश्चात् यह अधिक व्यावहारिक कार्य करने लगा। इसने रूसी कृषकों को जागृत किया और उनको बतलाया कि उनकी आर्थिक अवस्था कितनी दयनीय है और उनको किस कदर पतन की ओर ले जा रही है। अन्त में इसने एक संगठित आतंकवाद का स्वरूप धारण कर लिया। अलेक्जेंडर द्वितीय की हत्या के समय आतंकवादी आन्दोलन उन्नति के शिखर पर था। अब तक शिक्षित समाज इसके साथ सहानुभूति करता था, इसके ध्ययों को मानता था, चाहे इसके साधनों को न माने। लेकिन जब 'मुक्तिदाता' की मृत्यु हुई तो लोगों की भावनाएँ बदलीं। धीरे-धीरे आतंक आन्दोलन का लोगों पर कोई असर नहीं रहा। आतंक-वादी नेताओं को निर्दयतापूर्वक खदेड़ा गया और मौत के घाट उतार दिया। इसके बाद जब भी आतंकवाद को पुनर्जीवित करने के लिये यत्न किया गया तो वह सफल नहीं हुआ। अब सब लोगों पर प्रकट हो गया कि आतंकवाद के कामों से रूस की समस्याओं का हल नहीं हो सकता है। स्त्री-पुरुषों का एक छोटा-सा समूह चाहे जितना वीर और दृढ़ हो, वह ऐसी गवर्नमेन्ट को खतम नहीं कर सकता जिसके पास अपार साधन हों। सन् 1892 में स्टेपनियक ने इस बात को मन्जूर किया कि केवल क्रान्तिकारी लोग निरंकुशता का अन्त नहीं कर सकते। इतनी बड़ी शक्ति से थोड़े लोगों का मुकाबला करना केवल आत्मत्याग का अभ्यास करना है। रूसी किसान में दयनाय अज्ञान था। वह जार के प्रति अंध श्रद्धा रखता था, अपने भावी मुक्ति-दाताओं के प्रति उसको गहरा अविश्वास था और उनकी हितकामनाओं के प्रति उसकी बड़ी उपेक्षा थी, चाहे शत्रुता न हो। 75 वर्ष पूर्व जिस बात का पता नेपोलियन को लगा था अब क्रान्तिकारियों को भी लगा कि रूसी कृषकवर्ग राजनातिक आन्दोलन के लिये अभी तैयार नहीं है। संक्षेपतः उन्नीसवीं शताब्दी का सुधार आन्दोलन इसलिये विफल हुआ कि उस समय केवल नेता ही नेता थे, अनुयायी कोई नहीं था। इसलिये किसानों के दिलों में वह प्रवेश नहीं कर सका। इसलिये रूस यदि कृषि-देश ही बना रहता तो

निरंकुशता पर कोई हमला नहीं होता, परन्तु जिस प्रकार इंगलैण्ड में औद्योगिक क्रान्ति से 1832 में लोगों ने कृषि-कार्य छोड़कर व्यापार करना शुरू किया, ठीक उसी प्रकार तत्कालीन रूस की राजनीतिक स्थिति में बड़ा परिवर्तन हुआ। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम सालों में जो उद्योग की अभूतपूर्व उन्नति हुई, उससे प्रगट हो गया कि रूस भी अब पूँजीपतियों के निरन्तर फैलते हुए जाल में फँसता जाता था। यह विकास बहुत जल्दी इसलिये हो रहा था कि तीन कारण इसको आगे बढ़ा रहे थे। दासों की उन्मुक्ति से अब बहुत सस्ते मजदूर बहुत संख्या में मिल सकते थे। रेलों के जारी होने से आवागमन आसान हो गया था और एक स्थान से दूसरे स्थान को माल भेजने के लिये सुविधाएँ प्राप्त हो गई थीं। इसके अतिरिक्त बड़े-बड़े कारखाने स्थापित करने के लिये बाहर के देशों से पूँजी आ गई थी। इसका बहुत बड़ा परिणाम हुआ। रूई और खानों के उद्योगों को बहुत प्रोत्साहन मिला और धड़ाधड़ कारखाने बढ़ने लगे 1917 में जब क्रान्ति होने वाली थी तो रूस में तीस लाख मजदूर थे जो कारखानों में काम करते थे। इनमें उन लोगों की गणना नहीं है जो छोटे-छोटे कारखानों में लगे हुए थे। संसार के औद्योगिक देशों में रूस का दर्जा पाँचवाँ था। इस सब परिवर्तन का सम्बन्ध एम० विटे (M.Witte) की मंत्रि-परिषद से है, जिसने इस बात को प्रोत्साहन दिया कि बाहर के पूँजीपति रूस में आर्थिक प्रवेश कर सकें। वह समझता था कि रूस के कुदरती साधनों को विकसित करने के लिये यह एकमात्र मार्ग है।

औद्योगिक क्रांति

रूस के इतिहास में प्रथम स्थान दासों की उन्मुक्ति का है और दूसरा औद्योगिक क्रान्ति का। यहाँ पर हमारा सम्बन्ध इसके राजनीतिक महत्त्व से है। इसके आँकड़ों के उल्लेख से यह बात स्पष्ट नहीं होती कि रूस में हुए आर्थिक हेर-फेर से आगे चलकर क्या बात सम्भव हुई। पूँजीवाद का एक परिणाम तो हमेशा होता ही है। वह है श्रमजीवियों का उदय। और कारखानों में काम करने वाला मजदूर, किसान की अपेक्षा अधिक बुद्धिमान होता है और कम रूढिवादी। प्राचीन संसार में जब बड़े-बड़े नगर बसने लगे तो लोगों ने राजतंत्र छोड़कर प्रजातंत्र को अपनाना शुरू किया, क्योंकि नागरिक जीवन से आत्म-निर्भरता आती है, नई बात के लिये प्रेरणा उत्पन्न होती है ओर परिवर्तन से प्रेम होता है। वर्तमान संसार की बड़ी-बड़ी रियासतों में कल-कारखानों के कारण मजदूर के जीवन की एकान्तता खतम हो गई है। अब हजारों लोग कारखानों की एक ही छत के नीचे काम करते हैं, इसलिये उनका मिल-जुलकर काम करना सम्भव हो गया है; साथ ही वे आर्थिक शक्ति का महत्त्व समझने लगे हैं। उनमें चेतनता आ गई है, क्योंकि व्यक्तिगत मजदूर को तो अपने मालिक की दया पर निर्भर रहना पड़ता है, परन्तु संगठित श्रमजीवियों का संघ जो चाहता है अपने मालिक से करवा सकता है, जब राजनीतिक जागृति होती है तो प्रायः मजदूरों में अपनी आर्थिक स्थिति के प्रति

असन्तोष उत्पन्न होने लगता है। इस समय रूस में जो कुछ हो रहा था उससे यह असन्तोष की भावना जागृत होने लगी। पहले रूस के मजदूरों को कितने ही घंटों तक काम करना पड़ता था। उनको मजदूरी कम मिलती थी। काम करवाने वाले उनको पशु समझते थे। बेशर्मी के साथ निचोड़-निचोड़कर उनसे जुर्माने लिये जाते थे। मास्को के मिल-मालिकों ने यह कारण बतलाकर कारखानों में सुधार नहीं होने दिया कि लोगों से मजदूरी लेने में आजादी होनी चाहिए अर्थात् मालदार लोग गरीबों का दुरुपयोग कर सकते हैं। रूस की आर्थिक स्थिति और अभ्युदय का इससे अन्दाजा हो सकता है कि रूस के किसान को जर्मनी के मुकाबले रुई और शक्कर की कीमत ढाई गुनी देनी पड़ती थी, लोहे की साढ़े चार गुनी और कोयले की छः गुनी। इसके दूसरे पक्ष को भी देखना चाहिए। उद्योग के विस्तार से श्रमजीवी ही उत्पन्न नहीं हुए, इससे बहुत बड़े-बड़े कारखाने चलाने वाले धनाढ्य लोगों की भी सृष्टि हुई। इन दोनों ही प्रकार के लोगों को निरंकुश शासन से मदद मिलती थी। एक वाक्य में यह कहा जा सकता है कि इस समय रूस में पूंजीपतियों का बोलबाला था। इस समय रूस पश्चिमी उद्योग-वाद का अनुसरण करने लगा था। उसके पुराने तरीके कृषक साम्राज्य के चाहे कितने ही अनुकूल हों, परन्तु अब वैसी सरकार दकियानूसी समझी जाने लगी थी।

सोशल डेमोक्रेट्स :

जब नवीन आर्थिक स्थिति उत्पन्न होने लगी तो राजनीतिक दल भी नये-नये बनने लगे। इनमें मुख्य क्रान्तिकारी दल सोशल डेमोक्रेट्स कहलाता था। इसका कदम सबसे आगे रहता था। यह इस बात को मानता था कि राजनीति का सम्बन्ध किसानों से हटकर व्यापारियों से जुड़ता जाता है, अर्थात् क्रान्तिकारी आन्दोलन का क्षेत्र अब गाँवों में नहीं, कल-कारखानों में है। पुराने विचारों के क्रान्तिकारी और रूढ़िवादी लोग यह आशा करते रहे कि संभवतः रूस पूँजीवाद और उसके परिणामों से अर्थात् पूँजी-पतियों से छुटकारा पा सकेगा। कार्ल मार्क्स के समाजवादी सिद्धान्तों से प्रेरित होकर नये दल अर्थात् सोशल डेमोक्रेट्स ने तत्कालीन विचार-प्रवाह के प्रति आँखें नहीं मूँदी बल्कि साफ-साफ इस बात की घोषणा की कि बुराइयाँ बढ़ती जाती हैं और एक दिन बहुत बड़ा विस्फोट होगा। भावुक लोग गुजरती हुई स्थिति के प्रति चाहे जितने आँसू बहाएँ, फिर भी रूस में यह विचार फैलता जाता था कि विकास के नियमों से यह देश मुक्त नहीं रह सकता। दूसरी बात यह भी थी कि समाज के पुनर्निर्माण के स्वप्न तभी सार्थक हो सकते हैं जब राजनीतिक क्रान्ति भी हो, अन्यथा ये स्वप्न शेखचिल्लीपन थे। पहले के क्रान्तिकारी विश्वास करते थे कि सामाजिक और राजनीतिक परिवर्तन साथ-साथ होने चाहिए। केवल पार्लियामेन्ट्री सरकार लोगों की हालत को नहीं सुधार सकती, बल्कि इससे तो यह होगा कि पुरानी और बेकार नौकरशाही के स्थान पर यह सचेत और स्वार्थी पूँजीपतियों को बिठा देगी जो लोगों को चकनाचूर कर देंगे। इस

धारणा में सत्य का अंश तो था, परन्तु दो बातों की उपेक्षा थी : (1) समाजवादी विचारों का आन्दोलन किसी भी उन्नतिशील वर्ग की ओर से हो, वह निरंकुश सरकार के शासन में अधिक कठिन है, (2) पार्लियामेन्ट्री संस्थाओं में चाहे जितने दोष हों वे व्यक्तिगत स्वतंत्रता की गारन्टी देती हैं और यह बात वैधानिक सरकार के अधीन ही सम्भव है । इसके अतिरिक्त कभी न कभी मजदूर वर्ग में भी राजनीतिक चेतना आने वाली थी और पूँजीपतियों के हाथ से सत्ता भी इन लोगों के हाथ में आना अवश्यंभावी था । ज्योंही मजदूरों को राजनीतिक शक्ति प्राप्त होगी त्यों ही वे सामाजिक क्रान्ति के लिए उस शक्ति का उपयोग करेंगे । इससे उत्पादन के साधन अर्थात् भूमि, कारखाने और खानें, सब पर रियासत का अधिकार हो जाएगा । इस प्रकार मजदूरों के लिए उचित सामाजिक स्थितियाँ ही उत्पन्न नहीं हो जायेंगी बल्कि उनको अपनी मजदूरी का फल भी अधिक और उचित मात्रा में मिलने लगेगा । सोशल डेमोक्रेट्स समझता था कि निरंकुशता को हटाकर समाजवाद एकदम स्थापित करना आशातीत स्वप्न है, इसलिए वे सन्तोष और धैर्य के साथ चलना चाहते थे । वे समझते थे कि यदि वैधानिक सरकार की स्थापना हो गई तो आधी मंजिल तय हो गई । इन तमाम विचारों के आधार पर यह नतीजा निकला कि क्रान्तकारियों को अपना सब ध्यान मजदूरों पर लगा देना चाहिए, शान्त आन्दोलन करना चाहिए, आतंकवाद से नहीं बल्कि औद्योगिक उन्नति के शान्त सिद्धान्तों से काम लेना चाहिए । अब एक नया साधन लोगों के हाथ में आया, अर्थात् हड़ताल । इंगलैण्ड में इस साधन का उपयोग चौदहवीं शताब्दी से ही होने लग गया था । अब रूस के मजदूर भी अपनी तकलीफों को दूर करने के लिए इसका उपयोग करने लगे । ये तकलीफें प्रायः आर्थिक थीं, लेकिन सोशल डेमोक्रेट्स ने, जिनके हाथ में औद्योगिक विवादों का नेतृत्व रहने लगा, हड़ताल में राजनीति को घुसाना शुरू किया । इस खतरे का सामना करने के लिए सरकार ने भी एक असाधारण तरकीब करना शुरू किया । अपने गुप्तचरों द्वारा पुलिस ने ट्रेड यूनियन बनाने के लिए मजदूरों को प्रोत्साहित किया । इसके लिए उनको धन दिया और राजनीतिक समस्याओं से उनका ध्यान हटाने के लिए उनसे हड़तालें भी करवाईं । मास्को में इस प्रयोग का संचालन जुबाटोफ ने किया जो प्रधान गुप्तचर था । परन्तु मिल-मालिकों ने सरकार से इस बात की शिकायत की कि पुलिस उनके कारखानों में झगड़ा पैदा करवाती है और मजदूरों को इस बात का पता लग गया कि गुप्तचर जब मौका आता है तो उसका उपयोग ऐसे लोगों का पता लगाने में और उनको निकाल फेंकने के लिए करते हैं जो राजनीति में दखल देना चाहते हैं । अन्तिम ध्येय था सोशल डेमोक्रेट्स की शक्ति को बढ़ाना और नये मजदूर आन्दोलन के राजनीतिक महत्त्व को और गहरा करना ।

जापानी युद्ध के प्रभाव, 1904—सन् 1904 में जब जापान के साथ युद्ध हुआ

तो रूसी इतिहास का रुख एकदम बदल गया। रूसी कौम नहीं चाहती थी कि लड़ाई हो। युद्ध बड़ी अयोग्यता के साथ किया गया। इससे रूसी लोगों के विरोध की और भी पुष्टि हो गई। अब नौकरशाही के दोषों के प्रति लोगों की आँखें खुल गईं। सरकार की साख जाती रही। लोगों ने इतनी तीव्र आलोचना की कि सरकार की कमजोरी बिलकुल साफ नजर आने लगी। जुलाई सन् 1904 में प्लेहवी (Plehve) अन्तर्मन्त्री (Minister of the Interior) को किसी ने छिपकर मार दिया। उसका प्रबन्ध बहुत ही प्रतिक्रियावादी था। उसके मारने से पूर्व एक साल में 4867 व्यक्तियों को जेल में धकेल दिया गया था और कितनों ही को बिना मुकदमा चलाये देश से निकाल दिया गया था। प्लेहवी के बाद उसके स्थान पर मिर्स्की (Mirsky) नियुक्त हुआ। यह अधिक शिक्षित और दयावान् राजनीतिज्ञ था। उसने सुधारकों को बुलाया और उनसे कहा, आपको जो कुछ तकलीफें हैं, जाहिर करो। इस दुर्लभ अवसर का लाभ उठाकर सुधारकों ने अर्थात् जेम्स-टोव्ज ने पेट्रोग्राड में एक सभा करके ग्यारह मुद्दे उसके सामने रखे। इनका लोगों ने बड़े जोश के साथ स्वागत किया। उनकी प्रधान माँगें निम्नलिखित थीं—

(1) व्यक्ति और उसका घर सुरक्षित रखना चाहिए। मजिस्ट्रेट द्वारा जारी किए हुए वारन्ट के बिना पुलिस किसी को तकलीफ न दे और बाकायदा मुकद्दमा चलाए बिना किसी को सजा न दी जाय। (2) विचार-स्वातंत्र्य, वाणी-स्वातंत्र्य और प्रेस-स्वातंत्र्य होना चाहिए। लोगों को आम जगहों पर सभाएँ करने और संगठन बनाने का अधिकार होना चाहिए। (3) स्थानीय स्वायत्त शासन के लिए ज्यादा और विस्तृत कार्यक्षेत्र होना चाहिए और यह बात ग्राम और नगर दोनों पर लागू होनी चाहिए। (4) ऐसी धारासभा होनी चाहिए जिसके सदस्य निर्वाचित प्रतिनिधि हों। इन लोगों का कानून बनाने और प्रबन्ध के नियंत्रण में हाथ होना चाहिए। (5) एक विधानसभा फौरन की जाए जो विधान बनाए।

इसके अतिरिक्त उन्होंने यह भी माँग की कि अस्थायी आदेश (Ordinances) जारी करना बन्द किया जाय। ऐसे आदेश कानूनों से भी ज्यादा स्थायी थे। यह भी माँग थी कि राजनीतिक कैदी रिहा किये जाएँ और शिक्षा के सम्बन्ध में पूरी आजादी दी जाए। माँगें पेश करने से पहले कितनी ही दावतें हुईं और प्रदर्शन हुए। लोगों में जोश उमड़ रहा था। वातावरण में बिजली दौड़ रही थी। ज्वाला को धधकाने के लिये एक चिनगारी की जरूरत थी। यह चिनगारी 22 जनवरी सन् 1905 को लगाई गई, उस दिन रविवार था। रूस के पंचांग में इसको लाल रविवार कहा जाता है।

लाल रविवार

अब तक सुधार-आन्दोलन शिक्षित समाज तक की सीमित था। अब इसमें

उद्योगी लोग भी सम्मिलित होने लगे। फादर गेपोन (Gapon) नामक एक नवयुवक पादरी ने पेट्रोग्राड के कारखानों में काम करने वालों का एक संघ बनाया। ऐसा ही संघ जुबाटोफ ने मास्को में बनाया था। इन दोनों का ही पुलिस देखभाल करती थी। 15 जनवरी को दो मजदूर बर्खास्त किये गये। तब फौरन मजदूरों ने हड़ताल कर दी और इस बात की माँग की कि दिन आठ घंटे का होना चाहिए, मजदूरी अधिक मिलनी चाहिये। सफाई का अधिक अच्छा प्रबन्ध होना चाहिये और समझौता करने के लिये समितियाँ बननी चाहिये। तब इस आन्दोलन में सोशल डेमोक्रेट्स हस्तक्षेप करने लगे और जो आन्दोलन आरम्भ में औद्योगिक विवाद मात्र था अब तेजी से राजनीतिक स्वरूप धारण करने लगा। गेपोन ने देखा कि मजदूरों के ऊपर उसका प्रभाव कम होता जाता है तो वह क्रांतिकारियों के प्रोग्राम को मानने लगा और सम्राट के समक्ष अपील करके अपने घटते हुए प्रभाव को फिर जमाने लगा। रविवार तारीख 22 को मजदूरों ने एक बहुत बड़ा जुलूस निकाला, जिसमें उनके बीवी और बच्चे भी शामिल थे। इस जुलूस का संगठन इसलिये किया गया था कि विंटर पैलेस पर एक आवेदन-पत्र पेश किया जाय। इसमें रूसी लोगों के राजनीतिक और औद्योगिक कष्ट दर्ज किये गये थे। प्रदर्शन शान्ति के साथ हुआ। परन्तु सेना ने भारी भीड़ और बड़े-बड़े मजमों पर गोलियाँ दाग दीं। गेपोन बच गया। उसके कोई चोट नहीं लगी। उसके बाद उसने क्या किया, इसका पता नहीं है। प्रदर्शन के द्वारा फौरन ही कोई मतलब तो हासिल नहीं हुआ, लेकिन रूस में लोक-भावना सजग हो उठी। मजदूर वर्ग में यह राजनीतिक जागृति का स्थूल चिन्ह था। आंदोलन को एक जनतंत्रीय आधार मिल गया और उसकी सफलता के मौके बढ़ गये। अगले कुछ हफ्तों में जगह-जगह रूस के विभिन्न भागों में हड़तालें होने लगीं। छिपे-छिपे कई हत्याएँ की गईं। आखिरकार सम्राट् का चाचा ग्रान्ड ड्यूक सर्जियस (Grand Duke Serjius) भी मारा गया। साम्राज्य-भर में गड़बड़ मच गई। जन-आन्दोलन को शान्त करने के लिये एक राष्ट्रीय धारा सभा की माँग सम्राट् ने स्वीकार कर ली। 3 मार्च सन् 1905 को उसने अपने इरादे की घोषणा इस प्रकार की। बड़े-बड़े योग्य आदमियों को, जिनमें लोगों का विश्वास हो और जिनको लोगों ने निर्वाचित किया हो, बुलाया जाय और वे धारा सभा के आयोजन पर विचार करें और अपनी योजना बनाकर पेश करें। इसके साथ ही लोगों से यह भी पूछा गया कि राष्ट्र के संगठन में क्या सुधार होना चाहिये और इसके लिये क्या बातें जारी करनी चाहिये। इस प्रकार के निमंत्रण के फलस्वरूप पेशेवर वर्गों ने कई यूनियन्स के संगठन का आयोजन किया जिनमें डाक्टर, वकील, अध्यापक, इंजीनियर, क्लर्क और रेलवे के मजदूर भी शामिल हों और फिर सब यूनियन मिलकर एक महा यूनियन बनाएँ। सबका कार्यक्रम लगभग एक जैसा ही था। सब जगह पार्लियामेन्ट्री सुधारों और नागरिकता के प्रथम अधिकारों के लिये

नारा बुलन्द किया गया। इसी समय उन्नतिप्रिय लोगों को शक्ति प्राप्त हुई। इसका कारण था सुशीमा का युद्ध (27 मई)। रूस ने बाल्टिक समुद्र की नौ-सेना सुदूर पूर्व में इसलिये भेजी थी कि पैसिफिक समुद्र में जापान के आधिपत्य को खतम कर दिया जाय। परन्तु यह नौसेना जापान के प्रसिद्ध सेनानायक एडमिरल टोगो ने नष्ट कर दी। जेम्सटोव्ज का एक शिष्ट-मंडल सम्राट् से मिलने गया और प्रार्थना की कि कौम के प्रतिनिधियों को बुलाने में अब देर न की जाय। उन्होंने कहा कि रूस के इतिहास में यह भयंकर घड़ी है। भगवान और देश के सामने आपके सिर पर इस समय बड़ा उत्तरदायित्व है।

व्यापक हड़ताल अक्टूबर, 1905

दो महीने के बाद 19 अगस्त को एक विधान प्रकट हुआ, जिसका नाम बुलिगन विधान था। इससे सर्वत्र असन्तोष हुआ। इसके द्वारा पार्लियामेन्ट्री धारा सभा के स्थान पर एक शाही डूमा स्थापित की गई, जिसका काम था केवल सलाह देना इसका निर्वाचन-क्षेत्र भी बहुत संकुचित था। फैक्ट्री में काम करने वाले, जिलों के डॉक्टर, जिलों के अध्यापक और दूसरे ग्रामीण, जिनके पास कोई सम्पत्ति नहीं थी, मतदाताओं में शामिल नहीं किये गये। सरकार के मौलिक सिद्धान्त भी ज्यों-के-त्यों बने रहे। निरंकुश शासन में कोई हेर-फेर नहीं हुआ। यह बात भी स्वीकार नहीं की गई कि सब कामों के लिये मंत्रियों को ही जिम्मेदार माना जाये। नतीजा यह हुआ कि सर्वत्र राजनीतिक हड़ताल हो गई। खुशटालेव (Khrustalev) की प्रेरणा से मजदूरों ने एक केन्द्रीय संगठन बना लिया, जिसका नाम श्रम प्रतिनिधियों की सभा (Council of Labour Delegates) था। धीरे-धीरे यह संस्था सबल होती गई और इसने अपने ही श्रमजीवियों की सरकार का भार और अधिकार तथा उत्तरदायित्व अपने सिर पर ले लिया। पेशेवर वर्गों की यूनियन्स का भी यह नेतृत्व करने लगी और अक्तूबर के अन्त में इसने एक हड़ताल की घोषणा की। पत्रों का प्रकाशन बन्द कर दिया। बिजली की रोशनी काट दी गई। मिल-मालिकों को कहा गया कि या तो कारखाने बन्द करो वरना उनको नष्ट कर दिया जायेगा। मजिस्ट्रेटों, डॉक्टरों और कुछ दूसरे व्यवसाय के लोगों ने भी हड़ताल में सहयोग दिया। रेलवे के कर्मचारी पहले ही हड़ताल कर चुके थे। इसका कारण यह था कि उनकी यूनियनों के कुछ प्रतिनिधियों को गिरफ्तार कर लिया गया था। अब साम्राज्य का सम्पूर्ण समाजतंत्र ठप्प हो गया। सरकार के सामने झुक जाने के सिवाय और कोई चारा न रहा। लोक-आन्दोलन के इस बलवान् प्रदर्शन से सरकार विवश हो गई और 30 अक्टूबर को एक घोषणा जारी की।

अक्तूबर की घोषणा—अक्तूबर की घोषणा से सुधार-आन्दोलन के इतिहास में एक नया युग उपस्थित हुआ। इसमें साफ शब्दों में नागरिकता के प्राथमिक अधिकारों

का वचन दिया और कहा गया कि किसी व्यक्ति को गिरफ्तार नहीं किया जायेगा। विचारों की स्वतन्त्रता होगी, वाणी की आजादी होगी और सभा आदि करने पर कोई रोक-टोक नहीं होगी। डूमा को कानून बनाने का काम सौंपा गया और यह निश्चय हुआ कि इसकी अनुमति के बिना कोई भी कानून मान्य नहीं होगा। इस बात का भी वचन दिया गया कि निर्वाचन-क्षेत्र विस्तृत किये जायेंगे। यह वचन 24 दिसम्बर को कार्यान्वित किया गया। इसके अनुसार व्यवसायी और श्रमजीवी लोगों को मतदान का अधिकार प्राप्त हो गया। परन्तु इन रियासतों से उस सत्ता की जड़ हिल उठी जो अब तक पुलिस और स्थानीय अफसरों के हाथ में थी। अब उन्होंने इस हेतु भारी प्रयत्न किया कि जो कुछ उनके हाथ से खिसक गया है वह फिर प्राप्त किया जाये। प्रतिक्रियावादियों का एक संगठन बना और इसका नाम असली रूसी (Genuine Russians) रखा गया। समाज में इसके अनुयायियों की संख्या तो कोई बड़ी नहीं थी, लेकिन पुलिस के साथ इनका गहरा सहयोग था। इसलिए ये बड़े खतरनाक साबित हुए।

रूसी प्रोग्राम—पुलिस ने जुर्मपेशा वर्ग के सहयोग से कई बलवे करवाये। यह प्रतिक्रियावादियों का नजला विशेषकर उन शान्तिप्रिय यहूदियों पर गिरा जो दक्षिण और दक्षिण-पश्चिम के नगरों में निवास करते थे। इन गरीब आदमियों को लूटा गया और कितने ही दिन तक इनके साथ ऐसा दुर्व्यवहार हुआ कि उनकी यातनाओं पर पश्चिमी यूरोप को भी दया आई। रूसी भाषा में एक शब्द है पोग्रोम (Pogrom) अर्थात् विनाश। इन बलवों के लिये इसी शब्द का प्रयोग हुआ था। इन दिनों इंगलैण्ड में भी यह शब्द बहुत प्रचलित हुआ। लोग कहने लगे कि रूढिवादी या प्रतिक्रियावादियों को रूस के आदमियों में यहूदियों के खिलाफ घृणा उत्पन्न करने से क्या लाभ होगा।[1] इन अत्याचारों के लिये यह कहा जाता था कि एक वर्ग-विशेष के हित-साधन के लिये प्रतिक्रियावादी प्रदर्शनों के खिलाफ भी प्रदर्शन होना चाहिये। इस बात की भी बदनामी थी कि अधिकारी वर्ग इसमें शामिल थे। इस बात को सब जानते थे कि इन उत्पातों को दबाने में पुलिस को भी कोई कठिनाई नहीं हुई।

पहली डूमा, 10 **मई से** 21 **मई** 1906—रूस की पहली पार्लियामेंट, जिसका नाम डूमा रखा गया था, 10 मई 1906 को एकत्र हुई। इसमें 400 से अधिक सदस्य थे जिनमें प्रतिक्रियावादी केवल सात थे। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण समुदाय वैधानिक डेमोक्रेट्स का था जो बाद में केडेट्स कहलाने लगे थे। इसके प्रधान विरोधी अक्तूबर वाले लोग अर्थात् रूढ़िवादी थे जो उस विधान का अनुमोदन करते थे जो अक्टूबर की घोषणा के अनुसार निश्चित हुआ था। ये लोग भूमि-स्वामियों के वर्ग से आये थे

---

1. वालेस, वही ग्रन्थ, 716-717।

और पहली डूमा में इनको बहुत कम स्थान मिला था। कारण यह था कि अभी हाल ही में गाँवों के बलवे को सरकार ने पाशविक शक्ति के साथ दबाया था। मजदूर वर्ग के 107 सदस्य थे। स्वशासन वर्ग के लोग 63 थे। ये पोल आदि छोटी-छोटी कौमों के प्रतिनिधि थे और स्वराज्य चाहते थे। स्वतंत्र लोगों की संख्या भी काफी बड़ी थी, लेकिन उनका कोई निश्चित कार्यक्रम नहीं था। पहला डूमा ने 72 दिन तक काम किया। यह सरकार के साथ इसी बात पर झगड़ती रही कि मंत्रिमंडल उत्तरदायी होना चाहिये। शक्ति का सन्तुलन डूमा में केडेट के लोगों के हाथ में था। इनका बहुमत इसलिये था कि दूसरे दल इनका साथ देते थे। इन लोगों का माँग थी कि अंग्रेजी ढंग की पार्लियामेंट्री संस्था स्थापित की जाये, अर्थात् केबिनेट डूमा के प्रति उत्तरदायी हो, सम्राट् के प्रति नहीं। साथ ही इन लोगों की यह भी माँग थी कि रुपये-पैसे और कानून बनाने के मामलों में उनको पूरा अधिकार हो। लेकिन जब डूमा का प्रथम अधिवेशन हुआ उससे पूर्व ही 5 मार्च की घोषणा के द्वारा इसके अधिकार बहुत सीमित कर दिये गये थे। उदाहरणार्थ यह मौलिक कानून (Fundamental Laws) को नहीं बदल सकती थी। सेना, नौसेना और पर-राष्ट्र नीति सम्राट के ही हाथ में थी और बजट के मामले में भी इसका कोई दखल नहीं था। संक्षेपतः यह कहा जा सकता है कि अक्टूबर की घोषणा से नागरिक स्वतन्त्रता और वैधानिक शासन के लिये दिया हुआ वचन रद्द हो गया। दो महीने तक डूमा और सरकार में संघर्ष चलता रहा। आखिरकार सम्राट् केडेट लोगों का मंत्रिमंडल बनाने के लिये करीब-करीब राजी हो गया। परन्तु इसका स्टोलिपिन (Stolypin) ने घोर विरोध किया और उसके प्रधान मंत्री बनने पर 21 जुलाई को डूमा भंग कर दी गई। इसके लगभग आधे सदस्य फिनलैंड के विबोर नगर में चले गये और वहाँ से उन्होंने रूसी कौम के नाम यह घोषणा-पत्र निकाला कि टैक्स देने से इन्कार किया जाय और सेना में भर्ती नहीं हुआ जाय। फिर भी देश चाहे सरकारी काम का अनुमोदन नहीं करता था, परन्तु इसके पास संगठित विरोध करने के साधन भी नहीं थे, इसलिये डूमा के नेताओं के विरोध का कोई नतीजा नहीं निकला। नये प्रबन्ध की सख्तियाँ अब अभूतपूर्व प्राणदण्ड के रूप में होने लगीं। अब प्राणदण्ड मामूली डकैतियों और अफसरों के अपमान के अपराध के लिए भी दिया जाने लगा। इस कानून के अनुसार 600 से अधिक व्यक्तियों को फाँसियाँ दी गईं और एक ही साल में मुकद्दमा चलाए बिना ही बलवों में भाग लेने के अपराध में 35,000 व्यक्तियों को देश से निर्वासित कर दिया गया।

आम निर्वाचन का संचालन—नयी डूमा के निर्वाचन में प्रतिक्रियावादियों और अक्टूबर के लोगों के पक्ष में सब प्रकार के दबाव से काम लिया गया। केडेट लोगों के लिए राजनीतिक आन्दोलन करना असम्भव हो गया। इनको कोई कानूनी मान्यता

भी नहीं दी गई थी। जो कर्मचारी इसमें सम्मिलित थे उनको अपने पदों से हटा दिया गया। कई प्रकार के मतदाताओं के मताधिकार छीन लिये गये। जो उम्मीदवार संतोषप्रद नही माने जाते थे उनके नाम सूचियों से निकाल दिये गये। यहूदियों को इस बात की धमकी दी गई कि यदि वे मत देंगे तो उनको देश से निकाल दिया जायेगा। प्रतिक्रियावादी और अक्टूबर के लोगों के लाभ के लिये उम्मीदवारों की सूचियाँ सरकारी तरीके से घुमाई गईं। दूसरे दलों को इस अपराध के लिये सजा दी गई कि उन्होंने अपने उम्मीदवार क्यों खड़े किये। नगरों में एक-चौथाई या एक-तिहाई मतदाताओं को मत-पर्चियाँ ही नहीं मिलीं। पोलिंग स्थानों की संख्या कम कर दी गई। मतदान के दिनों की घोषणा नहीं की जाती थी और यदि की जाती थी तो ठीक दिन नहीं बतलाया जाता था। किसानों को अपनी पंचायतों द्वारा वापस बुला लिया गया और धमकी दी गई कि यदि वापस नहीं हुए तो उन पर जुर्माना किया जायेगा। यह सब-कुछ उस दिन किया गया जब मत पड़ने वाले थे। सीनोड (राजसमिति) ने एक परिपत्र जारी करके पादरियों को निर्देश दिया कि निर्वाचन में खूब काम किया जाय और अपने अनुयायियों को ठीक मार्ग पर चलाया जाय और यह धमकी दी जाय कि जो लोग कहना नहीं मानेंगे उनसे ईश्वर नाराज होगा। जहाँ सम्भव हो, पादरी लोग भी निर्वाचन के लिये खड़े हों। कुछ नगरों में प्रतिक्रियावादी लोग मत-पर्चियाँ उड़ा ले गये। उन्होंने अपने विरोधियों को गिरफ्तार भी करवाया। इतनी तरकीबें करने पर भी विरोधी दल का बहुमत बन गया। कई क्षेत्रों में जान-बूझकर ऐसे उम्मीदवारों को निर्वाचित किया गया जिनको सरकार पसन्द नहीं करती थी। पच्चीस प्रान्तों के लगभग एक-तिहाई निर्वाचित प्रतिनिधियों को जेलों में धकेल दिया, देश से निकाल दिया या नौकरी से हटा दिया गया। डूमा के एक-चौथाई से ज्यादा सदस्यों को विभागीय दण्ड भोगना पड़ा। सोशल डेमोक्रेट लोग प्रथम निर्वाचन में अलग रहे थे, परन्तु अब उन्होंने पचास-साठ स्थान प्राप्त कर लिये।

द्वितीय डूमा—द्वितीय डूमा का अधिवेशन 5 मार्च सन् 1907 को हुआ। यह अधिवेशन थोड़े दिन ही रहा, परन्तु इसमें खूब तूफान मचा। स्थिति नाजुक उस वक्त हो गई जब सरकार ने यह हुक्म दिया कि सोशल डेमोक्रेट लोगों को डूमा से निकाल दिया जाय, क्योंकि वे सम्राट् के प्रति स्वामिभक्त नहीं हैं। इस आरोप की जाँच करने हेतु डूमा ने एक कमेटी नियुक्त की, परन्तु मंत्रिमंडल अपना कर्त्तव्य-मार्ग पहले ही निश्चित कर चुका था। 16 जून को डूमा भंग कर दी गई। यद्यपि डूमा की अनुमति के बिना निर्वाचन के कानून में कोई संशोधन नहीं हो सकता था, तो भी सरकार ने नया निर्वाचन-कानून घोषित कर दिया। देश के जिन भागों से विरोधी दल के उम्मीदवार निर्वाचित हुए थे वहाँ स्थान कम कर दिये। जनता के कई वर्गों

के मताधिकार छीन लिये, और निर्वाचन-नियमों को इस प्रकार तोड़-मरोड़ डाला कि निर्वाचन-सत्ता भू-स्वामियों के हाथ में चली गई।

तीसरी डूमा—जब तीसरी डूमा का निर्वाचन हुआ तो नतीजा यह रहा कि इसके 14 नवम्बर सन् 1907 के अधिवेशन के समय अक्तूबर वालों की संख्या 153 थी और केडेटों की संख्या घटकर 54 रह गई थी। इस डूमा ने सबसे बड़े महत्त्व का काम यह किया कि किसानों को भूस्वामियों की पंचायतों से मुक्त करके व्यक्तिश: जमीन का मालिक बना दिया और सामूहिक स्वामित्व खतम कर दिया। सन् 1912 में पाँच वर्ष बाद डूमा का अवधि-काल समाप्त हो गया। इसलिए यह तीसरी डूमा खतम हो गई।

चौथी डूमा—इसके बाद जब आम चुनाव हुए तो सेन्टर की, जिसमें नेशनलिस्ट और आक्टोब्रिस्ट्स (अक्तूबर वाले) थे, भारी हार हुई और पादरियों की सरगरमी के कारण, जिन्होंने निर्वाचन में बहुत काम किया था, राइट (नरम दल) की विजय हुई। इसलिये डूमा का स्वरूप प्रतिक्रियावादी बन गया, क्योंकि इसमें 155 राइट सदस्य थे और आक्टोब्रिस्ट्स और केडेट क्रमश: 132 और 52। अब आक्टोब्रिस्ट्स लोगों के रुख में परिवर्तन प्रकट हुआ। अब तक तो वे सरकार के साथ थे, परन्तु जब सरकार ने अक्तूबर सन् 1905 की घोषणा को कार्यान्वित नहीं किया तो वे विरोधी दल में शामिल हो गये। हम देख चुके हैं कि इस घोषणा में सरकार ने वचन दिया था कि गैर-कानूनी ढंग से किसी व्यक्ति को गिरफ्तार नहीं किया जायेगा, धर्म के विषय में आजादी होगी, भाषण में स्वतन्त्रता दी जायगी, सभा आदि करने में कोई रोक नहीं होगी, पार्लियामेंट के निर्वाचन की आजादी होगी और शासन-संचालन में असाधारण कानून का उपयोग नहीं किया जायेगा। सन् 1916 में एक प्रगतिशील मोर्चा बना, जिसका ध्येय था उन लोगों के हाथ मजबूत करना जो जनतंत्रात्मक स्वतंत्रता के विचारों को, जिन पर पश्चिमी जीवन का आधार था, रूस में प्रचलित करना चाहते थे।

सुधार-आन्दोलन का अन्तिम अध्याय—क्रान्ति—हमने रूस के सुधार-आंदोलन के सौ वर्ष के इतिहास की रूपरेखा दी है। इसके साथ उन लोगों की सहानुभूति थी जिनको यह विश्वास था कि स्वतन्त्र पार्लियामेंट्री संस्थाओं के द्वारा रूसी कौम के प्रगतिशील नागरिकों को आगे बढ़ने के लिये क्षेत्र मिलेगा और यहूदियों पर से लज्जाजनक पाबन्दियों[1] के टूट जाने और फलस्वरूप उनको सभ्य मानव के अधिकार मिल जाने से तथा पोलैण्ड और फिनलैन्ड को अपनी स्वतन्त्रता फिर प्राप्त हो जाने से रूस कमजोर नहीं, बल्कि बलवान होगा। एक रूसी विद्वान् ने अपने देश के शिक्षित वर्ग

1. देखो एल० वुल्फ, 'दी लीगल सफरिंग्ज आफ दी ज्यूज इन रशा।'

के उदार दृष्टिकोण को इस प्रकार प्रकट किया है कि ज्योंही यह मान लिया जायगा कि रूस के हित और स्वाभिमान के लिए शासन और स्वातन्त्र्य दोनों की जरूरत है और इनके मिलन का आधार कानून ही हो सकता है, त्योंही इस कौम के प्रश्नों का हल हो जायगा। संसार के भाग्य के साथ इस राष्ट्र का भी भाग्य बँधा हुआ है। लेकिन जार की अंधी सरकार ने जमाने को नहीं पहचाना और मौका हाथ से खो दिया, जिससे सुधार-आन्दोलन ने क्रान्ति का रूप धारण कर लिया। इस क्रान्ति ने राजसत्ता का ही नहीं, रूसी समाज के आकार-प्रकार का भी अन्त कर दिया।

अध्याय 4

जातीय और वैधानिक समस्याएँ—आस्ट्रिया-हंगरी

हेब्जबर्ग राजवंश का स्वरूप—उन्नीसवीं शताब्दी के आस्ट्रिया-हंगरी का इतिहास यूरोप के अन्य देशों से अधिक पेचीदा है। इसके विकास में कोई ऐसा स्थायी तत्त्व नहीं है जैसा इटली और जर्मनी के इतिहास में दिखाई देता है। न इसके इतिहास में एकता है और न सामंजस्य। इसका मुख्य कारण यह है कि आस्ट्रिया राष्ट्र नहीं था। यह एक राजयंत्र था। इसमें अनेक जातियाँ निवास करती थीं और जितनी जातियाँ थीं, उतनी ही इस देश में समस्याएँ थीं। लेकिन एक दृष्टि से इसके इतिहास में विचित्रता है। दूसरे साम्राज्य तलवार के बल पर या उपनिवेशों के आधार पर खड़े किये गये हैं, लेकिन आस्ट्रिया के साम्राज्य का आधार था विवाह-सम्बन्ध। इसकी नींव तेरहवीं शताब्दी में पड़ी थी जब हेब्ज़बर्ग का काउंट, रूडोल्फ प्रथम, होली रोमन एम्पायर का सम्राट् निर्वाचित हुआ। उसने अपने राज्य में आस्ट्रिया, स्टाइरिया, कैरिंथिया और कारनिओला नामक देशों को मिला लिया और उसके उत्तराधिकारी ने हंगरी और बोहेमिया को भी हथिया लिया। अपने कार्यकाल में हेब्जबर्ग के राजवंश ने दूसरे देशों को हड़पने की कुशल नीति का निरन्तर अनुसरण किया, और अपने शाही दबदबे का उपयोग करके वंशानुगत राज्य का विस्तार किया। इसके शासन में जर्मनी का राष्ट्रीय विकास सदियों तक रुका रहा। जब-जब जर्मनी में राजनीतिक एकता को दृढ़ करने का प्रयास किया गया तो हेब्जबर्ग के राजवंश ने इसमें रुकावट डाली। इस बात की भी कोशिश की गई कि जर्मनी में जो हिस्से आस्ट्रिया के हैं उनको जर्मनी से अलग कर दिया जाय। जर्मनी पहले ही अनेक सामन्ती राज्यों का एक शिथिल-सा समूह था, आस्ट्रिया ने अपनी भेद-नीति और भेद-सिद्धान्त जारी करके इस समस्या को और अधिक जटिल बना दिया। जब उन्नीसवीं शताब्दी का आरम्भ हुआ तो हेब्जबर्ग राजवंज ने देखा कि उसको एक दोहरी समस्या का सामना करना है। एक ओर तो उसको जर्मनी के मामलों में अपना आधिपत्य बनाये रखने के लिये प्रयत्न करना था—ऐसा आधिपत्य जिसका पिछली पाँच सदियों में किसी ने विरोध नहीं किया था—परन्तु अब प्रशिया की उदीयमान शक्ति उसको चुनौती दे रही थी। दूसरी ओर उसको साम्राज्य के प्रकीर्ण भागों को एक सूत्र में बाँधना था, क्योंकि इस प्रकीर्णता के कारण यह भय था कि कहीं साम्राज्य नष्ट न हो जाये। फ्रांसिस द्वितीय ने एक बार कहा था कि मेरा राज्य एक ऐसे घर के समान है जिसको कीड़े खा गये हों। अगर इसका एक भाग खिसक गया तो कोई नहीं कह सकता कि फिर यह

कितना गिर पड़ेगा। आस्ट्रिया और प्रशिया के बीच जर्मनी में आधिपत्य स्थापित करने के लिए जो संघर्ष चल रहा था उसका वर्णन हम पहले ही कर चुके हैं। अब हम आस्ट्रिया की विभिन्न जातियों के आंतरिक विकास का विवेचन करेंगे।

मेटरनिक की घरेलू नीति—दो हजार से अधिक वर्ष पहले हैसियोड नामक एक कवि ने आँसू बहाते हुए कहा था कि "या तो संसार में मेरा जन्म समय से पहले हो गया या बहुत देर में हुआ।" इसी से मिलती-जुलती बात मेटरनिक ने कही, "यदि मेरा जन्म जल्दी हो जाता तो उस युग का आनन्द लूटता और यदि देर से होता तो मैं उसका पुनर्निर्माण करता, परन्तु आज मेरा सम्पूर्ण जीवन एक जीर्ण-शीर्ण इमारत के टेका लगाने में व्यतीत हो रहा है।"[1] वह इस बात को स्वीकार करता था कि आंतरिक प्रबन्ध में उसका मुख्य साधन निरोध था। उसके शाही कार्यक्रम के आरम्भ और अन्त में एक ही बात थी, अर्थात् शासन करो और कोई परिवर्तन मत करो। एक अंग्रेज राजनीतिज्ञ मे बातचीत करते हुए मेटरनिक ने कहा था कि हम निरोध सिद्धान्त का प्रतिपालन करते हैं ताकि हमको विवश होकर फिर दमन न करना पड़े। हमको यह दृढ़ विश्वास है कि यदि सरकार ने कोई रियायत की तो वह अपने अस्तित्व को अवश्य ही कमजोर करेगी, क्योंकि जो रियायत की जाती है उससे सरकार के अधिकारों में कमी आती है। शासक को रियायत करते समय सोचना चाहिए कि वह अपने अस्तित्व पर कुठाराघात तो नहीं कर रहा है। इस प्रकार की आंतरिक स्थिति ने मेटरनिक को इस बात पर विवश किया कि आस्ट्रिया को रूढ़िवाद का गढ़ बना दिया जाय और यूरोप में उस समय होने वाली प्रगतियों में रोड़ा अटकाया जाय। वह साम्राज्य के सम्पूर्ण साधनों का उपयोग यावज्जीवन क्रान्तिकारी असन्तोष के साथ संघर्ष करने के निमित्त करना चाहता था। वह बहुत दूरदर्शी था, इसलिये समझता था कि अपने देश में दमन-नीति का अनुसरण करते हुए यह सम्भव नहीं था कि जर्मनी में या अन्यत्र स्वतन्त्रता के आन्दोलन को प्रोत्साहन दिया जाय। रूस के सम्राट् अलेग्जेंडर ने ऐसी नीति का उपयोग किया था, परन्तु इसका परिणाम पोलैण्ड के प्रान्तों पर हानिकारक सिद्ध हुआ। आस्ट्रिया के चांसलर ने आखीर तक अपने सिद्धान्तों का उपयोग किया। वह क्रान्ति को एक प्रकार की नास्तिकता मानता था। इसलिये उसका साथ देकर वह कलंकित नहीं होना चाहता था। अतः आस्ट्रिया और यूरोप में जो राज्य जमे हुए थे, उनको ज्यों के त्यों बनाये रखने के लिये उसने अपने लिये जो मार्ग निश्चित किया था उससे वह विचलित नहीं हुआ।

आस्ट्रियन राष्ट्र की अचलता – यूरोप में यह कहावत प्रसिद्ध थी कि एशिया का आरम्भ लैंड्स ट्रेस से होता है।[2] मेटरनिक को यह कहावत खूब पसन्द थी। यह

---

1. मेमोयर्स, iii, 395। 2. वियना का एक हवाली शहर।

सूत्र रूप में प्रकट करती थी कि आस्ट्रियन राष्ट्र में एशिया जैसी उदासीनता और प्रमाद है। हेब्जबर्ग राजवंश के शासन-काल में वैधानिक सरकार के सिद्धान्तों की कोई प्रगति नहीं हुई। फ्रांसिस कहता था, "मेरे पास भी राज्य हैं। उनके विधान की रक्षा मैं करता हूँ। मैं उनको कोई कष्ट देना नहीं चाहता। अगर वे कुछ उछल-कूद करते हैं तो मैं उन्हें अँगुली दिखाता हूँ और कहता हूँ, चलो घर जाओ।" जिस समय स्वाधीनता-संग्राम के प्राणप्रद प्रभाव से जर्मनी की नाड़ी उछल रही थी उस समय आस्ट्रिया की जनता में कोई क्षोभ उत्पन्न नहीं हुआ और उसका जीवन-प्रवाह पूर्ववत् चलता रहा। प्रशिया की नीति का अनुकरण करके और प्रबन्ध में सरगर्मी दिखाकर वैधानिक सुधार जारी करने के लिये कोई प्रयत्न नहीं हुआ। सरकार ने राजकर्मचारियों को हिदायत की कि न तो सुधार-कार्यों में आगे बढ़ें और न अपनी ओर से उसको प्रोत्साहन दें। इस प्रकार राष्ट्र की भारी मशीन ठप्प-सी पड़ी हुई थी। नौकरशाही में जो खराबियाँ होती हैं उन सबसे आस्ट्रिया ग्रस्त था। जब सरकार में कुशलता नहीं होती और जनता की आलोचना के द्वारा शक्ति और प्रकाश प्राप्त करके भी वह कुशलता सम्पादन नहीं करती तो ऐसा ही हुआ करता है। सरकार के विभिन्न विभाग अर्थात् स्टेट कान्फ्रेन्स, स्टेट कौंसिल और प्रेसिडेन्ट्स आफ दी कोर्ट आफ जस्टिसेज मिल कर काम करने के बजाय सब अपना-अपना स्वर अलापते थे। आस्ट्रिया की सरकार की दशा वास्तव में उस समय ऐसी थी जैसे किसी गड्ढे में पानी भरा हुआ हो और वह सड़ रहा हो। जब किसी सुधार या परिवर्तन की बात चलती तो बड़े जोर के साथ उसका विरोध किया जाता था। ऐसी अवस्था में उद्योग या वाणिज्य कोई उन्नति नहीं कर सकता था। शिक्षा केवल नाम मात्र की थी। कुछ प्राथमिक पाठशालाएँ अवश्य चल रही थीं, परन्तु उच्च शिक्षा तो मानो ऊँघ रही थी। फ्रांसिस कहता था, "जो मेरी सेवा करता है, उसको सिर्फ वही शिक्षा दी जाय जिसके लिये मेरा आदेश है।" विश्वविद्यालयों के अध्यापन पर पुलिस का कड़ा नियन्त्रण था। सरकारी मामलों पर किसी को भी अपने विचार प्रकट करने का अवसर नहीं दिया जाता था। मेटरनिक का यह सिद्धान्त था कि यदि स्वतन्त्र प्रेस सरकार की टीका-टिप्पणी करता रहे और उससे सरकार कमजोर होती जाये, तो फिर यह कैसे सम्भव है कि किसी मार्ग का दृढ़ और अचल रूप से अवलम्बन किया जा सके।

1848 **की क्रान्ति के कारण**—मेटरनिक सिद्धान्त में यह मौलिक निर्बलता थी कि इसके द्वारा उसका दुःख-दिवस केवल कुछ समय के लिए रुक गया, वह टल नहीं सका। इसने लोगों पर यह प्रकट किया कि आस्ट्रिया में एकता है, परन्तु यह केवल थोथे दिखावे की बात थी और जो किया वह असन्तोष के कारणों को हटाकर नहीं किया गया और इसलिये असली व्याधि का इलाज नहीं हुआ। यह काम असन्तुष्ट तत्त्वों को बलपूर्वक शान्त करके किया गया। क्रान्ति की शक्तियाँ यों तो छिपी हुई थीं, लेकिन धरातल के नीचे वे धीरे-धीरे निरन्तर बल प्राप्त कर रही थीं। 1818

में वे ज्वालामुखी पर्वत की भांति बड़े वेग और जोर से फट पड़ीं। इस वेग के जोर का कारण यह था कि वे बहुत अर्से से दबी हुई थीं। ये दबी हुई शक्तियाँ कई प्रकार की थीं और इनमें भारी विचित्रता थी। इसलिए यह आवश्यक है कि सन् 1848 की क्रान्ति के कारणों को अलग करके दिखाया जाय।

1. **बौद्धिक असन्तोष**—पहली बात यह है कि स्वाधीनता के विचारों को रोकने के लिए सरकार ने जो प्रयत्न किया वह कुछ सीमा तक ही सफल हो सका। कार्ल मार्क्स ने लिखा था कि "जहाँ-जहाँ आस्ट्रिया के राज्य की सीमाएँ सभ्य देशों से मिलती हैं वहाँ-वहाँ जकात के अफसरों के साथ-साथ साहित्यिक सेंसर भी बिठा रखे हैं, जिनका काम है किसी विदेशी ग्रन्थ या पत्र को आस्ट्रिया में प्रवेश करने से रोकना। प्रत्येक पुस्तक को दो-तीन बार खूब छानबीन करके देखा जाता था और जब यह विश्वास हो जाता था कि इस युग की किसी दूषित भावना से तो इसके पन्ने कहीं रंगे हुए नहीं हैं तब उसको आस्ट्रिया में ले जाने की इजाजत दी जाती थी। फिर भी यह बात असम्भव थी कि प्रगतिशील साहित्य को अन्दर घुमने ही न दिया जाये। सरकार ऐसे साहित्य को एक प्रकार का निषिद्ध अंग मानती थी। इसलिये शिक्षित वर्ग इसकी ओर अधिक लपकता था और उस पर इसका प्रभाव खूब पड़ता था। विश्वविद्यालय बौद्धिक असन्तोष के केन्द्र थे और असन्तोष के विभिन्न तत्त्वों को प्रबल प्रेरणा प्रदान किया करते थे। ऊपर-ऊपर आस्ट्रिया, मेजिनी के शब्दों में, चीन की अचलता के सिद्धान्त को प्रकट करता था, लेकिन एक तत्कालीन लेखक ने इसका चित्र इस प्रकार खींचा है, "भूगर्भ में ऐसी प्रगति चल रही है जो मेटरनिक के सब प्रयासों को छका देगी। व्यापारी वर्ग का धन और प्रभाव दोनों बढ़ रहे हैं। मशीन और वाष्प-शक्ति के द्वारा माल तैयार किया जा रहा है। इससे जिस प्रकार अन्य देशों में उथल-पुथल हुई है उसी प्रकार आस्ट्रिया में भी समाज के सम्पूर्ण वर्गों की दशा में और पारस्परिक सम्बन्धों में बड़ा हेर-फेर हो गया है। दास उन्मुक्त होकर स्वतन्त्र नागरिक बन गये हैं। क्षुद्र कृषक कारखानों के मालिक बन गये हैं। सामन्ती व्यापारिक तंत्रों की जड़ उखड़ गई है। अनेक लोगों के जीवन-निर्वाह के साधन नष्ट हो गये हैं। इस नये व्यापारिक वर्ग का पुरानी सामन्ती संस्थाओं से जहाँ-तहाँ संघर्ष हो रहा है। मध्यम वर्ग के लोग अपने काम के लिये विदेशों की यात्रा करते हैं और विदेशों के सम्बन्ध में एक प्रकार का रहस्यमय ज्ञान प्राप्त करके अपने देश को लौटते हैं। रेलों के जारी होने से औद्योगिक और बौद्धिक प्रगति तेज हो गई है। आस्ट्रिया के राष्ट्र में एक खतरनाक तत्त्व भी था। यह था हंगरी का सामन्ती विधान। इसके अनुसार पार्लियामेंट के ढंग से काम होता था। गरीब सामन्त, सरकार के साथ और उनके साथियों के साथ तथा बड़े-बड़े धनवानों के साथ संघर्ष करते थे। हंगरी की डाइट का स्थान प्रेसबर्ग था जो वियना के फाटक के पास ही स्थित था। इन तमाम तत्त्वों के कारण नगर के मध्यम वर्ग में असन्तोष

की भावना उत्पन्न होती थी। इसको केवल असन्तोष की ही भावना कहना चाहिए, विरोध की नहीं, क्योंकि अभी विरोध असम्भव था। लोगों में सुधार की अभिलाषा थी। सुधार शासन का चाहा जाता था, वैधानिक ढंग का नहीं। सुधारों के प्रस्तावों में कोई हानिकारक बात प्रतीत नहीं होती थी, बल्कि ऐसा जान पड़ता था कि उनमें राजनीति को तो अभी किसी ने छुआ भी नहीं है। अभी आस्ट्रिया में विधान और स्वतन्त्र प्रेस की प्राप्ति की कोई बात ही नहीं थी। शासन में सुधार, प्रान्तीय डाइटों के अधिकारों का विस्तार, विदेशी ग्रन्थों और पत्रों के प्रवेश और सेंसर में कमी, बस इतनी ही आस्ट्रिया की जनता की विनम्र अभिलाषा थी। इससे आगे गरीब लोग बढ़ना भी नहीं चाहते थे।[1]

किसानों का असन्तोष—इस परिस्थिति में राजनीतिक सुधारों की अभिलाषा का ही सबसे अधिक महत्व नहीं था। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि सांस्कृतिक जागृति के बिना क्रान्ति नहीं हो सकती। मनुष्य दासों की भाँति उदासीनता और उपेक्षा के साथ हुकूमत की आज्ञा माना करते हैं। इस प्रकार की उपेक्षा को भंग करने और जागृति उत्पन्न करने के लिए बौद्धिक प्रेरणा की आवश्यकता हुआ करती है। और यह बात भी सत्य है कि आर्थिक संकट के बिना क्रान्ति नहीं हो सकती। अधिकांश लोग स्वभावतः रूढ़ियों को मानते रहते हैं। जब आर्थिक संकट का झटका लगता है तब उनकी निद्रा भंग हुआ करती है। सन् 1848 में आस्ट्रिया के आन्दोलन को शक्ति और प्रेरणा किसानों के असन्तोष से प्राप्त हुई थी। किसान लोग अपने को सामन्तों की दासता से मुक्त करना चाहते थे। क्रान्ति में उनका कितना महत्व था, यह इस बात से प्रकट होता है कि ज्यों ही उनके कष्ट मिटे त्यों ही बलवा एकदम बन्द हो गया। सरकार चालू काम में लगी रहती थी और सुस्त तथा निष्क्रिय थी, इसलिए वह किसानों की आर्थिक आपदाएँ दूर नहीं कर सकी। जब गेलेशिया-निवासी पोलैण्ड के सामन्तों ने आस्ट्रिया के खिलाफ बलवा किया तो सरकार किसानों की दशा सुधार सकती थी, परन्तु उसने कुछ नहीं किया और एक बढ़िया मौका अपने हाथ से खो दिया। यह बलवा किसानों की सहायता से दबा दिया गया। ये लोग समझते थे कि अपने घृणित मालिकों से बदला लेने का यह अच्छा अवसर आया है। किसान समझते थे कि अब उनको सामन्ती करों से छुटकारा मिल जायगा। परन्तु सरकार ने स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं किया जिससे उनको घोर निराशा हुई। किसानों के असन्तोष से सरकार के शत्रुओं के हाथ में ऐसा शस्त्र आ गया जिसका उन्होंने खूब लाभ उठाया। इन राजनीतिक और आर्थिक कारणों के मिल जाने से ऐसी स्थिति बन गई जिसका मुकाबला नहीं किया जा सकता था।

मेटरनिक का पतन—फ्रांस में ओरलियन राजवंश के हटते ही ऐसा जान

1. जे० मेजिनी, इटली, आस्ट्रिया एंड दी पोप, (1845), 22।

पड़ने लगा कि वियना में बलवा होने वाला है। विश्वविद्यालयों ने इस आन्दोलन का नेतृत्व किया। 12 मार्च को दो प्रोफेसरों ने सम्राट् के सामने एक आवेदनपत्र पेश किया। दूसरे दिन जनता के एक शिष्ट मण्डल ने जनता की पुकार सुनाई कि वैधानिक शासन स्थापित होना चाहिए। बाजारों में नागरिकों की भीड़ के ठट्ठ लगे हुए थे। क्रान्ति की आग धधकाने के लिए केवल एक चिनगारी की आवश्यकता थी। इसमें कोई अधिक देर नहीं लगी। जैसा प्रायः हुआ करता है, लोगों की सेना के साथ भिड़न्त हो गई और मार-पीट शुरू हो गई। कुछ लोगों के मारे जाने से गहरी उत्तेजना हो गई, जिसके कारण राजधानी में अराजकता फैल गई। यद्यपि मेटरनिक ने शासक के हितों की बड़ी सेवा की थी, तो भी इस समय सम्राट् ने उसका साथ नहीं दिया। अतः उसको अपना पद त्यागना पड़ा और देश छोड़कर अपने प्राणों की रक्षा करनी पड़ी। राजनीतिज्ञ की दृष्टि से उसमें बड़े-बड़े दोष थे। उसका नाम प्रतिक्रियावाद के साथ संबद्ध था, जिसने एक पुश्त तक यूरोप के वैज्ञानिक विकास में अड़चनें डाली थीं। इसलिए हम उसके गुणों को संतुलन के साथ नहीं देख सकते हैं। फिर भी उसका एक काम ऐसा है जिसके कारण उसकी हमेशा कीर्ति बनी रहेगी। उसने अपने कार्यकाल में इस बात की कोशिश की कि यूरोप में सदा शान्ति बनी रहे। नेपोलियन के युद्धों के कारण जो संसार खून से लथपथ हो रहा था उसको उसने कुछ आराम पहुँचाया। इस लोहूलुहान जगत् को उस समय आराम की बड़ी ही जरूरत थी। वयोवृद्ध चान्सलर का पतन क्रांति की प्रथम सफलता थी। फिर बड़ी शीघ्रता से उसकी विजय पर विजय होती गई। आस्ट्रिया की सरकार का पतन इतना जल्दी हो गया कि सबको अचम्भा होने लगा। शाही हुक्म द्वारा बड़ी-बड़ी रियासतों की घोषणा की गई। इसमें विधान जारी करने का वचन दिया गया और साथ ही प्रेस को आजादी दे दी गई और नेशनल गार्ड की नियुक्ति कर दी गई और साम्राज्य की प्रान्तीय डाइटों का एक संयुक्त अधिवेशन भी बुलाया गया। चौबीस नागरिकों की एक कमेटी वियेना का प्रबन्ध करने लगी। इसका शासन नेशनल गार्ड और एकेडेमिक लीजन की सहायता से चलता था। ये सैनिक संस्थाएँ विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों से बनी हुई थीं। मंत्रिमंडल ने संयुक्त अधिवेशन की प्रतीक्षा न करके 25 अप्रैल को नया विधान जारी कर दिया।

नया विधान—यह प्रतिष्ठित नागरिकों के सामने पहले ही प्रस्तुत किया जा चुका था और जाँच से भी मालूम हो गया था कि इसमें सब बातों का समावेश हो गया है। विधान में घोषणा की गई कि आस्ट्रिया के राज्य की एकता अविभाज्य है। इसमें ट्रांसलेथानियन प्रदेश अर्थात् हंगरी, क्रोशिया और ट्रांसिल्वेनिया को छोड़कर समस्त हेब्जबर्ग साम्राज्य शामिल रहेगा। इस विधान ने शासन की निरंकुश प्रणाली को वैज्ञानिक राजतन्त्र में बदल दिया, जिसका आधार था नागरिक और धार्मिक स्वतन्त्रता के अधिकार। प्रान्तीय डाइटों को तो खतम नहीं किया, परन्तु

एक जनरल पार्लियामेंट बना दी गई, जिसमें दो सदन थे। मंत्रियों के उत्तरदायित्व का सिद्धान्त भी मजूर कर लिया गया। यह विधान कई दृष्टियों से काफी आगे बढ़ा हुआ था, तो भी इससे लोगों में सर्वत्र असंतोष ही हुआ। वियना के जनतन्त्र ने कहा कि हमें इस विचित्र और सामन्ती विधान से कुछ मतलब नहीं है। हमको यह निर्वाचन कानून भी नहीं चाहिए जो प्रान्तों के प्राचीन विभाजन पर खड़ा किया गया है। जब केन्द्रीय राजनीतिक कमेटी (Central Political Committee) को भंग करने की कोशिश की गई तो 25 मई को फिर बलवा हो गया। यह कमेटी एक जनतन्त्रात्मक सगठन था, जो शनैः-शनैः सरकार के हाथ से हुकूमत हड़पता जाता था। इस तूफान के सामने सरकार को सिर झुकाना पड़ा। केन्द्रीय राजनीतिक कमेटी तो पुनः स्थापित कर ही दी, परन्तु इसके अतिरिक्त जनतन्त्रात्मक ढंग पर विधान में भी संशोधन किया गया। मताधिकार सबको दे दिया और पार्लियामेन्ट में दो चेम्बरों के स्थान पर केवल एक ही चेम्बर रहने दिया। जनता ने दबाव डालकर जो रियायतें हथियाईं, उनसे सम्राट को बड़ा क्रोध आया, उसने समझा कि उसकी जान पर खतरा है, इसलिए वह वियेना से इन्सवर्ग को भाग गया। उसके पीछे सामन्त लोग और मध्यमवर्ग के लोग भी वहीं चले गये। क्रान्ति के विरोधियों के लिए यह शरणस्थान था। यहाँ ये लोग बिल्कुल सुरक्षित थे। यहाँ उनको न कोई देखता था और न उन पर किसी का नियन्त्रण था। यहाँ ये लोग अपनी बिखरी हुई शक्तियों को जुटाकर और सुधारकर फिर देश-भर में षड्यन्त्रों का जाल बिछा सकते थे। रेडेट्जकी, जेलेशिया और विन्डिसग्राट्ज (Radetzky, Jellacia and Windischgrantz) के साथ पत्र-व्यवहार जारी हुआ और स्लेवोनिक सरदारों के साथ प्रपंच-व्यवस्था होने लगी। इस प्रकार क्रान्ति-विरोधी केमेरिला (Camerilla) के पास अच्छी और वास्तविक शक्ति बन गई। इस समय उधर वियेना में मंत्री लोग क्रान्तिकारियों से लड़-झगड़ रहे थे और अपनी रही-सही लोकप्रियता को भी क्षीण करते जाते थे। इस प्रकार राजधानी में प्रगति को अलग छोड़ देने की नीति प्रतिक्रियावादियों की शक्ति को पुनः संगठित करने का बहुत अच्छा साधन था। यदि ऐसी नीति का फ्रांस जैसे केन्द्रीय देश में उपयोग किया जाता तो वह देश सर्व-शक्तिमान बन जाता, परन्तु कार्ल मार्क्स के शब्दों में, आस्ट्रिया तो विभिन्न तत्त्वों का राजनीतिक पिटारा था, इसलिए इस नीति ने प्रतिक्रिया की शक्तियों को पुनः संगठित करने में सहायता दी।

जनरल डाइट का अधिवेशन—सम्राट् के भाग जाने के कुछ दिन बाद मंत्रि-मंडल ने एकेडेमिक लीजिन को भंग करने का प्रयास करके अपनी अयोग्यता का परिचय दिया। यह लीजिन क्रान्ति का मुख्य स्रोत था। अतः मंत्रिमंडल की कोशिश विफल रही, जिससे उसकी रही-सही हकूमत भी खतम हो गई। परिणाम यह हुआ कि जनरक्षा कमेटी (Committee of Public Safety) नामक एक नई कमेटी बन

गई और प्रबन्ध का सारा काम उसने अपने हाथ में लिया। 22 जुलाई को जनरल डाइट का अधिवेशन शुरू हुआ। निर्वाचन बालिग मताधिकार के आधार पर हुए थे। इसलिए स्लाव (Slav) तत्त्वों का आधिपत्य था और जर्मन डेमोक्रेट लोग अल्प संख्या में थे। क्रान्ति की वैधानिक समस्याएँ आस्ट्रिया के राजनीतिज्ञों को परेशान करने के लिए पहले ही काफी गंभीर थीं, परन्तु अब जटिल कौमी प्रश्नों के खड़े हो जाने से वे और अधिक पेचदार बन गईं। हम आगे चलकर बतलायेंगे कि हंगरी का आन्दोलन क्यों विफल हुआ। कारण यह था कि वहाँ मेगर (Magyar) लोग ऐसी दूसरी जातियों के साथ झगड़ों में फँस गये जो आस्ट्रिया में निवास करती थीं। आस्ट्रिया की रेशेटेग (Reichstag) के पार्लियामेन्ट अखाड़े में प्रतिद्वन्द्वी कौमों के झगड़ों ने यह प्रकट कर दिया कि जर्मन और स्लाव लोगों में कितना गहरा आपसी द्रोह है। प्रतिक्रियावादी शक्तियों को उन झगड़ों से खूब सहायता मिली जो कौमी शिविरों में चल रहे थे।

परस्पर-विरोधी राष्ट्रीय आकांक्षाएँ—जर्मनी में एक राष्ट्रीय प्रगति चल रही थी। लोग चाहते थे कि एक संयुक्त देश की रचना की जाये और एक व्यक्ति की अध्यक्षता में जर्मनी के बिखरे हुए तत्त्वों को एकत्र कर दिया जाये। वे चाहते थे कि आस्ट्रिया जर्मनी में विलीन हो जाये। उन्होंने इस बात की माँग की थी कि आस्ट्रिया के प्रतिनिधियों को फ्रेंकफर्थ असेम्बली में स्थान मिले, परन्तु इस प्रकार का जोश केवल जर्मन डेमोक्रेट्स में ही था। आस्ट्रिया के जर्मन प्रान्तों को यह अभिलाषा नहीं थी और सरकार तो यह बात चाहती ही नहीं थी कि हेब्जबर्ग राजवंश की एकता और मौलिकता में किसी प्रकार का फर्क आए। तो भी सबसे अधिक विरोध आस्ट्रिया की स्लाव जातियों का था। बोहेमिया के चेक लोग नहीं चाहते थे कि सिसलेथेनियन आस्ट्रिया जर्मन साम्राज्य में मिला लिया जाय, क्योंकि ऐसा करने से उनकी सब राष्ट्रीय आशाओं का अन्त हो जाता। बोहेमिया इस बात को नहीं भूला था कि कभी वह भी स्वतन्त्र राज्य था और उन परम्पराओं को उसने अब भी छाती से लगा रखा था। वह जर्मन आधिपत्य से ईर्ष्या करता था और ऐतिहासिक अधिकारों के आधार पर प्रयास करता था कि कम से कम प्रबन्ध के विषय में उसको स्वराज्य मिल जाये। जर्मन लेखकों का यह भी कहना था कि भविष्य में बोहेमिया जर्मनी के एक हिस्से के रूप में रहेगा। हाँ, इतना हो सकता है कि उसके कुछ निवासी कुछ शताब्दियों तक गैर-जर्मन भाषा का उपयोग करते रहें। लेकिन चेक लोगों का नेता पेलेकी (Palackay) एक बहुत बड़ा इतिहासकार था। उसके नेतृत्व में उन लोगों ने जर्मन राज्य में विलीन होने से इन्कार किया। सन् 1848 से पहले ही चैक भाषा को पुनर्जीवित करके और स्लेवोनिक प्राचीनताओं का अध्ययन करके राष्ट्रीयता की सुषुप्त भावना को जागृत किया जा रहा था। अब इस भावना के उदय होने का एक और कारण मिला।

आस्ट्रियन साम्राज्य की दो प्रधान कौमें—जर्मन और मेगर—इस बात से भड़क उठीं कि उन पर एक प्रकार का अतिक्रमण हो रहा है। जून सन् 1848 में जब फ्रेंकफर्थ में जर्मन असेम्बली का अधिवेशन हो रहा था तो स्लाव लोगों ने प्राग में अपनी एक कांग्रेस का अधिवेशन किया। यह फ्रेंकफर्थ का जवाब था। यह कहना कठिन है कि स्लाव जाति की बिखरी हुई आशाओं को एकत्र करके ये लोग स्लावोनिक संघ बनाने का स्वप्न देख रहे थे या नहीं, फिर भी जोशीले स्लाव लोगों की अदूरदर्शिता के कारण उनके विरोधियों को अच्छा बहाना मिल गया। उनको स्लाव जाति को पुनर्जागृत करने की प्रगति में रूसी निरंकुशता का भय और आभास होने लगा। परन्तु प्रत्यक्षतः यह आशंका निर्मूल थी। बोहेमिया आस्ट्रियन राज्य में एक अलग हिस्से के रूप में रहने के लिए तैयार था, परन्तु यह चाहता था कि उसका अलग अस्तित्व स्वीकार किया जाय। वह जर्मन राज्य में मिलाये जाने का घोर विरोध करता था। इस प्रकार एक तरफ तो जर्मन लोग चाहते थे कि आस्ट्रिया जर्मनी में मिल जाय या कम से कम उनका वहाँ आधिपत्य बना रहे जो बहुत अर्से से बोहेमिया के चेक लोगों पर, स्टाइबेरिया के स्लोवन लोगों पर, और केरिन्थिया और कार्निओला पर बहुत अर्से से बना हुआ था। ट्रान्सलिथोनियन प्रान्तों को अर्थात हंगरी, क्रोशिया और ट्रान्सलवेनिया को वे मेगर लोगों को देने के लिए तैयार थे। दूसरी तरफ स्लाव लोग इस बात का विरोध करते थे कि इस लूट के माल को जर्मन और मेगर्स दोनों परस्पर बाँट लें। उनका कार्यक्रम था कि एक केन्द्रीय नौकरशाही राज्य के बजाय कौमी राज्यों का एक संघ बनाया जाय जिसमें तमाम कौमों को विकास के लिए पर्याप्त अवसर मिल सके।

बोहेमिया के आन्दोलन की असफलता—अभी तो ऐसा मालूम होता था कि चेक लोगों की महत्त्वाकांक्षाएँ पूरी होने वाली ही हैं। शाही दरबार की तो यह नीति थी ही कि एक जाति को दूसरी से भिड़ा दिया जाय। अब उन्होंने देखा कि कौमों में आपसी झगड़ा शुरू हो गया है तो उन्होंने प्रान्तों को राजधानी के विरुद्ध कर दिया। बोहेमिया को प्रोत्साहन दिया गया कि जर्मन आधिपत्य का विरोध करे। राजकुमार विन्डिसग्राड्स की अनुमति से, जो उस समय आस्ट्रिया की सेना का नायक था, बोहेमिया के प्रबन्धकों ने काउन्टपून के नेतृत्व में आस्ट्रिया के मन्त्रिमंडल के शासन को मानना बन्द कर दिया और स्वतन्त्र सरकार स्थापित कर दी। वियना के मन्त्रिमंडल ने तो इन कार्यवाहियों की निन्दा की, परन्तु सम्राट् ने इनकी मन्जूरी दे दी। लेकिन बोहेमिया में यह राष्ट्रीय आन्दोलन जल्दी ही खतम हो गया। प्राग में डेमोक्रेट लोगों का बलवा हो गया। उन लोगों ने वियना के उदाहरण का अनुसरण किया। वे लोग चाहते थे कि स्थिति उनके काबू में आ जाय। इससे बोहेमिया के आन्दोलन को क्षति पहुँची और वह खतम हो गया। प्राग का बलवा राजकुमार विन्डिसग्राड्स ने नगर पर बमबारी करके दबा दिया। बलवा करने वालों का खूब दमन हुआ। यह प्रतिक्रियावाद की

क्रान्ति पर प्रथम विजय थी। इससे प्रतिक्रियावाद को बहुत लाभ हुआ। सेना में आत्मविश्वास बढ़ गया और उसका उत्साह ऊँचा हो गया। इस घटना ने यह पाठ पढ़ाया कि बाजारों में दंगा करके जनतन्त्रीय बलवाई अजेय नहीं बन सकते हैं, अर्थात् उनको बहुत आसानी से दबाया जा सकता है। पेरिस, बर्लिन और वियना की क्रान्तिकारी घटनाओं का यूरोप के दिमाग पर जादू चढ़ गया था। यह प्राग की घटना ने भंग कर दिया, साथ ही इसके कारण कौमों की आपसी दुश्मनी और बढ़ गई। बोहेमिया ने अलग होने के लिए आन्दोलन किया। उसके दमन से जर्मन लोगों को बड़ी खुशी हुई और उन्होंने समझा कि यह उनकी बहुत बड़ी विजय है। स्लाव लोग अपना संघ स्थापित करना चाहते थे, जिसमें उनको सफलता नहीं मिली। अब आस्ट्रिया की सरकार वियना के जनतन्त्र के खिलाफ उनका उपयोग करने लगी। बोहेमिया के लोगों को यह विश्वास हो गया कि यदि जर्मनी का राष्ट्रीय आन्दोलन सफल हो जायेगा तो उनकी स्वाधीनता की आशा भी हमेशा के लिए खत्म-सी हो जायगी। इसलिए उन लोगों को उस दल की शरण में आना पड़ा, जिसके कारण उनका पतन हुआ था। उनको शायद यह भी आशा थी की बल-प्रयोग के द्वारा वे सरकार से कुछ नहीं ले सकेंगे। अब शायद कृतज्ञता के द्वारा उनको कुछ प्राप्त हो जाये। उनका यह अनुमान गलत था और उनका निराश होना अवश्यभावी था। फिर भी इससे प्रकट होता है कि स्लाव जाति के विरोधी लोग उनके आचरण की क्यों निन्दा करते थे। 22 जुलाई को जब वियना में आस्ट्रिया की विधान डाइट का अधिवेशन हुआ तो स्लाव लोगों के विरोधियों ने कहा कि आप लोगों का आचरण अत्यन्त निन्दनीय है। हम पहले देख चुके हैं कि डाइट में स्लाव प्रतिनिधियों का बहुमत था। अब उन्होंने अल्पसंख्यक जर्मन तत्वों के विरुद्ध एक प्रकार का संघर्ष जारी कर दिया। इस बात को सब स्वीकार करते थे कि जर्मन लोग क्रान्ति के हिमायती हैं, लेकिन 1848 की क्रान्ति में स्वाधीनता की शक्तियाँ दब गईं और कौमी शक्तियाँ अधिक बलवान हो गईं और जब इन दोनों में मुठभेड़ हुई तो क्रान्ति या स्वाधीनता की ही पराजय हुई। इन कौमी झगड़ों से लोहू-लुहान हो जाने के कारण विधान असेम्बली इस अद्वितीय अवसर का कुछ लाभ नहीं उठा सकी। आस्ट्रिया में यह प्रथम वैधानिक प्रयोग था, परन्तु इसमें घोर असफलता हुई। डाइट में बहुत अर्से तक बहसा-बहसी चलती रही। उससे एक नतीजा अवश्य निकला और यह स्थायी नतीजा था। वह यह था कि आस्ट्रिया के किसान सामन्तों की दासता से मुक्त हो गये। रेस्टाग (Reichstag) के सब दल इस बात पर सहमत थे कि बेगार खतम कर दी जाय। हाँ, सामन्त लोगों को कितना मुआवजा दिया जाय इस पर मतभेद था। सरकार इस बात पर जोर देती थी कि बेगार के खतम करने से सामन्तों को हानि उठानी पड़ेगी। अब वे किसानों से कोई सेवा नहीं करवा सकेंगे, इसलिये उनको मुआवजा देना चाहिए। डेमोक्रेटिक दल ने इसका विरोध किया, परन्तु फिर भी मुआवजा दिया गया।

वियना की क्रान्ति का अन्त—इसी अर्से में आस्ट्रिया की राजधानी के निवासियों में असन्तोष के अनिष्टकारी चिह्न प्रकट होने लगे। आरम्भ में उनको रेस्टाग से कुछ आशाएँ थीं, परन्तु अब वे शीघ्र ही नष्ट हो गईं। कारण यह था कि स्लाव लोग, जिनका बहुमत था, प्रतिक्रियावादी दल से मिल गये थे। इसके अतिरिक्त अब प्रतिपल इस बात की आशंका थी कि क्रान्ति के खिलाफ दूसरी क्रान्ति हो जाये। इस आशंका से ये लोग बड़े भयभीत थे। दो भयंकर बलवे हुए, उसके बाद एक शाही हुक्म जारी हुआ, जिसके द्वारा हंगरी की डाइट भंग कर दी गई और मेगर लोगों के खिलाफ युद्ध की घोषणा कर दी गई। वियना के जनतन्त्रियों ने बड़े जोश के साथ मेगर लोगों का साथ दिया था। जनतन्त्रवादी समझते थे कि मेगर लोगों के विचार भी उन जैसे ही हैं। इसलिए जब युद्धमंत्री लेटोर ने वियना की सेना को हंगारियन लोगों के विरुद्ध कूच करने का हुक्म दिया, तो लोगों ने सेना को आगे बढ़ने से रोका और बलवा कर दिया। लेटोर को लोगों ने मार डाला और सम्राट् ने विवश होकर 3 अक्तूबर की घोषणा वापस ले ली। तभी से क्रान्ति में एक नया अध्याय शुरू हुआ। रेस्टेग की इच्छानुकूल सम्राट् वियना लौट आया था, परन्तु अब वह फिर राजधानी से भाग गया और आलमुट्ज नगर में उसने अपना दरबार जमा लिया। वहाँ से उसने एक घोषणा-पत्र जारी किया, जिसमें क्रांतिकारी उत्पातों की निन्दा की और लोगों से अपील की कि प्रान्तों का साथ दिया जाय। साथ ही रेस्टेग के स्लाव लोग ब्रून (Brunn) चले गये। इनका बहुमत था ही। इस नगर में उन्होंने अपना जमाव जमा लिया। फलस्वरूप रेस्टेग के जर्मन लोग, जो वियना में रह गये, उनकी दशा एक साधारण स्थानीय कमेटी जैसी हो गई और उनकी पार्लियामेन्ट एक नाम मात्र ही रह गई। अब क्रान्ति का अन्त भी दूर नहीं था। विन्डिसग्राइ्स को प्राग में विजय प्राप्त हुई, बलवा करने वालों का दमन हो गया। इससे उसकी प्रतिष्ठा बहुत बढ़ गई और 11 अक्तूबर को उसने वियना के खिलाफ कूच करने का इरादा प्रकट किया। 16 अक्तूबर को सम्राट् के आदेश से उसको सब अधिकार दे दिये गये। इसके कुछ दिन बाद आस्ट्रिया की सेना ने राजधानी को चारों ओर से घेर लिया। वियना के लोगों ने डटकर मुकाबला किया। उन लोगों का नेतृत्व जोजफबेन ने किया था जो नैपोलियन के समय का एक अनुभवी सेनानायक था। 31 अक्तूबर को नगर पर सेना का अधिकार हो गया और यह होना ही था। अगर यह टल सकता था तो आरम्भ में मेगर लोगों के हस्तक्षेप से ही टल सकता था। लेकिन डाइट वैधानिक परम्पराओं से जकड़ी हुई थी, इसलिए उसको पसन्द नहीं था कि हंगरी की सेना को सहायतार्थ बुलवाया जाय। हंगरी की सरकार भी चाहती थी कि क्रान्ति ठीक कानूनी ढंग और औचित्य के अनुसार हो। इसलिए वह प्रतीक्षा करती रही कि रेस्टाग उसको

जर्मन भूमि पर हमला करने की इजाजत दे । यह ढुलमुल नीति भूल की बात थी, क्योंकि क्रान्तियाँ गुलाबजल छिड़क-छिड़ककर नहीं की जाती हैं । घटनाओं से जल्दी ही प्रकट हो गया कि मेगर लागों की क्रान्ति और वियना के निवासियों की क्रान्ति दोनों आपस में बँधी हुई हैं । जब वियना की क्रान्ति को दबा दिया गया तो मेगर लोगों की क्रान्ति को दबाने की बारी आ गई और सरकार की सम्पूर्ण शक्तियों को केन्द्रीभूत कर दिया गया । आखिरी समय पर वियना के घेरे को हटाने की कोशिश अवश्य हुई, परन्तु इसी अर्से में आस्ट्रियन लोगों ने देरी का फायदा उठाकर अपनी तैयारियाँ पूरी कर ली थीं और स्वेदचट (Schwechat) में जो मुठभेड़ हुई उसमें उन लोगों ने मदद पर जाने वाली सेना को खदेड़ भगाया ।

दी बैच सिस्टम (The Bach System)—अब स्थिति पर सेना ने काबू कर लिया था, इसलिए सारा मामला बदल गया । अब जनतंत्र वर्ग को समझाने-बुझाने की कोई जरूरत नहीं थी । सारा प्रबन्ध विन्डिसग्राड्स के साले, सबार जेनबर्ग के हाथ में सौंप दिया गया । यह शुद्ध और सच्चा प्रतिक्रियावादी था । इसकी प्रकृति में बड़ी दृढ़ता और धीरज था । यह कभी व्यर्थ आगा-पीछा नहीं सोचता था और किसी काम को करने में इसको कोई दरेग नहीं होता था । इसका अटल निश्चय था कि आस्ट्रिया के राजतंत्र को ज्यों का त्यों रखा जाए और उसकी रक्षा की जाए । फ्रेंकफर्थ की असेम्बली में इस बात का यत्न किया गया था कि आस्ट्रिया के जर्मन भाग को जर्मनी में मिला लिया जाये और मेगर लोगों ने यह प्रयास किया था कि उनका हंगरी से छुटकारा हो जाये । इन दोनों के विरुद्ध उसने लड़ाइयाँ कीं और उसको विजय प्राप्त हुई । रेस्टेग ने क्रेप-सियर में एक विधान बनाया था, जि . में मौलिक अधिकारों की खूब व्याख्या की गई थी और सामन्त लोगों को खूब रियायतें दी गई थीं । इस विधान को अब घृणा के साथ एक तरफ फेंक दिया । सम्राट् के हुकम से अब साम्राज्य में नया विधान लागू कर दिया गया । इसके अक्षर-अक्षर में यह बात प्रकट की गई थी कि राजतन्त्र (Monarchy) एक और अविभाज्य है । इस विधान के अनुकूल आस्ट्रिया के विभिन्न प्रदेशों को एक नौकरशाही केन्द्रीय रियासत में समाविष्ट कर दिया गया । कुछ महीने बाद हंगरी की क्रान्ति भी बैठ गई । इससे सरकार की शक्ति खूब दृढ़ हो गई और जब आलमुट्ज में प्रशिया की हार हुई तो जर्मनी के राष्ट्रीय आन्दोलन का खतरा जाता रहा और सरकार की शक्ति दुर्भेद्य हो गई । अब सरकार मेगर और जर्मन जातीयता पर विजय प्राप्त कर चुकी थी । अब प्रतिक्रिया की इमारत में चाबी का पत्थर लगाने के लिए केवल एक बात शेष रह गई थी । यह बात भी 31 दिसम्बर को पूरी हो गई । बादशाह ने हुक्म जारी किया कि 4 मार्च वाला विधान रद्द किया जाता है । इसके बाद खुल्लमखुल्ला विधान खतम हो गया । अब कोई बात ही बाकी नही बची । अब राजवंश निरंकुशता का नंगा नाच करने लगा । यह प्रतिक्रियावाद का युग बैच

सिस्टम कहलाता था। इसके प्रधान स्वरूप का निर्माण तो सबार-जेनबर्ग ने किया था, परन्तु यह बैच सिस्टम के नाम से ही प्रचलित हो गया। फिर भी यह काल निरी प्रतिक्रिया का ही नहीं था। वैधानिक सुधार तो दफ़ना दिये गए थे परन्तु प्रशासनिक और आर्थिक सुधार बड़े जोर से हाथ में लिये गये। 1848 के आन्दोलन की सम्पूर्ण आशाएँ नष्ट हो चुकी थीं, परन्तु मानो डूबते जहाज में से यह खजाना बच गया था। इस क्रान्ति का एक प्रत्यक्ष फल यह हुआ कि दासता का अन्त हो गया। अब प्राचीन सामन्ती संस्थाओं को पुनः स्थापित करने के लिए कोई प्रयत्न नहीं हुआ। बेगार का अन्त हो गया। मनमाना कानून जाता रहा। क्रान्ति की यह गति आस्ट्रिया में रही। अब हम बतलायेंगे कि हंगरी में ठीक इसी प्रकार के आन्दोलन की क्या गति रही।

हंगरी की क्रान्ति की जर्मन और इटेलियन क्रान्ति से तुलना—इटली और जर्मनी की भाँति आस्ट्रिया-हंगरी की सन् 1848 वाली क्रान्ति में भी दो धाराएँ थीं—एक वैधानिक और दूसरी राष्ट्रीय (कौमी)। पहली धारा का उद्देश्य था व्यक्ति-स्वातन्त्र्य और दूसरी धारा का उद्देश्य था कौमों का स्वातंत्र्य। इन तीनों देशों में ये धाराएँ परस्पर मिली हुई थीं। उदाहरणार्थ इटली में वैधानिक और राष्ट्रीय आन्दोलन की शक्तियाँ आपस में मिली हुई थीं। ऐसे सम्मेलन की वहाँ पर राजनीतिक परिस्थिति के कारण आवश्यकता थी। इटली में छोटा-सा सामन्त भी उसकी प्रजा के लिए सर्वशक्तिमान था। लेकिन तभी तक जब तक आस्ट्रियन साम्राज्य उसकी पीठ ठोकता रहे। इस प्रकार के सम्मेलन की वियना में आवश्यकता नहीं थी। वहाँ पर क्रान्ति स्वातंत्र्य-दल के हाथ में थी। जर्मन लोगों का वहाँ प्रभुत्व था और उनको किसी प्रकार का कष्ट भी नहीं था। परन्तु हंगरी में यह बात नहीं थी। यहाँ सामन्ती लोगों के विशेष अधिकारों के कारण वैधानिक प्रगति के रास्ते में बड़े-बड़े विघ्न आते थे। डाइट में सामन्तों का ही प्रतिनिधित्व था और ये लोग करों से भी मुक्त थे। यह भी उम्मीद करना व्यर्थ था कि उदार दल के सुधारकों के कहने से ये लोग अपने अधिकारों का परित्याग कर देंगे। हाँ, यह उस हालत में हो सकता था जब कौमी जोश उमड़ पड़ता और इन लोगों को दबा दिया जाता। ऐसी अवस्था में फ्रेंच नेशनल असेम्बली ने 4 अगस्त 1789 को अपने अधिकारों का परित्याग किया था। तब तो वहाँ आत्म-त्याग करने के लिए आपस में होड़ होने लगी थी। यही कारण था कि हंगरी के उदार दल को मेगर के कौमी दल से मिलना पड़ा। इसी की मदद से उदार दल अपने विरोधियों पर विजय प्राप्त कर सकता था। इटली में ऐसे मिलन से बहुत लाभ हुआ था। परन्तु हंगरी में इससे कोई मतलब नहीं निकला, बल्कि बिलकुल ही फिजूल साबित हुआ। मेगर लोगों की यह कोशिश थी कि हंगरी में निवास करने वाली अन्य जातियों को कोई विशेष अधिकार न मिले। विशेष अधिकार केवल उनको ही हों। इससे मेगर लोगों का आन्दोलन नष्ट हो गया। इतना ही नहीं, बल्कि वैधानिक आन्दोलन को भी बड़ा

धक्का लगा और वह भी नष्ट हो गया। जब हम 1848 वाली हंगारियन क्रान्ति की इटालियन और जर्मन क्रान्ति से तुलना करते हैं तो एक और महत्वपूर्ण भेद प्रकट होता है। इटली और जर्मनी में जातीय, कौमी या राष्ट्रीय आन्दोलन का मतलब था एकीकरण, लेकिन आस्ट्रिया-हंगरी में इसका उद्देश्य था पृथक्करण। हेप्सबर्ग राजवंश के अधीन कितनी ही जातियाँ थीं; उदाहरणार्थ, जर्मन, मेगर, चैक, स्लोवाक, रोमानियन, रुथेन, क्रोट और सर्ब। इस संख्या से प्रकट होता है कि वहाँ कितने ही जाति-भेद और प्रभेद थे। इन जातियों में आठ जातियाँ ऐसी थीं जिनमें हर एक की संस्कृति और ऐतिहासिक परम्पराएँ अलग-अलग थीं और क्रोट और सर्ब जातियों के अतिरिक्त प्रत्येक जाति की भाषा भी जुदी-जुदी थी। इसलिए इस दोहरे राजतन्त्र में जातीय प्रश्न सबसे ऊपर था और दूसरे प्रश्न इससे दबे हुए थे, और यह बात भी मानी जाती थी कि अगर जातियों को ध्यान में रखकर कोई हल किया गया हो तो आस्ट्रिया का साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो जायगा। हंगरी की क्रान्ति का इतिहास देकर हम बतला सकते हैं कि इस जातीय प्रश्न में कितनी ही पेचदार और जटिल समस्याएँ घुसी हुई थीं।

हंगरी के विशेष अधिकारों पर आक्रमण—कई सदियों से हंगरी अपने स्वराज्य और वैधानिक अधिकारों की परम्पराओं से प्रेम करता आया था। जोजफ द्वितीय की, जो उन्नतिप्रिय निरंकुश शासक था, इन भावनाओं से और परम्पराओं से उस समय मुठभेड़ हुई जब फ्रांस की राज्यक्रान्ति होने ही वाली थी और इस मुठभेड़ का कारण यह था कि वह बिखरे हुए प्रदेशों को एक संगठित और केन्द्रित राज्य में मिलाना चाहता था। उस समय हंगरी में अलग डाइट थी और अलग ही विधान था। परन्तु जोजफ ने इस डाइट का अधिवेशन नहीं करवाया। उसने यह भी आदेश दिया कि हंगरी में जर्मन भाषा का प्रयोग हो। उसने प्रान्तीय सभाएँ (County assemblies) भंग कर दीं। हंगरी को 10 प्रान्तों में विभक्त कर दिया। हर प्रान्त में जर्मन प्रबन्धक नियुक्त कर दिया। उसके राज्य के अन्त में यह सब आदेश समाप्त हो गये। परन्तु इनके कारण जो विरोध खड़ा हुआ उससे जातीय भावना खूब जागृत हो गई। जोजफ के बाद लियोपोल्ड द्वितीय गद्दी पर बैठा। सन् 1791 की डाइट ने इसको विवश किया कि हंगारियन कौम की आजादी स्वीकार की जाय। अब निश्चय हो गया कि आइन्दा तीन साल में एक बार डाइट का अधिवेशन हुआ करेगा और इसकी मन्जूरी के बिना कोई कर जारी नहीं किया जाएगा। यह भी वचन देना पड़ा कि हंगरी का शासन अपने ही कानून और रिवाजों के अनुसार होगा। इसमें दूसरे प्रान्तों का तरीका जारी नहीं किया जायेगा। 1791 में हेप्सबर्ग वंश से जो रियायतें प्राप्त की गईं, उनमें सिद्धान्ततः वे सब अधिकार शामिल थे जो अगले 75 वर्ष में मेगर लोगों के कार्यक्रम में बतलाये गए थे। परन्तु जैसा

इंगलैण्ड में हुआ, हंगरी में भी वैधानिक प्रगति के रास्ते में नेपोलियन के युद्धों और राज्यक्रान्ति से एक पीढ़ी तक बड़ी रुकावट रही और राज्य की सम्पूर्ण शक्तियों को दूसरी ओर मुड़ना पड़ा। हंगरी फिर अपनी पहली हालत में आगया। उसकी निद्रा फिर मेगर जागृति से भंग हुई।

मेगरों में राष्ट्रीय भावना की पुनर्जागृति—भाषा शक्तिशाली राष्ट्रीय बन्धन है। इसमें वे व्यापक स्मृतियाँ और परम्पराएँ छिपी रहती हैं जो राष्ट्रीय चिनगारियों को जीवित रखती हैं। समय पाकर ये चिनगारियाँ सजीव ज्वाला का रूप धारण कर लेती हैं। इसी बात को उलटकर यों कहना चाहिए कि एक भाषा के प्रचार से राष्ट्रीय भावना का उदय होता है। यह कहा गया है कि अठारहवीं शताब्दी के मध्य में मेगर भाषा के लिए यह खतरा था कि वह खतम न हो जाय। लेटिन भाषा का सरकार में, शासन में, अदालतों में और शिक्षित समाज के परस्पर व्यवहार में प्रयोग होता था। मेरिया थेरेसा की निपुण नीति से हंगरी के सामन्त लोग जर्मन रिवाजों और विचारों को पसन्द करने लग गये थे। दरबार के साथ सम्पर्क और आस्ट्रिया के सामन्ती घरानों के साथ विवाह-सम्बन्धों के कारण ये लोग जर्मन बनते जाते थे और उनके पतनकारी उदाहरणों का प्रभाव शिक्षित वर्ग में भी फैलता जाता था। नगर तो पहले से ही जर्मन बन चुके थे। संक्षेप में यह है कि हेप्सबर्ग साम्राज्य का जातीय प्रश्न लगभग हल होने ही वाला था। इस जर्मनीकरण का विरोध भी नहीं था, क्योंकि जातीय भावना धीरे-धीरे लुप्त होती जाती थी। लेकिन जोजेफ द्वितीय के अदूरदर्शी रुख से मेगर लोगों के स्वाभिमान को सीधी चुनौती मिली। उसने समझौते का तरीका एकदम छोड़ दिया और जबरदस्ती से मेगर लोगों को जर्मन बनाने की नीति जारी की। जातीयता की सुषुप्त शक्तियों को जागृत करने में इससे भी अधिक प्रभाव फ्रांस की राज्य-क्रान्ति का पड़ा। फ्रांस की राज्य-क्रान्ति ने अति प्राचीन सामाजिक और राजनीतिक शासन को ही तोड़-फोड़कर नहीं फेंका, बल्कि इसने अठारहवीं शताब्दी की उन प्रवृत्तियों को भी खतम कर डाला जो सारे संसार को ही एक समझती थीं। इसलिए व्यापक दृष्टि से देखा जाय तो हंगरी में जातीयता (Nationalism) का उदय उस आन्दोलन-धारा का एक हिस्सा था जो उस समय यूरोप में सर्वत्र फैलती जाती थी और जर्मनी तथा इटली में जिसका विशेष जोर था। तेरह वर्ष तक हंगरी की डाइट का कोई अधिवेशन नहीं हुआ, किन्तु जिलों की असेम्बलियाँ, जो छोटी-छोटी पार्लियामेन्ट ही थीं और जिनमें सामन्त लोग उपस्थित हुआ करते थे, चलती रहीं। इनसे स्वाधीनता और स्वशासन की परम्पराएँ बनी रहीं। इनके निरन्तर विरोध से मजबूर होकर सरकार ने 1825 में डाइट का अधिवेशन करवाया। इस डाइट में यह आवाज जोर से उठाई गई कि हंगरी की सरकारी भाषा मेगर होनी चाहिए। इस माँग से भाषा-प्रश्न का सूत्रपात

हुआ। इसी के कारण हंगरी के मैदानों में खून की होली हुई और कितने ही सालों तक हंगरी की राजनीति में यह विवाद जोर के साथ चलता रहा। अगले कुछ वर्षों में मेगर भाषा की खूब उन्नति हुई। इस युग को मेगर भाषा का स्वर्ण-युग माना गया है। सन् 1840 में मेगर भाषा राजभाषा बन गई। गिरजाघरों के रजिस्टर भी इसी में लिखने का आदेश हो गया। हर प्रकार के पादरियों के लिए यह भाषा अनिवार्य कर दी गई। चार वर्ष बाद मेगर भाषा में ही सब राजकार्य होने लगा। पार्लियामेन्ट और पाठशाला में इसका उपयोग होने लगा, अनिवार्य पाठ्यक्रम में तो इसी से काम लिया जाने लगा।

मार्च के कानून—बीस वर्ष में ही मेगर लोगों की राष्ट्रीय आकांक्षाएँ बहुत आगे बढ़ गई थीं। हंगरी की जातियों में इन्हीं लोगों के हाथ में राजनीतिक शक्ति थी। परन्तु वैधानिक सुधारों की माँग अभी पूरी नहीं हुई थी। आरम्भ में हंगरी का आन्दोलन शुद्ध जातीय और रूढ़िवादी था, परतु पश्चिमी विचारों के प्रवेश के कारण फिर वह प्रगतिशील जनतन्त्रीय आन्दोलन हो गया। इस विकास का प्रभाव उस समय प्रकट हुआ जब सन् 1844 और 1847 की डाइट में प्रस्ताव पेश हुए। जब पेरिस और वियना की राज्य-क्रान्तियों के समाचार आये तो यह पराकाष्ठा पर पहुँच गया। इन समाचारों से हंगरी में ज्वाला धधक उठी। कोसुथ की प्रेरणा से सम्राट् से यह माँग की गई कि राष्ट्रीय सरकार स्थापित की जाय और मन्त्रियों को पार्लियामेन्ट के प्रति जिम्मेदार बनाया जाय। डाइट के क्रान्तिवादी तत्व अब ऊँचे उठ रहे थे। उनका नेता था लुई कोसुथ। वह पेस्टी हिरलेप नामक राजनीतिक पत्र का यशस्वी सम्पादक था। इस पत्र का बड़ा प्रचार था और असाधारण प्रभाव था। यह सुधार-आन्दोलन के गरम दल का प्रतिनिधित्व करता था। नरम दल का नेता काउन्ट जेचेन्यी (Szechenyi) था। कोसुथ के अनुयायियों ने देखा कि अब विस्तृत परिवर्तन करने का मौका आ गया है। उन्होंने एक महीने के अन्दर ही सन् 1848 की मार्च वाले कानून पास करवा लिये और इस थोड़े ही समय में हंगरी की सामाजिक और राजनीतिक दशा में आमूलचूल क्रान्ति हो गई। इन मार्च के कानूनों से जो भारी सुधार हुए उनसे हंगरी के आन्दोलन की दो प्रवृत्तियाँ प्रकट हुईं। इनकी ओर पाठकों का ध्यान हम पहले ही आकर्षित कर चुके हैं। एक तरफ तो उदार विचारों का प्रभाव यह हुआ कि हंगरी में जिम्मेदार मंत्रिमंडल स्थापित हो गया और सामन्ती अदालतें समाप्त हो गईं। सामन्तों पर भी कर लगने लगे। अब तक मत देने का अधिकार केवल सामन्तों को ही था। परन्तु अब जिसके पास बीस पौंड की सम्पति थी, ऐसे सब लोग मत दे सकते थे। पार्लियामेन्ट का समय तीन साल का कर दिया। यह नियम हो गया कि इसका अधिवेशन हर साल हुआ करेगा। पहले पार्लियामेन्ट का

निर्वाचन जिलों की असेम्बलियाँ और नगर करते थे। अब इस नियम के स्थान पर यह नियम हो गया कि यह निर्वाचन सीधा हुआ करेगा। इसके सिवाय प्रेस को आजादी दे दी गई, धर्म के विषय में स्वतन्त्रता हो गई, राष्ट्रीय गार्ड और राष्ट्रीय विश्व-विद्यालय स्थापित हो गये। दूसरी तरफ राष्ट्रीय विचारों का प्रभाव इस बात मे प्रकट होता था कि हंगरी आस्ट्रिया से करीब-करीब अलग हो गया। डाइट ने उन महकमों को खतम कर दिया जिनके द्वारा केन्द्रीय सरकार हंगरी को दासता में जकड़े रहती थी। ये महकमे थे हंगेरियन चांसलरी (Hungarian Chancellery) और पेलेटिनल काउन्सिल (Palatinal Council)। इनके स्थान पर अब हंगरी में स्वतन्त्र मंत्रि-मंडल स्थापित हुआ। इसकी हुकूमत आन्तरिक प्रबन्ध पर तो थी ही। इसके सिवाय विदेश-नीति, वित्त, युद्ध, सेना और दुर्ग भी इसी के अधीन कर दिये गये। इसके अतिरिक्त ट्रांसिलवेनिया को हंगरी में शामिल कर दिया और यह व्यवस्था की गई कि वहाँ पर मेगर सेना रखी जायगी। वियना की सरकार इस समय बेबस थी, इसलिय बुडापेस्ट से जो माँग हुई वही उसको स्वीकार करनी पड़ी। सरकार इस समय घोर संकट में थी। इस प्रकार हंगरी आस्ट्रिया से अलग और स्वतन्त्र हुआ। अब दोनों देशों में केवल इतना ही सम्बन्ध रह गया कि दोनों ही हेप्सबर्ग राजवंश के अधीन थे, एवं मेगर लोगों को बड़ी विजय प्राप्त हुई। परन्तु इसका स्थायीत्व स्वभावतः इस बात पर निर्भर था कि वे लोग अपनी विजय का कैसा उपयोग करते हैं। इसी प्रश्न की नोक पर अब उनका भाग्य घूमने लगा।

जबरदस्ती से मेगर बनाने की नीति—यदि मेगर लोग जल्दबाजी और अति नहीं करते तो हंगरी की राज्य-क्रान्ति की गति दूसरी ही होती। यह दुर्भाग्य की बात थी कि वे अपने लिये तो जातीय अधिकारों का दावा करते थे, परन्तु दूसरी जातियों को यही अधिकार नहीं देना चाहते थे। उनकी जाति सात जातियों में से केवल एक थी और उनकी आबादी भी पचास प्रतिशत से कम थी। उदाहरणार्थ इस शताब्दी के आरम्भ में उनकी आबादी 85 लाख थी और सारे हंगरी की एक करोड़ नब्बे लाख, जिनमें एक करोड़ लोगों को मेगर भाषा का ज्ञान था। यह बात सच है कि हंगरी में मेगर लोग बड़े पुरुषार्थी थे, परन्तु उनके लिये यह बात उचित नहीं थी कि वे अपने पड़ोसियों की जातीय एकता को मानने से इन्कार करते। आरम्भ से ही उनमें इस बात का गर्व था कि हम सबसे बलवान हैं। इससे उनका पक्ष कलंकित हुआ और उनकी असहिष्णुता से ही ऐसा शस्त्र तैयार हो गया जिसका उनके शत्रुओं ने उन पर ही प्रयोग किया। सन् 1840 के कानून से लेटिन भाषा के स्थान पर मेगर भाषा को सरकारी भाषा माना गया था। उस स्थिति में यह उचित ही था। यह भाषा और भाषाओं से उन्नत भी थी। इसलिये कुछ समय में यह हंगरी की भाषा बन सकती थी। परन्तु मेगर देशभक्तों को ऐसा जोश आया कि वे चौकड़ी भूल गये।

उन्होंने निश्चय कर लिया कि देश का पूरा मेगरीकरण करना चाहिये, और वह भी बहुत जल्दी। यह ऐसी नीति थी जिसके अनुसरण से मेगरों के सिवाय अन्य सब जातियाँ लुप्त हो जातीं। यह घोषणा की गई कि कौमी जबान के बिना कौमी जीवन असम्भव है। गैर-मेगर लोगों को मेगर बनाने के लिये मेगर लोगों ने हिंसक साधनों का भी उपयोग किया। सारांशतः उन लोगों का विचार था कि हंगरी से समस्त जातीय भेदों को नष्ट कर दिया जाय। उन्होंने प्रबन्ध को तो पहले ही हथिया लिया था। अब मेगर भाषा को बलपूर्वक जारी करने के लिये उन्होंने स्कूलों और गिरजों को भी अपने अधीन करने का प्रयास किया। दूसरी जातियों को आत्मसात् करने की यह नीति जर्मन और रूसी साम्राज्य में भी चल रही थी। इससे उन्नीसवीं शताब्दी में पूर्वी यूरोप में बड़ा प्रक्षोभ हुआ।

उत्तरी हंगरी के स्लाव लोग—हंगरी की अन्य जातियों में भी जातीय चेतना आ चुकी थी। उन पर जो दमन किया जा रहा था उससे उनमें बड़ा असन्तोष था। उत्तर हंगरी के स्लाव, जो स्लोवाक कहलाते थे, कहा करते थे कि मेगर आधिपत्य से तो रूसी लोगों के कोड़े खाना ही अच्छा था। कोड़े से तो हमारी शारीरिक दासता ही होती थी, परन्तु इससे तो हमको भय है कि कहीं हमारा नैतिक विनाश या मृत्यु न हो जाए। फ्रांस की राज्य-क्रान्ति का प्रभाव जैसा मेगर लोगों पर पड़ा था वैसा ही स्लोवाक लोगों पर भी हुआ था। इसलिये उनमें भी स्लाव भाषा के उदय और विकास की कोशिश होने लगी। इस भाषा-जागृति में दो व्यक्ति प्रमुख थे—स्फारिक और कोल्लार। स्फारिक प्रोफेसर था। उसने स्लाव जाति के लोक-साहित्य तथा प्राचीनताओं का संग्रह किया था। कोल्लार राष्ट्रीय कवि था। इसका "डाटर आफ स्लाव्ज" नामक ग्रन्थ सन् 1824 में छपा था। इस प्रसिद्ध काव्य का बड़ा राजनीतिक महत्व था इसी ने स्लाव नाम को ऊँचा किया था और इस जाति की अतीत कीर्ति की स्मृतियों को पुनर्जागृत किया था। कोल्लार ने इस अन्यायी आदेश का विरोध किया कि "हंगरी में स्लाव लोग अपनी भाषा को दफना दें।" उसने कहा कि जिस भूमि पर हम निवास करते हैं उसको पितृदेश का नाम न दो। असली पितृदेश तो हमारे हृदय में विराजमान है। जंगल, नदियाँ और घर, जो हमको अपने बाप-दादाओं से मिले हैं, हमको प्यारे हैं। परन्तु एकमात्र पितृदेश, जो अमर है और जो लज्जा और अपमान से परे है, वह भाषा, रिवाज और स्वभाव की एकता है, जो आत्मा को आत्मा से मिलाती है। दूसरे स्थान पर उसने लिखा है कि "हे बिखरे हुए स्लाव भाइयो, आओ हम एक हो जायँ। हम अपने टुकड़े-टुकड़े न होने दें।" परन्तु उसने यह स्पष्ट कहा था कि स्लाव एकता का उसका स्वप्न साहित्यिक है, राजनीतिक नहीं। उसने जिस स्थल पर इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है उसका उद्धरण यह है, "मेरा स्वप्न स्लाव जाति की राजनीतिक एकता का नहीं है और न मैं विभिन्न राजाओं और सरकारों के विरुद्ध

आन्दोलन करवाना चाहता हूँ, क्योंकि ऐसा करने से तो परेशानियाँ और मुसीबतें ही हो सकती हैं। साहित्यिक एकता तो ऐसी कौम में भी हो सकती है जो कई रियासतों में बँटी हुई हो, या जिसमें अनेक धर्म, सम्प्रदाय, लिपियाँ, जलवायु, प्रदेश और रीति-रिवाज हों। साहित्यिक एकता न नरेशों के लिये घातक है और न पादरियों के लिये, क्योंकि न यह सीमाओं को बदलती है, न देशों को। इसको वर्तमान स्थिति से संतोष होता है, और हर प्रकार की सरकार के साथ यह निभाना जानती है, इसको नागरिक जीवन के समस्त सोपान पसन्द है। "किसी राष्ट्र की एकता के लिये यह आवश्यक नहीं है कि सब नागरिकों के विचार एक हों, सबकी भाषा एक हो, सबका धर्म एक हो, और सबके रीति-रिवाज समान हों। एकता के लिये समानता अनिवार्य नहीं है। प्राय: भिन्नता से शक्ति प्राप्त होती है न कि निर्बलता।" सन् 1842 में स्लोवाक लोगों ने सम्राट् को एक प्रार्थना-पत्र पेश किया, जिसमें उन्होंने बतलाया कि "हमारी एक विशेष जाति है जिसने अपने पितृ-देश के ऊपर जीवन और धन सदियों तक निछावर किया है। हमारी उन्नति हमारी भाषा के द्वारा ही हो सकती है। हम हंगरी की अन्य जातियों के साथ समान अधिकारों का उपभोग करते आये हैं।" अपनी भाषा और संस्कृति को कायम रखने की यह माँग बिलकुल उचित थी, परन्तु मेगर लोगों ने समझा कि यह देशघातकता है और स्लोवाक लोग देश से अलग होकर अपना पृथक् स्वराज्य स्थापित करना चाहते हैं। मेगर लोगों में भी कुछ लोग ऐसे थे जो इस संकीर्ण जातीय नीति का विरोध करते थे और उत्पीड़ित जातियों की हिमायत करने के लिए आवाज उठाते थे। इनमें हंगरी का प्रसिद्ध कवि काउन्ट स्टीफन जेचेन्वी था जिसकी देशभक्ति पर कोई सन्देह नहीं हो सकता था। उसके लेखों से हंगरी में बड़ी आर्थिक जागृति हुई थी। उसने अपने देशभाइयों को चेतावनी दी कि स्लोवाक लोगों को स्नेह से तो आत्मसात् किया जा सकता है लेकिन दबाव और जबरदस्ती से नहीं। दबाव का तरीका बड़ा खतरनाक है। उसने कहा कि हम ज्ञान में औरों से अधिक उन्नत हैं, इसके द्वारा ही हंगरी की अन्य जातियों को अपने में मिलाना चाहिये। उसने कोसुथ पर यह दोष लगाया कि वह स्लोवाक लोगों को मेगरों का विरोध करने के लिए उत्तेजित कर रहा है। परन्तु इस कवि की चेतावनी पर किसी ने ध्यान नहीं दिया। मेगरों के राजनीतिक नेता जातीय जोश से अंधे हो रहे थे। उनके कारण हंगरी में घरेलू युद्ध और रक्त-पात हुआ ही।

दक्षिण हंगरी के स्लाव लोग—मेगर लोगों की भाषा-नीति के कारण उनका उत्तर के स्लोवाक लोगों से ही नहीं, दक्षिण के स्लोवाक लोगों से भी घोर विरोध हुआ। दक्षिण के स्लोवाक क्रोट और सर्ब कहलाते थे। ये लोग क्रोशिया-स्लोवेनिया के राज्य में बसे हुए थे जो प्राय: क्रोशिया कहलाता था यह राजनीतिक दृष्टि से हंगरी के साथ सम्बद्ध था और दक्षिण-पश्चिम में स्थित था। क्रोशिया के पूर्व में भी सर्ब लोग बसे हुए थे। यह

मैदान बनात कहलाता था। क्रोट लोगों का हंगरी की डाइट में तो प्रतिनिधित्व था ही, इसके सिवाय उनकी अलग अपनी भी डाइट थी जिसके अधिवेशन अग्राम नगर में हुआ करते थे। इस संस्था के द्वारा उन्होंने मेगर भाषा को जबरदस्ती से जारी करने का विरोध संगठित किया। क्रोट और मेगर लोगों का पारस्परिक द्वेष कोसुथ के इन शब्दों मे प्रकट होता है कि "मुझे नक्शे में क्रोशिया का पता नहीं चलता।" इसके कारण ही जातीय भावना को बल प्राप्त हुआ था। दक्षिण के स्लाव लोगों में जातीय जागृति का आन्दोलन इलीरिज्म (Illyrism) कहलाता था। आरम्भ में यह केवल साहित्यिक आन्दोलन था। इसका मुख-पत्र था 'इलीरियन नेशनल गजट', जिसका सम्पादन लुई गज करता था। मेगर लोगों को यह आन्दोलन अपने बढ़ते हुए प्रभुत्व के लिए खतर-नाक जान पड़ा और इससे क्रोट लोगों के साथ उनके सम्बन्ध में कटुता आ गई। इस जातीय स्थिति के वर्णन को पूरा करने के लिये दो और जातियों का उल्लेख करना आवश्यक है। ये थीं रोमानियन और सेक्सन। रोमानियन लोगों की ट्रान्सिलवेनिया में दो-तिहाई के करीब आबादी थी, तो भी मेगर लोग इनसे घोर घृणा करते थे। मेगर लोग ट्रान्सिलवेनिया को हंगरी में विलीन करना चाहते थे। इसका इन दोनों जानियों ने घोर विरोध किया। इस प्रकार हंगरी के मामले की स्थिति अत्यन्त नाजुक हो गई। हम देख चुके हैं कि मेगर जाति का भाग्य अब डाँवाडोल हो रहा था। अपने स्वातन्त्र्य का आन्दोलन करते हुए उन्होंने हेब्सबर्ग राजवंश का मुकाबला किया था और अधि-कार छीन लिये थे। इन अधिकारों की रक्षा के लिये एक न एक दिन तलवार चलनी ही थी। साथ ही वे सब ओर विरोधी जातियों से घिरे हुए थे जिनकी संख्या सब मिलाकर पचीस-तीस लाख के लगभग थी और जो मेगर लोगों की जातीय असहि-ष्णुता के कारण उनके शत्रुओं से मिल गये थे। इसलिये विदेशों में युद्ध करना या घरेलू लड़ाइयाँ लड़ना बिलकुल असम्भव हो गया था। मेगर लोगों ने यह भारी भूल की कि समय पर रियायतें करके दूसरी जातियों को अपने साथ नहीं मिलाया। कोसुथ यह न समझ सका कि उदार नीति में कितनी बुद्धिमत्ता होती है और कितना औचित्य तथा न्याय। वह वास्तव में संकीर्ण जातीयता का हामी था, इसलिये नीतिमत्ता की उसमें कमी थी। अप्रैल सन् 1848 में ही उसने सर्ब लोगों के एक शिष्ट-मंडल से कह दिया था कि स्लेवोनियन और मेगर भाषा की समानता का प्रश्न हल करने के लिए तलवार का प्रयोग करना पड़ेगा। स्लाव जातियों ने यह चुनौती स्वीकार कर ली और हंगरी से अलग होने के लिए आन्दोलन करना शुरू कर दिया। उन्होंने यह माँग की कि उनको अपने पुराने अधिकार प्राप्त होने चाहिये, उनकी परम्परागत आजादियाँ उनको फिर मिलनी चाहिये और दक्षिण में स्लावोनिक रियासत कायम होनी चाहिये।

हंगरी में घरेलू युद्ध—क्रोट लोगों का नेतृत्व बेरन जेलेशिया ने किया। यह एक क्रोट सरदार का पुत्र था और क्रोशिया का वाइसराय नियुक्त हो चुका था। वह कहता

था कि मैं इलीरियन आन्दोलन के पक्ष में हूँ। इस आन्दोलन का ध्येय अब शुद्ध और निश्चित राजनीतिक बन चुका था। ये लोग हेप्सबर्ग राजवंश के अधीन एक स्लाव राज्य स्थापित करना चाहते थे। इसमें सन्देह है कि जेलेशिया को स्लाव जातीय ध्येयों की चिन्ता थी या आरम्भ से ही वह सम्राट् की शक्ति को पुन: स्थापित करना चाहता था। परन्तु यह निश्चित है कि वह हंगरी को दो युयुत्सु (लड़ने वाली) पार्टियों में विभक्त करना चाहता था। उसकी नीति का यही नतीजा हुआ जिससे मेगर जाति के आन्दोलन की हार अवश्यंभावी हो गई। अपनी नीति के अनुसार उसने मेगर कर्मचारियों को अपने पदों से हटा दिया। ५ जून को अग्राम नगर में क्रोशिया की डाइट का अधिवेशन करवाया। ज्योंही अधिवेशन शुरू हुआ तो यह प्रस्ताव प्रस्तुत किया गया कि बुडापेस्ट में जो हंगरी का मंत्रिमंडल है उसकी हुकूमत न मानी जाय और क्रोशिया को हंगरी से अलग कर दिया जाय। इस अवसर से लाभ उठाकर बनात के सर्व लोगों ने भी मेगर लोगों के विरुद्ध बलवा कर दिया। कार्लो-विट्ज नगर में उनकी एक राष्ट्रीय काँग्रेस बुलाई गई। उन्होंने काम-चलाऊ सरकार बना ली और वे क्रोशिया के लोगों के साथ मिल गये। बलवे की भावना उत्तर के स्लाव लोगों तक भी जा पहुँची, परन्तु जब कोसुथ ने इन लोगों को फाँसी पर लटकाना शुरू किया तो ये भयभीत हो गये और इनका विरोध खतम हो गया। इस प्रकार मेगर लोग बुरी स्थिति में फँस गए। अब उनको दो तरफ युद्ध करना पड़ा। एक तरफ जर्मन आस्ट्रिया के साथ और दूसरी तरफ हंगरी के स्लाव लोगों के साथ। आस्ट्रिया के जर्मन लोगों से लड़कर ये लोग ऐसे अधिकार छीनना चाहते थे जो ये हंगरी के स्लाव लोगों को देने के लिए तैयार नहीं थे।

आस्ट्रिया से झगड़ा— मेगरों ने पहला काम यह किया कि इन्सबर्ग के शाही दरबार और क्रोशिया के बान (अध्यक्ष) में अविश्वास का बीज बो दिया। हंगरी के प्रेसीडेन्ट बेथेनी ने सम्राट् के दिल में यह डर पैदा कर दिया कि इलीरियन आन्दोलन का मुख्य ध्येय है स्लाव संघ स्थापित करना। यह भी बहुत संभव है कि शाही दरबार मेगरों की सहायता से वियना में शान्ति स्थापित करना चाहता हो। बेथेनी इन्सबर्ग गया, जिसका नतीजा यह हुआ कि एक शाही घोषणा जारी की गई, जिसके अनुसार जेलेशिया को अपने पद से अलहदा कर दिया और कहा गया कि ट्रान्सिलवेनिया के रोमानियन और सेक्सन लोगों का यह प्रयत्न करना कि आस्ट्रियन सरकार से अलग और स्वतन्त्र हो जायँ, बुरी बात है। परन्तु जेलेशिया ने सम्राट् को समझा-बुझाकर अपने अनुकूल बना लिया और उसको अपने पद पर बने रहने की इजाजत मिल गई। कोसुथ के प्रभाव में आकर हंगरी की डाइट ने यह निश्चय किया कि क्रोशिया का प्रश्न तलवार के द्वारा हल किया जाय। कुछ अर्से तक शाही सरकार ने न मेगरों का पक्ष लिया न स्लावों का, परन्तु फिर दो बातों के लिहाज से निश्चय करना ही पड़ा।

कोसुथ की वित्त नीति यह थी कि आस्ट्रिया के नोटों के बजाय हंगरी के नोट जारी किये जायँ। इसका साफ मतलब ही यह था कि आस्ट्रिया और हंगरी के बीच झगड़ा पैदा हो। फिर भी यदि आस्ट्रिया की सरकार को यह खबर न मिलती कि कुस्टोजा में रेडेट्जकी को 25 जुलाई को विजय प्राप्त हो गई और वह मिलान नगर में घुस गया, तो झगड़ा अब भी शुरू नहीं होता। परन्तु अब युद्ध के लिये उपयुक्त अवसर आ गया था। इसलिये शुरू सितम्बर में शाही सरकार की अनुमति से क्रोशिया के बान (अध्यक्ष) ने युद्ध आरम्भ कर दिया और ड्रेव नदी को पार करके क्रोशिया की सेना के साथ वह हंगरी में दाखिल हो गया।

आस्ट्रिया और हंगरी के युद्ध की गति—आरम्भ में भाग्य ने आस्ट्रिया की सेना का साथ दिया। हंगरी की सेना ने वियना को मुक्त करना चाहा, परन्तु स्कवेचट में 30 अक्तूबर को उसकी हार हुई और अगले कुछ मास तक फिर उसकी हार पर हार होती ही गई। 5 जनवरी को आस्ट्रिया के जनरल विंडिसग्राट्ज ने, जिसने वियना को जीता था, हंगरी की राजधानी पर कब्जा कर लिया। सरकार इसको पहले ही खाली कर चुकी थी। इसके कुछ सप्ताह बाद केपोलिन में मेगरों की बड़ी हार हुई। इसके बाद ऐसा मालूम होने लगा कि युद्ध का अन्त होने वाला है और आस्ट्रिया की विजय निश्चित है। परन्तु घटनाओं की अगली गति से प्रकट हुआ कि युद्ध में ऐसी घटनाएँ घटती हैं जिनकी आशा न हो। जिस समय मालूम हुआ कि मेगर लोग बुरी तरह हार चुके हैं, तो एकाएक उनमें सामना करने की शक्ति आ गई। पराजय से उनका उत्साह भंग नहीं हुआ, विपत्तियों से उनको प्रेरणा मिली। वे नये आवेश के साथ लड़ने लगे। पहले तो संसार ने समझा कि वे लोग बैठ चुके, परन्तु अब उनके कार्यों को देखकर दुनिया दंग रह गई। पोलिश जनरल बेग ने, जो पहले वियना की रक्षा के लिये प्रयास कर चुका था, आस्ट्रियन और रूसी[1] सेना को खदेड़कर वेलेशिया की सीमा के पार कर दिया और समस्त देश पर अपना अधिकार जमा लिया। दक्षिण में पर्कजेल ने स्लेवोनिया और बनात के सर्बों को हरा दिया और गोर्गेई के नायकत्व में प्रधान सेना ने आस्ट्रियों को कई जगह पराजित किया और हंगरी से मार भगाया। अब युद्ध पराकाष्ठा पर पहुँच चुका था। यदि मेगर लोगों में राजनीतिक बुद्धि होती तो आस्ट्रिया की सरकार से ऐसी संधि कर सकते थे जिसकी शर्तें सम्मानप्रद होतीं। परन्तु हंगरी के भाग्य की बागडोर तो कोसुथ के हाथ में थी। वह सर्वाधिकारी बना हुआ था और नरम नीति में उसको वजन नहीं मालूम होता था। अपनी जीतों से फूलकर 14 अप्रैल के दिन उसने अपने कार्यकाल में एक घातक काम किया। उसने स्वाधीनता की घोषणा करते हुए हेप्सबर्ग राजवंश को सिंहासन से उतार दिया और हंगरी में जनतन्त्र राज्य स्थापित कर दिया। यह घोषणा उस सिद्धान्त (Legitimacy) को साफ चुनौती थी

---

1. रूसी सेना आस्ट्रिया की मदद पर आई थी।

जिसके अनुसार हकदार राजवंश ही राज्य कर सकता था। इस चुनौती के कारण रूस को हस्तक्षेप करने का बहाना मिल गया। जार निकोलस प्रथम प्रगतिशील आन्दोलन का कट्टर शत्रु था। वह उन्नीसवीं शताब्दी का डानिक्वजोट था दुखी निरंकुश शासकों को सहायता देना वह अपना दैवी कर्तव्य समझता था। जब जेलेशिया ने फिर क्रोशिया पर चढ़ाई की और आस्ट्रिया की सेना पश्चिम से आई, तो रूसी लोग कारपेथियन पर्वत को पार करके पूर्व की ओर से जा घुसे। जब मेगर लोग बहुत बड़ी सेना से घिर गये तो अपनी अवश्यम्भावी हार को वे नहीं टाल सकते थे। डूबते-डूबते डाइट ने स्थिति को सँभालने की कोशिश की। गैर-मेगरों की तकलीफें दूर की और उनकी भाषा के निर्विघ्न विकास को स्वीकार किया। परन्तु ये रियायतें इतनी देर मे दी गई कि घटनाओं का चक्र वापस नहीं घुमाया जा सका। 11 अगस्त के दिन कोसुथ ने गोरगेई के पक्ष में त्यागपत्र दे दिया और तुर्की की सीमा पर शरण ली। दो दिन बाद हंगरी की सेना ने रूसियों के सामने आत्म-समर्पण कर दिया और हंगरी की राज्य-क्रान्ति तत्काल खतम हो गई।

राज्य-क्रान्ति का हंगरी पर परिणाम—आस्ट्रिया की सरकार ने पाशविक बदला लेना शुरू किया। जो लोग क्रान्ति में शामिल थे उनमें से कितनों ही को प्राण-दंड दिया गया। इनमें तेरह सेनानायक थे और प्रधान मंत्री बेथेनी भी था जिसने युद्ध को टालने के लिए निरन्तर प्रयास किया था। कितने ही लोगों को जेलों में धकेल दिया गया। दूसरी तरह भी इस संघर्ष के नतीजे बहुत बुरे हुए। उनसे विपत्तियाँ ही आईं और हंगरी का राजनीतिक विकास बुरी तरह रुक गया। वास्तव में इस युद्ध से हंगरी की किसी जाति को न लाभ हुआ न संतोष। क्रोट्स लोगों से, जिन्होंने सम्राट् की बड़ी सेवा की थी, डाइट छीन ली गई। दक्षिण हंगरी के सर्बों ने और ट्रान्सिलवेनिया के रोमानियन और सेक्सन लोगों ने जो राजनीतिक अधिकारों की माँग की थी वह भी ठुकरा दी गई। मेगरों के हाथ में तो वैधानिक स्वतन्त्रता का चिह्न भी नहीं रहा और हंगरी, बोहेमिया की भाँति, आस्ट्रिया का एक प्रान्त बन गया। वह अब स्वतन्त्र राज्य नहीं रहा। उसका विधान खतम हो गया। उसकी प्रशासनिक स्वतन्त्रता जाती रही। क्रोशिया, ट्रांसिलवेनिया और दक्षिण हंगरी जुदे-जुदे प्रान्त बना दिये गये और शेष हंगरी को प्रबन्ध की दृष्टि से पाँच जिलों में विभक्त कर दिया गया। इस प्रकार हंगरी की पुरानी राजनीतिक एकता समाप्त हो गई। वास्तव में स्वाजेनवर्ग का उद्देश्य था संयुक्त आस्ट्रियन राज्य बनाना। इस ध्येय को दृष्टि में रखकर उसने केन्द्रीयकरण की नीति का अनुसरण किया। इसी प्रकार यह खुल्लमखुल्ला निरंकुशता की भी नीति थी। सरकार ने ऐलान किया कि हंगरी का पिछला विधान क्रान्ति के कारण रद्द हो गया है। स्वायत्त शासन, जिसका आधार जिलों की असेम्बलियाँ थीं, समाप्त कर दिया गया। प्रशासनिक और अदालती जगहों पर आस्ट्रियन कर्मचारी

नियुक्त हो गये। इनमें जर्मन और चेक लोग थे। मेगर भाषा कीं जगह जर्मन राज-भाषा बना दी गई और जर्मनीकरण की विधियाँ फिर जोरों से जारी हुईं। फिर भी न्याय के साथ यह भी कहना चाहिये कि 1848 में जो सामाजिक परिवर्तन हुए थे और जो क्रान्ति के स्थायी परिणाम थे वे ज्यों के त्यों रहने दिये। बल्कि नये शासन में उनका और भी विकास हुआ। क्रान्ति का केवल राजनीतिक पक्ष ही था जो बिलकुल नष्ट हो गया।

अक्टूबर डिप्लोमा—बाच विधि की प्रत्यक्ष शक्ति के बावजूद भी केन्द्रीयकरण और जर्मनीकरण की धींगी-धींगी निरी बालू की भीत थी। यह बाहर के किसी धक्के को नहीं सह सकती थी। इटली के स्वातन्त्र्य-संग्राम में इसकी कमजोरी सबके सामने आ गई। मेजेन्टा और सेलफेरनू की पराजय से आस्ट्रिया के साम्राज्य को लोम्बार्डी में ही नहीं हंगरी में भी धक्का लगा। बाच विधि का तो नाश होना ही था। सन् 1860 में हंगरी का प्रतिक्रिया युग एकदम समाप्त हो गया। साम्राज्य की सब पार्टियाँ इस विषय में तो सहमत थीं कि राजनीतिक पुनर्निर्माण होना चाहिए, परन्तु ये सुधार कैसे हों, इस बारे में सबका जुदा-जुदा मत था। जर्मनी का उदार दल चाहता था कि केन्द्रित शासन-विधि चलती रहनी चाहिए। इसका श्रीगणेश स्वारजेनवर्ग ने किया था। वे इस बात के लिए तैयार थे कि इसके आधार को विस्तृत कर दिया जाय। दूसरे शब्दों में यह कहना चाहिए कि वे लोग समस्त साम्राज्य के लिए एक पार्लियामेन्ट स्थापित करना चाहते थे। बाच विधि का मूल सिद्धान्त था प्रबन्ध की एकता। इसकी इसलिए रक्षा की गई कि जर्मनों का प्रभुत्व बना रहे, परन्तु इसको वैधानिक जामा पहनाया गया। ऐसा ख्याल किया गया था कि राजनीतिक रियायतों के देने से छोटी-छोटी जातियाँ पृथक् होने का प्रयास छोड़ देंगी, क्योंकि वे वैधानिक अधिकारों से सन्तुष्ट हो जायँगी। परन्तु मेगर और स्लाव लोग जर्मन साम्राज्य में विलीन होना नहीं चाहते थे। जब वे अपने ध्येय पर दृढ़ रहे तो सम्राट् ने उनके कुछ पिछले अधिकार पुनः प्रदान कर दिये। अक्टूबर चार्टर या डिप्लोमा के द्वारा हंगरी को वही स्थिति पुनः प्राप्त हो गई जो वहाँ क्रान्ति के पहले थी। इससे पाँच जिले खतम हो गये, डाइट पुनर्जीवित हो गई. स्वायत्त शासन, जो जिला असेम्बलियों पर आश्रित था, फिर कायम हो गया। इनको हंगेरियन लोगों की नियुक्ति करने के भी अधिकार मिल गये। इस प्रकार प्रबन्ध के अधिकार फिर मेगरों के हाथ में आ गये और जर्मनों के हाथों से छिन गए। जर्मन लोग अपने पदों से हटा दिए गए। इस प्रकार चार्टर ने निरंकुश शासन का अन्त कर दिया और ऐसा प्रतीत होने लगा कि हंगरी की विभिन्न जातियों के साथ समझौता करने का रास्ता तैयार हो गया। लेकिन मेगर लोग इस बात से सन्तुष्ट नहीं हुए कि केवल उन संस्थाओं को ही पुनर्जीवित किया गया जो 1848 के पहले ही विद्यमान थीं। उन्होंने यह माँग की कि मार्च के कानून उनकी जिला असेम्बलियों पर भी लागू कर दिये जायँ।

उनकी अटलता के कारण आस्ट्रिया और हंगरी के बीच की खाई और भी चौड़ी हो गई। सम्राट् ने अनुभव किया कि अपने शासन का बलिदान करने पर भी स्थिति में कोई सुधार नहीं हुआ। हंगरी को पृथक् होने से रोकने के लिए नया मंत्रिमंडल बनाया गया, जिसका प्रधान मंत्री था स्मरलिंग। यह जर्मन नरम दल की केन्द्रीयकरण की नीति का प्रतिनिधित्व करता था। अक्टूबर के चार्टर में जो कमी थी उसकी पूर्ति करने के लिए अब फरवरी पेटेन्ट जारी किया गया (1861)। इसके अनुसार समस्त साम्राज्य के लिए एक विधान बनाया गया। इस विधान से शाही डाइट स्थापित की गई। इसके सदस्य प्रान्तीय पार्लियामेन्टों तथा हंगरी की पार्लियामेन्ट के द्वारा निर्वाचित होने थे। परन्तु अक्टूबर के चार्टर की भाँति यह फरवरी पेटेन्ट भी व्यर्थ सिद्ध हुआ। इसने हंगरी की हैसियत एक प्रान्त जैसी कर दी। इसलिए हंगरी की डाइट ने सर्वसम्मति से और बड़े जोश के साथ इसको ठुकरा दिया और वियना की रेशराथ (पार्लियामेन्ट) में अपने प्रतिनिधि भी नहीं भेजे। आस्ट्रिया के विरोधियों का राष्ट्रीय नेता फ्रांसिस डीक था जिसकी गणना उन्नीसवीं शताब्दी के सज्जन राजनीतिज्ञों में की जाती थी। उसकी नीति का मूल मंत्र था कि 1848 के कानूनों को मंजूर करो। उसका कहना था कि ये कानून राजा और प्रजा ने एकमत होकर बनाये हैं। और जब तक एकमत होकर ही इनको रद्द न कर दिया जाय तब तक इनकी पाबन्दी होनी चाहिए। सन् 1861 की डाइट में डीक ने दूसरा भाषण (Address) देते हुए कहा कि हंगरी का राजनीतिक विकास कानून के अनुसार जारी रहना चाहिए। उसने इस सिद्धान्त पर जोर दिया कि आस्ट्रिया और हंगरी केवल व्यक्तिगत रूप से सम्मिलित हैं और इस सम्मेलन का आधार यह है कि दोनों देशों का शासन एक ही है। इन आधारों पर भाषण में यह दावा प्रस्तुत किया कि हमारे मौलिक कानून, हमारी पार्लियामेन्ट्री सरकार और हमारी जिम्मेदार मंत्रि-परिषद् को पुनः स्थापित किया जाय।

डीक और कोसुथ की तुलना—हंगरी में इस समय बड़ा जोश था। ऐसा मालूम होता था कि क्रान्ति होने ही वाली है। डाइट की बहसों में वही तूफानी विरोध की भावना थी जो सन् 1840-49 में नजर आई थी। परन्तु नेता की दृष्टि से डीक कोसुथ से भिन्न था। उसमें बुद्धि अधिक थी और उसकी माँगें नरम थीं। सन् 1848 की राज्य-क्रान्ति में और सन् 1867 के आन्दोलन में, जिसके द्वारा खून बहाये बिना ही विजय प्राप्त हो गई, बड़ा अन्तर है। पहले तो कोसुथ क्रान्तिकारी था और डीक विधानकारी। डीक कहता था कि बारूद के द्वारा पूरे दुर्ग को उड़ाया जा सकता है, परन्तु उसके द्वारा एक छोटी-सी झोंपड़ी भी नहीं बनाई जा सकती। वह कानूनी आधार पर खड़ा रहता था और वैधानिक सिद्धान्तों को खूब समझता था। उसकी दलील यह थी कि हंगरी की जनता की मर्जी के बिना बादशाह को यह अधिकार नहीं है कि विधान में हेर-फेर करके शाही पार्लियामेन्ट स्थापित कर दे और हंगरी की डाइट के कार्यों को छीनकर अपने

हाथ में ले ले। उसने बादशाह से पूछा, "हंगरी की वैधानिक स्वतन्त्रता की कैसे रक्षा होगी यदि श्रीमान का कोई भावी उत्तराधिकारी, इस उदाहरण का हवाला देकर कौम की अनुमति के बिना हमारे कानून और कायदों के साथ इसी प्रकार खेल करने लगे, अपने अधिकार के जोर से इनमें हेर-फेर करने लगे या इनको खतम ही कर दे। वैधानिक राज्य में कानून को वही ताकत रद्द कर सकती है जो उनको बनाती है।" ये शब्द ऐसे जान पड़ते हैं मानो किसी अंग्रेज राजनीतिज्ञ के मुख से निकल रहे हों। जैसे अंग्रेजों ने सत्रहवीं शताब्दी में स्वातन्त्र्य-संग्राम किया था, उसी भाँति डीक ने भी स्वाधीनता की लड़ाई लड़ी। वह इतिहास और कानूनी उदाहरणों का हवाला देता था। दूसरी बात यह थी कि आस्ट्रिया से संघर्ष करते हुए भी यह राजवंश के प्रति वफादार बना रहा। वह 1849 के स्वातन्त्र्य-संग्राम में शामिल नहीं हुआ। एक भाषण में, जो डीक ने किया था, हंगरी की डाइट में कहा गया था कि हमारी यह इच्छा नहीं है कि साम्राज्य का अस्तित्व खतरे में पड़ जाय। हम इस मेल को खतम नहीं करना चाहते। यह बात भी स्वीकार की गई कि राजवंश के समान मामलों में दोनों देश मिलकर काम कर सकते हैं, लेकिन जबरदस्ती के मेल से साम्राज्य कभी दृढ़ नहीं हो सकता। जो साम्राज्य केवल तलवार के बल पर टिका रहता है उसकी स्थिति नाजुक होती है। डीक इस बात की हिमायत करता था कि हर कौम का विकास स्वतन्त्र रूप से होना चाहिए जब तक कि इनके कारण हंगरी की राजनीतिक एकता में कोई बाधा नहीं आती हो।

आसग्लिच—सोलफेरिनो के कारण अक्टूबर के चार्टर का जन्म हुआ था और सेडोवा के फलस्वरूप 1867 का समझौता हुआ। सम्राट् इसकी आवश्यकता समझता था कि अपनी हंगरी की प्रजा को शान्त किया जाय। ये लोग आस्ट्रिया और प्रशिया के युद्ध में तो तटस्थ थे, परन्तु यदि आस्ट्रिया की दूसरी हार हुई तो यह डर था कि ये स्वाधीनता प्राप्त करने के लिए दूसरा प्रयास करेंगे। इसलिये डीक के सामने यह प्रश्न था कि हंगरी की क्या माँग है? इसका वह यह प्रसिद्ध उत्तर देता था कि हंगरी, जो कोनिग्राट्ज से पहले चाहता था, वही अब चाहता है। उससे अधिक कुछ नहीं चाहता। लेकिन युद्ध के कारण अब हंगरी की स्थिति अनुकूल हो गई थी जिससे बादशाह के साथ समझौता करने में उसको लाभ हो सकता था। आस्ट्रिया का पर-राष्ट्र-सचिव बेरन ब्यूस्ट, जो बिस्मार्क का कट्टर शत्रु था, हंगरी का जोरदार पक्ष लेने के लिये तैयार था। जर्मनी से युद्ध करने में आस्ट्रिया का प्रभुत्व नष्ट हो गया था। ब्यूस्ट उसको पुनः स्थापित करना चाहता था। उसने फ्रांसिस जोजेफ से आग्रह किया कि हंगरी की बात मान ली जाय ताकि प्रशिया-विरोधी नीति में उसे मदद मिल सके। उसकी सलाह स्वीकार कर ली गई और 1867 में आस्ट्रिया और हंगरी के सम्बन्ध का नया अध्याय शुरू हो गया। यह प्रसिद्ध समझौता आसग्लिच कहलाता है। इसके द्वारा दोहरा

राज्य स्थापित हुआ। वस्तुतः इस समझौते में कोई नवीन सिद्धान्त नहीं था। हंगरी राज्य की स्वतन्त्रता तो सिद्धान्त रूप से पहले ही मानी जाती थी। परन्तु व्यवहार में इसका उल्लंघन हुआ करता था। अब आसग्लिच से हंगरी की स्थिति दुर्भेद्य हो गई। अब उसका पद विलकुल आस्ट्रिया के बराबर मान लिया गया, और उसके अ न्तरिक मामलों पर उसका पूरा नियन्त्रण हो गया। मार्च के कानूनों के आधार पर विधान पुनः जा ी हुआ और हंगरी के लिए अलहदा मंत्रिमंडल वनाया गया। दूसरी ओर डीक ने यह स्वीकार किया कि आस्ट्रिया और हंगरी के हित परस्पर मिल गये है, दोनों का राजा एक है, अतः यह आवश्यक है कि रक्षा के विपय में वे परस्पर सहयोग करें। उनके राजदूत एक हों और सेना भी एक हो। इसलिये आस्ट्रिया-हंगरी के नरेश के नीचे ऐसा मंत्रिमंडल बना जिसमें पर-राष्ट्र, सेना और वित्त-मंत्री दोनों देशों के एक ही थे। वित्त मंत्रालय शाही आमदनी का प्रबन्ध करता था, और सेना तथा दूतावासों का खर्च देता था। इन समान मंत्रियों पर नियंत्रण करने के लिये शिष्टमंडल या कमेटियों का तरीका निकाला गया। एक कमेटी आस्ट्रिया में बनाई और दूसरी हंगरी में। हर एक में साठ सदस्य थे जो प्रतिवर्ष अपनी-अपनी धारा-सभाओं के द्वारा निर्वाचित किये जाते थे। इसके सिवाय कुछ ऐसी आर्थिक परम्पराएँ जारी की गई जिनके द्वारा दोनों देशों के व्यापार और जकात तथा महसूल की व्यवस्था ठीक हो सके। **आसग्लिच की आलोचना**—बहुत विस्तृत जातीय दृष्टि से देखा जाय तो यह समझौता एकपक्षीय था। यह कहना तो सच है कि आसग्लिच 'प्रागमेटिक सेंकशन' का परिणाम था। इस सेंकशन से सन् 1723 में कानून से हंगरी में स्वतन्त्रता स्थापित हो गई थी। परन्तु अगली घटनाओं से प्रकट हो गया कि इस फैसले का आधार ऐतिहासिक विकास पर नहीं बल्कि किसी हद तक घृणा पर था। दोहरे शासन का ध्येय था जर्मन और मेगर जातियों का एक प्रकार का संघ वनाना। इन दोनों ने राजसत्ता को आपस में बाँट लिया था। पोल और क्रोट लोगों को अपने घरेलू मामलों में स्वतन्त्रता दे दी गई थी। इन दोनों जातियों को अपने साथ लेकर जर्मन तथा मेगर लोगों ने शेष आठ जातियों को दबाने का अपराध किया था।[1] स्लाव लोग दोहरी सरकार नहीं चाहते थे। वे संघ के पक्ष में थे—अर्थात् वे चाहते थे कि समस्त जातियाँ आन्तरिक मामलों में स्वतन्त्र हों, क्योंकि उनके ये अधिकार ऐतिहासिक थे। बोहेमिया ने अनुभव किया कि जो प्रतिष्ठा उसको परम्परा के अनुसार प्राप्त करने का अधिकार है वह उसको नहीं दी गई! इस प्रकार 1867 के फैसले में भावी झगड़े के बीज मौजूद थे और हंगरी में मेगर लोगों की जातीय कट्टरता के कारण यह संभव नहीं था कि नई संस्थाएँ शान्ति के साथ चल सकें। गैर-मेगरों को आसग्लिच स्वीकार कराने में डीक ने स्थिति को नीतिमत्ता के साथ खूब समझकर काम किया। क्रोट लोगों को उसने अपने

1. वाटसन, रेशियल प्राबलेम्स इन हंगरी, 137।

दस्तखत करके खाली कागज दे दिया कि इसमें जो चाहो लिख लो। क्रोशिया को प्रबन्ध, न्याय, धर्म और शिक्षा के विषय में पूरी आन्तरिक स्वतन्त्रता दे दी और क्रोशियन भाषा का धारा-सभा तथा प्रबन्ध विभागों में सर्वत्र उपयोग होने लगा। पर-राष्ट्र विषय ही हंगरी की डाइट का क्षेत्र रह गया। इस डाइट में क्रोशिया के चालीस सदस्य थे। इसके अतिरिक्त क्रोशिया की अपनी भी डाइट थी, जिसके अधिवेशन अग्राम में हुआ करते थे। इसके अतिरिक्त हंगरी में निवास करने वाली गैर-मेगर जातियों के जटिल प्रश्न को हल करने के लिये सन् 1868 में जातियों का कानून (Law of Nationalities) बनाया गया। राष्ट्रीय एकता के लिये मेगर भाषा हंगरी की राजभाषा मान ली गई। पार्लियामेन्ट और अन्य सब महकमों में इसका प्रयोग होने लगा। परन्तु जिला असेम्बलियों में, अदालतों में तथा स्कूलों में अन्य भाषाओं के प्रयोग की भी इजाजत थी। यों देखने में तो यह कानून उचित और न्यायसंगत मालूम होता था। इसकी मंशा थी कि एक भाषा के प्रयोग से प्रशासनिक एकता की रक्षा की जाय और विभिन्न जातियों को अपनी-अपनी संस्कृति के विकास करने का भी मौका दिया जाय। इससे मेगर लोगों का असली मतलब हल हो गया। कानून के आरम्भ में कहा गया कि राजनीतिक दृष्टि से हंगरी के सब निवासियों की एक कौम है जिसके टुकड़े नहीं किये जा सकते। पितृदेश का प्रत्येक नागरिक उसका अंग है चाहे वह किसी भी जाति का क्यों न हो। हंगरी राष्ट्र में जो विभिन्न जातियाँ निवास करती थीं उनकी उचित और राष्ट्रीय माँगें इससे पूरी हो गईं। परन्तु वस्तुतः देखा जाये तो यह जातियों का कानून आरम्भ से ही एक व्यर्थ पत्र था, सन् 1914-18 के युद्ध से पूर्व जो स्लोवाक लोगों की दशा थी उसका वर्णन एक योग्य लेखक ने इस प्रकार किया है—"उनकी भाषा कालेजों और स्कूलों से हटा दी गई है और अब प्राइमरी स्कूलों से भी हटाई जा रही है। सरकारी दफ्तरों में और प्रबन्ध-कार्यों में इसका उपयोग नहीं किया जाता। रेलवे और डाकघरों में इसके लेख नहीं चलते। स्लोवाक प्रेस पर बरसों से पाशविक अत्याचार हो रहे हैं। बेचारे स्लोवाक लोगों को या हंगरी की गैर-मेगर जातियों को सभा आदि करने का कोई अधिकार नहीं है। छोटे-से शिक्षित वर्ग पर भी सरकारी दबाव रहता है और कई प्रकार के मुकद्दमे चलाये जाते हैं और स्लोवाक लोगों को पार्लियामेन्ट में अधिकार प्राप्त करने से रोकने के लिये अत्यन्त कठोर उपायों का प्रयोग किया जाता है। निर्वाचन-सम्बन्धी अनाचार और हिंसा का कहीं भी इतना जोर और प्रचार नहीं है, जितना स्लोवाक लोगों में। हंगरी में वास्तव में मेगरों का राज्य है। दूसरी जातियाँ तो गुलामी करती हैं।"[1] 1914-18 के युद्ध से पहले दोहरी हुकूमत को आसग्लिच के द्वारा उत्पन्न हुए लगभग पचास वर्ष हो गये थे और यह ज्यों की त्यों

1. आर० डब्ल्यू० सेटन, वाटसन, दी फ्यूचर ऑफ बोहेमिया (1915) 26।

बनी हुई थी, परन्तु इस अर्से में आस्ट्रिया या हंगरी के जातीय प्रश्नों का इससे कोई हल नहीं हुआ। रोमानियन, सर्ब या स्लोवाक लोगों को मेगर लोगों का प्रभुत्व अच्छा लगा ही नही। चेक लोग बोहेमिया में स्वतन्त्र राज्य स्थापित करना चाहते ही थे। उनके निश्चय में भी कोई कमजोरी नहीं आई। अब आस्ट्रियन साम्राज्य को युद्ध का सामना करना पड़ा तो उसको छिन्न-भिन्न होना ही था। इसके लिये रास्ता पहले ही साफ हो चुका था।

अध्याय 5

इटली का एकीकरण

मेटरनिक के शब्दों में इटली सदियों तक केवल भौगोलिक शब्द मात्र था। इस अन्तरीप को संयुक्त राज्य बनाने के लिए कई बार कोशिश हुई, परन्तु वह यों ही गई। रोम साम्राज्य के पतन के बाद जिन बर्बर जातियों ने पश्चिमी यूरोप को दबाया वे जल्दी-जल्दी ब्रिटेन, स्पेन और गौल में जम गये। परन्तु इटली पर भी इनका दाँत था, परन्तु वह किसी एक जाति के कब्जे में रह नहीं सकती थी। उसकी परम्पराओं की महानता ने ही मानो षड्यन्त्र रचकर उसके राजनीतिक विकास में रोड़ा अटका रखा था, और हर महत्वाकांक्षी विजेता इस पर आँख लगाये रहता था। छठी शताब्दी में वहाँ आस्ट्रोगोथ लोगों का राज्य था, परन्तु उनके प्रसिद्ध शासक थियोडोरिक की मृत्यु के बाद उनका आधिपत्य थोड़े ही अर्से तक टिका। उनका राज्य फौरन ही मिट्टी में मिल गया। इनके बाद लोम्बार्ड लोगों का राज्य हुआ, परन्तु उनकी विजय अस्थायी रही। इटली में फूट के तत्व पहले ही बहुत थे, अब इनके शासन से ऐसा एक और तत्व बढ़ गया। आगे चलकर साम्राज्य और पेपेसी (पोपतन्त्र) में परस्पर संघर्ष चला कि इटली में कौन राज्य करे। इससे उसमें और फूटा-फूट मची। इनके सहायक घिबेलिन और ग्यूल्फ लोग थे। इन दोनों दलों में खूब झगड़े चले, जिससे इटली का हर नगर झगड़े-बखेड़ों का अखाड़ा बन गया। मध्य युग के अन्त में चार्ल्स अष्टम ने आल्प्स पर्वत को पार करके इटली पर हमला किया। इससे इटली के इतिहास में नये युग बल्कि अँधेरे युग का आरम्भ हुआ। अब इटली यूरोप में संघर्ष का अखाड़ा बन गया। विदेशी सत्ताएँ अपना-अपना प्रभुत्व जमाने के लिए यहाँ दाव खेलने लगीं। इटली के शासक सब अपने-अपने स्वार्थों में लगे हुए थे। वे राष्ट्रीय आकांक्षाओं का बलिदान करने के लिये और अपनी आपसी लड़ाई में विदेशों से भी सहायता लेने के लिये तैयार थे। असली और सच्चे नेताओं के अभाव के कारण इटली दिन-प्रतिदिन दुर्दशा में डूबता जाता था। मेकेवली जैसे देशभक्तों ने उसका उद्धार करने के लिए कोशिशें कीं, परन्तु नतीजा कुछ नहीं हुआ।

इटली की एकता में रुकावटें—उन्नीसवीं सदी में इटली के एकीकरण में कई रुकावटें आईं। सबसे बड़ी रुकावट यह थी कि इटली विदेशी प्रभुत्व से दबा हुआ था। आस्ट्रिया उत्तर में खूब जमा हुआ था, और आस्ट्रिया के सामन्तों का शासन टसकनी, मोडेना और पारमा में तथा दक्षिण में दोनों सिसलियों पर था। सिसली और नेपल्स पर एक बोरबन राजवंश का शासन था। लगभग इतनी ही शक्तिशाली पोपों की

राजसत्ता थी जिससे इटली के दो बराबर टुकड़े हो गये थे । यह इटली के एकीकरण में ऐसी अड़चन थी, जिसको पार करना अत्यन्त कठिन था। चर्च की रियासतें ग्रेगरी प्रथम ने कायम की थीं । यह मध्यकालीन पोप-राज्य का जन्मदाता था । ग्रेगरी ने यह काम उस समय किया था जब लोम्बार्ड लोगों के आक्रमणों को रोकने वाली एक मात्र सत्ता केवल पोपों की ही थी । उसके कायम किये हुए आधिपत्य को फिर उसके उन उत्तराधिकारियों ने मजबूत किया जिनका सन्त पीटर के आसन पर अभिषेक हुआ था । ग्रेगरी ने जिस शस्त्र का निर्माण इटली के हित के लिये किया था वही इटली के लिये खतरनाक साबित हुआ । जब तक पोप की रियासतों के कारण इटली छिन्न-भिन्न-सी थी तब तक वह संयुक्त नहीं की जा सकती थी । और यह भी संभव नहीं था कि पोप के हाथ से शक्ति छीनी जा सके, क्योंकि उसकी पीठ-पीछे समस्त धार्मिक शक्तियाँ थीं । और अन्त में यह भी बात थी कि इटली के लोगों में अभी राष्ट्रीय चेतना नहीं आई थी । यूनान की भाँति इटली भी ऐसा देश है, जहाँ हर स्थान की अलग-अलग परम्पराएँ हैं । इन परिस्थितियों के कारण स्थानीय ईर्ष्याएँ बहुत बढ़ी हुई थीं और उसके राष्ट्रीय विकास में रुकावटें आया करती थीं । मेटरनिक ने कहा था कि इटली के प्रान्त-प्रान्त में, नगर-नगर में, कुटुम्ब-कुटुम्ब में तथा जन-जन में पारस्परिक भेद और विरोध है ।

इटली और फ्रांस की राज्य-क्रान्ति—जब नेपोलियन की विजय-बाढ आई तो इटली में नया युग शुरू हुआ । आस्ट्रियन और बोरबन लोगों को अन्तरीप से निकाल दिया गया । पोप की रियासतें फ्रांस में मिला ली गईं । समस्त देश में एक-सा कानून और प्रबन्ध स्थापित हो गया । फ्रांसीसी शासन के ये परिणाम थोड़े ही दिन रहे । "समस्त इटली में एक कलम से हमारी सब आजादियाँ खतम हो गईं और उनके साथ ही हमारे सब आधार और आशाएँ ।"[1] शासन का पुराना ढंग फिर आ गया । यह उतना ही खराब था जितना पहले । इसमें एक बात और अधिक खराब थी । यह थी बदलाखोरी की भावना । परन्तु फिर भी यह भावना कभी नहीं भुलाई गई कि इटली एक राष्ट्र है । इटली के निवासियों को एक झलक दिखाई दे चुकी थी कि उनका भावी देश कैसा हो सकता है । अगले पचास वर्ष तक उनकी कोशिशों का यह ध्येय रहा और इसकी स्मृतियाँ कभी धुँधली नहीं हुईं । इटली को कुछ समय के लिये यह एकता प्राप्त हुई थी । इसके अतिरिक्त उसको फ्रांसीसी राज्यक्रान्ति से एक और बहुमूल्य वसीयत मिली, अर्थात् कानून की दृष्टि में सबको समान अधिकार, धर्म के विषय में सब स्वतन्त्र, प्रेस की स्वाधीनता और स्वायत्त शासन । राष्ट्रीय शासन-विधि के ये प्रत्यक्ष लाभ हैं । इनसे लोगों का जोश और देश-प्रेम और गहरा हो गया था ।

---

1. मेज़िनी, इटली, आस्ट्रिया एंड दी पेपेसी, 76 ।

वियना की कांग्रेस के बाद इटली—वियना की कांग्रेस में राष्ट्रीय आकांक्षाओं की उपेक्षा की गई थी और इटली के साथ ऐसा व्यवहार किया गया था मानो वह कूटनीति के खेल में केवल एक गोट मात्र हो। इसलिये इटली में सबसे अधिक शक्ति आस्ट्रिया के हाथ में रही। वस यह इटली के भाग्य का एकमात्र विधाता बन गया। इसके हाथ में केवल लोम्वार्डी और विनेशिया ही नहीं थे बल्कि इसका दूसरी रियासतों पर भी पूरा प्रभाव था। साथ में लगे हुए नक्शे से प्रकट होगा कि इटली की विभिन्न रियासतें किस प्रकार स्थित थीं। अब इनकी राजनीतिक स्थिति का संक्षिप्त वर्णन किया जाता है। लोम्बार्डी और विनेशिया का एक संयुक्त राज्य था और यह हेप्सबर्ग राजवंश के अधीन था, लेकिन शासन के हेतु इसके दो प्रान्त माने जाते थे। एक की सरकार मिलान में और दूसरे की वेनिस में थी। प्रारम्भिक और सेकेन्ड्री शिक्षा की उपेक्षा नहीं की जाती थी, परन्तु इस दिशा में जो कुछ प्रयत्न होता था वह प्राय: यों ही जाता था। कारण यह था कि शिक्षा के लिये कोई पर्याप्त प्रोत्साहन नहीं था। लोगों पर करों का भार लदा हुआ था। इटली की जनसंख्या साम्राज्य की आबादी का आठवाँ हिस्सा था। परन्तु साम्राज्य की आमदनी का एक-चौथाई भाग इटली से मिलता था। अखबारों पर सख्त पाबन्दियाँ थीं। उनके समाचारों को सख्ती से सेंसर किया जाता था। पुलिस की ओर से भी बड़ा अत्याचार होता था। राजनीतिक हल-चलों का निर्दयता से दमन किया जाता था। मेटरनिक ने यह स्वीकार किया था कि सर्वत्र असंतोष फैला हुआ है। इस असंतोष के कारण ही काम अत्यन्त धीरे होता है। लोगों में यह विश्वास है कि सम्राट् इटली के प्रान्तों को जर्मन रूप देना चाहता है। और अदालतों में नित्यप्रति जर्मन मजिस्ट्रेटों की नियुक्तियाँ होती हैं।[1] पारमा की दशा कुछ अच्छी थी। यहाँ नेपोलियन की एक विधवा राज्य करती थी। इसका नाम मेरी लुइसे था। यह कमजोर महिला थी, परन्तु इसका ध्येय था शासन को अच्छी तरह चलाना। यही हाल टसकनी का था। ये लोग समझते थे कि कम से कम यहाँ इतना आतंकवाद तो नहीं है जितना और जगह। इसलिये यहाँ पर नरम निरंकुशता के अत्याचार को लोग सहन करते थे। दूसरी ओर मोडिना में आस्ट्रिया के तरीकों की सब बुराइयाँ मौजूद थीं। जब विक्टर इमेनुअल को पीडमोन्ट के राजसिंहासन पर पुन: बिठाया गया तो एकदम प्रतिक्रियावादी शासन का आरम्भ हो गया। उसने प्रथम काम यह किया कि फ्रांस की राज्य-क्रांति से जो लोगों को लाभ प्राप्त हुए थे वे उन लोगों से छीन लिये। उसने हुक्म दिया कि अब सब दूसरे कानून रद्द किये जाते हैं। आइन्दा हमारी प्रजा सन् 1770 में जो शाही विधान (Royal Constitution) जारी हुआ था उसका पालन करेगी और जो हमारे शाही शासकों ने 23 जून, 1800 से

---

1. मेमोयर्स iii, 103।

पहले कानून बनाये हैं वे भी चलते रहेंगे। सेवोय के राजवंश के प्रति लोगों की भक्ति थी, इसलिए फिलहाल कोई विरोध नहीं हुआ, लेकिन यह स्थिति सरकार के लिए बड़ी खतरनाक थी। तो भी जैसी दुर्दशा नेपल्स और चर्च की रियासतों की थी वैसी कहीं की नहीं थी। पोप के प्रबन्ध में वे सब खराबियाँ मौजूद थीं जो अव्यवस्थित अन्याचारी शासन में हो सकती हैं। कुछ अर्से बाद विलियम ग्लेडस्टन ने बोरबन वंश के शासन के विषय में कहा था कि "वहाँ भगवान् का कोई काम नहीं है।" इस शासन में सब प्रकार की ज्यादतियाँ होती थीं।

1845 की इटली का मैजिनी द्वारा वर्णन—सन् 1835 में मैजिनी ने लिखा था कि "हमारी आबादी बारह और बीस करोड़ के बीच में है और आदि-काल से हमको लोग इटली की जनता कहते आ रहे हैं। हमारे देश की सीमा प्राकृतिक है और बिल्कुल स्पष्ट है। भगवान् ने ऐसी सीमा शायद ही किसी अन्य देश को दी हो। ये सीमाएँ समुद्र और यूरोप के ऊँचे से ऊँचे पर्वतों से बनी हुई हैं। हम एक ही भाषा बोलते हैं। जहाँ-तहाँ कुछ बोलियाँ बोली जाती हैं जो एक-दूसरे से भिन्न हैं, लेकिन भिन्नता केवल उतनी ही है जितनी इंगलैंड और स्काटलैंड की भाषाओं में। हमारा धर्म एक है, शिष्टाचार एक है, आदर्श एक हैं। हमको अपनी उन राजनीतिक, वैज्ञानिक और कला की परम्पराओं पर अभिमान है जो यूरोप के इतिहास को अलंकृत करती हैं। हमने सारी मनुष्य जाति को दो बार एकता का पाठ पढ़ाया है। एक बार सम्राटों के रोम में और फिर पोपों के रोम में। फिर पोप अपने ध्येय से गिर गये। हमारे अन्दर सजीव और [illegible] शक्तियाँ हैं। हमारे यहाँ आर्थिक अभ्युदय के सब साधन हैं। अगर हम आजादी के साथ और भाईचारे से काम करें तो सुखी हो सकते हैं। हमने दूसरे देशों को संसार में अच्छे से अच्छा रास्ता बतलाया है।

"हमारे पास न राष्ट्रीय झंडा है और न कोई राजनीतिक नाम है और न यूरोपीय राष्ट्रों में हमारी कोई प्रतिष्ठा है। हम सबके लिये कोई केन्द्र नहीं हैं, कोई एक बात नहीं है, और हमारा कोई एक बाजार नहीं है। हम आठ रियासतों में तितर-बितर हो रहे हैं। लोम्बार्डी, पारमा, टस्कनी, मोडेना, लुकका, पोप राज्य, पीडमोन्ट और नेपल्स, ये सब परस्पर स्वतन्त्र हैं। इनमें कोई परस्पर बन्धन नहीं है, ध्येय एक नहीं है। उनके पारस्परिक सम्बन्ध में कोई संघटन नहीं है। आठ सीमाओं पर हमको महसूल देना पड़ता है। हर रियासत के अलग-अलग आंतरिक प्रबन्ध के कारण कई अड़चनें हैं। इनसे हमारे आर्थिक हित भिन्न-भिन्न-से हो रहे हैं। उन्नति रुकी हुई है। हम बड़े पैमाने पर पक्का माल पैदा नहीं कर सकते। केन्द्र की प्रेरणा से जो उत्साह मिलता है और जो योग्यता का विकास होता है वह हमारे यहाँ नहीं है। इटली की हर रियासत में आयात और निर्यात पर, जिनकी रात-दिन जरूरत पड़ती है,

भारी-भारी महसूल लिया जाता है। कई जगह माल के आने-जाने का निषेध है। एक रियासत में खूब उद्योग-धन्धे हैं और उपज है तो दूसरी रियासत में बिल्कुल नहीं हैं और हमको ऐसी चीजें वेचने की भी आजादी नहीं है जिनकी हमको आवश्यकता नहीं है। हम इन चीजों की आपस में भी अदल-बदल नहीं कर सकते। हमारे यहाँ आठ प्रकार के सिक्के हैं, आठ ही प्रकार के नेग-नोट हैं और आठ ही प्रकार का व्यापारिक, फौजदारी और माली कानून है। आठ ही प्रकार की पुलिस है। इन सबके कारण हमारे टुकड़े-टुकड़े हो रहे हैं। एक रियासत के लोग दूसरी रियासत के लिये विदेशी हैं और इन सारी रियासतों पर निरंकुश सरकारें राज्य कर रही हैं। इनके कामों में देश का कोई दखल नहीं है, किसी भी रियासत में प्रेस को आजादी नहीं है, न कोई सभा कर सकता है, न भाषण की स्वतन्त्रता है। सब लोग मिलकर कोई प्रार्थना-पत्र नहीं दे सकते। विदेशों से पुस्तकें नहीं मँगाई जा सकतीं। शिक्षा के विषय में कोई स्वतन्त्रता नहीं है। इनमें एक रियासत, जो इटली के एक-चौथाई के बराबर है, विदेशी अर्थात् आस्ट्रिया के अधीन है। दूसरी रियासतें उससे दबती हैं। कारण यह है कि किसी-किसी के साथ तो उसका पारिवारिक सम्बन्ध है और कोई अत्यन्त कमजोर है।

गुप्त सोसाइटियाँ—इन परिस्थितियों में संयुक्त इटली की क्या आशा की जा सकती थी। इटली के देश-भक्तों पर सरकारें हमेशा सन्देह करती थीं। राजनीतिक बहस करने की आजादी नहीं थी। उनकी गतिविधि पर कड़ा नियंत्रण था। इसलिये उन लोगों ने अपने जोश को प्रकट करने के लिये गुप्त सोसाइटियाँ बना ली थीं। ये फिर हर जगह बनने लगीं और नेपल्स में तो इनका बहुत ही जोर हो गया। इन सोसाइटियों के विषय में हमारी कुछ भी सम्मति हो, परन्तु यह मानना पड़ेगा कि वियना कांग्रेस के बाद एक पुश्त तक उनका खूब बोलबाला रहा। जब किसी भी प्रकार की राजनीतिक हलचल नहीं हो सकती थी तो यह स्वाभाविक बात थी कि इन सोसाइटियों का उदय होता। मेजिनी ने कहा था कि न हमारे पास पार्लियामेन्ट है, न प्रेस की आजादी है, न भाषण की स्वतन्त्रता है। इस प्रकार जो भाव हमारे अन्दर उबल रहे हैं, उनको प्रकट करने का हमारे पास कोई साधन नहीं है। उसने फिर ऐसे शब्द बोले जिनसे इस समय भी प्रेरणा प्राप्त हो सकती है—"जब तक नैतिक बल का उपयोग करने के लिये हमारा रास्ता खुला हुआ है तब तक हमको हिंसा से कभी काम नहीं लेना चाहिये। परन्तु जब नैतिक बल कुण्ठित हो जाए अर्थात् जब अत्याचार इतना बढ़ जाये कि जिसको आप उचित समझते हैं और सच समझते हैं उसको प्रकट करने का आपके पास कोई अधिकार न रहे अर्थात् जब संगीनों के द्वारा भावनाओं का दमन किया जाये, तब आप जो चाहें सो करें। यदि आपको इस बात का विश्वास हो जाये कि आप न्याय के रास्ते पर हैं लेकिन आपका साथ देने वाले थोड़े लोग हैं, तो आप हाथ पर हाथ रखकर बैठ जायें और जेल में बैठे-बैठे अपने विश्वास की गवाही

दें या फाँसी पर चढ़ जायें, परन्तु आपको यह अधिकार नहीं है कि आप अपने देश को व्यर्थ की घरेलू लड़ाई में फँसा दें। लेकिन अगर आपका बहुमत है, जो आपकी भावना है वही लाखों लोगों की भावना है, तो आप उठें और अत्याचारों को तलवार के बल से मार भगायें।" उसने अंग्रेजों से कहा कि जो देश हेम्पडन, पिट और बेन तथा अन्य बड़े-बड़े जनतन्त्रवादियों की स्मृति का सम्मान करता है उसको हमसे यह नहीं कहना चाहिए कि जो कुछ होता है उसको एशिया के लोगों की भाँति सहन करो। नेपल्स के कारबोनारी लोग उन असंतुष्ट लोगों में से आये हुए थे जिनको फर्डिनेन्ड प्रथम के शासन ने उसका विरोधी बना दिया था। उनका प्रभाव उस समय हुआ जब 1820 में बलवा हुआ।

1820 के बलवे—स्पेन की क्रान्ति से प्रेरणा प्राप्त करके बलवा करने वालों ने नेपोलियन वंश के शासकों को विवश करके एक विधान प्राप्त किया। यह सफलता उनको आसानी से प्राप्त हो गई। इससे वे इतने फूल गये कि अपने असली शत्रु अर्थात् आस्ट्रिया के खिलाफ उन्होंने कुछ भी सावधानी नहीं बरती। फर्डिनेन्ड ने अपनी प्रजा को दिये हुए वचन का उल्लंघन करके अपनी मदद के लिये आस्ट्रिया की सेना को बुलाया। बलवाइयों ने अपनी स्थिति का गलत अन्दाजा लगाया और बहुमूल्य अवसर अपने हाथ से खो दिया। जब रियटी (Rieti) की लड़ाई में वे पछाड़ खा गये तो बलवा बहुत जल्द खतम हो गया और इसका अन्त अकीर्तिकर हुआ। नेपल्स में एक दंगे की चिनगारियों को दबाया तो पीडमोन्ट में बलवा शुरू हो गया। यहाँ भी बलवे का उद्देश्य था विधान स्थापित करना। राजा के सामने दो रास्ते थे—या तो लोगों की माँग को स्वीकार करे या क्रान्ति को तलवार के बल से दबाये। लोगों की माँग स्वीकार करने में यह खतरा था कि आस्ट्रिया के साथ युद्ध न हो जाये। विक्टर इमेनुअल को दोनों ही रास्ते पसन्द नहीं आये। उसने इस बात का हल अपने राजसिंहासन का परित्याग करके करना चाहा। उसके बाद उसका भाई चार्ल्स फैलिक्स गद्दी पर बैठा। इसकी अनुपस्थिति में राजकार्य चार्ल्स एलबर्ट करता था। चार्ल्स एलबर्ट ने आगे चलकर इटली की स्वाधीनता के लिये बहुत बड़ा काम किया था। इससे पहले ही लोग जानते थे कि स्वातंत्र्य-संग्राम के साथ उसकी सहानुभूति है। बलवाइयों ने उससे विधान की घोषणा करवा ली, लेकिन नये राजा ने यह रियायत रद्द कर दी। तो भी चार्ल्स एलबर्ट ने राजा का ही साथ दिया और आन्दोलन से अलग हो गया। फिर आंतरिक युद्ध हुआ। आस्ट्रिया की मदद से नोवारा में राजा की विजय हुई। इस प्रकार आस्ट्रिया ने फिर निरंकुशवाद को विजयी किया।

1830 के बलवे—नेपल्स और पीडमोण्ट के बलवों के बाद इटली की जनता को बड़ी निराशा और खिन्नता हुई। प्रतिक्रिया की विजय हो चुकी थी, सारे राष्ट्र को नीचा दिखाने में इसने कोई बात उठा न रखी। आस्ट्रिया के शासन में अब और

कठोरता होने लगी। इससे उत्तेजित होकर लोगों ने फिर बलवा किया। उसका भी निर्दयतापूर्वक दमन किया गया। इससे लोगों में आस्ट्रिया के प्रति घोर घृणा जागृत हुई और यही उसके पतन का कारण हुआ। 1830 की फ्रांसीसी राज्यक्रांति के प्रभाव से इटली मुक्त नहीं रह सका। इसी क्रान्ति के कारण मोडेना, पारमा और पोप की रियासतों में जगह-जगह दंगे हुए, लेकिन फ्रांस से जो सहायता मिलने की आशा थी वह भ्रम मात्र साबित हुई। मेटरनिक ने लुई फिलिप को चेतावनी दी कि हम रक्षार्थ कोई काम करें तो आप इसमें किसी प्रकार की गड़बड़ न करें। अब आस्ट्रिया जो चाहे सो कर सकता था। उसका हस्तक्षेप घातक सिद्ध हुआ। इसके कारण सफलता की कोई आशा नहीं रही।

आस्ट्रिया और इटली —ये बलवे समय से पहले ही हो गये थे। इनसे जो अनुभव प्राप्त हुआ वह आगे चलकर लोगों के काम आया। परन्तु इसकी कीमत काफी चुकानी पड़ी। इससे लोगों का ध्यान उस समस्या पर केन्द्रीभूत हो गया जो उनके सामने थी अर्थात् विदेशी को बाहर निकालने की आवश्यकता। इसने प्रत्येक नागरिक के हृदय पर यह महापाठ अंकित कर दिया कि जब तक आस्ट्रिया के आधिपत्य का अन्त न हो जायेगा तब तक सब कोशिशें बेकार होंगी। अतः जो भी कोशिश हो वह आस्ट्रिया के आधिपत्य का अन्त करने के लिए होनी चाहिये। इस योजना को पूरी करने के बारे में इटली के सब दलों का एक मत था। राष्ट्रवादियों को इस बात का विश्वास दिलाने के लिये किसी दलील की जरूरत नहीं थी कि जब तक हेप्सबर्ग की हुकूमत का जुआ उनके कंधे पर रखा हुआ है तब तक इटली न स्वतन्त्र हो सकती है और न स्वयं अपने भाग्य का निर्णय कर सकती है। विधानवादी भी मानते थे कि जब तक मेटरनिक का हाथ स्वतन्त्रता के बीज को पनपने से रोकता रहेगा तब तक स्वाधीनता, समानता और मानवता की बातें निःसार हैं। 1821 और 1830 की घटनाओं ने दिखा दिया था कि आस्ट्रियन साम्राज्य की सहायता से इटली का छोटे से छोटा अत्याचारी सामन्त अपनी प्रजा पर जुल्म ढाहने में सर्वशक्तिमान है, आस्ट्रिया इस बात का वचन दे चुका था कि वह वंशक्रमानुगत शासकों (Legitimacy) का साथ देगा, इसलिये उसकी सेना हर शासक की मदद करने के लिये तैयार रहती थी और यह चिन्ता नहीं की जाती थी कि विवाद क्यों आरम्भ हुआ। मेटरनिक कहता था कि सन् 1815 में जो राजनीतिक व्यवस्था कायम हुई है, उसके अनुसार आस्ट्रिया इटली की जनशान्ति का सहज रक्षक है। इसलिये उसने सजग होकर यह कर्त्तव्य अपने हाथ में ले लिया कि जहाँ कहीं भी किसी राज्य में कोई नई बात जारी करने की कोशिश हो तो उसको रोकने का पूर्ण प्रयत्न किया जाय। उसको यह विश्वास था कि क्रान्ति-रथ के पहिये यदि आगे चल पड़े तो फिर रोके नहीं रुकेंगे। उसके नियन्ता की मर्यादा भी कुछ काम नहीं आएगी। यह बात थी तो ठीक, परन्तु इसमें यह मौलिक

भूल थी कि प्रगति के प्रवाह को यदि कृत्रिम साधनों से रोका जाता है तो फिर और भी भारी परिवर्तन होते हैं। नेपल्स के राजा फर्डिनेन्ड प्रथम के साथ सन् 1815 में जो सन्धि हुई थी उसमें एक गुप्त धारा थी जो मेटरनिक की नीति की अच्छी परिचायक थी। धारा यह थी, "सन्धि करने वाले दोनों बड़े पक्ष इस बात पर सहमत हैं कि दोनों सिसलियों का शासक अपने राज्य को पुनः स्थापित करते हुए कोई ऐसा परिवर्तन मंजूर नहीं करेगा जो राजवंश की प्राचीन परम्परा के अनुसार न हो, और उन सिद्धान्तों के अनुसार न हो जो आस्ट्रिया के सम्राट ने अपने इटली के प्रान्तों का शासन चलाने के लिए ग्रहण कर रखे हैं। इस प्रकार आस्ट्रिया की सहायता का अर्थ था आस्ट्रिया के अधीन होना। अतः निरंकुश शासकों के मनमाने अत्याचारों को निर्मूल करने के लिये और स्वतन्त्र जीवन का लाभ उठाने के लिये यह अनिवार्य था कि इटली की भूमि से विदेशियों को धकेलकर बाहर किया जाय।

इटली के विचार सम्प्रदाय—यदि ध्येय एक हो और उसकी पूर्ति के साधनों के विषय में जुदे-जुदे मत हों तो कोई बात नहीं है। आस्ट्रिया सबका समान शत्रु था। इसलिये राजनीतिक कार्यक्रम में उसके प्रभुत्व को खतम करना पहली बात थी। लेकिन इटली के देशभक्तों की कोशिशों में इसलिये कमजोरी आ गई थी कि वे एक ही विधि से काम करने का निश्चय नहीं कर सके। वे अलग-अलग तरीके से अपने देश के भाग्य का निर्माण करना चाहते थे और परस्पर अविश्वास के कारण हार्दिक सहयोग नहीं हो सकता था। इन लोगों में विचार-भेद की दृष्टि से मुख्यतः तीन वर्ग थे—जनतन्त्रवादी, सामन्तवादी और सेवाय राजघराने के अनुयायी।

1. **मेजिनी**—जनतन्त्रवादी जियोसेप मेजिनी के अनुयायी थे। यह इटली के आन्दोलन का पैगम्बर था। किसी षड्यन्त्र का अपराध लगाकर उसको सन् 1831 में देश से निर्वासित कर दिया था। वहाँ उसने 'युवा इटली' (Young Italy) नामक एक सोसाइटी बनाना शुरू किया। उसका खयाल था कि देश का उद्धार नवयुवकों से ही होगा। उसने सलाह दी कि "बलवाइयों के आगे नवयुवकों को रखो, इनके हृदय में जो शक्ति छिपी पड़ी है उसको आप नहीं जानते और न आपको यह पता है कि युवकों की आवाज का लोगों पर कैसा प्रभाव होता है। इन युवकों में आपको नये धर्म के कितने ही शिष्य मिलेंगे।" उसके पास ऐसे बहुत-से लगन वाले नवयुवक इकट्ठे हो गये जिनमें देशभक्ति का जोश था और जो भागी से भारी कठिनाइयों को सहने के लिये तैयार थे। उनको यह विश्वास था कि शहीदों के खून से सींचने पर विचारों के पौधे जल्दी पनपते हैं। अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिये मेजिनी के शिष्यों को उपदेश दिया गया था कि "पर्वतों पर चढ़ो, मजदूरों का-सा खाना खाओ, कारखानों में काम करने वालों से मिलो जिनकी अब तक उपेक्षा की गई है, उनको अपने अधिकारों की, भूतकाल की स्मृतियों की, अपनी प्राचीन कीर्ति की और अपने पुराने व्यापार की याद

दिलाओ। उनको बतलाओ कि उन पर अगणित और अनन्त अत्याचार हो रहे हैं, जिनका उनको पता नहीं है, क्योंकि कभी किसी ने उनका भंडाफोड़ ही नहीं किया।" मेजिनी में यह विशेष गुण था कि किसी अन्य व्यक्ति के दिमाग में संयुक्त इटली का स्वरूप इतना स्पष्ट और निश्चित नहीं था जितना उसके दिमाग में। अपने देशवासियों को यह स्वप्न समझाने के लिये उसने इतनी लगन और तत्परता से काम किया मानो वह किसी धर्म का प्रचार कर रहा हो। उसने लिखा था कि "इटली एक राष्ट्र बनना चाहता है और वह अवश्य बनेगा, चाहे कुछ भी हो। मुझे पूर्ण निश्चय है कि इस युग के व्यतीत होने से पहले ही वियना की सन्धि के कागज हमारे सिपाहियों की बन्दूकों की डाट भरने के काम में आने लगें और सम्भव है कि वियना पर चढ़ाई करते समय ऐसा हो। मेजिनी का काम था इटली के लोगों को शिक्षा देकर यह अनुभव कराना कि इटली एक राष्ट्र है, केवल भौगोलिक शब्दमात्र नहीं। वह उनको यह अनुभव कराना चाहता था कि चाहे कृत्रिम राजनीतिक सीमाओं के कारण इटली के टुकड़े-टुकड़े हो रहे हों, लेकिन उसमें सजीव एकता है, उसकी परम्पराएँ और ऐतिहासिक स्मृतियाँ एक हैं। मेजिनी ने उन लोगों से अपील की जो एक ही भाषा बोलते थे, एक ही देश में निवास करते थे, जिन्होंने बचपन में पालने में लेटे हुए अपनी माताओं से एक ही प्रकार की लोरियाँ सुनी थीं, जिन्होंने युवाकाल में एक ही सूर्य से पुरुषार्थ प्राप्त किया था, जिनको एक ही प्रकार की स्मृतियों से प्रेरणा प्राप्त होती थी और जिनकी साहित्य-भावना का एक ही साहित्य-स्रोत था। कार्बोनारी संस्था ने यह उत्तम काम किया कि देशभक्ति की भावना को जीवित रखा, लेकिन इन लोगों में संगठन की योग्यता नहीं थी और यही इनके आन्दोलन में दोष था। मेटरनिक ने लिखा था कि प्रसिद्ध नेताओं का अभाव है। उनसे मिलकर काम नहीं होता। इसलिये गुप्त सोसाइटियाँ उतनी खतरनाक साबित नहीं हुई जितनी उम्मीद थी। छोटे-छोटे बलवे करने में उनकी शक्तियाँ नष्ट होती थीं और इनसे कोई काम भी नहीं बनता था। हाँ, कुछ दिन तक ऐसा मालूम होता था कि कामयाबी हुई। परन्तु जब ध्येय और उसके प्राप्त करने के साधन दोनों एक नहीं थे तो असफलता तो होनी ही चाहिये थी, जब क्रान्तिकारी लोगों का तरीका यह था कि अपनी-अपनी ढपली और अपना-अपना राग, तो फिर अनिष्ट नहीं होता तो क्या होता ? सफलता तो उसी अवस्था में हो सकती थी कि इटली के सब प्रदेश कन्धे से कन्धा भिड़ाकर काम में जुट जाते। सन् 1821 में नेपोलिटन लोगों का जब पूरा दमन हो गया तब पीडमोण्ट का नाद खुला और 1830 में जो बलवे हुए उनमें कोई यहाँ और कोई वहाँ हुआ तथा कोई होकर रह गये। सबकी योजना में दोष था। इस संकुचित नीति की विफलता अब इतिहास के प्रकाश में हमको साफ-साफ दिखाई देती है, परन्तु उस समय शुरू में लोगों को इसका पता नहीं चला। परन्तु जब उनको बार-बार धक्के लगे तब यह बात उनके दिमाग में घुसी

और [illegible] की [illegible] के [illegible] तो शायद यह पाठ कभी सीखते ही नहीं। कुछ भी हो, मेजिनी एक नेता की हैसियत से [illegible] है। उसका समस्त जीवन एक ऊँचे ध्येय के अनुसरण में लगा हुआ था। उसके आन्दोलन से इटली के लोगों का राजनीतिक क्षितिज और विस्तृत हो गया और राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिये शक्तिशाली जनमत बन गया। इसलिये वर्तमान इटली के विधाताओं में उसका स्थान ऊँचा और अमर है।

2. **सेवोय का राजघराना**—मेजिनी ने तो अपने देश के सामने संयुक्त इटली का आदर्श रखा था। इस आदर्श को मूर्त रूप दूसरे लोगों ने दिया। मेजिनी स्वतंत्र-वादी था, इसलिये नये राष्ट्र की रचना जनतन्त्रात्मक आधार पर खड़ी होनी थी। यह खयाल था कि जब जनता विदेशी दमन का जुआ फेंकने के लिये एकदम खड़ी हो उठेगी तो उसके राजतन्त्र के बन्धन भी साथ ही साथ टूट जायेंगे; परन्तु मेजिनी का यह स्वप्न साकार नहीं हुआ। सेवोय के घराने के प्रति उन लोगों की श्रद्धा बनी रही जो व्यवहारकुशल थे। इन लोगों का खयाल था कि संगठित सैनिक शक्ति ही सफल हुआ करती है। अब इटली के लोग पीडमोन्ट की ओर देखने लगे, क्योंकि इटली की रियासतों में इसी के पास ऐसी सेना थी जो रणभूमि में आस्ट्रिया के खिलाफ खड़ी हो सकती थी। इसके अतिरिक्त भावी संघर्ष में नेतृत्व ग्रहण करने की क्षमता भी कई कारणों से केवल उसी में थी। इस राजघराने में कोई विदेशी रक्त भी मिला हुआ नहीं था। 1817 में मेटरनिक ने यह कहा था कि ट्यूरिन के मंत्रिमंडल की ऐसी महत्वाकांक्षाएँ हैं जो आस्ट्रिया को नुकसान पहुँचाकर ही पूरी हो सकती हैं। पीडमोन्ट में इस समय चार्ल्स एलबर्ट का राज्य था जो सन् 1831 में गद्दी पर बैठा था। इसका पहले ही उल्लेख किया जा चुका है कि 1821 में जो बलवा हुआ उस समय उसका व्यवहार ऐसा था जिसको दो दृष्टियों से देखा जा सकता है। लगभग बारह वर्ष बाद जो दूसरा बलवा हुआ तो बड़ी सख्ती के साथ इसने उसका दमन किया था। परन्तु आगे की घटनाओं ने सिद्ध किया कि जो कुछ वह कहा करता था, वह सत्य था। उसका कहना था कि मेरे अन्तिम दिन तक देशभक्ति और विदेशी शासन से मुक्ति के नाम पर मेरा हृदय उछला करेगा। जब समय आएगा तो मेरा जीवन, मेरे लड़कों का जीवन, मेरे शस्त्र, मेरा धन और मेरा सर्वत्र इटली की हित-वेदी पर बलिदान कर दिया जाएगा। इस अर्से में जिस बुद्धिमत्ता के साथ उसने राज-प्रबन्ध किया उससे उन लोगों की आशाएं और भी बढ़ गईं, जिनका खयाल था कि सेवोय के राजघराने के द्वारा ही इटली की मुक्ति होगी। वह कहता था, "हम जमाने के साथ-साथ चलेंगे।" उसने ऐसे कितने ही सुधार जारी किये जिनका उद्देश्य पीडमोन्ट को आधुनिक राष्ट्र बनाना था और उसको राष्ट्रीय निर्माण के लिये तैयार करना था।

3. संघवादी—लेकिन अभी तो इटली के राजभक्तों का एक दल गियोबर्टी के प्रस्तावों की ओर आकर्षित होने लगा। इन प्रस्तावों का खुलासा उसने अपने प्रसिद्ध पत्र प्राइमेटो में किया था। ये प्रस्ताव बहुत लम्बे-चौड़े थे, लेकिन आगे की घटनाओं को इन्हीं से स्वरूप प्राप्त हुआ। इन तजवीजों में मौलिकता थी। तत्कालीन साहित्य में राजनीतिक विचारों की बाढ़ आ रही थी, परन्तु गियोबर्टी के विचार ऐसे थे जिनकी उस समय किसी विचारधारा से तुलना नहीं की जा सकती थी। इन विचारों के अनुसार इटली के विभिन्न राज्यों का एक संघ निर्मित करके पोप को उसका अध्यक्ष बनाना था। सदियों से यह खयाल था कि पोपों की राजसत्ता के कारण इटली की पुनर्जागृति के मार्ग में एक बहुत बड़ा विघ्न आता है, लेकिन अब इसी को आधार बनाकर जागृत इटली को उसी पर खड़ा करने का विचार था। पोपराज्य का सुधार करना और अपनी दुर्दशा में से उसको निकालना साम्राज्य के साथ संघर्ष छेड़ना था। पहले की भाँति पुनः पोपों के द्वारा इटली के हितों की रक्षा होनी थी और विदेशी शासक से लोहा लेना था।

उदार पोप—इटली के प्रश्न को हल करने के लिये कई तजवीजें हुईं। उनमें संघवादियों की और न्यो-ग्योल्फ्स (Neo-Guelphs) लोगों की तजवीज यद्यपि ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत दूर की और धुँधली-सी थी, लेकिन फिर भी भाग्यचक्र ऐसा घूमा कि सबसे पहला मौका इसी तजवीज को मिला। सन् 1846 में पायस नवाँ पोप की गद्दी पर बैठा और इसी क्षण से इटली की स्वाधीनता का उदय होने लगा और उस क्रान्ति का आरम्भ हुआ जिसका अन्ततोगत्वा यह परिणाम हुआ कि विदेशी को मार भगाया और इटली का अन्तरीप एक देश बन गया। तीस वर्ष तक इटली के लोग निराशाओं के जंगल में भटकते रहे। अन्त में अब उनको अपना स्वप्न सफल होता हुआ दिखाई देने लगा। उन्होंने देखा कि वियना की कांग्रेस में जो राजनीतिक इमारत खड़ी की गई थी वह गिरने लग गई। लोगों का ऐसा विश्वास था कि नया पोप आस्ट्रिया के विरुद्ध है और स्वतन्त्रता का प्रेमी है। उसने जोबर्टी के ग्रन्थों का अध्ययन किया था जिनका उसके दिमाग पर वैसा ही प्रभाव पड़ा जैसा बोलिंग ब्रुक के पेट्रियट किंग के अध्ययन से जार्ज तृतीय पर पड़ा था। इसलिये पायस नवें के अभिषेक का लोगों ने बेहद जोश के साथ स्वागत किया। इससे पता लग गया कि इटली को एक अच्छे नेता की बड़ी जरूरत और प्रतीक्षा थी। उसने पहला ही काम ऐसा किया जिससे सिद्ध हो गया कि निर्वाचन के समय लोगों में जो आशाएँ पैदा हुईं थीं वे ठीक थीं। उसने सब राजनीतिक कैदियों को छोड़ दिया। यह तो पता नहीं कि उसका क्या इरादा था, परन्तु इस कार्य से ऐसा प्रकट हुआ कि वह आस्ट्रिया का विरोध करना चाहता है। इसका यह मतलब था कि चर्च की दृष्टि में देश-प्रेम अब अपराध नहीं है। मेटरनिक ने इस बात को स्वीकार किया कि "हम हर बात के

लिये तैयार हैं, हमको उदार दल का पोप नहीं चाहिये लेकिन इस समय हमारा पोप उदार दल का है।" कैदियों की रिहाई के बाद कौंसिल आफ स्टेट की स्थापना हुई जिसके सदस्य सब लोग हो सकते थे। रोम में म्युनिसिपैलिटी कायम की गई और एक सिविक गार्ड की स्थापना की गई। इटली की सरकार बहुत पिछड़ी हुई थी, लेकिन जब उसने ऐसे बड़े-बड़े सुधार किये तो समस्त इटली के निवासियों ने समझा कि अब रणभेरी बजने ही वाली है। सिसली के लोगों की सबसे पहली हलचल शुरू हुई। उन्होंने बलवा कर दिया और एक महीने में थोड़े समय में ही मेसिना के सिवाय उन्होंने सारे टापू पर अपना अधिकार कर लिया। वैधानिक सरकार स्थापित हो गई। बोरबन वंश की निरंकुशता की जंजीरें एकदम झड़ पड़ीं। फर्डीनेन्ड द्वितीय को यह खतरा मालूम हुआ कि कहीं उसका महाद्वीप वाला राज्य खतरे में न पड़ जाये। इसलिये बलवा होने से पहले ही उसने नेपल्स में एक विधान जारी किया। इस तरीके से वह पोप को भी सजा देना चाहता था। उसको यह बात भी पसन्द नहीं थी कि पोप स्वातंत्र्य-आन्दोलन का संरक्षक हो, क्योंकि अब इटली की समस्त जनता वैधानिक सरकार की स्थापना के लिये अपनी आवाज ऊँची करने ही वाली थी। यह आशा बहुत जल्दी पूरी भी हो गई। पोप को विवश होकर फर्डीनेन्ड के उदाहरण को मानना पड़ा। उसने एक विधान की घोषणा की। इसकी नकल टस्कनी में ल्योपार्ड को भी करनी पड़ी। चार्ल्स एलबर्ट ने देखा कि भावी संघर्ष में स्वतन्त्रतावादी दल की सहानुभूति प्राप्त करनी चाहिये। अतः उसने भी एक घोषणा जारी करके पीडमोन्ट को विधान प्रदान किया। नये इटली राज्य के लिये यह विधान आधारभूत बन गया। इसके साथ ही साथ आस्ट्रिया में भी यह विश्वास दृढ़ हो गया कि इटली की आजादी अब निकट ही है। वियना मेटरनिक की शक्ति का गढ़ था, लेकिन इस नगर में उसकी सरकार के खिलाफ बलवा हुआ और एक क्षण में ही मंत्री को अपनी गद्दी छोड़नी पड़ी। अब हैप्सबर्ग साम्राज्य के सब उपकरण जाते रहे जिसके कारण वह ताश का-सा घर मालूम होने लगा। लोगों का खयाल था कि ज्यों ही इनको कोई संगठित धक्का लगा तो यह चूर-चूर हो जायेगा। इस विश्वास से लोगों में आत्म-निर्भरता आई। आस्ट्रिया में जो इटली के प्राप्त थे वे अपनी पड़ोसी रियासतों में शामिल हो गये। सबने मिलकर राष्ट्रीय स्वातंत्र्य के लिये आन्दोलन शुरू किया। मिलान ने पाँच दिन में ही आस्ट्रिया की सेना को, जो रेडेट्जगी के नायकत्व में लड़ रही थी, शहर खाली करने के लिये विवश किया। वेनिस में भी जल्दी से ऐसा ही हुआ। किले में से उसने सेना को निकाल दिया और सन्त मार्क का जनतन्त्र घोषित कर दिया।

1848 का युद्ध—अब सारी भावी घटनाओं की गति पीडमोन्ट के राजा के हाथ में थी। जिधर उसका रुख होता उधर ही घटनाओं की गति होती। कावूर

जोरदार शब्दों में कहा था कि "अब सारडीनिया के राजवंश के लिए भाग्य का मुहूर्त आ पहुँचा है। उसके लिए एक मार्ग है और वह यह है कि तत्काल युद्ध जारी कर देना चाहिए।" चार्ल्स एलबर्ट चर्च का बड़ा भक्त था, इसलिए धार्मिक कारणों से वह किसी कैथोलिक सरकार के खिलाफ तलवार नहीं उठाना चाहता था, लेकिन 1847 में आस्ट्रिया ने सुधार दल की चुनौती स्वीकार की और पोप के विरोध की परवाह न करके फेरारा पर कब्जा कर लिया। इस गलती से चार्ल्स एलबर्ट को अच्छा मौका मिला। अब वह कहने लगा कि मैं चर्च का रक्षक हूँ। मैं कौम के अधिकारों के लिए जो लड़ाई लड़ रहा हूँ वह वास्तव में एक क्रूसेड है और धर्म के पवित्र अधिकारों को पुनः स्थापित करने के लिए लड़ा जा रहा है। मिलान ने उसको रण-निमन्त्रण दिया जिसको उसने स्वीकार किया। उसने आस्ट्रिया के खिलाफ लड़ने की तैयारियाँ कर लीं और युद्ध के संचालन की जिम्मेदारी अपने ऊपर ले ली। सारी इटली उसके झंडे के नीचे आ गई। लोगों में इतना जोश उमड़ा कि किसी रियासत ने उसका विरोध नहीं किया। पोप, ड्यूक आफ टस्कनी यहाँ तक कि ड्यूक आफ नेपल्स को भी विवश होकर संघर्ष में शामिल होना पड़ा। पीडमोन्ट की सेना को गोइटो में आस्ट्रिया की सेना पर, जिसका सेनापति रेडेट्जकी था, विजय प्राप्त हुई, परन्तु पीडमोन्ट की सेना इसके बाद आगे नहीं बढ़ी और शत्रु ने फिर विसेन्जा, पाडूवा और वेनेशिया के अन्य स्थान छीन लिए। यहाँ तक कि केवल वेनिश ही पीडमोन्ट के हाथ में रह गया। पीडमोन्ट की यह हार समझ में नहीं आती, क्योंकि रेडेट्जकी के पास इस समय बहुत कम सेना थी और अगर उस पर जोर से हमला किया जाता तो वह अपनी सेना से अलग हो जाता और उसकी सहायता के लिए फिर कोई सेना नहीं आ सकती थी। पीडमोन्ट की यह हार बड़ी अनिष्टकारी सिद्ध हुई। केवल सैनिक दृष्टि से ही नहीं बल्कि राजनीतिक दृष्टि से भी। इटली की सरकारों को अब उस काम से पीछे हटने का मौका मिल गया जिसको उन्होंने अनिच्छा से ही आरम्भ किया था। पायस नवें को दो प्रकार की सलाहें मिल रही थीं और वह परेशान था कि क्या किया जाये। तब वह इटली का शासक था, इसलिए यह उसका कर्त्तव्य था कि विदेशी को मार भगाने में वह सहयोग दे, परन्तु वह कैथोलिक धर्म का अध्यक्ष था और आस्ट्रिया का राजवंश ही सबसे बड़े कैथोलिक धर्म का अनुयायी और आश्रय था। इन दोनों बातों का सामंजस्य नहीं हो सकता था। इसलिए पायस ने निश्चय किया कि धर्मनिरपेक्ष शासक के हितों का त्याग करना चाहिए। अप्रैल सन् 1848 में उसने एक घोषणा जारी की, जिसमें उसने बतलाया कि आस्ट्रिया के साथ युद्ध लड़ना पोप के लिए घृणास्पद है। यह घोषणा कई दृष्टि से महत्व की थी। पहले तो इसका मतलब यह था कि गियोबर्टी के प्राइमेटो में जिस स्वप्न का उल्लेख है वह उच्छिन्न हो गया। संघ की तजवीज एक तरफ फेंक दी गई, क्योंकि इटली का नेतृत्व ऐसी सरकार के हाथ में नहीं सौंपा जा सकता था जो अपनी जिम्मेदारी से पीछे हटती

थी और वह भी ऐसे समय में जो अनुकूल प्रतीत होता था । इसका तत्काल फल यह हुआ कि नेपल्स के राजा ने अपने दक्षिणी राज्य में जो विधान जारी किया था वह रद्द कर दिया और सीमा पर से अपनी सेनाएँ वापस बुला लीं ।

युद्ध की गति—जब साथी सब अलग हो गये तो मैदान में आस्ट्रिया के साथ युद्ध करने वाला केवल पीडमोन्ट ही रह गया, लेकिन यदि चार्ल्स एलबर्ट दृढ़ निश्चय कर लेता और ऐसी सरगर्मी के साथ काम करता जिसकी सेना के संचालन में आवश्यकता हुआ करती है, तो स्थिति अब भी सुधर सकती थी । मध्य और उत्तरी इटली की वेनेशिया, पारमा, पियासेन्जा और मोडेना नामक रियासतें पोप के घोषणा-पत्र के कारण पीछे नहीं हटीं । उन्होंने जनमत लेकर यह निश्चय कर लिया कि पीडमोन्ट के राज्य में मिल जायें । सिसली के लोगों ने भी राजमुकुट सरदानिया के बादशाह के राजकुमार के माथे पर रख दिया, परन्तु थोड़े ही समय बाद कुस्तोजा के मैदान में बादशाह की बहुत बुरी हार हुई । मिलान ने आत्म-समर्पण कर दिया । इसलिये विवश होकर पीडमोन्ट के बादशाह ने सेलेस्को के पास शस्त्र डाल दिये, लेकिन वेनिस नगर में युद्ध बन्द नहीं किया ।

इसकी समाप्ति—इटली के उद्धार के लिए जिस आन्दोलन का आरम्भ इतनी अच्छी तरह से हुआ था वह अब पूरी समाप्ति के समीप आ पहुँचा था। आस्ट्रिया में आन्तरिक कमजोरियाँ थीं । इससे वह लड़खड़ाने लग गया था । परन्तु उसने शत्रु का आशातीत शक्ति के साथ सामना किया और उसके सेनानायकों की धीरज और दृढ़ता के कारण वह हारता-हारता जीत गया । इसके अतिरिक्त इटली के उत्तर में चार्ल्स एलबर्ट कोई राज्य स्थापित नहीं कर सका और उसकी हार्दिक कामना पूरी नहीं हुई। इससे राजतन्त्र की प्रतिष्ठा कम हो गई और इसी के कारण यत्र-तत्र जनतंत्रीय बलवे होने लगे । रोम के क्रान्तिकारी तत्वों ने एक जनतन्त्रीय राज्य की घोषणा कर दी और मेजिनी इसका वास्तविक अध्यक्ष बन गया । पोप देश छोड़कर भाग गया और टस्कनी में एक कामचलाऊ सरकार कायम हो गई । अब घटनाओं की तीव्र गति से इटली के स्वातन्त्र्य-संग्राम का प्रथम चरण समाप्त हुआ । यह चरण बड़ा नाशकारी था । पीडमोन्ट ने जो आस्ट्रिया के साथ सन्धि कर रखी थी वह तोड़ दी और कुछ आगा-पीछा सोचकर वह फिर युद्ध-भंवर में कूद पड़ा। इसके 11 दिन बाद नोवारा के युद्ध-क्षेत्र में इस संघर्ष का अन्त हो गया और वह आस्ट्रिया के अनुकूल हुआ । चार्ल्स एलबर्ट युद्ध करते-करते थक गया था । वह चाहता था कि आस्ट्रिया के साथ जो सन्धि हो उसमें पीडमोन्ट के लिये कुछ अच्छी और अनुकूल शर्तें तय हो जायें। इसलिये उसने अपने पुत्र विक्टर इमेनुअल द्वितीय के पक्ष में राजसिंहासन छोड़ दिया, और वह स्वयं देश से निकल गया । इस प्रकार शहीद होकर उसने बतला दिया कि इटली के हित के लिये उसमें कितनी लगन थी। अब पोप के पक्ष में फ्रांस ने हस्तक्षेप किया ।

गेरीबाल्डी ने बड़ी बहादुरी के साथ इसको टालने की कोशिश की, तो भी फ्रांस ने रोमन रिपब्लिक खतम कर दिया। साथ ही टस्कनी के ड्यूक को फिर गद्दी पर बैठा दिया गया और वेनिस जो बहादुरी के साथ शत्रु का सामना कर रहा था, वह भी खतम हो गया। अब मानों प्रतिक्रिया को भारी से भारी विजय प्राप्त हो गई।

कावूर—इटली की फिर वही हालत हो गई जो पहले थी। अब वह पुनः एक भौगोलिक शब्दमात्र रह गया। आस्ट्रिया के जुए को हटाने के लिये जो उसने कोशिश की थी उसकी अब भारी कीमत देनी पड़ी। आस्ट्रिया ने उस पर ऐसे अत्याचार किये कि सारा यूरोप जागृत होकर उससे नाराज होने लगा। इटली के राजाओं की परीक्षा हो चुकी थी। एक राजा के सिवाय अन्य किसी में कोई दम नहीं था। यह एक राजा पीडमोन्ट का नरेश था। चार्ल्स एलबर्ट के कष्ट निरर्थक नहीं हुए। उसने सिद्ध कर दिया कि सेवोय का राजघराना हृदय से देश का हित चाहता है और उसकी किस्मत इटली के भावी विकास के साथ लगी हुई है। इसी अर्से में पीडमोन्ड के भाग्य से एक बहुत बड़े राजनीतिज्ञ, कावूर का उदय होने लगा। इटली के स्वातंत्र्य-संग्राम के दूसरे चरण में इसने जीवन-भर काम किया। सन् 1852 में कावूर सरकार का अध्यक्ष बना और फिर थोड़े से अर्से के अतिरिक्त निरन्तर आठ वर्ष तक शासन-शक्ति उसके हाथ में रही। आन्तरिक क्षेत्र में उसका कार्य प्रशसा के योग्य था। इसके कारण स्वतन्त्रता-प्रेमी लोग उसके अनुयायी बन गये, और सुदृढ़ और सुसंगठित राज्य की नीव डल गई। यह कुशल पर-राष्ट्र-नीति की आवश्यक भूमिका थी। कावूर ने माल का सुधार किया, रेलव का विकास किया, व्यापारी महसूल घटा दिये, अच्छी सामाजिक और ग्राम-सुधार नीति जारी की, और रक्षा के लिये सैनिक सुधार किये। वास्तव में वह इस बात को समझता था कि दूसरे देश में दृढ़ नीति चलाने के लिए यह जरूरी है कि अपने देश की प्रजा सन्तुष्ट और सम्पन्न हो। उसने आर्थिक प्रबन्ध में ऐसी बुद्धिमत्ता से काम लिया कि राष्ट्र ने वफादारी के साथ उसके उन सब कामों का अनुमोदन किया जो दूसरे देशों में वह कर रहा था।

कावूर के उद्देश्य और तरीके—अपने पद का कार्य-भार सँभालते ही कावूर ने आस्ट्रिया के साथ वीरतापूर्वक वह युद्ध जारी कर दिया जो चार्ल्स एलबर्ट की बिपत्ति के कारण कुछ अर्से के लिये रुक गया था। उसने यह काम कितनी अच्छी तरह से किया यह वर्तमान इटली राज्य के इतिहास में अमिट अक्षरों में लिखा हुआ है। इटली की राजनीतिक एकता उसके स्थायी काम का परिणाम है। एक अच्छे राजनीतिज्ञ की निर्णय-शक्ति के द्वारा कावूर ने यह अच्छी तरह से जान लिया कि आस्ट्रिया को अलग किये बिना सफलता प्राप्त नहीं हो सकती है, पीडमोन्ट में इतनी शक्ति नहीं थी कि वह केन्द्रीय साम्राज्य के साथ अकेला युद्ध कर सकता। यूरोप के राष्ट्र इस बात को पसन्द नहीं कर सकते थे कि 1815 में जो संधियाँ हुई थीं उनका कोई उल्लंघन किया जाय।

अगर कोई राष्ट्र साथ नहीं देता तो इटली आस्ट्रिया के खिलाफ खड़ा नहीं हो सकता था और यदि खड़ा होता तो यह निश्चय था कि कूटनीति के दबाव के नीचे उसके सब प्रयत्न चकनाचूर हो जाते। और साथ ही यह भी निश्चित था कि स्थिति को ज्यों की त्यों बनाये रखने के लिये कूटनीति का प्रयोग होगा। इसलिये यह आवश्यक था कि यूरोप के राष्ट्र सहानुभूतिपूर्वक पीडमोन्ट की बात सुनते और फिर कुछ शक्तिशाली राष्ट्रों का सहयोग प्राप्त किया जाता। तदनन्तर आस्ट्रिया को युद्ध करने के लिये उकसाया जाता और जब यह जाहिर होने लगता कि आस्ट्रिया यों ही इटली पर हमला कर रहा है तब युद्ध शुरू किया जाता। कावूर ने बड़ी चतुरता के साथ आस्ट्रिया के चारों ओर जाल बिछाया और अपना कार्यक्रम सारा पूरा कर लिया। यह कूटनीति का बहुत बड़ा काम था। उसका पहला काम तो यह था कि 1853 में लोम्बार्डी और वेनेशिया से जब कुछ राजनीतिक लोग अत्याचारों से बचने के लिये भागने लगे तो उसने उनका साथ दिया। आस्ट्रिया की सरकार ने इन लोगों की सम्पत्ति जब्त कर ली थी। इस हस्तक्षेप का कोई नतीजा नहीं निकला, लेकिन इंगलैंड और फ्रांस ने इसका अनुमोदन किया और इसमे यह प्रकट हुआ कि पीडमोन्ट उत्पीड़ित इटेलियन स्थिति का साथ देने वाला है। फिर भी 1855 में ऐसी घटना घटी जिसके कारण स्थिति का स्वरूप बदला। कावूर ने निश्चय किया कि क्रीमिया के युद्ध में शामिल होना चाहिये। इस निश्चय के कारण सारडिनिया के शासक की प्रतिष्ठा बहुत बढ़ी और जिन राष्ट्रों का उसने साथ दिया वे उसके कृतज्ञ बन गये। साथ ही इससे आस्ट्रिया पूर्ण रूप से अलग हो गया। अपनी कृतघ्नता के कारण उसकी रूस के साथ कोई मैत्री नहीं रही और उसकी ढिलमिल नीति के कारण पश्चिम के राष्ट्रों के साथ उसकी अनबन हो गई। पेरिस की काँग्रेस में (1856) कावूर ने बतलाया कि इटली में आस्ट्रिया कैसे अत्याचार कर रहा है। उसने इतने जोरदार शब्दों में पर्दा फाश किया कि आस्ट्रिया को शर्म आई और उसने अपनी सख्तियाँ कम कर दीं। लेकिन अब समझौते का समय निकल चुका था। इटली के प्रसिद्ध देशभक्त डेनाइले मेनिन ने अपने देश की ओर से कहा, "हम यह नहीं चाहते हैं कि आस्ट्रिया अपने तरीकों को सुधारे। हम तो यह चाहते हैं कि वह इटली से निकल जाये।"

नेपोलियन तृतीय और इटली—इंगलैण्ड की जनता इटली के देशभक्तों के साथ बड़ी सहानुभूति रखती थी, लेकिन उसके राजनीतिज्ञ समझते थे कि वे 1815 की सन्धियों के बँधे हुए हैं, इसलिये उनसे किसी प्रकार की मदद मिलने की आशा नहीं थी। इसलिये कावूर ने फ्रांस से बातचीत की। फ्रांस के सम्राट् ने उसके उत्साह को बढ़ाया और उसको सैनिक सहायता दी। इसके बिना कावूर का काम नहीं चल सकता था। नेपोलियन तृतीय ने जो इटली को सक्रिय सहयोग दिया उसमें उसके कई उद्देश्य थे। उसका एक इटेलियन राजघराने में जन्म हुआ था, अपनी युवावस्था में वह इटली

के बलवाइयों के साथ कंधे से कंधा भिड़ाकर लडा था। इन व्यक्तिगत प्रवृत्तियों के अतिरिक्त उसकी शाही आकांक्षाएँ भी थीं। उसको नेपोलियन की परम्पराएँ वसीयत में मिली थीं और उसकी कल्पना में वह इसका यह अर्थ निकालता था कि उसको सब उत्पीड़ित राष्ट्रों का सहायक होना चाहिये। इसके अतिरिक्त वह अपनी वंश-परम्परा से यह भी अपना कर्तव्य समझता था कि 1815 की संधियों को उलटने के लिये यत्न किया जाय और उसका एक बुरा ध्येय यह भी था कि स्थिति में गड़बड़ पैदा होने पर वह उससे लाभ उठाए। सन् 1855 में उसने काबूर से एक प्रश्न किया। इससे प्रकट हुआ था कि उसके कई इरादे थे। उसने पूछा कि इटली की सहायता किस प्रकार की जा सकती है। तीन साल बाद स्थिति ऐसी हो गई थी कि प्लोमबियरीज में एक कांफ्रेंस की गई, वहाँ नेपोलियन काबूर से चुपके से मिला और दोनों में यह ठहरा कि नेपोलियन इटली को सैनिक सहायता देगा और इसके बदले में सेवोय फ्रांस को दिया जायगा। अभी काबूर इससे ज्यादा शायद कुछ नहीं चाहता था कि पीडमोन्ट का राज्य सारे उत्तर इटली में फैल जाय और आस्ट्रिया से जो प्रान्त छीने जायें वे इस राज्य में मिल जायें। वह अभी संयुक्त इटली की कल्पना नहीं कर सकता था। वह चाहता था कि रोम में पोप के राज्य के साथ कोई गड़बड़ नहीं की जाये और नेपल्स में बोरबन राजवंश राज्य करता रहे। छः महीने बाद संसार को पता लगा कि नेपोलियन ने काबूर के साथ क्या संधि कर ली। आस्ट्रिया की राजसत्ता के साथ बात करते हुए स्वयं सम्राट् ने भी यह बात प्रकट कर दी थी। उसने कहा था कि मुझे इस बात का अफसोस है कि अब हमारे सम्बन्ध उतने सन्तोषप्रद नहीं हैं जितने पहले थे। इन शब्दों से एक सनसनी-सी हो गई और कुछ दिन बाद जब विक्टर इमेनुअल ने पार्लियामेंट का उद्घाटन करते समय भाषण दिया तो यह सनसनी और बढ़ गई। इमेनुअल के शब्द याद रखने योग्य हैं। उसने कहा, "हम सन्धियों का तो बड़ा मान करते हैं लेकिन हम विनाश के उन चीत्कारों की भी उपेक्षा नहीं कर सकते जो हम इटली के विभिन्न भागों से सुन रहे हैं।" यह एक चेतावनी थी और इसका अर्थ भी बिल्कुल स्पष्ट था। अब हजारों स्वयंसेवक पीडमोन्ट में प्रवेश करने लगे और इटली के देशभक्त बड़ी ऊँची आशाओं के साथ उस दिन की प्रतीक्षा करने लगे जब इटली की स्वाधीनता के लिये पीडमोन्ट में झण्डा फहराया जायगा।

आस्ट्रिया के साथ युद्ध--इन घटनाओं की गति तेज हो रही थी और काबूर चाहता था कि जल्दी ही जो होना है हो जाय। उसके हाथ में ही कूटनीति का सूत्र था, परन्तु उसको यह डर था कि किसी भी क्षण यह उसके हाथ से खिसक सकता था। इस चतुर राजनीतिज्ञ ने ठीक-ठीक पता लगा लिया था कि नेपोलियन के स्वभाव में बड़ी दयालुता है, लेकिन साथ ही उसका स्वभाव एक-एक घंटे में बदला करता है। इस समय फ्रांस में कठिनाइयाँ बढ़ रही थीं, इसलिये सम्राट् के डाँवाडोलपन में भी वृद्धि

हो रही थी। फ्रांस में इस समय पादरी लोगों का विरोध बढ़ रहा था। यूरोप के राष्ट्र जल्दी जल्दी यह भी समझ जाते थे कि अगर फ्रांस ने इटली पर चढ़ाई कर दी तो कहीं सारे यूरोप में युद्ध की ज्वाला न धधक उठे। इसलिये उन्होंने प्रस्ताव किया कि शान्ति की रक्षा के निमित्त सम्पूर्ण राष्ट्रों की एक काँग्रेस बुलाई जाये। लेकिन काबूर नहीं चाहता था कि कोई काँग्रेस हो, क्योंकि यदि यह होती तो उसकी सारी आशाएँ नष्ट हो जातीं। पिछली आधी शताब्दी के अनुभव से यह प्रकट हो गया था कि इस प्रकार की काँग्रेसें रुकावट पैदा करती हैं या संतुलन कायम करती हैं, लेकिन किसी कौम की माँगों को पूरा नहीं करतीं। इस प्रकार स्थिति नाजुक हो गई। आस्ट्रिया अब काबूर के हाथों में खेलने लगा। इसका कारण था कि कूटनीति में काबूर आस्ट्रिया के मुकाबले में बहुत बढ़ा-चढ़ा था। आस्ट्रिया की नीति यह थी कि धैर्य के साथ इन्तजार किया जाय और इसी अर्से में पीडमोन्ट और फ्रांस की सन्धि यूरोपीय राष्ट्रों के दबाव से भंग हो जाय। वास्तव में स्थिति ऐसी हो गई थी कि पीडमोन्ट में जो लोग युद्ध करना चाहते थे उनकी बात चल गई और पीडमोन्ट को युद्ध के लिये ललकारा गया। काबूर ने खुश होकर कहा कि अब पासा पड़ गया और हमने नया इतिहास बना दिया। उसके सामने घोर कठिनाइयाँ आईं, परन्तु जिस उद्देश्य के लिये वह अर्से से प्रयत्न कर रहा था वह पूरा हो गया। आस्ट्रिया ने उस समय लड़ाई की घोषणा की जब यूरोप के राष्ट्र शान्ति के लिये प्रयत्न कर रहे थे। यह उसकी बड़ी भूल थी और इससे ऐसा जाहिर हुआ मानो पीडमोन्ट को युद्ध करने के लिये मजबूर किया गया हो।

नेपोलियन का अलग होना—आस्ट्रिया ने अप्रैल 1859 में पीडमोन्ट पर हमला कर दिया। इससे युद्ध की शुरुआत हो गई। विक्टर इमेनुअल और नेपोलियन अपनी सेनाओं के साथ रणभूमि में आये। उनकी जल्दी-जल्दी कई स्थानों पर जीत हुई और अन्त में सालफेरिनों में उनको भारी विजय प्राप्त हुई। परन्तु अभी विपत्तियों ने इटली का पिंड नहीं छोड़ा था। इस देश ने विजयोल्लास का प्याला अपने होंठों से लगाया ही था कि वह गिरकर चकनाचूर हो गया। उसको विजय प्राप्त हो रही थी और आस्ट्रिया की पराजय निश्चित मालूम होती थी, परन्तु उसी समय नेपोलियन पीछे हट गया। लोम्बार्डी ने पीडमोन्ट के प्रति आत्म-समर्पण कर दिया। इसके बदले नेपोलियन ने जुलाई 1859 में विल्लाफ्रेंका नामक स्थान पर सन्धि कर ली। उसके कार्य की बड़ी तीव्र आलोचना हुई। काबूर को घोर दुःख हुआ और वह दंग रह गया। उसकी सब तजवीजें धूल में मिल गईं। परन्तु नेपोलियन तृतीय के स्वभाव से और आशा ही क्या की जा सकती थी! वह विरोधी भावनाओं के प्रभाव से कभी इधर झुकता था और कभी उधर। उसके स्वभाव में हवा के-से झोंके आया करते थे। यह भी स्वीकार करना चाहिये कि उस समय उसके सामने ऐसी कठिनाइयाँ थीं जिनके कारण एकदम

खतरा खड़ा हो गया था। प्रशिया उसकी विजय के कारण चिन्तित था। उसको धोखा था कि कहीं फ्रांस-नरेश अपनी सीमा को राइन की ओर बढ़ाने न लग जाय और इस प्रकार फ्रांसीसियों की चिर-अभिलाषा को पूरी करने का प्रयास करे। इतना ही नहीं, इसका बहाना लेकर प्रशिया आत्म-रक्षा के लिये तैयारी करने लग गया था। इसके अतिरिक्त नेपोलियन ने यह भी देखा कि आस्ट्रिया बहुत जल्दी-जल्दी बैठता जाता था। इससे भी नेपोलियन को चिन्ता थी। ऐसा मालूम पड़ा कि अब स्थिति उसके हाथ से खिसक रही है और आइन्दा घटनाओं की गति उसके हाथ में नहीं रहेगी और इनसे कोई लाभ नहीं उठा सकेगा। उसकी आशंकाएँ भी निराधार नहीं थीं। वह इटली के प्रश्न का हल इस तरह करना चाहता था कि उत्तर में सारडीनिया के राजवंश की उचित आकांक्षाएँ पूरी हो जायें, लेकिन मध्य और दक्षिण इटली की हालत पूर्ववत् बनी रहे। उसने सम्पूर्ण देश में राजनीतिक एकता की तो स्वप्न में भी कल्पना नहीं की थी। यह एक ऐसा विकास था जिससे उसकी सैनिक शक्ति को खतरा था और जिससे फ्रांस के पादरियों के साथ उसकी मुठभेड़ होने का भय था, क्योंकि पोप का राज्य नष्ट होने पर उनमें उत्तेजना फैलना स्वाभाविक बात थी। फिर भी उसने देखा कि टस्कनी में बलवा हो गया है और पोप की रियासतों में भी गड़बड़ मच गई है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता था कि बड़ी तेजी के साथ स्थिति का प्रवाह संयुक्त इटली की ओर ही जा रहा था।

जनमत—कावूर ने अपने पद से त्यागपत्र दे दिया। तब ऐसा जान पड़ता था कि उसका काम बहुत बुरी तरह बिगड़ गया। इस नाजुक घड़ी में इटली की जनता ने अपने भाग्य की बागडोर अपने ही हाथ में ली और इस बात को समझा कि राष्ट्र को आत्मावलम्बन का सबक सीखना चाहिये। फ्रांस से बहुत बड़ी मदद मिली थी। परन्तु जो काम फ्रांस ने शुरू किया उसको पूरा करना तो इटली का ही कर्त्तव्य था। मध्य इटली ने साहसपूर्वक इस बात का विरोध किया कि पारमा, टस्कनी, मोडेना और रोमाग्ना के शासक, जो उस समय देश से निकाल दिये गये थे, जब आस्ट्रिया के साथ लड़ाई हो रही थी, उनको अब वापस बुलाकर अपने-अपने आसनों पर पुनः स्थापित कर दिया जाय। यह इटली के लिये अन्धकार की घड़ियाँ थीं, लेकिन उसको अदम्य निश्चय से भावी मार्ग दिखाई देने लगा। फ्रांस को भी अब पश्चात्ताप हो रहा था और शायद इसलिये उसने आस्ट्रिया को इस बात की इजाजत नहीं दी कि वह शक्ति का प्रयोग करे। इंगलैण्ड का प्रस्ताव था कि जनमत लिया जाय। नेपोलियन ने इस बात को स्वीकार किया। जब ऐसा किया गया तो भारी बहुमत इस पक्ष में था कि इन रियासतों को सार्डिनिया के राज्य में मिला दिया जाय। फ्रांस ने इसके बदले में सेवोय और नाइस प्रान्तों को अपने राज्य में मिला लिया। वह नहीं चाहता था कि मध्य इटली की रियासतें पीटमोन्ट में मिलें परन्तु अब उसने यह भी अनुभव

कर लिया था कि जो शक्तियाँ उसी की प्रेरणा से खड़ी हुई थीं उनको दबाना अब असम्भव था। इटली के प्रान्तों को उसने इसलिये अपने राज्य में मिलाया था कि फ्रास के लोग खुश होंगे, परन्तु इससे इटली के लोग बहुत नाखुश हुए और नेपोलियन की वे सब सेवाएँ फीकी पड़ गईं जो उसने इटली को अर्पित की थीं।

गेरी बाल्डी—अब इटली देश की आँखें सिसली पर लगी हुई थीं। उनकी दृष्टि के सामने वहाँ पर आश्चर्यजनक घटनाएँ हो रही थीं। गेरी बाल्डी का कार्य कई दृष्टियों से बड़ा आश्चर्यजनक था। इटली के आन्दोलन में यह एक नाटकीय घटना थी। इटली कठिनता का स्वाद अब खूब ले चुका था। इसके बाद उसने वीरता के ऐसे कई वीर कार्य देखे जिनसे गम्भीर ऐतिहासिक घटनाओं की ही नहीं बल्कि मध्यकालीन वीर गाथाओं की स्मृतियाँ जागृत हो उठीं। बोरबन का निर्बल राजवंश बहुत अर्से से लड़खड़ा रहा था। अब सिसली की राज्यक्रान्ति से उसकी अन्त्येष्टि हो गई। इस प्रगति का संगठन मेजिनी के अनुयायियों ने किया था, परन्तु जब गेरी बाल्डी ने, जो सेवोय राजवंश का एक अनुयायी था, नेतृत्व अपने हाथ में लिया तो इस प्रगति को नया रूप प्राप्त हो गया। अपने हजार वीरों के साथ 11 मई 1860 को गेरी बाल्डी मर्साला नामक स्थान पर पहुँचा और उसके बाद उसकी जीत ही जीत होती गई। एक महीने के अन्दर उसके लाल कुर्तीवाले सैनिकों ने बीस हजार निपोलिटन सैनिकों को उस द्वीप से खदेड़कर भगा दिया। तब हजार वीरों ने मेसीना के जल-डमरूमध्य को पार किया और 7 सितम्बर को नेपल्स में अपने डेरे जा लगाये। बोरबन बादशाह इस स्थान से पहले ही भाग चुका था। इसी अर्से में काबूर को फिर शक्ति प्राप्त हो गई। वह गेरी बाल्डी की तेज गति को परेशानी के साथ देख रहा था। उसको यह आशंका थी कि कहीं मेजिनी के अनुयायी दक्षिण की जनता में शक्तिशाली न बन जायें। सार्डिनिया के राजवंश के लिये भी उसका प्रभाव कुछ अच्छा नहीं था। इससे भी अति खतरा था। अन्तरराष्ट्रीय नाजुक स्थिति, रोम पर हमला करने और उसको इटली की राजधानी बनाने का गेरी बाल्डी का इरादा पूरा हो जाता तो भी यह खतरा नहीं टल सकता था। गेरी बाल्डी इस बात की बिल्कुल चिन्ता नहीं करता था कि अन्तरराष्ट्रीय स्थिति कैसी है। न उसको इस बात की परवाह थी कि रोम-स्थित फ्रांसीसी सेना पर यदि हमला हुआ तो फ्रांस उत्तेजित होकर युद्ध की घोषणा कर देगा। लेकिन काबूर को इस बात का ज्ञान था कि इटली के शत्रु ऐसे मौके की ताक में थे जब वे उस पर हमला कर सकें। इसलिये वह यूरोपियन ज्वाला की सम्भावना को शान्ति के साथ देख सकता था। उसकी चतुराई से खतरा टल गया। गेरी बाल्डी से पहले ही उसने पोप की रियासतों में सेना भेज दी और अपने इरादे और कार्य पर पर्दा डालने के लिये उसको बहाना भी आसानी से मिल गया। पोप ने आयरलैण्ड, बेल्जियम और फ्रांस से हजारों स्वयंसेवक इसलिये बुलाये

थे कि उसके राज्य के लिये एक बहुत बड़ा खतरा उपस्थित हो गया था। इस तूफान का वह शस्त्र द्वारा सामना करना चाहता था। इस युद्ध का पहला उद्देश्य था सेंट-पीटर के राज्य की रक्षा करना। साथ ही यह भी कहा जाता था कि वंश-क्रमानुगत राज्यों की रक्षा करना इस युद्ध का ध्येय है। परन्तु ऐसे राज्यों की रक्षा करना या निर्वासित शासकों को अपने आसानों पर पुनः स्थापित करना तो वर्तमान इटली और फ्रांस दोनों के लिये घातक था। इसलिये कावूर और नेपोलियन के लिए हित की बात यही थी कि आस्ट्रिया के शामिल होने से पहले ही इस युद्ध को खतम कर दिया जाता। इस नीति के अनुसार इटली की सरकार ने पोप सरकार से कहा कि विदेशी सैनिकों को निकाल दिया जाय और यदि न निकाला जायगा तो युद्ध आरम्भ कर दिया जायगा। दो सप्ताह में ही सब मामला खत्म हो गया। पोप की सेना की कास्टल-फिडार्डो में हार हो गई और चर्च की रियासतें पोप के हाथ से निकल गईं। यह कावूर की व्यक्तिगत जीत थी। वह एक नाजुक स्थिति में से सफलतापूर्वक निकल गया और नेपल्स की स्थिति को सँभालने के लिये अब उसके हाथ बहुत मजबूत हो गये। यह सच है कि गेरी बाल्डी की तजवीजों को विफल करने के लिये उसने सैनिकों के दिलों में राजनीतिज्ञों के प्रति गहरा सन्देह और घृणा उत्पन्न कर दी थी, परन्तु वह यह भी जानता था कि निपोलिटन किलों को जीतने के लिये गेरी बाल्डी को उसकी सहायता की आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त इटली की पार्लियामेन्ट भी मंत्रियों के कामों का अनुमोदन करती थी। अब समय आ गया था कि विक्टर इमेनुअल निपोलिटन सीमा को पार करता। जब वह गेरी बाल्डी से मिला तो इस वीर नेता ने अपनी सारी शक्ति इटली के राजा को समर्पण कर दी। यह गेरी बाल्डी का बहुत बड़ा त्याग था। इतना ही नहीं, जब उसको सम्मान और खिताबों से लाद देने का प्रस्ताव हुआ तो उसने इन्कार किया। इटली के इस महान् नेता के वीर कार्यों का यह कीर्तिकर और यशस्वी अन्त था।

इटालियन लोगों का इटली—अब इटली को राजनीतिक एकता लगभग प्राप्त हो चुकी थी। नेपल्स और सिसली में जनमत लिया गया और दोनों ही देशों में यह जनमत से तय हो गया कि इनको इटली में मिला लिया जाय। कुछ अर्से बाद उम्ब्रीया और मार्चेज नामक दो पोप-राज्यों में भी ऐसा ही हुआ। अब रोम और वेनिस ही बाकी थे। 1866 में वेनिस भी शामिल हो गया। इसी वर्ष आस्ट्रिया और प्रशिया में युद्ध हुआ जिससे इटली को अपने परम्परागत शत्रु के गाल पर थप्पड़ लगाने का अवसर मिल गया। सन् 1870 में रोम भी इटली के अधीन हो गया। इस वर्ष फ्रांस और प्रशिया के युद्ध में फ्रांसीसी सेना को पीछे हटना पड़ा। कावूर अपने जीवन-कार्य की पूर्णता को अपनी आँखों से नहीं देख सका। वह जून 1861 में ही इस संसार से चल बसा, लेकिन उसने ही इटेलियन लोगों की इटली बनाई थी और उसने देख लिया था कि इटली की जनता उसका गहरा आभार मानती है।

अध्याय 6

बालकन रियासतें

आटोमन साम्राज्य का पतन—बालकन रियासतों का उदय आटोमन साम्राज्य के पतन का इतिहास है। यह पतन बहुत धीरे-धीरे हुआ है। अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दियों में टर्की जीवित बना रहा, जिसका यह कारण नहीं था कि उसमें कोई सहज शक्ति थी, बल्कि इसलिए कि उसके पड़ोसी राष्ट्र निर्बल थे और उनमें परस्पर ईर्ष्या थी। उसका अस्तित्व इसलिए चलता रहा कि लोअर डेन्यूब पर आस्ट्रिया और रूस में प्रतिस्पर्धा बनी रहती थी और भूमध्य सागर में ग्रेट ब्रिटेन के हित उलझे हुए थे। यूरोप का रोगी (टर्की साम्राज्य) अपने जीवन से चिपका रहा। उसका विनाश स्थगित तो होता रहा, परन्तु अन्त में इसमें निराशा होनी ही थी। इतना तो स्पष्ट है कि इन सालों में नये विकासों के कारण नई बातें उत्पन्न हो गई हैं जिनके कारण पूर्वी प्रश्न ने नया रूप धारण कर लिया है। परन्तु उन्नीसवीं शताब्दी के बालकन जाल को समझने के लिए इस समस्या का विवेचन उन्नीसवीं शताब्दी की ही दृष्टि से होना चाहिए, बीसवीं शताब्दी की दृष्टि से नहीं।

पूर्वी प्रश्न के स्वरूप—पूर्वी प्रश्न हमेशा से अन्तरराष्ट्रीय प्रश्न बना हुआ है। किसी-न-किसी रूप में गत बारह सदियों से यह यूरोपीय राजनीति की पृष्ठभूमि रहता आया है। आठवीं सदी में यूरोप मुसलमानों की विजय-बाढ़ में डूबने ही वाला था। बाढ़ तो वापस हट गई परन्तु उसका डर हमेशा बना रहा। इसके एक हजार वर्ष बाद भी पूर्वी प्रश्न उतना ही जटिल और कठिन था, परन्तु अब इसमें मौलिक परिवर्तन हो गया था। यूरोप के राजनीतिज्ञों को आटोमन राज्य के विस्तार का भय नहीं था, उनको भय था इसके छिन्न-भिन्न हो जाने का। आस्ट्रिया पहले अपने को यूरोप का रक्षक मानता था और इसलिए टर्की के खिलाफ रहा था। अब उसने यह ऐतिहासिक परंपरा छोड़ दी, और वह टर्की का रक्षक बनकर रूस का विरोध करने लगा। कारण यह था कि रूस दक्षिण की ओर बासफोरस के किनारे तक बढ़ना चाहता था। यह विस्तार-नीति पीटर महान् ने शुरू की थी और केथेरिन के राज्यकाल में यह सबसे आगे थी। इससे आस्ट्रिया रूस का विरोधी और शत्रु बन गया था। आस्ट्रिया की दृष्टि यह थी कि यदि बालकन रियासतों में रूस ऊपर आ गया तो स्लाव साम्राज्य बहुत बड़ा हो जायगा, और फिर यह एक दिन दक्षिण-पूर्वी यूरोप के सब स्लाव लोगों को निगल जायगा। इसलिए यदि टर्की का राज्य बना रहेगा तो हेब्सबर्ग वंश का भी राज्य बना रहेगा। ग्रेट ब्रिटेन का भी विश्वास था कि टर्की का अस्तित्व बना रहेगा तो रूस को रोक लगी रहेगी। भारत

में उसके साम्राज्य की और भूमध्य सागर में उसकी स्थिति की रक्षा के लिए इस रोक की आवश्यकता थी। सन् 1790 में जब जोजेफ द्वितीय और केथेरिन टर्की के टुकड़े करने का विचार करने लगे तो ग्रेट ब्रिटेन ने हस्तक्षेप किया था, फिर जब क्रीमिया के युद्ध में ऐसा मालूम होने लगा कि टर्की खतम होने ही वाला है तब भी उसने हस्तक्षेप किया। यूरोप के राष्ट्र टर्की के बाहरी खतरों को तो टालते रहे. परन्तु उसकी आन्तरिक निर्बलता से उसकी जो नींव खोखली हो रही थी, उसको वे नहीं रोक सके। मुख्यतः इस कमजोरी के दो कारण थे। प्रथम कारण यह था कि टर्की के पाशा अर्थात् गवर्नरों पर कोई नियन्त्रण नहीं था। वे हर तरह से स्वतन्त्र थे, केवल नाम के लिए मातहत थे। सुलतानों का खानदान बिल्कुल निकम्मा था। उनकी हुकूमत केवल नाम की थी। उनमें न निश्चय शक्ति थी, न योग्यता। इससे टर्की का पतन बहुत जल्दी-जल्दी होने लगा। उन्नीसवीं सदी के शुरू में दो पाशा बड़े शक्तिशाली थे—एक जनीना का अली और दूसरा मोहम्मद अली। अली ने अलबेनिया में और मोहम्मद अली ने मिस्र में अपने-अपने शक्तिशाली राज्य कायम कर लिये। आटोमन राज्य धीरे-धीरे सिकुड़ कर छोटा होता गया। इसके कारण धार्मिक और जातीय थे। टर्की का राज्य तलवार के जोर से कायम हुआ था और तलवार के जोर से ही वह चल रहा था। विजेताओं और पराजितों में न एक भावना थी, न एक धर्म का पारस्परिक बन्धन। अपनी प्रजा के मध्य में रहते हुए भी तुर्क अलग ही रहता था। मुसलमानों और गैर-मुसलमानों के बीच ऐसी दीवार थी जो पार नहीं की जा सकती थी। इनकी पारस्परिक घृणा से धार्मिक और जातीय भेदों की आग सुलगा करती थी। जब बालकन जातियों मे बलवा फैल गया तो पूर्वी प्रश्न कूटनीतिज्ञों के हाथ से निकल गया, और बालकन के किसान जो हेय माने जाते थे, संसार के सामने पुरुषार्थ के साथ खड़े हो गये।

यूनानियों की दशा—बालकन अन्तरीप की रियासतों में यूनानियों ने सबसे पहले आजादी हासिल की थी। यह स्वतंत्रता की अभिलाषा दो प्रकार की परिस्थितियों के कारण उत्पन्न हुई थी और इसी से सन् 1774 में मोर्या में बलवा हुआ था। आरम्भ में तो तुर्क लोगों ने यूनानियों के साथ बर्ताव करने में बड़ी नरमी की। यूनानियों की ग्रामीण पंचायतों के साथ तुर्क लोगों ने कोई ज्यादती नहीं की थी, इसलिए इन संस्थाओं में स्वस्थ स्थानीय जीवन के तत्व त्यों-के-त्यों बने हुए थे और ये यूनानियों के स्वभाव के अनुकूल थे। उनके चर्च का भी ऐसा संगठन था जिससे वे एक सूत्र में बँधे हुए थे। बलवा होने से पहले ईजन और एड्रियाटिक के धनवान टापू-निवासी लगभग स्वतंत्र ही थे। ये लोग आटोमन साम्राज्य में शामिल थे, लेकिन तुर्कों ने इनके साथ कोई ज्यादती नहीं की थी। ये तुर्कों के केवल इतने ही अधीन थे कि प्रति वर्ष ये कुस्तुन्तुनिया को खिराज के रूप में कुछ रुपया भेजते थे और शाही नौसेना में काम करने के लिए कुछ आदमी देते थे। इनमें कुछ सशस्त्र व्यापारी डाकू थे जिन्होंने स्वतन्त्रता के संग्राम में

बड़ा काम किया था। मोर्या में या यूरोप के महाद्वीप पर इतना स्वराज्य नहीं था जितना टापुओं में था, लेकिन यहाँ भी शासन की कमजोरी के कारण ही स्वतन्त्रता की भावना का विकास हो सका था। इस स्वतन्त्रता के कारण ही इनमें डाकू बहुत हो गये थे। यह बात भी याद रखने योग्य है कि तुर्क लोगों की सहिष्णुता से यूरोप में एक उदाहरण उपस्थित हो गया था जिसकी बड़ी जरूरत थी। यहाँ ईसाइयों को जितनी स्वतन्त्रता थी उतनी स्वतन्त्रता गैर-ईसाइयों को यूरोप के किसी राष्ट्र में नहीं थी। आयरलैण्ड के कैथोलिक्स और आस्ट्रिया के प्रोटेस्टेन्ट्स इनके विशेषाधिकार को देखकर इनसे ईर्ष्या करते थे। यहाँ ईसाई धार्मिक मामलों में स्वतन्त्र थे। वे शिक्षा भी चाहे जैसी दे सकते थे, चाहे जितना धन कमा सकते थे। ईसाई चाहे जितने छोटे कुटुम्ब का हो, ऊँचे से ऊँचे सरकारी पद पर नियुक्त किया जा सकता था। यूनानी चर्च की यह महत्ता थी कि उसने मुसलमानों के खिलाफ शत्रुता की भावना जागृत रखी और मुसलमानों से मुकाबला करने के लिए ईसाइयों को सगठन करने के लिए प्रोत्साहन दिया। इस प्रकार तुर्क लोगों की सहिष्णुता के कारण ही यूनान में राष्ट्रीय आन्दोलन उत्पन्न हुआ और इस आन्दोलन से ही अन्त में तुर्कों का साम्राज्य छिन्न-भिन्न हुआ। दूसरी बात यह थी कि यूनानियों में अपना प्राचीन साहित्य पढ़ने की अभिरुचि थी। इससे वे अपनी परम्पराओं से प्रेम करने लगे और समझने लगे कि इनकी रक्षा करना उनका कर्तव्य है। जिस प्रकार हंगरी में भाषा और साहित्य की जागृति से राष्ट्रीय जागृति उत्पन्न हुई थी, उसी प्रकार यूनान में भी साहित्यिक जागृति के लिये कोराई नामक सस्थाएँ इस काम के लिए स्थापित हुई और इनसे राष्ट्रीय जागृति में बड़ी सहायता मिली, लेकिन यूनानी क्रान्ति में प्रधान प्रेरणा यूनानी सभ्यता से नहीं मिली थी। यह प्रेरणा उनको सनातन ईसाइयत से प्राप्त हुई थी। यूनानी परम्पराओं का असर तो केवल उन लोगों पर ही था जिन्होंने प्राचीन संस्कृति का अध्ययन किया था। एक अंग्रेज कवि ने यूनानी बलवे में सहयोग दिया था। उसने अपनी कविता में अंग्रेजों के भावों को चित्रित किया है—

"हे यूनान के टापुओ, यहाँ ही प्रकाशमान शेफो प्रेम करता था और गाया करता था। इन्हीं टापुओं में युद्ध और शान्ति की कलाएँ विकसित हुई थीं। यहीं डेलोज का उदय हुआ था और यहीं फीबस एकदम उठ खड़ा हुआ था। अब भी उन्नत ग्रीष्म ऋतु से उनका (टापुओं का) रंग सुनहला हो जाता है, लेकिन उनका सर्वस्व अस्त हो चुका है।

"पर्वत मेरेथोन की ओर देखते हैं और मेरेथोन समुद्र की ओर झाँक रहा है। वहाँ अकेले एक घंटा खड़े रहकर मैंने विचार किया तो मुझे स्वप्न-सा दिखाई दिया कि यूनान अब भी आजाद हो जायगा, क्योंकि ईरान की कब्र पर खड़ा हुआ मैं यह नहीं सोच सकता था कि मैं दास हूँ।"

यूनानी बलवे—यूनानियों का प्रथम बलवा सन् 1821 में हुआ। इसका नेता सीलान्टी (Ypsilanti) था। जब सुलतान में और जनीना के अली में युद्ध हुआ तो इसने उसका लाभ उठाया और मोल्डेविया तथा वेलेशिया में बलवे का झंडा फहरा दिया। उसको विश्वास था कि रूस से सहायता मिलेगी लेकिन सम्राट् अलेग्जेंडर इस समय मेटरनिक के प्रभाव में था और मेटरनिक ने उसको सलाह दी थी कि सहायता नहीं दी जाय। आन्दोलन आसानी से दव गया और सीलान्टी भागकर आस्ट्रिया चला गया। साथ ही मोर्या में एक दूसरा बलवा हो रहा था और वह धीरे-धीरे बल पकड़ता जाता था। इस बलवे ने फिर स्वातंत्र्य-संग्राम का रूप धारण कर लिया। यह उत्तर के बलवे जैसा नहीं था, क्योंकि यह एक संगठित संस्था का काम था जिसका नाम हेटेरिया फिलिके (Hetairia Philike) था। दक्षिण इटली की कारबोनेरी संस्था के समान यह संस्था भी दूर-दूर तक फैली हुई थी और देश-भक्ति की भावनाओं को जागृत रखने का काम करती थी। इसको राष्ट्रीय आन्दोलन भी कहा जा सकता है। सीलान्टी के बलवे में मोल्डेविया और वेलेशिया के रोमानियन किसानों ने कोई साथ नहीं दिया, क्योंकि यूनानी लोगों ने इनको (रोमानियन्स को) बहुत सताया था। यद्यपि यूनानी क्रान्ति के लिये हिटेरिसट्स लोगों के आन्दोलन से भूमि तैयार हुई थी, लेकिन मोर्या का बलवा एकदम हुआ था और संगठित नहीं था। जहाँ-तहाँ कई बलवे हुए और अन्त में लोग इतने उत्तेजित हो गये कि मुसलमानों की आजादी को खतम कर दिया और फिर कोरिन्थ के स्थल डमरूमध्य के उत्तर में भी बलवे शुरू हो गये। आखिरकार सारे यूनान में, यहाँ तक कि सिसली और मैसीडोनिया भी इससे नहीं बचे। यह दुर्भाग्य की बात थी कि यूनानियों ने आजादी के युद्ध को मुसलमानों के रक्तपात से कलंकित किया। शुरू से ही इस आजादी के युद्ध ने विनाश का रूप धारण कर लिया था।

मुहम्मद अली का हस्तक्षेप—यह युद्ध आठ साल तक चलता रहा (1821-1829) और इसका अन्तिम परिणाम दस साल में निकला। पहले तो तुर्क लोगों को यह भारी कठिनाई रही कि उनको दो मोर्चों पर लड़ना पड़ा। कई महीनों तक उनकी सबसे अच्छी सेना जनीना के किले के सामने पड़ी रही। यद्यपि बहुत बड़ी सेना ने इस किले को घेरे रखा था, तो भी अली ने बड़ी वहादुरी से इसका मुकावला किया। इसके अतिरिक्त यूनानी लोग बहुत अच्छे नाविक थे और सामुद्रिक शक्ति उनके हाथ में थी। यह बहुत बड़े महत्त्व की बात थी। वेलिंगटन कहता था कि सामुद्रिक शक्ति यूनानियों के हाथ में है और जिनके हाथ में यह शक्ति होगी उन्हीं की विजय होगी, लेकिन 1824 में भाग्य-चक्र ने पलटा खाया और अब तुर्क लोगों की जीत होने लगी। तुर्की के सुलतान ने मिस्र के पाशा मोहम्मद अली से सैनिक सहायता माँगी और उसको वचन दिया कि यूनानी बलवाइयों के खिलाफ मदद देने

के बदले में उसको मोर्या, सीरिया और दमस्कस का पाशा बना दिया जायगा। सुलतान महमूद की नीति तो यह थी कि अपनी प्रजा में किसी को अति प्रबल नहीं होने दिया जाय और जो प्रबल हो गया है उसको निर्बल किया जाय। परन्तु परिस्थितियों के वश होकर उसको अपनी स्थिति निर्बल करनी पड़ी और इस प्रकार का वचन देना पड़ा। डूबता हुआ आदमी साँप से भी चिपट जाया करता है। इस समय स्थिति ऐसी हो गई थी कि यदि यूनान पर कब्जा बनाये रखना था तो सुल्तान का मोहम्मद अली की सहायता के बिना काम नहीं चल सकता था। जब मिस्र के पाशा ने मदद दी तो उसका नतीजा तत्काल प्रकट होने लगा। उसके पास ऐसी सेना थी जिसको फ्रांसीसी अफसरों ने और इंजीनियरों ने पश्चिमी ढंग पर संगठित किया था। इसलिये जल और स्थल दोनों पर इस सेना की महत्ता प्रकट होने में देर नहीं लगी। यूनानियों की हालत अब बिल्कुल नाजुक हो गई। अब स्पष्ट हो गया कि यदि किसी से मदद नहीं मिली तो उनका बचाव नहीं हो सकता। बायरन जैसे सेवक जो उनके झडे के नीचे इकट्ठे हो गये थे, इतने थोड़े थे कि सुसंगठित सैनिकों के आगे उनकी कुछ नहीं चल सकती थी। यूनानियों का बलवा खतम होने से उसी हालत में बच सकता था जब कोई यूरोपीय राष्ट्र उनकी सहायता करता। लेकिन पूर्वी प्रश्न इतना जटिल और कठिन था कि उसके कारण यूरोपीय राष्ट्र एकमत होकर यूनान की सहायता नहीं कर सकते थे।

यूरोप का रुख—जब मेटरनिक ने सुना कि यूनान में बलवा हो गया तो उसने चिल्लाकर कहा कि इस मामले को सभ्यता की सीमा से बाहर समझना चाहिये[1]। इस आस्ट्रियन राजनीतिज्ञ की दृष्टि में यूनानी लोग आटोमन सरकार के विरुद्ध बलवा कर रहे थे। यह सरकार न्यायानुमोदित सरकार थी। अब परम्परागत शासन के नाम पर कहा गया कि इस मामले में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं होना चाहिये। रूस का जार इससे सहमत हो गया। मेटरनिक ने बड़े अभिमान के साथ कहा कि "सम्राट् अलेग्जेंडर मेरे सम्प्रदाय का अनुयायी बन गया है।" इसके अतिरिक्त अलेग्जेंडर को युद्ध पसन्द भी नहीं था। उसने कहा था कि "मेरे अन्दर कोई महत्वाकांक्षा नहीं है। मेरा साम्राज्य पहले ही इतना बड़ा है कि मैं इसको आसानी से नहीं सँभाल सकता। सब लोग जानते हैं कि मैं रक्तपात नहीं चाहता और यह युद्ध रूस के हित में भी नहीं होगा।" उधर इंगलैण्ड अक्षरशः उदासीन रहा। कासलरीग और उससे भी अधिक कैनिंग का यह विश्वास था कि दूसरे राष्ट्रों के अन्दरूनी मामलों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये। "ग्रेट ब्रिटेन का यह कर्तव्य है कि ऐसे झगड़ों से अलग रहे। हाँ, सन्धि की शर्तों के अनुसार ही यदि हस्तक्षेप करना पड़े तो दूसरी बात है।"

---

1. मेमोयर्स iii, 525।

इसके साथ ही साथ इंगलैण्ड और आस्ट्रिया चाहते थे कि टर्किश साम्राज्य में कोई तोड़-फोड़ न हो। यह उनका राजनीतिक सिद्धान्त था। ये दोनों बड़े चतुर राजनीतिज्ञ थे और समझते थे कि अगर यूनानी बलवा सफल हो गया तो सब-कुछ खतम हो जायगा। उनको यह भी भय था कि अगर यूरोप के नक्शे से टर्की विलीन हो गया तो बड़ी अन्तरराष्ट्रीय पेचीदगी सामने आ जायेगी। इसलिये वे इस बात पर तुले हुए थे कि यूनानी बलवे में कोई शामिल न हो। उनको डर था कि कहीं यह यूरोपीय युद्ध का रूप धारण न कर ले। कुछ अर्से तक इस नीति का सफलता के साथ अनुसरण किया गया। जनता यूनान की अतीत स्मृतियों से प्रभावित थी, इसलिये इस देश के पक्ष में थी। कोई इस बात की चिन्ता नहीं करता था कि इसमें यूनानी रक्त कितना है, परन्तु जनमत इतना प्रबल भी नहीं था कि यूरोप की सरकारों को अपने निश्चित मार्ग से डिगा सकता। यह मार्ग उन्होंने आवश्यकता और दूरदर्शिता के आधार पर निश्चित किया था।

रूस की स्थिति—युद्ध के प्रारम्भिक वर्षों में यह स्थिति रही। लेकिन उस समय भी यूरोपीय राष्ट्रों के लिए यह कठिन होता जाता था कि वे इस मामले से अलग रहें। खासकर रूस में बेचैनी के चिह्न दिखाई देने लगे। जार की व्यक्तिगत राय कुछ भी हो, वह इस बात को नहीं भूल सकता था कि आरथोडाक्स चर्च की रक्षा करना उसका कर्तव्य है। यह लड़ाई मुसलमानों के खिलाफ जिहाद मालूम होती थी, इसलिये जार की इसमें बड़ी रुचि थी। इसके अतिरिक्त रूस की यह परम्परागत नीति थी कि दक्षिण की ओर बढ़ा जाय। इसके लिये यह मौका था और भविष्य भी उज्ज्वल दिखाई देता था, इसलिये इस मौके को हाथों से जाने देना मूर्खता मालूम होती थी। फिर सुल्तान ने ही ऐसा काम किया जिससे रूस को दखल देने का बहाना मिल गया। मोरविया में यूनानी लोगों ने मुसलमानों का वध किया था जिसका बदला लेने के लिये तुर्क लोगों ने आरथोडाक्स चर्च के अध्यक्ष अर्थात् पेट्रियार्क आफ कोन्सटेन्टिनोपल को खतम कर डाला। यह ऐसा अपराध था जो क्षमा नहीं किया जा सकता था। रूसी लोगों में इससे क्रोध की आग धधक उठी। फिर लोगों ने दूसरे बहाने भी ढूँढ़ निकाले। टर्की ने डेन्यूब की रियासतों पर अपना अधिकार कर रखा था। यह सन्धि की शर्तों के विरुद्ध था। उसने ऐसे यूनानी जहाज भी छीन लिये थे जिन पर रूस का झंडा फहरा रहा था। इससे रूस और टर्की का पारस्परिक कूटनीतिक सम्बन्ध टूट गया और अब ऐसा मालूम होने लगा कि युद्ध नहीं टल सकता, परन्तु इंगलैण्ड और आस्ट्रिया युद्ध को टालना चाहते थे। उन्होंने सुल्तान से प्रेरणा की कि कुछ रियायतें दी जायें। इससे सुल्तान के अभिमान को बड़ा धक्का लगा परन्तु वह करता क्या? इसका नतीजा यह हुआ कि फिलहाल सन्धि बनी रही। फिर दो महत्वपूर्ण घटनाओं के कारण इसमें अन्तर आया।

केनिंग की यूनान के प्रति नीति—पहली घटना यह थी कि सन् 1822 में जार्ज केनिंग पर-राष्ट्रमंत्री नियुक्त हुआ। उसकी नीति का मूल मंत्र था कि हर राष्ट्र अपनी-अपनी रक्षा करे और भगवान् सबकी रक्षा करे। व्यक्तिगत रूप से तो उसकी सहानुभूति अपने देशवासियों की भाँति यूनानियों के साथ थी, लेकिन पूर्वी प्रश्न के विषय में उसके रुख का आधार राष्ट्रीय हित था। उसने लिखा था कि "आपको मेरी राजनीति का पता है। आप भली-भाँति जानते हैं कि पूर्वी प्रश्न में जहाँ यूरोप का उल्लेख हो वहाँ इंगलैण्ड समझना चाहिये।" उसने अपना मतलब इन शब्दों में स्पष्ट किया था, "यूरोप के राष्ट्रों से हमारा गहरा सम्बन्ध है, परन्तु इसका यह मतलब नहीं है कि हर मौके पर हम उनके मध्य में जा कूदें और जिन राष्ट्रों में घिरे हुए हैं उनके सब मामलों में हम दखल दें और अशान्त हो जायें।" वह उदासीनता की नीति का हृदय से समर्थन करता था। उसने कहा था कि "हमारे साथियों की भाँति हमारा भी उद्देश्य है कि शान्ति की रक्षा की जाये। मैं इस बात से बेखबर नहीं हूँ कि यदि नया युद्ध हो तो वह कहीं भी हो, उसकी लपटों में सारा यूरोप फँस जायेगा और यदि यह युद्ध पूर्व में हो तो इसके नतीजों के विषय में कोई भी कुछ अन्दाजा नहीं कर सकता।" इसलिये उसने यूनानियों को मदद नहीं दी। परन्तु टर्की को सलाह दी कि रूस को समझाओ और जो कुछ उसकी शिकायत है दूर करो और बलवाइयों के साथ नरमी का वर्ताव करो। लेकिन घटनाएँ इतनी जल्दी-जल्दी घटीं कि केनिंग ने मजबूर होकर यह अनुभव किया कि केवल उदासीनता की नीति से काम नहीं चलेगा। ग्रेट ब्रिटेन के हितों की रक्षा करने के लिये कुछ करना पड़ेगा। 25 मार्च सन् 1823 को उसने यूनानी लोगों को 'लड़ाकू पक्ष' (Belligerant) मान लिया। केनिंग ने समझा कि यूनानियों को लड़ाकू पक्ष मानने की इसलिये जरूरत है कि दस लाख की आवादी को डाकू मानते रहना असम्भव बात है। इसलिये इस युद्ध को सभ्यता के दायरे के अन्दर माना गया, यद्यपि आरम्भ में दोनों ओर से ऐसी बर्बरताएँ हुईं जिनके प्रति घृणा उत्पन्न होती है। यूनानी लोगों का समुद्र पर आधिपत्य था, इसलिये उन्होंने समुद्र में कई डकैतियाँ कीं। ये लोग टर्की के अधीन थे, लेकिन यह केवल जाब्ते की बात थी। इस समय इन पर टर्की का कोई नियन्त्रण नहीं था। इसलिये इनकी डकैतियों के लिये टर्की से जवाबतलब करना व्यर्थ बात थी। इसलिये दूसरी बात यह रह गई थी कि यूनान की कामचलाऊ सरकार को सरकार मान लिया जाय और उसकी नौसेना जो कुछ कर रही थी उसके लिये उसको जिम्मेदार ठहराया जाय। इंगलैण्ड ने जो कदम उठाया उसका अन्तरराष्ट्रीय स्थिति पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा। इससे वियना और पैट्रोग्राड के दरबारों में डर पैदा हो गया। अब वे नहीं कह सकते थे कि यूनानी केवल बलवाई लोग हैं और सभ्यता के दायरे से बाहर हैं। कारण यह था कि इंगलैंड का उनके साथ अब जाब्ते का सम्बन्ध हो गया था। अब यह नहीं हो सकता था कि यूनान के स्वातन्त्र्य-

संग्राम को उसी पर छोड़ दिया जाता और इस बात की परवाह नहीं कि जाती कि चाहे यूनानी लोग तुर्कों का सफाया करें या तुर्क यूनानियों का। कभी न कभी तो उन्हें हस्तक्षेप करना ही था, क्योंकि जब यूनानियों को लड़ाकू पक्ष (Belligerant) मान लिया गया था तो यह इस बात का सूचक था कि इंगलैण्ड आस्ट्रिया और रूस को इस युद्ध से अलग रखना चाहता था, ताकि इन लोगों को हस्तक्षेप करने का यश न मिल सके। यद्यपि यह तो स्वीकार किया जाता था कि सब मिलकर कोई कार्रवाई करें, लेकिन इस बात पर सब सहमत नहीं थे कि क्या करें। तुर्की को सहायता देने का तो कोई प्रश्न नहीं था। परन्तु यूनानियों को मदद देने का भी मतलब था क्रान्ति पर अनुमोदन की छाप लगाना और वंशानुगत शासन (Legitimacy) की जड़ खोखली करना। रूस ने प्रस्ताव किया कि बालकन में तीन अर्ध-स्वतन्त्र रियासतें कायम कर देनी चाहिये जिनको अपने आन्तरिक मामलों में स्वतन्त्रता हो और जो टर्की के अधीन हों। मेटरनिक ने इस पर आपत्ति की। उसका कहना था कि ये नई यूनानी रियासतें स्वाभाविक रीति से रूस की ओर आकर्षित होंगी और जब टर्की आक्रमण करेगा तो उससे सहायता माँगेंगी। इसलिये उसने दूसरा प्रस्ताव किया कि यूनानियों को स्वतन्त्र राष्ट्र बना दिया जाय। यह प्रस्ताव रूस को मंजूर नहीं था। उसको इस बात का डर था कि फिर यूनान अपने स्वतन्त्र मार्ग पर चलेगा और रूस के नीचे से निकल जायगा। इस प्रकार गतिरोध हो गया और इसी अर्से में सम्राट् अलेग्जेंडर की मृत्यु हो गई (1825)।

रूस की नीति में परिवर्तन—जैसे जार्ज केनिंग की नियुक्ति से अंग्रेजों की नीति में परिवर्तन हुआ, उसी भाँति नीकोलस प्रथम के रूस के राजसिंहासन पर बैठने से रूस की नीति में भी परिवर्तन हुआ। अलेग्जेंडर यूरोपीय हितों को ऊपर रखता था और रूस के हितों को नीचे। उसको यह विचार अच्छा लगता था कि यूरोप के राष्ट्रों की नीति एक हो। इसलिये मेटरनिक ने उसको समझाकर इस बात पर राजी कर लिया कि टर्की के विषय में वह कोई स्वतन्त्र कार्रवाई न करे। परन्तु उसके उत्तराधिकारी ने पीटर महान् और केथरिन की नीति फिर ग्रहण कर ली। तब केनिंग को यह भय हुआ कि कहीं रूस स्वतन्त्र रूप से टर्की पर हमला न कर दे। इसलिये उसने प्रस्ताव किया कि रूस और इंगलैण्ड मिलकर हस्तक्षेप करें। पैट्रोग्राड के अहदनामे (1826) के अनुसार यूनान को अधीन राष्ट्र बनाना था। यह प्रस्ताव आटोमन सरकार के सामने रखा गया। इस प्रकार रूस द्वारा स्वतन्त्र कार्रवाई को रोकने की गरज से इंगलैण्ड ने अपनी उदासीनता की नीति छोड़ दी। टर्की ने अहदनामा मंजूर नहीं किया, इसलिये विवश होकर केनिंग को सैनिक बल का प्रयोग करना पड़ा। यदि ऐसा न किया जाता तो अहदनामे के सिद्धान्तों से रूस हट जाता, और उसको रोकना जरूरी था। अब पैटोग्राड के अहदनामे के सिद्धान्तों को लंदन की सन्धि (1827)

का रूप दिया गया, जिसके अनुसार ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस और रूस ने मिलकर यह काम अपने हाथ में लिया कि यूनान को टर्की के अधीन ऐसा राष्ट्र बना दिया जाय जो अपने आन्तरिक मामलों में स्वतन्त्र हो, और इस फैसले को टर्की से मंजूर करवाने के लिए जरूरी कदम उठाये जायँ।

यूनान की स्वतन्त्रता—आस्ट्रिया और प्रशिया इस पर सहमत नहीं हुए कि टर्की पर अपनी बलवाई प्रजा के पक्ष में जोर डाला जाय। उन्होंने लंदन की सन्धि पर हस्ताक्षर नहीं किये। जब नेवेरिनो के युद्ध (20 अक्टूबर 1827) के बाद स्थिति नाजुक हो गई तो मेटरनिक ने समझौता करवाना चाहा। उस समय अपनी-अपनी सरकारों के आदेश से इंगलैण्ड और फ्रांस की नौसेनायें यत्न कर रही थीं कि टर्की और यूनान का युद्ध अस्थायी रूप से बन्द होकर सन्धि की बात शुरू हो जाय। इसी अर्से में उनकी मोहम्मद अली की नौसेना से मुठभेड़ हो गई, जिसमें उसकी नौसेना नष्ट कर दी गई। नेवेरिनो के युद्ध का नतीजा बड़ा गम्भीर हुआ। सुल्तान ने ईसाई राष्ट्रों के विरुद्ध जिहाद की घोषणा कर दी, और खास तौर पर यह ऐलान किया कि डेन्यूब की रियासतों के सम्बन्ध में और जलडमरूमध्यों में नौ-संचालन के विषय में जो रूस के साथ हाल में ही (1826) अक्तूबर में अक्करमान की सन्धि हुई है वह रद्द कर दी गई है। इससे रूस को टर्की में हस्तक्षेप करने का बहाना मिल गया। पश्चिमी राष्ट्र भी अब इसका सफल विरोध नहीं कर सकते थे। लेकिन इसी अर्से में वेलिंग्टन (1824) प्रधान मंत्री नियुक्त हो गया था। वह इसका घोर विरोधी था कि टर्की के खिलाफ दबाव का उपयोग किया जाय। उसको यह आशा थी कि आटोमन साम्राज्य ज्यों-का-त्यों रखा जा सकता है, और रूस जो भूमध्य सागर की ओर बढ़ना चाहता है उसके विरुद्ध वह दीवार का काम दे सकता है। अतः रूस ने अकेले ही कार्रवाई की और टर्की के साथ लड़ाई शुरू कर दी (1828)। युद्ध छिड़ जाने से वेलिंग्टन कार्रवाई करने के लिये मजबूर हो गया। यदि इंगलैण्ड अलग रहता तो अन्तिम फैसले के समय उसकी आवाज की क्या कदर हो सकती थी। और कुछ नहीं तो यह तो होता ही कि टर्की से आजाद होने पर यूनान रूस की मातहत रियासत बन जाता। इसलिये उसने फ्रांस की सरकार का यह प्रस्ताव मान लिया कि मोरविया में सेना भेजकर मोहम्मद अली की फौज को बाहर निकाला जाय। फ्रांस की सेना के पहुँचने से पहले ही अंग्रेजी नौसेना-नायक कार्डरिंग्टन ने अलेक्जेंड्रिया के सामने नौसेना का प्रदर्शन करके मोरिया को खाली करवा लिया था। रूसी सेनानायक डीबिश (Diebitsch) की युद्ध-युक्ति से लड़ाई बन्द हो गई। उसने केवल 1300 सैनिकों के साथ कुस्तुन्तुनिया पर चढ़ाई की और तुर्की को मजबूर करके उससे एड्रियानोपल की सन्धि करवाई (1829)। डेन्यूब की रियासतें नाम मात्र को तो टर्की के अधीन रहीं, परन्तु वास्तव में वे रूस का हिस्सा बन गईं। रूस ने इस बात पर जोर दिया कि बोसफोरस और डारडेनल्स

के जलडमरूमध्यों में रूसी झण्डा फहराते हुए जहाज चलाना उसका अधिकार है। यूनान का प्रश्न यूरोप के राष्ट्रों ने हल किया। रूस इससे सन्तुष्ट हो जाता कि यूनान को मातहत रियासत बनाकर आन्तरिक मामलों में स्वतन्त्र कर दिया जाय, परन्तु वह रूस को खिराज देता रहे। यह हल ब्रिटिश सरकार ने मंजूर नहीं किया। आस्ट्रिया के समान उसका भी यह विश्वास था कि यदि यूनान रूस की मातहती में रहा तो बालकन प्रदेश में उसके प्रपंचों का मार्ग खुल जायगा। और टर्की के मामले में सदैव हस्तक्षेप करने का उसको बहाना मिलता रहेगा। इसलिये वेलिंग्टन और मेटरनिक जो दोनों जोर से यत्न किया करते थे कि टर्की का अस्तित्व बना रहे. अब परिस्थितियों के दबाव से इस बात पर सहमत हो गये कि यूनान को स्वतन्त्र राष्ट्र मान लिया जाय। यह नवीन राष्ट्र तीन यूरोपीय राष्ट्रों की संरक्षता (ग्रेट ब्रिटेन, रूस और फ्रांस) में रखा गया। इन्हीं राष्ट्रों के संयुक्त प्रयत्नों से उसका पुनर्जन्म हुआ था। इस राष्ट्र का मुकुट ओटो के सिर पर रखा गया जो बवेरिया के राजा लुई का पुत्र था। उसने सन् 1833 के आरम्भ में शासन-सूत्र अपने हाथ में लिया। इस प्रकार आटोमन साम्राज्य में यह प्रथम टूट-फूट शुरू हुई, और बालकन रियासतों में भावी क्रान्ति के लिये मिसाल कायम हो गई। इन रियासतों के पारस्परिक सम्बन्धों के कारण तथा बड़े-बड़े राष्ट्रों के साथ उनके सम्बन्धों के कारण निकट पूर्वी सम्पूर्ण राजनीतिक स्थिति में पूरी क्रान्ति हो गई।[1]

रोमानिया—बालकन रियासतों में सबसे बड़ा क्षेत्रफल सन् 1914 में रोमानिया का था और इसकी जनसंख्या लगभग सत्तर लाख थी। इनके अतिरिक्त पैंतीस लाख रोमानियन हंगरी में निवास करते थे और लगभग पन्द्रह लाख बेसरबिया में, जो रूस का एक प्रान्त था। ये लोग रोमानियन जाति के अनुद्धरित तत्व थे जो अब तक

---

1. ओथो का शासन 30 वर्ष तक चला। इसकी प्रधान घटनाएँ ये थीं—
   (1) 1843 की क्रांति—इसमें नरेश को बाध्य किया गया कि विधान मन्जूर करे और बवेरियन सलाहकारों को निकाल दे।
   (2) पीरोस पर अँग्रेजी और फ्रेन्च सेना ने क्रीमियन युद्ध में अधिकार कर लिया ताकि ग्रीस यूनान पर हमला न कर सके। ओथो बहुत बदनाम था और उसके कोई उत्तराधिकारी नहीं था। इसलिये 1862 में उसको राजसिंहासन से उतार दिया गया। इसके बाद डेन्मार्क नरेश क्रिश्चियन नवें का द्वितीय पुत्र जार्ज प्रथम राजसिंहासन पर बैठा। तब अंग्रेज सरकार ने आयोनियन टापू यूनान को वापस दे दिये। रूस-तुर्की युद्ध के पश्चात् ग्रीस को थिसेली प्राप्त हो गया और एपीरस का भी कुछ भाग मिल गया। 1897 में क्रीट में गड़बड़ मची जिससे यूनान और टर्की में युद्ध हुआ। इसमें यूनान हार गया परन्तु उस देश का कोई भाग शत्रु के हाथ नहीं लगा। इसका कारण यह था कि शक्तिशाली देशों ने इसमें हस्तक्षेप किया।

विदेशी शासन के मातहत थे। इन अंकों में कितना महत्व है यह इस बात से जल्दी समझ में आयेगा कि मेगरों की तादाद अस्सी लाख और एक करोड़ के बीच में थी और दक्षिणी स्लाव लोगों की संख्या एक करोड़ दस लाख थी। चैक और स्लाव लोग भी नव्वे लाख के लगभग थे। बलगेरियन पचास लाख थे। यूनानी सत्तर लाख से कुछ कम थे और अलबेनियन दस लाख थे। रोमानिया की तिजारत सरबिया, मोन्टिनिग्रो, वलगेरिया और यूनान की मिली हुई तिजारत के बराबर थी और उसकी सेना भी यूरोप के छः बड़े-बडे राष्ट्रों से दूसरे दर्जे की थी। रोमानिया को पूर्व का बेल्जियम कहा जाता था। इस शब्द से पता चलता है कि उसने कितनी उन्नति कर ली थी।[1]

प्रारम्भिक इतिहास—तुलनात्मक दृष्टि से रोमानिया का अभी उदय हुआ है, परन्तु रोमानियन लोगों का इतिहास लगभग 1600 वर्ष पूर्व आरम्भ होता है। दूसरी शताब्दी में ट्राजन ने लोअर डेन्यूब पर रोमन उपनिवेश कायम किये थे। आगे चलकर जब उत्तर की ओर से बर्बर जातियों के हमले होने लगे तब इन उपनिवेशों ने साम्राज्य की रक्षा की थी। फिर एक हजार वर्ष तक इनका इतिहास अंधकार में है। पुनः तेरहवीं शताब्दी में वे प्रकट होते हैं। अब ये लोग दो रियासतों में बँटे हुए थे अर्थात् मोल्डेविया और वेलेशिया। आगे चलकर ये दोनों रियासतें आटोमन साम्राज्य का एक हिस्सा वन गईं। लेकिन इन पर उन्हीं के शासक राज्य करते रहे। जब रूस ने टर्की के विरुद्ध अठारहवीं शताब्दी में दक्षिण की ओर बढ़ना शुरू किया तो ये दोनों प्रान्त कभी रूस की ओर झाँकते थे और कभी टर्की की ओर। रूस और टर्की के बीच में प्रुथ नदी से सीमा बनती थी और मोल्डेविया की उत्तरी सीमा भी यही थी। इसलिये जब कभी रूस में और टर्की में लड़ाई होती थी तो रूस मोल्डेविया और वेलेशिया पर अपना कब्जा कर लिया करता था। कुचुक केनार्डजी (Kutchuk Kainardji) की सन्धि के अनुसार रूस को इन रियासतों में हस्तक्षेप करने का अधिकार प्राप्त हो गया और 1812 में बुदापेस्ट की सन्धि से उसको मोल्डेविया का पूर्वी भाग भी मिल गया जो बेसरबिया कहलाता है। इसका पहले ही उल्लेख हो चुका है कि एड्रियानोपल की सन्धि से ये रियासतें रूसी साम्राज्य की संरक्षता में आ गई थीं। इसका अर्थ लगभग यह है कि ये रूस में मिला ली गई थीं, और अब रूस का प्रभाव बढ़ता जाता था। इनकी स्थिति लगभग वैसी ही थी जैसी अन्तिम विभाजन से पहले पोलैंड की थी। उस वक्त पोलैंड पर रूस का लगभग पूरा ही कब्जा था। इसलिये अब आस्ट्रिया को डर लगने लगा। ये रियासतें डेन्यूब के तट पर स्थित थीं और जब ये रशिया में मिल गईं तो इसका मतलब यह था कि यूरोप की सबसे प्रसिद्ध नदी

---

1. आर० डब्ल्यू० सेटनवाटसन, रोमानिया एण्ड द ग्रेट वार, (1915) 2, 5, 6।

में नव-संचालन का नियन्त्रण रूस के हाथ में आ जायगा। इसलिए जब 1856 में पेरिस में कांग्रेस (Congress) हुई तो मोल्डेविया और वेलेशिया को आटोमन राज्य के अधीन रखकर स्वराज्य दे दिया गया और बेसरबिया रूस से अलग कर दिया गया।

रियासतों का एकीकरण—रोमानिया के इतिहास में दूसरी मंजिल थी इन दो रियासतों का संघ। कुछ अर्से से यह आन्दोलन चल रहा था कि इन दोनों रियासतों की एक रियासत बना दी जाय। इसका शक्तिशाली हिमायती था फ्रांस का सम्राट्। लेकिन उसकी हिमायत स्वार्थ से शून्य नहीं थी। नेपोलियन तृतीय ने राष्ट्रीयता की बड़ी सेवा की थी परन्तु लोगों ने इसको माना नहीं। और कम से कम रोमानियों को तो राष्ट्रीय जीवन फ्रांस के शासक के प्रयत्नों से ही प्राप्त हुआ था। पेरिस की सन्धि से क्रीमिया का युद्ध समाप्त हुआ। इसी में यह भी शर्त थी कि इन हर दो रियासतों में एक विधानसभा निर्वाचित की जाए जो दोनों रियासतों के संघ के विषय में यूरोपीय कमीशन के सामने अपनी सम्मति प्रकट करे। ये निर्वाचन उचित रूप से नहीं हुए। टर्की और आस्ट्रिया ने मतदाताओं पर बड़ा जोर डाला, यहाँ तक कि उन्होंने उनको मजबूर भी किया। इसलिए नेपोलियन ने ये निर्वाचन रद्द कर दिये और स्वतन्त्र निर्वाचन के लिये आयोजन किया। तब विधान सभाओं ने मत प्रकट किया कि सयुक्त राज्य बना दिया जाय। परन्तु इंगलैण्ड और आस्ट्रिया ने इसका विरोध किया। इसलिये यह तजबीज रद्द हो गई। इंगलैण्ड को रूस का डर था। इसलिये वह आटोमन सरकार की हुकूमत को कायम रखना चाहता था और आस्ट्रिया यह समझता था कि रोमानिया की रियासत ट्रांसिलवेनिया में बसे हुए अपनी जाति के रोमानियन लोगों की ओर झुकेगी, जो आस्ट्रिया के लिये खतरनाक बात होगी। इसलिये यह तय हुआ कि हर रियासत अपनी-अपनी धारासभा निर्वाचित करे और अपने-अपने शासक का भी निर्वाचन करे (1858)। रोमानियन लोगों ने अलेग्जेंडर कोजा को दोनों रियासतों का शासक मनोनीत किया। यूरोप के राष्ट्रों को यह बात नहीं सूझी थी कि दोनों रियासतों का एक शासक निर्वाचित होना भी सम्भव है। इसलिये मोल्डेविया और वेलेशिया ने वास्तव में इन राष्ट्रों को छका दिया। इस समय आस्ट्रिया का इटली के साथ युद्ध होने ही वाला था। इसलिये वह हस्तक्षेप नहीं कर सका और ये दोनों रियासतें एक शासक के अधीन होकर एक हो गईं। सन् 1861 में रूस ने भी यह मन्जूर कर लिया कि दोनों धारासभायें एक हो जायें। अब नये शासक ने अपनी प्रजा के नाम घोषणा जारी की कि रोमानियन कौम की नींव डल गई है।

प्रिंस कोजा, 1859-1866—प्रिंस कोजा ने केवल सात वर्ष राज्य किया। इस अर्से में अनेक आन्तरिक सुधार हुए। पादरियों की सम्पत्ति छीन ली गई। दो रोमानियन विश्वविद्यालय स्थापित हुए। किसान लोगों को सामन्तों की सेवाओं आदि से मुक्त कर दिया गया। इन कार्यों के कारण पादरी और जमींदार उत्तेजित होकर शत्रु बन

गए और उन्होंने जबरदस्ती से कोजा को पदच्युत कर दिया। उसका उत्तराधिकारी हुआ प्रिंस चार्ल्स ऑफ होहेन-जोलर्न सिकमेरिंजन (Hohen Zollern Sigmaringen)। बिस्मार्क ने उसको यह सलाह दी थी कि यह पद स्वीकार कर लिया जाय। उसने कहा था कि "इसको मंजूर कर लो। यह तुम्हारे बुढ़ापे की एक मधुर यादगार रहेगी।" उसने लगभग पचास वर्ष तक (1866—1914) राज्य किया और इस लम्बे अर्से में रोमानिया दक्षिण-पूर्वी यूरोप की प्रधान सैनिक रियासत बन गया। 1877 में जब रूस और टर्की में युद्ध हुआ तो संसार को रोमानियन सेना की कुशलता का पता लगा। रोमानियन सेना ने उस साल ग्रिवित्सा का दुर्ग छीन लिया जो प्लेवना में सबसे अधिक दुर्धर्ष माना जाता था। रूस ने रोमानिया को उसकी सेवा का यह पुरस्कार दिया कि उससे बेसरबिया छीन लिया, जो क्रीमिया के युद्ध के बाद मोल्डेविया को दे दिया गया था। इस कृतघ्नता के कारण रोमानियन लोग रूस के विरोधी बन गये। उसको इस बात पर क्रोध था कि प्रुथ नदी के पार उनके जातिभाई निवास करते हैं जो उससे अलग हैं। इसलिए इस नदी को वे लोग अभिशप्त नदी कहा करते थे। इस युद्ध का दूसरा नतीजा यह हुआ कि रोमानिया की स्वतन्त्रता स्वीकार कर ली गई और 1881 में रोमानिया अलग राज्य बन गया।

रोमानियन राष्ट्र के गुण और दोष—अपने निकटवर्ती राज्यों की अपेक्षा रोमानिया को बहुत बड़ा फायदा था। एक पुश्त तक सर्बिया में लड़ाई-झगड़े और राजनीतिक बदनामी होती रही। बलगेरिया ने उन्नति तो अच्छी की लेकिन वहाँ शासक की मर्जी सर्वोपरि मानी जाती थी। टर्की इस समय सुल्तान हमीद के दमन और अत्याचार से कराह रहा था और यूनान प्रतीक्षा कर रहा था कि कोई अच्छा राजनीतिज्ञ जन्म ले जो उसको राजनीतिक अराजकता से बचा ले। रोमानिया इस बात का गर्व करता था कि उसके राजनीतिक विकास में किसी प्रकार की बाधा नहीं थी। सन् 1914 तक दो महत्वपूर्ण मामलों में रोमानिया अपने पास के राज्यों से पिछड़ा हुआ था। वहाँ कृषकों की समस्या अत्यन्त दारुण हो चली थी। सामन्तवाद का बालकन में अन्यत्र तो अन्त हो गया था, लेकिन रोमानिया में अभी शेष था, और भूमि का स्वामित्व कृषकों के हाथ में नहीं था, लेकिन सामन्तों के हाथ में था। यह कृषकों का असन्तोष रोमानिया राज्य की स्थिरता के लिये खतरनाक था। 1907 में किसानों के असन्तोष से बहुत बड़ा बलवा हो गया था। रोमानिया राष्ट्र में दूसरा दोष था कि वहाँ पर यहूदी प्रजा को बहुत सताया जाता था। उन लोगों को न नागरिक अधिकार था और न राजनीतिक अधिकार। जब बर्लिन में काँग्रेस हुई (1878) तो रोमानिया को स्वतन्त्रता इस शर्त पर दी गई थी कि उस देश में धर्म के विषय में प्रत्येक जाति को समान स्वतन्त्रता होगी और किसी को किसी प्रकार की असुविधा न होगी। इस अन्तरराष्ट्रीय गारन्टी का उल्लंघन करके यहूदी लोगों को बहुत सख्ती के साथ नागरिकता के

अधिकारों से वंचित किया गया, परन्तु नागरिकता का कर्तव्य उन पर लदा रहा। इसी प्रकार उनको भूमि के स्वामित्व से और कुछ व्यापार से भी वंचित किया गया। डाक्टर सेटन वाटसन (Seton Watson) ने लिखा है कि यहूदी लोगों को राजनीतिक अधिकारों से वंचित करके उन्हें एक प्रकार से विदेशी बना दिया था, लेकिन उनको सेना में अवश्य भर्ती होना पड़ता था। यह एक ऐसा प्रबन्ध था जो जनतंत्रीय और वैधानिक परम्पराओं के विरुद्ध है और लो और दो के प्राथमिक सिद्धान्तों के भी अनुकूल नहीं है।

बलगेरिया का प्रारम्भिक इतिहास—बलगेरियन लोगों का उदय अन्धकार में छिपा हुआ है। बहुत प्राचीन काल में इस देश में थ्रेशियन और इलीरियन जाति के लोग निवास करते थे। इन लोगों पर मेसडेन के फिलिप और अलेग्जेंडर महान् ने राज्य स्थापित कर लिया था। तत्पश्चात् इनको रोमन लोगों ने दबा लिया था। अन्त में इन लोगों को निकालकर स्लाव लोग जम गए। लेकिन यह नहीं कहा जा सकता था कि ये लोग कब जमे। सातवीं शताब्दी में स्लाव लोगों की भी बारी आई। इनको बलगारियन लोगों ने दबा लिया और ये लोग वहाँ बस गए। ये दोनों जातियाँ परस्पर मिल गईं। पहली जाति की भाषा अमर हो गई और दूसरी का नाम अमर हो गया। इस प्रकार वर्तमान बलगारियन लोग दो जातियों से निकले हुए हैं अर्थात् स्लाव और बलगेरियन से। मध्य काल में दो बार बलगेरिया बालकन अन्तरीप में सबसे बड़ा राष्ट्र बन गया था। सीमियन (893—927) के राज्य में बलगेरिया संसार के सभ्य राष्ट्रों में माना जाता था।[1] इसका राज्य बलगेरिया में, सर्बिया में और अलबेनिया के बहुत-से हिस्से में फैला हुआ था, लेकिन उसके उत्तराधिकारी इतने बड़े राज्य को नहीं सँभाल सके। सन् 1018 में यूनानी सम्राट् ने सब बालकन अन्तरीप पर अपना कब्जा कर लिया और फिर लगभग 150 वर्ष तक बलगेरियन लोग यूनानी लोगों के अधीन रहे। सन् 1188 में उन्होंने अपनी स्वतन्त्रता फिर प्राप्त कर ली और जोन आसेन द्वितीय (1218—1241) के राज्य में बलगेरिया बहुत बड़ा सैनिक राष्ट्र बन गया। इसमें बलगेरिया ही नहीं बल्कि मेसीडोनिया, अलबेनिया और सर्बिया भी शामिल था। आसेन ने ट्रोनोवो में चालीस शहीदों के गिरजाघर में एक शिलालेख स्थापित किया था। यह नगर बलगेरिया की पुरानी राजधानी था। इसमें लिखा है कि "मैंने सब देशों को जीत लिया है अर्थात् एड्रियानोपल से डूराजो तक। यूनान, अल्बेनिया और सर्बिया सब मेरे राज्य में शामिल हैं। फ्रांसीसियों का अधिकार केवल कुस्तुन्तुनिया और उसके पास के कस्बों पर है, लेकिन ये देश भी मेरे आगे झुकते हैं। मेरे सिवाय उनमें भी कोई दूसरा जार नहीं है।"[2] यह बलगेरिया का दूसरा साम्राज्य 1186 से

1. ई० गिबन, डिक्लाइन एण्ड फाल आफ दी रोमन एम्पायर, vi, 140।
2. डब्ल्यू० मिलर, दी बाल्कन्स (1896), 176।

1398 तक टिका। यद्यपि सर्विया ने वेलबुज्द के मैदान में उसकी शक्ति को 1330 में ही नष्ट कर दिया था। यह घटना लोगों की स्मृति में अब भी ताजा है। जब सर्बिया और बलगेरिया में 1885 में युद्ध शुरू हुआ तो सर्बिया की सेना ने वेलग्रेड में होकर कूच किया। कूच करते हुए वे मध्यकालीन सर्बिया के राजा डूसान की जय बोलते जाते थे। यह बलगेरिया का जार कहलाता था। बालकन लोगों के परस्पर युद्ध से तुर्क लोगों को बहुत सहायता मिली और चौदहवीं शताब्दी के अन्त में बलगेरिया और सर्बिया दोनों ही आटोमन लोगों के हमलों के सामने बैठ गए।

बलगेरियन लोगों के अत्याचार—लगभग 500 वर्ष तक बलगेरिया आटोमन साम्राज्य का एक अंग बना रहा। बलगेरिया के किसानों में अब युद्ध की भावना नहीं रही और साथ ही उनमें राजनीतिक प्रवृत्तियाँ भी जागृत नहीं हुईं। वे लोग उदासीन होकर डूबते ही गये और बड़ी शान्ति के साथ तुर्क लोगों की हुकूमत उन्होंने मन्जूर कर ली। जब ये स्वतन्त्र होने वाले थे तब उनकी माली हालत में कुछ तरक्की हुई। इसका श्रेय मिद्त पाशा को था जो तुर्की राजनीतिज्ञों में बड़ा उन्नतिशील माना जाता था। 1877 में जब रूस के अफसर लोग बलगेरिया में होकर गुजरे तो उन्होंने देखा कि अपने जिन हीन भाइयों को वे आजाद करने के लिए आए हैं वे तुर्कों के अधीन ज्यादा सुखी हैं, बल्कि इतने सुखी तो रूसी किसान भी नहीं हैं, जिन पर जार का पितृ-तुल्य राज्य है। एक निष्पक्ष दर्शक ने लिखा है कि रूस के किसान अपनी हालत बलगेरिया के किसानों से अदल-बदल कर लेते तो कोई बुरा सौदा नहीं था। इसके अतिरिक्त 1870 में बलगेरियन लोगों ने टर्की से अपने कौमी चर्च के सम्बन्ध में एक रियायत हासिल की। इस रियायत का नाम था बलगेरियन एक्सारचेट (Exarchate)। इस रियायत के अनुसार बलगेरिया के किसान यूनान के पादरियों के नियंत्रण से मुक्त हो गए थे। इसलिए बलगेरियन लोग तुर्क लोगों से दुखी नहीं थे और यही कारण था कि जब बुखारेस्ट में देशभक्ति जागृत करने के लिये एक क्रान्तिकारी कमेटी की स्थापना हुई तो इसके प्रयत्न से लोगों में कोई जोश पैदा नहीं हुआ, बल्कि लोग उदासीन-से ही रहे। लेकिन 1875 में एक घटना घटी जिसने एक पल मात्र में दक्षिण-पूर्वी यूरोप की समस्त राजनीतिक स्थिति को बदल दिया। हरजेगोविना में एक बलवा हुआ और इसके कारण क्रान्ति की प्रतिध्वनि सम्पूर्ण बालकन अन्तरीप में व्याप्त हो गई। इस यूरोप-व्यापी असन्तोष से बलगेरिया कैसे मुक्त रह सकता था? तातार बजरजिक नामक स्थान पर बलवा हुआ। इस बलवे में कोई तन्त नहीं था और इसका दमन भी आसानी से हो गया, लेकिन तुर्क लोगों ने इसको ऐसी अनिर्वचनीय निर्दयता से आया कि उनकी सर्वत्र बदनामी हो गई। बटक नामक गाँव में 7000 की आबादी थी जिनमें से 5000 को निर्दयता के साथ खतम कर दिया। न स्त्रियों को छोड़ा न बच्चों को। ब्रिटिश कमिश्नर ने इस हत्या के विषय में लिखा है कि वर्तमान शताब्दी में शायद

इससे बढ़कर जुल्म और जुर्म कहीं नहीं हुए। बलगेरिया के अत्याचार की समस्त सभ्य संसार में घोर निन्दा हुई। विलियम ग्लेडस्टन ने इसकी अपार भर्त्सना की जिससे पश्चिमी यूरोप का इसके प्रति ध्यान आकर्षित हुआ और लोगों की अन्तरात्मा पर इन अत्याचारों की भयंकरता अंकित हो गई।

सेन स्टीफेनो की सन्धि—रूस और टर्की में अप्रैल 1877 के बाद जो युद्ध हुआ उसका हम अभी वर्णन करेंगे। चारों ओर से दब जाने के कारण टर्की जल्दी ही बैठ गया और युद्ध खतम हो गया, जिसके फलस्वरूप मार्च 1878 में सेन स्टीफेनो की सन्धि हुई। यह सन्धि बलगेरियन लोगों के लिये बहुत ही अनुकूल थी। इससे महा बलगेरिया का स्वप्न साकार हुआ, जिसकी परम्परा बलगेरिया के वीर काल से चली आ रही थी। इस सन्धि से बलगेरिया मातहत राष्ट्र बन गया जो डेन्यूब नदी से एजेन सागर तक और कृष्ण सागर से अलबेनिया तक फैला हुआ था और जिसमें उत्तरी और दक्षिणी बलगेरिया तथा मेसेडोनिया का खासा बड़ा भाग सम्मिलित था। यूनान और सर्बिया ने इस फैसले का घोर विरोध किया। उनका कहना था कि मेसेडोनिया पर हमारा हक है और इस फैसले में उस हक की उपेक्षा की गई है। बड़े राष्ट्र भी इसके विरोधी थे परन्तु उनके कारण भिन्न थे। इंगलैण्ड को विशेषकर यह पसन्द नहीं था कि बलगेरिया इस प्रकार दूसरे देशों के हिस्सों को हड़पे। उसको खयाल था कि यह नया राष्ट्र रूस का एक प्रान्त होगा और अन्त में यह कुस्तुन्तुनिया को प्राप्त करने के लिये रास्ता तैयार करेगा। आस्ट्रिया के असन्तोष के दूसरे कारण थे। उसका दावा था कि लड़ाई के बाद बोसनिया और हरजेगोविना उसको मिलते। रूस को इस तूफान के सामने झुकना पड़ा और सेन स्टीफेनो की सन्धि रद्द की गई।

बर्लिन कांग्रेस (1878)—प्रसिद्ध बर्लिन कांग्रेस जून 1878 में हुई। इसमें इंगलैण्ड का प्रतिनिधित्व प्रधान मंत्री लार्ड बैकन फील्ड ने और पर-राष्ट्र सचिव लार्ड सेलिसबरी ने किया। इसमें जो विचार हुए उनके परिणामस्वरूप बर्लिन की सन्धि हुई जिसने महाबलगेरिया के स्वप्न को खतम कर दिया। बलगेरिया का जो नया राष्ट्र बना वह आन्तरिक मामलों में स्वतन्त्र, खिराज गुजार और सुल्तान के अधीन था। सेन स्टीफेनो की सन्धि में जो बलगेरिया का स्वप्न था, उसका तो यह नया बलगेरिया एक खंड मात्र था। यही आदि बलगेरिया था। यह डेन्यूब नदी से बालकन अन्तरीप तक और कृष्ण सागर से सर्बिया और मेसीडोनिया की सीमा तक फैला हुआ था। पूर्वी रोमेलिया, जो बालकन रेंज के दक्षिण में स्थित है, स्वराज्य प्रान्त बनाया गया। इस पर सुल्तान की राजनीतिक और सैनिक हुकूमत थी, परन्तु इसका प्रबन्ध एक ईसाई गवर्नर के सुपुर्द किया गया जो सुलतात द्वारा पाँच साल के लिए मनोनीत होता था और जिसकी स्वीकृति यूरोपीय राष्ट्रों द्वारा होती थी। इस फैसले का नतीजा यह हुआ कि बलगेरियन लोग अपने भाइयों से, जो पूर्वी रोमेलिया और मेसीडोनिया

में बसे हुए थे, अलग हो गये और बलगेरियन भाषा-भाषी पिरोट का जिला सर्बिया में मिला दिया। इस फैसले में बलगेरियन कौम के उचित अधिकारों को कुचला गया था। इसलिये इसमें स्थायीपन के तत्व नहीं थे। उत्तरी बलगेरिया और दक्षिण बलगेरिया को अलग करना ऐसा कार्य था जो किसी भी कौमी आधार पर उचित नहीं कहा जा सकता था। इसी प्रकार बीस वर्ष पहले मोल्डेविया और वेलेशिया को अलहदा किया गया था। वह भी नामुनासिब था। अतः कुछ ही वर्ष बाद बलगेरिया के संयुक्त राष्ट्र का निर्माण हुआ जिसका इंगलैण्ड ने समर्थन किया, लेकिन रूस ने उसका अनुमोदन नहीं किया। कूटनीतिज्ञों की दूरदर्शिता और कूटनीति की डींग पर यह अच्छी सारगर्भित आलोचना है।

उत्तर और दक्षिण बलगेरिया का एकीकरण—(1885)—बलगेरिया किसान राष्ट्र कहलाता था। इसका प्रथम शासक था अलेग्जेंडर आफ बेटनबर्ग। इसके शासन काल में पूर्वी रोमानिया की राजधानी, फिलिपो-पोलिस में एक रक्तहीन क्रान्ति हुई और उसके फलस्वरूप उत्तरी और दक्षिणी बलगेरिया एक हो गये। तुर्की गवर्नर को शान्ति से निकाल दिया और प्रिन्स अलेग्जेंडर को इस रियासत का शासक घोषित कर दिया। टर्की ने इसमें कोई रोक नहीं लगाई, परन्तु रूस के जार अलेग्जेंडर तृतीय ने अपना रोष इस प्रकार प्रकट किया कि बलगेरिया से सब रूसी अफसर वापस बुला लिये। इससे अपने लोगों में प्रिंस की लोकप्रियता और बढ़ गई। बलगेरिया में रूसी लोगों ने कठोर व्यवहार किया था और हिकमत से काम नहीं लिया था। इसलिये इन मुक्तिदाताओं के प्रति बलगेरिया के लोगों की आदर-भावना ठंडी होती जाती थी। परन्तु इससे भी अधिक गम्भीर विरोध अन्य बालकन रियासतों का अर्थात् यूनान और सर्बिया का था जो अपने प्रतिद्वन्द्वी की हड़प नीति से डर गये थे। यूनान युद्ध छेड़ने से इसलिये रुक गया कि यूरोप के राष्ट्रों ने उमका समुद्रतट घेर लिया, परन्तु सर्बिया के हाथ खुले हुए थे। सर्बिया और बलगेरिया के आपसी सम्बन्ध सीमा-सम्बन्धी बिवादों के कारण तथा महसूल के झंझटों के कारण बिगड़ते जाते थे और सर्बिया का लोकमत युद्ध के पक्ष में था। राजा मिलन भी अपनी डूबती हुई प्रतिष्ठा को बचाना चाहता था, इसलिये उसने भी लोक-इच्छा मंजूर कर ली। बलगेरियन लोगों के पास अनुभवी अफसर नहीं थे, इसलिये उनको क्षति हुई। लेकिन कौमी आवेश और उत्साह तथा उनके शासक के प्रेरक सेना-नायकत्व के कारण सब विघ्नों पर बिजय हो गई। दोनों सेनाओं की मुठभेड़ स्लिवनित्सा में हुई और तीन दिन के घमासान युद्ध के बाद विजयश्री बलगारियन लोगों को प्राप्त हुई। आस्ट्रिया ने उनको सर्बिया की राजधानी पर चढ़ाई करने से रोका। चौदह दिन में युद्ध बन्द हो गया। बुखारेस्ट की सन्धि (मार्च 1886) से बलगेरियन लोगों को न कोई हर्जाना मिला न प्रवेश, परन्तु स्लिवनित्सा की विजय से संघ (Union) का दृढ़ीकरण पूरा हो गया।

अलेग्जेंडर का सिंहासन-त्याग (1886)—अपने सैनिक कार्यों और स्पष्ट व्यवहार के कारण अलेग्जेंडर अपनी अभावुक प्रजा में बड़ा लोकप्रिय हो गया था, परन्तु रूसी लोगों के प्रपंचों के कारण उसकी स्थिति डाँवाडोल हो गई। अपने चाचा अलेग्जेंडर तृतीय को वह अच्छा नहीं लगता था। वह स्वतन्त्र नीति पर चलता था, इसलिये उसके शत्रु सोचने लगे कि उसका विनाश किस प्रकार किया जाय। इसके लिए दो बार कोशिश की गई, परन्तु वह सफल नहीं हुई। फिर 21 अगस्त 1886 के दिन उसको उड़ाकर कहीं ले गये, सिंहासन त्यागने के लिए उसको मजबूर किया और फिर उसको देश से बाहर निकाल दिया। परन्तु कौम फिर उसका समर्थन करने लगी और उसको वापस बुला लिया। परन्तु उसमें आत्म-विश्वास की कमी थी। वह रूसी लोगों के सामने खड़ा नहीं रह सकता था। इसलिए उसने स्वयं ही सिंहासन छोड़ दिया। इसके एजेन्टों ने भरसक कोशिश की कि खाली सिंहासन के लिए उत्तराधिकारी का निर्वाचन टलता रहे, परन्तु उनका उद्देश्य पूरा नहीं हुआ, बल्कि इससे बलगेरियन लोग अपने रूसी रक्षकों से हमेशा के लिए अलग हो गये।[1] कई महीने के अर्से के बाद आखिर एक उपयुक्त उम्मीदवार मिला। यह सेक्सेकोबर्ग का राजकुमार फर्डिनेन्ड था और किंग लुई फिलिप का वंशज था, जिसको जुलाई 1887 में बलगेरिया का प्रिंस बनाया गया। यह नया नरेश अपने पिछले शासक से बहुत भिन्न था। यह कहा जाता था कि प्रिंस फर्डिनेन्ड संयोग से ही शासक बन गया, प्रकृति तो चाहती थी कि वह विद्यार्थी ही बना रहे। परन्तु प्रिंस अलेग्जेंडर की अपेक्षा वह कहीं अधिक योग्य कूटनीतिज्ञ था और अपने शासन के पहले सात वर्षों में (1887-1894) उसने यह बुद्धिमता की कि अपने नये देश के भाग्य की बागडोर स्टीफैन स्टैमबुलौफ के हाथ में सौंप दी। यह अद्भुत व्यक्ति था। बालकन अन्तरीप में इतना महान् राजनीतिज्ञ अब तक कोई नहीं हुआ था। इसको लोग प्रायः बलगेरिया का बिस्मार्क कहते थे। इसकी प्रसिद्धि उन क्रान्तिकारी आन्दोलनों में हुई जो बलगेरिया के टर्की से छुटकारा पाने के पहले हुए थे, और अपने शक्तिशाली देश-प्रेम के दम से उसने प्रिंस अलेग्जेंडर के विरुद्ध जो षड्यन्त्र रचा गया था उसको विफल कर दिया था। प्रधान मंत्री की हैसियत से उसने यूरोप की दृष्टि में बलगेरिया की प्रतिष्ठा को बढ़ाया। उसकी इच्छा में दृढ़ता थी और वह ऐसी नीति का अनुसरण करता था जिसका एकमात्र उद्देश्य उसके देश का हित करना था। परन्तु यह दरबारी शिष्टाचार नहीं जानता था, इसलिए प्रिंस फर्डिनेन्ड को वह पसन्द नहीं था। अतः दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध बिगड़ने लगे। सन् 1894 में जर्मन सम्राट् की भाँति प्रिंस अलेग्जेंडर ने भी स्टैमबुलौफ को राजसेवा से मुक्त कर दिया। इस पदच्युत राजनीतिज्ञ का उसके शत्रुओं ने उसके निवृत्ति जीवन में भी पीछा नहीं छोड़ा और अगले साल पाशविक ढंग से उसकी हत्या कर डाली। इस

---

1. डब्ल्यू० मिलर, दी ओटोमन एम्पायर, (1913), 424।

लज्जाजनक अपराध से, और इससे भी अधिक सरकार के संदेहास्पद व्यवहार से, जिसके कारण हत्यारों पर बहुत अरसे तक मुकद्दमा नहीं चला, प्रकट हो गया कि बालकन रियासतों की आन्तरिक राजनीति में कैसी घोर और कलुषित बदलाखोरी है।

सर्ब लोगों का प्राचीन इतिहास—सर्ब लोगों ने बालकन अन्तरीप में सातवीं शताब्दी में प्रवेश किया था। फिर उनकी बस्तियाँ ऐड्रियाटिक समुद्र-तट पर बस गईं और दक्षिण में मैसीडोनिया तक फैल गईं। वर्तमान मोन्टीनीग्रो की रियासत भी इसमें सम्मिलित थी। थोड़े अर्से के बाद उनका अपने पड़ोसी बलगेरियन लोगों के साथ संघर्ष होने लगा। इनके साथ एक हजार वर्ष से अधिक समय तक उनकी शत्रुता रही। इस संघर्ष में कभी इधर की विजय होती थी और कभी उधर की। जब बलगेरिया का साम्राज्य अधिक से अधिक फैल गया था तो सर्बिया पूर्ण रूप से विलीन हो गया था। परन्तु सीमियन की मृत्यु के बाद सर्ब लोगों ने अपनी स्वाधीनता फिर प्राप्त कर ली। परन्तु कुछ समय के लिए वे बाइजैनटाइन सम्राट् के भी अधीन रहे। फिर बारहवीं शताब्दी में सर्बिया के इतिहास ने पलटा खाया। पहले दिनों में सर्बिया को इसलिए मुसीबत उठानी पड़ी कि इसके राजनीतिक संगठन में बड़े-बड़े दोष थे। सर्बियन राष्ट्र कई जातियों का शिथिल-सा संघ था। हर एक जाति का अलग-अलग राजा था जो केवल नाम के लिए अपने बड़े शासक की हुकूमत माना करता था। सर्ब लोग अच्छा दृढ संघ नहीं बना सके, इसलिए उनकी शक्ति क्षीण होती गई और उनके राजनीतिक विकास में सदियों तक रुकावटें आती रहीं। स्टीफैन निमेन्जा (Stephen Nemenja) (1159-1195) ने इस कमजोरी को हटाकर छोटे-छोटे सरदारों पर अपना नियंत्रण स्थापित किया और इस प्रकार सर्बिया में एक राजतन्त्र की नींव डाली। साथ ही उसने डालमेशिया, बोसनिया और दूसरे प्रदेशों को छीनकर अपने राज्य का क्षेत्रफल लगभग दुगुना कर लिया। मध्यकालीन सर्बिया अपनी उन्नति के शिखर पर स्टीफैन डूसां (Stephen Dusan) (1336-1356) के राज्यकाल में पहुँचा। यह सर्बिया के शासकों में सबसे अधिक शक्तिशाली था। उसका साम्राज्य लगभग पूरे बालकन अन्तरीप पर फैला हुआ था अर्थात् डेन्यूब से कोरिन्थ की खाड़ी तक और ऐड्रियाटिक समुद्र से एजीन समुद्र तक इसका विस्तार था। इसमें बोसनिया, हरजेगोविना और मेसीडोनिया तथा बलगेरिया की रियासतें भी शामिल थीं। इनमें कुस्तुन्तुनिया भी शामिल होने वाला ही था, परन्तु सन् 1356 में डूसां की मृत्यु हो गई, इसलिए वह बच गया। अपने संस्थापक की मृत्यु के बाद सर्बियन साम्राज्य भी अधिक अर्से तक नहीं टिक सका। शीघ्रता से इसके टुकड़े-टुकड़े हो गये और डूसां के देहान्त के तेतीस वर्ष बाद कोस्सोवो के युद्ध में तुर्क लोगों ने इसको ऐसा हराया कि फिर यह नहीं सँभला। इस युद्ध में (1389) बालकन रियासतों के भाग्य का पाँच शताब्दियों के लिए निपटारा हो गया। 70 वर्ष तक सर्बिया का पृथक् अस्तित्व चलता रहा, परन्तु अब इसकी हैसियत एक अधीन प्रान्त

से बढ़कर नहीं थी। सन् 1459 में आखिरकार इसको आटोमन राष्ट्र में मिला लिया गया और तब से यह उस राज्य का अंश बन गया।

छुटकारे के लिए प्रयत्न—बलगेरिया लोगों को टर्की की दासता से छुटकारा विदेशी राष्ट्र की तलवार ने दिलाया था और सर्ब लोगों ने आजादी अपने ही भुजबल से प्राप्त की थी। उन्नीसवीं सताब्दी से पूर्व भी सर्ब लोगों में आजादी के लिए उत्कट प्रेम था। तब भी ये लोग टर्की के जुए से निकलने के लिए संघर्ष किया करते थे। कोस्सोवो के युद्ध के बाद सर्ब लोगों ने डेन्यूब नदी को पार करके आत्म-रक्षा की। वे लोग दक्षिणी हंगरी में बस गए, और इस समय भी वहाँ ही बसे हुए हैं। नए देश में आ बसने पर भी अपनी मातृभूमि के साथ उनका मोह बना रहा और उस पर अत्याचार करने वालों से वे घृणा करते रहे। जब हंगरी के नरेशों ने टर्की के साथ युद्ध किए तो इन्होंने हंगरी का साथ दिया। कई बार ऐसा मालूम होता था कि सर्बिया स्वतन्त्र होने ही वाला है, खासकर फ्रांस की राज्य-क्रान्ति से पहले। ओब्राडोविच नामक प्रसिद्ध सर्ब कवि ने सम्राट् जोजेफ द्वितीय को सम्बोधन करके कहा कि "सर्ब जाति की रक्षा करो, आपके पूर्वज जिनसे प्रेम करते थे उनकी ओर देखो। उन दुखी सर्ब लोगों को देखो जो अगणित दुखों को सहन कर रहे हैं। हमारे प्राचीन वीर फिर जन्म लें, हमारा प्राचीन देश पुनः दिखाई दे।" उन्नीसवीं शताब्दी में टर्की इसलिए बचा रहा कि यूरोप के राष्ट्र उस समय आपस में लड़ते-झगड़ते थे। अब ऐसा मालूम होता था कि वह खतम होने वाला है। पहले तो आस्ट्रिया और रूस में घोर शत्रुता रहा करती थी, अब उनमें मेल हो गया था, जिससे ऐसा दिखाई देता था कि बालकन अन्तरीप से टर्की निकाल दिया जायगा। बालकनों के ऐसे नाजुक समय में जोजेफ द्वितीय की मृत्यु हो गई (1790) और उसकी असामयिक मृत्यु से आस्ट्रिया की नीति का रुख दूसरी तरफ हो गया। सर्बियन लोगों को फिर टर्की ने दासता में जकड़ लिया और उनकी आजादी की आशा फिर दूर चली गई। उनके शक्तिशाली पड़ोसी केवल थोथे सिद्ध हुए। इन बार-बार की निराशाओं ने सर्बियनों को यह पाठ पढ़ाया कि जैसे व्यक्तियों को अपना संघर्ष खुद ही करना पड़ता है उसी भाँति कौमों को भी अपने ही पैरों पर खड़ा होना चाहिए। तीन सौ वर्ष पूर्व डच लोगों ने भी स्पेन से युद्ध करते समय यही पाठ पढ़ा था।

कारा जार्ज—वर्तमान सर्बियन राष्ट्र का संस्थापक कारा जार्ज था। यह एक किसान का पुत्र था। उस समय (1804) सरकार की ओर से सर्बिया में जानिसारी लोग रहा करते थे, जो लोगों पर बड़े अत्याचार करते थे। इनसे उत्पीड़ित होकर अपने अन्य देशभाइयों के साथ-साथ कारा जार्ज ने पर्वतों की शरण ली और फिर वह एक खासी सेना का नायक बन गया। सर्ब लोगों के लिए यह सौभाग्य की बात थी कि जानिसारी लोगों से सुल्तान भी घृणा करता था। कारण यह था कि वे उसकी हुकूमत

का मुकाबला किया करते थे और आज्ञा का उल्लंघन किया करते थे तथा विधिन के बलवाई पाशा के साथ भी मिलकर वे राजद्रोह करते थे। इसलिए सुल्तान ने बोसनिया के पाशा को हुक्म दिया कि सर्ब लोगों से मिलकर जानिसारियों के हाथ से बेल्ग्रेड छीन लिया जाये। संयुक्त सेना का उद्देश्य पूरा हो गया और मुसलमानों का बलवा दब गया और सर्बिया भी उस सैनिक अत्याचार से मुक्त हो गया जिसके नीचे वह पहले कराहा करता था। उत्पाती जानिसारियों पर विजय प्राप्त करके सर्बियन लोग फूल गए और अब उनके हाथ में शस्त्र भी आ गए। इसलिए उनको यह उत्साह हो गया कि टर्की-सरकार के विरुद्ध उत्पात करके स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए प्रयत्न किया जाय। उन्होंने माँग की कि सर्बिया के क़िलों में जो तुर्की सिपाही रहते हैं वे क़िलों को खाली करें। सुल्तान ऐसी माँग मन्जूर नहीं कर सकता था जिससे जनता पर हुकूमत खतम हो जाय। जिस प्रकार उसने जानिसारियों के बलवे को खतम किया था उसी प्रकार उसने सर्ब लोगों के बलवे को भी खतम करने की कोशिश की। बलवाइयों के विरुद्ध एक के बाद दूसरी कई सेनाएँ भेजीं, लेकिन बलवाई लोगों को अपने पर्वतीय देश से बड़ा लाभ था। भौगोलिक दृष्टि से यह देश छापामार युद्ध के लिए बहुत ही उपयुक्त था। मिसचार के रणक्षेत्र में (1806) तुर्की फौज की बड़ी भारी हार हुई और युद्ध समाप्त हो गया। सुल्तान को बड़ी उदार शर्तें मन्जूर करनी पड़ीं, अर्थात् आंतरिक विषयों में पूरी स्वतन्त्रता, बेल्ग्रेड के सिवाय सर्बिया के सब किलों को खाली करना, तुर्की जमींदारों को सर्बिया से निकालना। सर्ब लोगों के लिए यह बहुत बड़ी विजय थी। यह ऐसी विजय थी जो कभी भूली नहीं जा सकती थी। उन्होंने किसी भी देश से सहायता नहीं माँगी थी। वे केवल अपने किसान नेता के नायकत्व में आजादी के लिए लड़े थे। अब थोड़े वर्ष तक देश में शान्ति रही। अब उस पर रूस की कुदृष्टि पड़ रही थी। फिर भी सन् 1812 में यह कुदृष्टि टल गई। इस पर नेपोलियन का हमला होने ही वाला था और आत्म-रक्षा के काम में रूसी लोग अत्यन्त व्यस्त थे। इसलिये वे सर्ब लोगों को पुनः दासता में फँसने से नहीं बचा सके। कारा जार्ज ने निराश होकर नेतृत्व करना छोड़ दिया। उसने अनुभव किया कि शत्रु अत्यन्त बलवान है। अब इस वीर नेता का कार्य दूसरे नेता के सुपुर्द हुआ जिसका नाम मिलोश ओब्रेनोविच था। यह भी किसान था। यह वर्तमान सर्बिया का दूसरा संस्थापक माना जाता है। स्वातंत्र्य संग्राम फिर जारी हुआ। सन् 1815 में सुल्तान ने देखा कि रूस भी अखाड़े में कूदने वाला है। इसलिए उसने सर्बिया को स्वराज्य का अधिकार दे दिया। कुछ वर्ष बाद अर्थात् सन् 1829 में एड्रियानोपुल की सन्धि हुई। इसके अनुसार सर्बिया प्रायः स्वतन्त्र राष्ट्र बन गया और मिलोश इसका परम्परागत शासक मान लिया गया।

सर्बिया के प्रतिद्वन्द्वी राजवंश—यह सर्बिया का बहुत बड़ा दुर्भाग्य है कि उसको आज़ादी दो राजवंशों के संस्थापकों की सहायता से मिली थी। वह दोनों के ही प्रति

कृतज्ञ था। एक राजवंश का नाम कारा जार्जविच था और दूसरे का नाम ओब्रे-नोविच। आरम्भ से ही इन दोनों राजवंशों में झगड़े-टंटे रहने लगे। मिलोश ने एक हेय उदाहरण प्रस्तुत किया। अपने रास्ते में से एक खतरनाक प्रतिद्वन्द्वी को हटाने के लिए उसने सन् 1817 में कारा जार्ज की हत्या करवा दी। इसके बदले में दूसरी-तीसरी पुश्त में इसके वंशजों की हत्या हुई। मिलोश के अत्याचारी शासन से और मनमाने करों के भार से तंग आकर लोग उसके विरुद्ध हो गए और सन् 1839 में उसको राज-सिंहासन से उतार दिया। उसके बाद उसके दो लड़के गद्दी पर बैठे—मिलान ओब्रेनोविच द्वितीय और माइकल ओब्रेनोविच तृतीय। पहला तो गद्दी पर बैठते ही मर गया और दूसरे ने भी केवल तीन वर्ष राज्य किया। सर्ब लोगों ने अलेग्जेंडर कारा जार्जविच को अपना शासक बनाया। यह महानेता का पुत्र था। इसको भी सोलह वर्ष (1842-1858) के शासन के पश्चात् राजगद्दी से उतार दिया। क्रीमिया के युद्ध में वह उदासीन था, लेकिन उसकी प्रजा की सहानुभूति रूस के साथ थी, इसलिए उसकी नीति लोगों को पसन्द नहीं थी। इसलिए अब दूसरा राजवंश गद्दी पर आया। मिलोश को देश-निर्वासन से 79 वर्ष की अवस्था में वापस बुलाया और उसने अपने आखिरी समय तक (1860) निरंकुश ढंग से राज्य किया। उसने शासन का सूत्र अपने पुत्र माइकल ओब्रेनोविच तृतीय के हाथ में सौंपा। यह व्यक्ति अठारह वर्ष पूर्व कुछ समय के लिए सर्बिया गद्दी पर बैठ चुका था। राजकुमार माइकल सर्बिया का सबसे योग्य और बुद्धिमान शासक था। उसने ऐसे कई राजनीतिक और आर्थिक सुधार जारी किए जो उसकी किसान प्रजा की पिछड़ी हुई दशा के उपयुक्त थे और उसने 1867 में सुल्तान को इस बात पर राजी कर लिया कि सर्बिया के समस्त दुर्गों से तुर्की सिपाही हटा लिए जायें। इस कूटनीतिक विजय के कारण और अपने नरम शासन के कारण माइकल अपने देश का अच्छा शासक माना जाता था, परन्तु कारा जार्जविच राजवंश के अनुयायी राजी नहीं होते थे। सन् 1868 में इस शासक की पाशविक तरीके से हत्या की गई। इसके बाद यह प्रयत्न किया गया कि देश-निर्वासित राजकुमार अलेग्जेंडर के पुत्र पीटर कारा जार्जविच को उत्तराधिकारी घोषित किया जाय, परन्तु सरकार की सतर्कता के कारण यह आयोजन सफल नहीं हुआ, इसलिए राजमुकुट माइकल के चचेरे भाई मिलान ओब्रेनोविच चतुर्थ के मस्तक पर रखा गया।

रूस और टर्की का युद्ध, सन् 1877—प्रिंस मिलान का शासन इसलिए याद रखने के योग्य है कि उस समय अर्थात् 1875 में सर्ब जाति का बहुत बड़ा बलवा हुआ। हम पहले ही देख चुके हैं कि रोमानिया और बलगेरिया पर इसका क्या प्रभाव पड़ा। अब हमें देखना है कि सर्बिया और मोन्टीनिग्रो मे इसका क्या असर हुआ। यह प्रगति हरजेगोविना से आरम्भ हुई थी। वहाँ के किसानों को जमींदारों और कर वसूल करने वालों के असह्य अत्याचार सहने पड़ते थे। ऐसा कहा जाता था कि किसान को

अपनी उपज का दो-तिहाई हिस्सा कर के रूप में दे देना पड़ता था और फिर सामन्त लोगों की सेवा का भार अलग था। इसलिए किसान लोग सदैव आर्थिक दासता में जकड़े रहते थे। यह बलवा बोसनिया तक फैल गया और लोकमत के दवाव से सर्बिया और मोन्टीनिग्रो को उत्पीड़ित सर्बियन लोगों की मदद करनी पड़ी। बस युद्ध छिड़ गया, जिसमें तुर्क लोगों की जीत हुई। सर्बिया को विनाश से बचाने के लिए रूस ने हस्तक्षेप किया। कुछ समय के लिए ऐसा खतरा मालूम हुआ कि कहीं रूस और ग्रेट ब्रिटेन में झगड़ा हो जायगा परन्तु खतरा टल गया। इसका कारण था बलगेरिया की ज्यादतियाँ, जिनके कारण यह टर्की का साथ नहीं दे सका, जैसा इसने क्रीमिया के युद्ध में साथ दिया था। इंगलैण्ड के पर-राष्ट्र सचिव ने लिखा था कि बलगेरिया की घटनाओं का यहाँ यह प्रभाव हुआ है कि टर्की के साथ किसी को कोई सहानुभूति नहीं रही। लोगों में ऐसी प्रबल भावना फैली हुई है कि अगर रूस टर्की के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दे तो भी हिज मेजेस्टी की सरकार के लिए हस्तक्षेप करना असम्भव होगा। इस युद्ध का अन्त सेंट स्टीफेनो की सन्धि से हुआ। यह सन्धि सर्बिया की दोनों रियायतों के पक्ष में थी जिसकी सीमाएँ अब एक-दूसरे से मिल गई थीं। सर्बिया को दक्षिण में बहुत बड़ा प्रदेश प्राप्त हुआ। मोन्टेनिग्रो का आकार तिगुना हो गया और आबादी दुगुनी, लेकिन इन शर्तों का काग्रेस ऑफ बर्लिन में संशोधन हो गया। मोन्टेनिग्रो को अपनी प्राप्ति का आधा भाग वापस देना पड़ा और सर्बिया से जो कुछ वापस लिया उसके बदले में उसको बलगेरिया में से दे दिया गया। इसके अतिरिक्त बोसनिया और हरजेगोविना पर आस्ट्रिया का अधिकार हो गया। इस फैसले के अनुसार सर्बिया, मोन्टेनिग्रो, बोसनिया और हरजेगोविना के सर्ब लोग अलग-अलग हो गए। सर्ब जाति की देश-भक्ति यह चाहती थी कि सब सर्ब जाति एक शासक के अधीन होकर एक हो जाए। इसलिए उनको इस फैसले से बड़ी निराशा हुई और इससे सर्ब लोगों और आस्ट्रो-हंगरी के राजवंश में ऐसे झगड़े के बीज पड़ गए जिनके खतम होने की कोई सम्भावना नहीं थी।

सर्बियन राजवंश—रूस और टर्की के युद्ध का यह परिणाम हुआ कि सर्बिया को बहुत सारा प्रदेश ही नहीं मिला बल्कि उसकी स्वतन्त्रता को जाब्ते में स्वीकार कर लिया गया और सन् 1882 में मिलान ने राजा की पदवी धारण कर ली। अगले 20 वर्ष का सर्बिया का इतिहास मुख्यतः दरबारी प्रपंचों की, हत्याओं की और हार-जीत की कथाएँ हैं। मिलान अपनी प्रजा में बहुत लोकप्रिय था। फिर भी 1889 में उसको सिंहासन त्यागना पड़ा। उसका उत्तराधिकारी अलेग्जेंडर नाबालिग था इसलिए चार वर्ष तक रीजेन्ट लोगों ने शासन किया। सन् 1893 में राजा ने शासन का सूत्र अपने हाथ में ले लिया और उससे पूर्व शासक ने जो उदार विधान जारी किया था वह रद्द कर दिया। उसने दुर्भाग्यवश ऐसी शादी कर ली जिससे उसकी प्रतिष्ठा जाती रही। सन् 1903 में 10 जून को जिस दिन प्रिंस माइकल की हत्या

की गई थी इस राजा की भी उसकी रानी के साथ-साथ उसके ही अफसरों ने हत्या कर डाली। उसका कोई वारिस भी नहीं था, इसलिए अलेग्जेंडर की हत्या से ओब्रे-नोविच राजवंश का अन्त हो गया। अब राजसिंहासन पुनः कारा जार्जविच राजवंश के हाथ में आ गया। इसका वंशज अब किंग पीटर है। इसका पिता सोलह वर्ष तक (1842-1858) सर्बिया का शासन कर चुका था। यह नया राजा अपने पहले के राजाओं से दो बातों में भिन्न था। उसने किंग मिलान की नीति छोड़ दी और एक वैधानिक राजा की भाँति वह सर्बिया में राज्य करने लगा। इसने जोन स्टुअर्ट मिल (John Stuart Mill) की 'एस्से आन लिबर्टी' नामक पुस्तक का अनुवाद किया था। ऐसे व्यक्ति के लिए यह उपयुक्त बात थी कि वह वैधानिक शासक हो।

अध्याय 7

यूरोपियन कन्सर्ट

विश्व-शान्ति का स्वप्न—अंग्रेजी राजनीतिक विचारों पर फ्रांस की राज्यक्रांति के अनेक प्रकार के प्रभाव पड़े, जिनमें सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण और तात्कालिक प्रभाव यह था कि अंग्रेज सुधारक विश्व-शान्ति के विषय में अब खूब विचार करने लगे। अठारहवीं शताब्दी की सरकारों का सबसे बड़ा दोष यह माना जाता था कि नरेश लोग अपनी वंश-प्रतिष्ठा और राज्य-वृद्धि में लगे रहते हैं जिससे जनता के हितों का बलिदान हुआ करता है। टामस पेन ने अपनी 'Rights of Man' पुस्तक में लिखा था कि प्रत्येक देश में बूढ़े लोग तो वर्क हाउस (श्रमगृह) में जाते हैं और नवयुवक फाँसी के तख्तों पर। जनता की निर्धनता और दीनता का मुख्य कारण वह यह मानता था कि युद्ध निरन्तर चला करते हैं और उनके खर्चे का भार करों के रूप में लोगों पर लदा रहता है। युद्धों की तैयारी और संचालन में इतना धन नष्ट होता है कि मानव-सभ्यता समृद्धि से वंचित रहती है और गरीब लोग भारी गरीबी से पिसते जाते हैं। फ्रांस की क्रांति से अंग्रेज लेखकों में यह विश्वास उत्पन्न हो गया था कि शान्ति का उदय होने ही वाला है और जनतन्त्र के द्वारा विभिन्न कौमें स्नेहबन्धन में बँधने वाली हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के इतिहास से प्रकट हो गया कि ये आशाएँ पूरी होने वाली नहीं थीं। अंग्रेज लेखकों की आशाएँ निराशाओं में बदल गईं, और क्रान्ति के कारण जो स्वर्ण-युग के स्वप्न दिखाई देने लगे थे वे भी कभी साकार नहीं हुए। रूसो का स्थान नेपोलियन ने ले लिया और प्रकृति के स्वप्न का स्थान शस्त्रों ने, और फिर बीस वर्ष तक फ्रांस और संयुक्त शक्तियों (Coalition) के बीच रणचंडी का नृत्य होता रहा। जब क्रांति-युग समाप्त हुआ तो यूरोप रक्तप्लावित्त हो चुका था और दुखी होकर इस बात की चिन्ता में था कि कोई ऐसी अन्तरराष्ट्रीय सरकार स्थापित की जाये जिसमें भावी युद्धों का खतरा खतम हो जाये। इसलिये यूरोपियन कन्सर्ट बना और यह प्रयोग आठ साल (1815-1823) तक चला। परन्तु घटनाओं के कारण फिर वही स्थिति उत्पन्न हो गई जो सौ वर्ष पहले थी। कन्सर्ट के इतिहास और उसकी विफलता के कारणों से यह गम्भीर उपदेश मिलता है।

यूरोपियन संघ (Confederation)—**राष्ट्रसंघ** (Commonwealth of Nations) का विचार उन्नीसवीं शताब्दी में ही उत्पन्न नहीं हुआ था। यह मध्य-कालीन राजनीतिक दर्शन की देन थी। यूरोपियन संघ का प्रारम्भिक स्वरूप था 'होली रोमन एम्पायर'। यह संयुक्त और शांत संसार के स्वप्न को साकार करने के

लिए एक साधारण-सा प्रयास मात्र था। यह पवित्र रोमन साम्राज्य पहले यूरोप के राष्ट्रतन्त्र की धुरी था। इस पर उसका नीतिचक्र घूमा करता था। पहले यह बात व्यवहार में थी और फिर यह केवल सिद्धान्त में रह गई। 'रिफारमेशन' के बाद यह सिद्धान्त में भी नहीं रही। ग्रोशियश और दूसरे लेखकों ने अपने ग्रन्थों में यूरोप के पब्लिक लॉ (Public Law) का यह प्रतिपादन किया कि अनेक राष्ट्रों पर एक राजाधिराज राज्य करे—यह विचार हेय और गर्हित है। आयन्दा के लिए अन्तर-राष्ट्रीय सम्बन्ध का आधार यह सिद्धान्त मान लिया गया कि प्रत्येक राष्ट्र बिल्कुल स्वतन्त्र है और उनके पारस्परिक व्यवहार में पूरी कानूनी समानता होनी चाहिये। वे चाहे बलवान हों या निर्बल, सबके अधिकार और कर्तव्य एक जैसे हैं। वर्तमान अन्तरराष्ट्रीय कानून ऐसी किसी शासक सत्ता का अस्तित्व नहीं मानता जिसको राष्ट्रों के आपसी झगड़ों को तय करने का अधिकार हो, या जो ऐसे आदेश जारी कर सके जिनमें कानून का बल हो। परन्तु व्यवहार में राष्ट्रों की समानता का स्थान बड़े राष्ट्रों की कानूनी उच्चता ने ले लिया है। उन्नीसवीं शताब्दी में यूरोप के भाग्य की बागडोर पाँच या छः बड़े-बड़े राष्ट्रों के हाथ में थी। समस्त समान विषयों में इन्हीं का प्रभाव सबसे ज्यादा जोरदार था, उदाहरणार्थ बेलजियम और हालैण्ड को अलग करने में और पूर्वी प्रश्न में। हम ऐसा समझ सकते हैं कि बड़े राष्ट्रों के इस आधिपत्य से और छोटे राष्ट्रों के पार्थक्य से यूरोपीय कन्सर्ट को शान्ति के साथ चलाने में सुविधा हुई होगी, परन्तु वास्तव में हुआ यह कि राष्ट्रों का पारस्परिक द्वेष और भी तीव्र हो गया। इसलिये ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई कि यूरोप के राष्ट्र दो सशस्त्र दलों में विभक्त हो गये, और अन्तरराष्ट्रीय मेल की सम्भावना पूर्वापेक्षा अधिक दूर चली गई। इस अध्याय का उद्देश्य यह बतलाना है कि संयुक्त यूरोप स्थापित करने का प्रयास ऐसी बुरी तरह क्यों असफल हुआ।

वियना कांग्रेस—जब नेपोलियन के युद्ध समाप्त हुए तो ऐसा मालूम हुआ कि अन्तरराष्ट्रीय प्रयोग करने के लिये अद्वितीय अवसर आ गया है अर्थात् यूरोपीय राष्ट्रों का संघ स्थापित किया जा सकता है। क्रान्ति के आन्दोलन से डरकर बड़े राष्ट्रों ने परस्पर पास-पास आकर एक 'कोलिशन' (पंचायत) बना लिया था और फ्रांस को मजबूर किया गया था कि उनकी इच्छा को स्वीकार करे। इसलिये अब यह प्रश्न खड़ा हुआ कि क्या ऐसा संयुक्त यूरोप बनाया जा सकता है जिसके समान अधिकार हों और समान ही कर्तव्य। परन्तु वियना कांग्रेस ने संयुक्त यूरोप की आशाएँ विफल कर दीं। वियना कांग्रेस के काम पर दृष्टि डालते हुए जेन्ट्ज ने लिखा था कि लोग तो यूरोपीय राजनीतिक तन्त्र के आमूलचूल सुधार की आशा किये बैठे थे, और समझते थे कि शान्ति कायम रखने का वचन दिया जायेगा तथा सतयुग पुनः लौट आएगा। परन्तु कांग्रेस ने इसके सिवाय और कुछ भी नहीं किया कि जो जिसका था

वह उसको दे दिया। यह तो तलवार के जोर से हो ही चुका था। बड़े राष्ट्रों में परस्पर अहदनामे हुए हैं, परन्तु ये भावी शान्ति की रक्षा के लिए या शक्ति-संतुलन के लिए किसी काम के नहीं हैं। छोटे-छोटे राष्ट्रों की भूमि में कुछ मनमानी घटाबढ़ी कर दी गई है, परन्तु इस काँग्रेस ने कोई बड़ा काम नहीं किया है। जन-शान्ति या जन-लाभ के लिये कोई कदम नहीं उठाया है। इसी से लोगों को अपनी लम्बी यातनाओं का कुछ फल मिल सकता था और भविष्य के लिए कुछ विश्वास। काँग्रेस की सन्धि (Protocal) तो केवल कामचलाऊ अहदनामा है जो सदियों तक नहीं टिक सकता।

यूरोपीय संघ क्यों असफल हुआ—नेपोलियन के पतन के बाद बड़े राष्ट्र परस्पर शान्ति के साथ मिलकर क्यों नहीं काम कर सके. इसका मुख्य कारण यह था कि उनकी विचारधाराएँ जुदी-जुदी थीं और उनकी संस्थाओं में भी मौलिक भिन्नता थी। यह जरूरी नहीं है कि किसी व्यवस्थित मानव-समाज में धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक समस्याओं के विषय में सब लोगों के विचार एकसे ही हों। प्रत्येक प्रश्न पर सहमत न होते हुए भी वे सबके हित के लिए मिलकर प्रयास कर सकते हैं और समान ध्येय की प्राप्ति के लिए परस्पर सहयोग से काम ले सकते हैं। निर्जीव मतैक्य से तो निर्बलता उत्पन्न होती है, शक्ति नहीं। विचार-भेद जीवन का नियम है और प्रगति की पहली शर्त है। फिर भी किसी उद्देश्य के लिए लोगों में सहयोग तभी हो सकता है जब दृष्टिकोण में साधारण समानता हो, पारस्परिक हितों का ज्ञान हो, कार्य-स्वातन्त्र्य पर नियन्त्रण करने के लिए लोग तैयार हों। कोई रियासत ग्रेट ब्रिटेन की भाँति एक राष्ट्र है या यूनाइटेड स्टेट्स ऑफ अमेरिका की भाँति संघ राष्ट्र—यह इस पर अवलम्बित है कि उपरोक्त शर्तें किस हद तक पूरी हुई हैं। 1815 में यूरोप का विकास इतना आगे नहीं बढ़ चुका था कि ये शर्तें पूरी हो जातीं। इससे हम समझ सकते हैं कि नवीन अन्तरराष्ट्रीय रचना में क्या कमजोरी थी और यह क्यों खतम हो गई। पवित्र संघ (Holy Alliance) और चतुर्मुख संघ (Quadruple Alliance) के इतिहास से प्रकट होगा कि जेन्ट्ज के शब्दों में ऐसा राजनीतिक तन्त्र क्यों नहीं स्थापित हो सका जिसके द्वारा विजय-युद्ध सदैव के लिए बन्द हो जाय। प्रतिद्वन्द्वी राष्ट्रों के दावों का फैसला या समन्वय करना ऐसा नाजुक काम था जो उन्नीसवीं शताब्दी में असम्भव था।

यूरोपीय संघ के लिए अलेग्जेंडर की योजना—पवित्र संघ का जन्मदाता अलेग्जेंडर प्रथम था। यह रूसी सम्राट् स्वप्न देखा करता था और रहस्यों में डूबा रहता था। इसकी प्रवृत्तियाँ उदार थीं। परन्तु इसके स्वभाव में तरंगें आया करती थीं और इसकी कल्पनाएँ भी क्षण-क्षण बदला करती थीं। अपने राज्यकाल के आरम्भ में तो वह उदार सिद्धान्तों की ओर बहुत ही झुका, यहाँ तक कि उसने पोलैण्ड को विधान प्रदान कर दिया और रूस के लिए भी विधान का विचार करने लगा। यह

सच है कि उसकी उदारता में कोई गहराई नहीं थी। उसके एक मंत्री जारटोरिस्की ने लिखा था कि सम्राट् बहुत खुशी से इस बात पर राजी हो जाता कि प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्र हो, शर्त यह थी कि प्रत्येक व्यक्ति उसका ही कहना माने।[1] उसका स्वभाव था कि उस पर आसानी से असर हो जाता था। इसलिए उसने यूरोपीय संघ की योजना का बड़ा स्वागत किया। दो सौ वर्ष पहले महारानी एलीजाबेथ की प्रेरणा से एक महा आयोजन (Grand Design) तैयार किया गया था और पवित्र संघ उसका एक अंग था। फ्रांस नरेश हेनरी चतुर्थ ने इसका वैसा ही स्वागत किया था जैसा अलेग्जेंडर ने अब होली एलायन्स का किया। इससे एक जनरल काउन्सिल या सेनेट बनी जिसका निर्माण यूनान की एम्फिक ट्योनिक कान्सिल के ढंग पर किया गया था। इसमें विभिन्न देशों के छियासठ सदस्य थे जिनका कर्तव्य था यूरोप के विवादों का फैसला करना और शान्ति की रक्षा करना। सले ने कहा था कि ग्रान्ड डिजायन के उद्देश्य हैं, उनको यूरोप में प्रचलित रक्तपाती विपत्तियों से सदैव बचाना और उनमें निरन्तर शान्ति रखना, ताकि नरेशगण भविष्य में परस्पर भाइयों का-सा व्यवहार कर सकें।[2] सन् 1860 में हेनरी की मृत्यु हो गई, इसलिए यह योजना अधूरी ही रह गई, लेकिन एक शताब्दी के बाद यह फिर दूसरे रूप में प्रकट हुई। सन् 1713 में संत पियरे (Saint Pierre) के मठ से स्थायी शान्ति की योजना (Project de paix perpetuelle) के नाम से यह जारी हुई। इसमें प्रस्ताव किया गया कि एक यूरोपियन संघ बनाया जाय। इसके सदस्य एक-दूसरे के साथ युद्ध करने के अधिकार का परित्याग करें और अपने विवादों को फैसले के लिए स्थायी काँग्रेस के सामने पेश करें। उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में रूस के सम्राट ने इसको फिर पुनर्जीवित किया। माल्टके ने कहा था कि रूस को साथी बनाने में दोष यह है कि वह क्षेत्र में बहुत देर से आता है और फिर वह अत्यधिक बलवान है। स्वतन्त्रता के संग्राम में यही हुआ। युद्ध-क्षेत्रों में रूस की सेना नष्ट नहीं हुई, उसकी शक्ति ज्यों की त्यों बनी रही। इससे साथी राष्ट्रों में उसका प्रभाव बहुत बढ़ गया जिसका उसने अपनी अभीष्ट योजना के पक्ष में उपयोग किया। इससे पहले सन् 1804 में उसने इंगलैण्ड से बातचीत शुरू की थी कि एक नया अन्तरराष्ट्रीय आयोजन खड़ा किया जाए। उस समय यह बात स्वीकार की गई थी कि यूरोप में उसी हालत में शान्ति कायम रह सकती है जब प्रत्येक राष्ट्र में आन्तरिक शान्ति हो और इस शान्ति का आधार उपयुक्त आजादी हो जिससे नरेशों के राग-द्वेष, बे-लगाम महत्वाकांक्षा और पागलपन पर रोकथाम हो सके। ये स्मरणीय शब्द कांट के उपदेशों की याद दिलाते हैं। वह कहा करता था कि विश्व-शान्ति का

1. डब्ल्यू० ए० फिलिप्स, दी कान्फिडरेशन आफ यूरोप (1914), 57।
2. मेमोयर्स डि सले (1745), ii 81, iii, xxx।

एकमात्र आधार है सच्ची प्रतिनिधि सरकार।[1] एलेग्जेंडर की बातचीत का यह फल हुआ कि ग्रेट ब्रिटेन और रूस में एक सन्धि हुई, जिसके अनुसार पिट इस बात पर सहमत हुआ कि जब सुलह हो जाए तो बड़े राष्ट्र एक-दूसरे को इस बात की गारन्टी दें कि जो जिसका राज्य है वह उसी के पास रहेगा, जिससे विश्व-शान्ति को भंग करने के लिए कोई प्रयास न कर सके। इससे स्पष्ट है कि इंगलैण्ड के मंत्री के मस्तिष्क में विशेषकर फ्रांस था। वह चाहता था कि भूमि-लोलुपता और महत्वाकांक्षा के वश हो कर फ्रांस यूरोप के भावी फैसले में किसी प्रकार की गड़बड़ न करे। लेकिन एलेग्जेंडर अपनी योजना का यह अर्थ करता था कि ग्रांड डिजाइन (Grand Design) के नमूने पर एक यूरोपियन लीग बनाई जाय। इस प्रकार यूरोप का ध्येय तो था तात्कालिक और व्यावहारिक, अर्थात् नेपोलियन को पछाड़ना, लेकिन रूस के सम्राट् के ध्येय में अधिक महत्वाकांक्षा थी कि एक ऐसा बड़ा दरबार कायम कर दिया जाय जिसका दबदबा यूरोप के हित के सब मामलों पर हो। अलेग्जेंडर ने अपने होली अलायन्स (Holy Alliance) की योजना संसार में प्रकाशित कर दी। इसके बाद यह सम्भव नहीं था कि इंगलैण्ड और रूस का मतभेद छिपा रहता। जब अनुमति और पुष्टि के लिए यह योजना इंगलैण्ड भेजी गई तब अंग्रेज सरकार ने हस्ताक्षर नहीं किए और यह कहा कि यह योजना कुछ धुँधली-सी और अस्पष्ट है और अहद करने वाले नरशों को इस बात पर पाबन्द करती है कि जब-जब और जहाँ-जहाँ जरूरत हो एक नरेश दूसरे को मदद देगा। ऐसी योजना पर दस्तखत करके इंगलैण्ड अपनी आजादी का उपहास नहीं करवाना चाहता।

पवित्र संघ (Holy Alliance)—पवित्र संघ के विषय में बड़ी-बड़ी भ्रांतियाँ रही हैं। इसके ध्येय को उलटा समझा गया है और इसका अर्थ बहुत बढ़ा-चढ़ाकर किया गया है। जब इसकी योजना बनी तो इसको प्रतिक्रिया का प्रतीक माना गया था। लोग समझते थे कि यह स्वतन्त्रता के विरुद्ध षड्यंत्र है। नरेशों ने अपनी प्रजा के विरुद्ध अपना एक संघ बनाया है। इस संघ के मसविदे में से एक उद्धरण दिया जाता है, जिससे प्रकट होगा कि यह मत कहाँ तक उचित है। अहद करने वाले पक्षों ने गम्भीरतापूर्वक इस बात की घोषणा की थी—"इस ऐक्ट का केवल यही उद्देश्य है कि संसार के सम्मुख उनका (राष्ट्रों का) दृढ़ निश्चय प्रकट हो जाये कि अपनी-अपनी रियासतों के प्रबन्ध-संचालन में और विभिन्न सरकारों के पारस्परिक सम्बन्ध में वे अपने पवित्र धर्म से अर्थात् न्याय, पुण्य और शान्ति के उपदेशों से मार्ग-प्रदर्शन प्राप्त करें। यह उपदेश केवल व्यक्तियों पर ही लागू नहीं है, बल्कि नरेशों के पारस्परिक परामर्श पर भी लागू होता है। मानवीय संस्थाओं को पुष्ट करने के लिये और उनके दोषों को दूर करने

1. कान्ट, परपीच्युल पीस, (सं० एम० केम्बेल स्मिथ 1903)।

के लिये यह एक बहुत बड़ा साधन है।"[1] दूसरे शब्दों में भाष्य किया जाय तो प्रत्यक्ष में होली अलायन्स का केवल इतना ही अर्थ था कि आयन्दा सब नरेश एक-दूसरे को अपना भाई समझें और वे सत्य और शाश्वत भ्रातृत्व के बन्धन में बँधे रहें और उनकी प्रजा उनके बच्चे मानी जाए जिन पर वे वैसे ही शासन करें जैसे पिता अपने कुटुम्ब पर करता है। इस आदर्श सिद्धान्त का पालन तो कम होता था परन्तु उल्लंघन ज्यादा। इसको बड़ी-बड़ी तीन निरंकुश सत्ताओं ने स्वीकार किया था, इसलिये लोगों में यह सन्देह जागृत हुआ कि यह यूरोप की जनता के खिलाफ एक छिपा हुआ प्रयास है, परन्तु वास्तव में यह बात नहीं थी। अलेग्जेंडर ने तो अपने साथियों को यह भी समझाया था कि होली एलायन्स में यह बात निहित है कि सरकार के सिद्धान्त वैधानिक मान लिये जायँ।

इसका कितना महत्व था—पवित्र संघ नाम के लिये एक प्रयास था जिसके द्वारा अन्तरराष्ट्रीय कूटनीति पर नैतिकता के सिद्धान्त लागू करने थे। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि यूरोप में राजनीतिक अन्तरात्मा उत्पन्न करना था। यह केवल कच्ची योजना थी जो तत्कालीन लोगों की आँखों के सामने तो बहुत घूमती रही परन्तु कार्यान्वित कभी नहीं हुई, और होते ही मर गई। अलेग्जेंडर ने कोशिश की कि पवित्र संघ की पारदर्शक आत्मा के लिए शरीर तैयार हो जाए। परन्तु उसकी सब कोशिशें यों ही गईं। कासलरीग कहता था कि ये पवित्र संघ ऊँचे दर्जे के रहस्यवाद और मूर्खता का नमूना हैं। मेटरनिक रूस के सम्राट् को जेकोबिन मानता था और संघ के विषय में कहता था कि यह कुछ नहीं है, केवल शोर ही शोर है। उसने कहा था कि यह केवल परोपकार की आकांक्षा है जिसको धार्मिक पोशाक पहना दी गई है। यह कोई ऐसी संस्था नहीं है जो लोगों के अधिकारों का दमन करे या निरंकुशता को या किसी दूसरे प्रकार के अत्याचार को प्रोत्साहन दे। यह सम्राट् अलेग्जेंडर की दयालुता और धार्मिकता का परिवाह है और ईसाइयत के सिद्धान्तों को राजनीति पर लागू करना चाहता है। यद्यपि पवित्र संघ का व्यावहारिक महत्व तो नाम मात्र का ही था, तो भी यह ध्यान देने के योग्य इसलिए है कि जब इसकी चर्चा चली तो मालूम पड़ा कि ब्रिटिश सरकार में और पूर्व के राष्ट्रों में मौलिक मतभेद है।

मैटरनिक की विधि—हम देख चुके हैं कि पवित्र संघ के विषय में अलेग्जेंडर का स्वप्न नष्ट हो गया था। कारण यह था कि अंग्रेज राजनीतिज्ञों ने ऐसी सन्धि को स्वीकार नहीं किया जिसके उद्देश्य अनिश्चित हों। मैटरनिक की विधि का भी यही हाल था। इसी से इंगलैण्ड यूरोपियन कन्सर्ट से पीछे हट गया और अब अपनी ही परिधि में घूमने लगा।

---

1. हर्ट सलेट, दी मैप आफ यूरोप बाइ ट्रीटी i 317।

चतुर्मुख सन्धि—ग्रेट ब्रिटेन अपने इस निश्चय से तो नहीं हटना चाहता था कि पवित्र संघ से अलग रहा जाय। कुछ निश्चित ध्येयों के लिये वह यूरोप के राष्ट्रों के साथ सहयोग करने के लिए तैयार था। सन् 1791 में आस्ट्रिया के मंत्री कानिट्ज ने प्रेरणा की थी कि यूरोप एक राष्ट्र-परिवार है, इसलिये राष्ट्रों का कर्त्तव्य है कि सब मिलकर जन-शान्ति और राष्ट्र-शान्ति की रक्षा करें, एक-दूसरे के राज्य को नहीं हड़पें और सन्धियों को मानें। उसका प्रस्ताव फ्रांस के विरुद्ध था और यूरोपियन कन्सर्ट मूलतः फ्रांस की क्रान्ति का ही फल था। लगभग पच्चीस वर्ष तक यूरोप की सरकारों ने फ्रांस के क्रान्तिकारी जनतन्त्र से युद्ध किया, फ्रांस की सेनाओं और विचारधाराओं को अपने देशों में घुसने से रोका और इसके निमित्त एक के बाद दूसरा, इस प्रकार कई संघ (Coalition) बने। अन्त में निरन्तर संघर्ष से परिश्रान्त होकर नेपोलियन ने वाटरलू में घुटने टेक दिये। वीयना की सन्धि के बाद चतुर्मुख सन्धि का भी अन्त निकट ही प्रतीत होता था। इसके सदस्य थे— ग्रेट ब्रिटेन, आस्ट्रिया, रूस और प्रशिया। अब इसके निर्माण का उद्देश्य भी पूरा हो चुका था। वास्तव में आपसी ईर्ष्या और द्वेष के कारण इसका अस्तित्व तो आरम्भ से ही खतरे में था, परन्तु नेपोलियन की एलबा से वापसी के बाद जो सौ दिन की नाटकीय घटनायें घटीं, उनसे ईर्ष्या-द्वेष कुछ दब गया और इसका अन्त रुक गया। वास्तव में देखा जाये तो इसका उद्देश्य अभी पूरा हुआ भी नहीं था और यह आवश्यक था कि कुछ ऐसे साधन टटोले जायँ जो यूरोप को क्रान्ति के नये धक्कों से बचा सकें। नेपोलियन की वापसी पर फ्रांस के लोगों ने जो उसका स्वागत किया उससे प्रकट हो गया था कि लोगों के दिलों पर उसका अब भी असाधारण प्रभाव है। इससे यह भी जाहिर हो गया कि मित्र-राष्ट्रों ने जो सरकार फ्रांस में स्थापित की थी वह लोगों को पसन्द नहीं थी और ऐसा मालूम होता था कि मौका मिलते ही पुराना क्रान्ति-क्रोध धधक उठेगा और कौम यह यत्न करेगी कि देश की सीमा राइन नदी तक पहुँच जाये। फ्रेंच प्रचार के खतरे के कारण ही यूरोपियन कन्सर्ट का जन्म हुआ था और फ्रांस के भय से ही वाटरलू के बाद भी चतुर्मुखी संघ चलता रहा। वीयना की कांग्रेस ने बड़े परिश्रम के साथ जो भूमि-सम्बन्धी और राजनीतिक फैसले किये थे उनकी रक्षा के लिए मित्र-राष्ट्रों को तैयार रहना था और असन्तोष के चिह्न प्रकट होते ही फिर युद्ध करना था। इसलिये चार बड़े राष्ट्रों ने नवम्बर 1815 में एक अहदनामा किया, जिसका उद्देश्य स्पष्ट शब्दों में प्रकट करके यह डर भी जाहिर किया गया कि क्रान्तिकारी सिद्धान्त कहीं फिर फ्रांस को न मरोड़ डालें और इससे दूसरे राष्ट्रों की शान्ति खतरे में न पड़ जाये।[1] यह अहदनामा प्रकट रूप

---

1. हर्स्ट्सलेट, दी मेप ऑफ यूरोप बाइ ट्रीटी, i, 372।

से किया गया था। इसका उद्देश्य भी निश्चित और व्यावहारिक था। पवित्र संघ का ध्येय अनिश्चित था और उसके सिद्धान्त भी कच्चे थे। दोनों की तुलना से मालूम होता है कि अलेग्जेंडर के आदर्शवाद में और कासलरीग की गम्भीर नीतिज्ञता में कितना अन्तर था।

अहदनामा—अहदनामा बड़ी सावधानी और नरमी के साथ बनाया गया था। इसमें एक ऐसी मद थी जिसके जुदे-जुदे अर्थ लगाए जा सकते थे। यह प्रसिद्ध छठी मद बड़े महत्व की थी और उद्धृत करने के योग्य है। "चारों नरेश जो इस अहदनामे को स्वीकार करने वाले ऊँचे पक्ष हैं उनमें इस समय परस्पर घनिष्ठ संबंध है। इस संबंध को और अधिक दृढ़ करने के लिये उपरोक्त चारों पक्ष सहमत हैं कि या तो वे स्वयं या उनके प्रतिनिधि मंत्री समान उद्देश्यों पर विचार करने के लिए और ऐसे साधनों की जाँच करने के लिए, जो समय-समय पर कौमों की शान्ति और समृद्धि के लिए तथा यूरोप की शान्ति की रक्षा के लिए हितकारी समझे जायें, सभायें किया करेंगे।" यह मद यूरोपियन कन्सर्ट की आधारशिला थी जो आठ वर्ष तक (1815-23) चली। इसके अनुसार बड़े राष्ट्रों को मिलकर समय समय पर कान्फ्रेन्सें करनी थीं ताकि ऐसे विभिन्न प्रश्नों का निर्णय किया जा सके जो उनके सामने विचारार्थ पेश हों। अब यह साफ जाहिर हो गया था कि जो इन उद्देश्यों के लिये सभायें की जाती थीं उनका ध्यान फ्रांस की स्थिति पर ही केन्द्रीभूत नहीं हुआ करता था। इस मत के अनुकूल मित्र-राष्ट्रों को ऐसे कितने ही मामलों में भी परस्पर सहयोग करना था जिनका उन उद्देश्यों से कोई सम्बन्ध नहीं था जिनके लिए वास्तव में अहदनामा बनाया गया था। इसलिये ग्रेट ब्रिटेन ने उन सिद्धान्तों को नहीं माना जो पवित्र संघ में निहित थे। ब्रिटेन को उस समय यह पता नहीं था कि हेर-फेर होकर इन कांफ्रेन्सों के उद्देश्य क्या हो जायेंगे। संक्षेपतः इसका असली नतीजा यह था कि समस्त राष्ट्रों के संयुक्त संघ के बजाय मित्र राष्ट्रों का प्रभुत्व कायम हो जाये। अलेग्जेंडर समस्त राष्ट्रों का संघ चाहता था। दूसरे दर्जे के राष्ट्रों की दृष्टि में चार बड़े राष्ट्रों की तानाशाही नेपोलियन की तानाशाही से भी कम न्यायानुकूल थी। परन्तु छोटे राष्ट्रों का विरोध सफल नहीं हुआ। अब हमको देखना है कि इन काँग्रेसों ने, जो चार जगह हुईं—अर्थात् एक्स-ला-चेपल, ट्रोपो, लेबाक और वेरोना—व्यवहार में क्या काम किया। इनके इतिहास से यह भी स्पष्ट हो जायगा कि इस युग में अंग्रेज नीति किन सिद्धान्तों पर चल रही थी।

एक्स-ला-चेपल की काँग्रेस (1816)—तीन साल बाद सन् 1818 में एक्स-ला-चेपल स्थान पर पहली काँग्रेस हुई। मेटरनिक ने लिखा था कि इस छोटी-सी काँग्रेस से अधिक सुन्दर काँग्रेस उसने कभी नहीं देखी थी। इसकी सफलता से वह बड़ा खुश था। यह मित्र-राष्ट्रों के प्रयत्न की पराकाष्ठा थी जिसके द्वारा वे यूरोप

के समस्त राज्यों पर नियन्त्रण स्थापित करना चाहते थे। यूनान की एम्फिकट्योनिक कौंसिल के समान इस कांग्रेस को सब लोग यूरोप की बड़ी कौंसिल मानते थे और कई प्रकार की माँगों की अपील इसके सामने पेश हुआ करती थी। डेनमार्क ने स्वेडन के विरुद्ध सहायता माँगी। इलेक्टर आफ हेस ने राजा की पदवी के लिये दरख्वास्त दी। जर्मन नरेशों ने अपनी तकलीफों को दूर करवाने का यत्न किया। मुनेको की जनता ने अपने शासक की शिकायत की। काँग्रेस ने यह भी निर्णय किया कि डची आफ बेडन का उत्तराधिकारी कौन हो और आस्ट्रिया और प्रशिया में यहूदी लोगों की क्या स्थिति हो। नैतिक दृष्टि से तो काँग्रेस बहुत ऊची थी, परन्तु सारे आयोजन में एक मौलिक कमजोरी थी और वह प्रकट होने लग गई थी। एक्स-ला-चेपल की काँग्रेस में प्रकट हुआ कि काँग्रेस में एक दरार है। यह अगले अधिवेशनों में और अधिक विस्तृत होती गई और अन्त में इसके टुकड़े-टुकड़े हो गये। इस बात पर सब सहमत थे कि फ्रांस से सेना हटा ली जाय। इसके साथ ही फ्रांस को एलाइन्स में शामिल कर लिया जाय। अब मेटरनिक के शब्दों में यह एलाइन्स एक नैतिक पंचायत बन गया था। परन्तु दूसरी दिशाओं में मौलिक मतभेद जल्दी-जल्दी प्रकट होने लगा। पहले तो काँग्रेस दो मुख्य प्रश्नों को हल नहीं कर सकी। पहला प्रश्न था दास-व्यापार का और दूसरा था बार्बरी के डाकुओं का। इससे प्रकट हो गया कि जब कोई राष्ट्र अपने हितों की कोई खास हानि देखता था तो सर्वहित के लिये न वह रियायत करता था और न अपनी प्रवृत्तियों का बलिदान। दास-व्यापार का अन्त करने के हेतु ग्रेट ब्रिटेन ने सुझाव दिया कि सब राष्ट्रों को एक-दूसरे की तलाशी लेने का अधिकार होना चाहिये। परन्तु यह प्रस्ताव पास नहीं हो सका। कारण यह था कि सब राष्ट्र ग्रेट ब्रिटेन से उसके बल नौशक्ति के कारण ईर्ष्या करते थे, और कोई भी राष्ट्र इसको सहन करने के लिये तैयार नहीं था कि अपने व्यापारी सम्बन्ध में किसी का हस्तक्षेप हो। बार्बरी डाकुओं से यूरोप के समस्त समुद्र-तट पर खतरा रहता था। अत: रूस ने प्रस्ताव किया कि इस विपत्ति का उन्मूलन करने के लिए भूमध्यसागर में रूस की नौसेना रहनी चाहिये। बार्बरी डाकू इंगलैण्ड के झण्डे का आदर करते थे। ग्रेट ब्रिटेन ने समझा कि भूमध्यसागर में रूस की नौसेना का रहना खतरे की बात है। इसलिये यह प्रस्ताव गिर गया। इस ला-इलाज अविश्वास के कारण फूट की भावना और पुष्ट हुई और स्निग्ध सहयोग तथा सफल कन्सर्ट की कोशिश सब नष्ट हो गई।

इसका अर्थ—लेकिन एक्स-ला-चेपल की काँग्रेस का अर्थ तो इससे गहरा था। अब यूरोपीय कन्सर्ट के सिद्धान्तों के स्वरूप से अंग्रेजों को सर्वप्रथम भय होने लगा। अलेग्जेंडर ने प्रस्ताव किया कि सारे राष्ट्र एक ऐसी घोषणा कर दें कि वर्तमान भूमि ज्यों की त्यों रहेगी, और नरेशों के अधिकार भी पूर्ववत् बने रहेंगे। आस्ट्रिया और

प्रशिया ने इस प्रस्ताव का बड़ा ही स्वागत किया। उधर मेटरनिक यह मानता था कि पूर्व स्थिति को ज्यों की त्यों बनाये रखने की गारण्टी होनी चाहिए। इससे स्वतन्त्र संस्थाओं के दमन में सुभीता होगा, और रूढ़िवाद की बेड़ियों में जकड़े रहने के कारण यूरोप का भावी विकास रुक जायगा। इसके अनुसार यूरोप के राष्ट्रों का कर्तव्य था कि क्रान्ति के विरुद्ध मिलकर काम करें और जो राष्ट्र अपनी प्रजा को काबू में न रख सके उसको सहायता दें। यह वास्तव में क्रान्ति के विरुद्ध जिहाद था। इससे सारी वैधानिक प्रगति रुक सकती थी और यह उन्नीसवीं शताब्दी की दूसरी क्रान्ति-शक्ति अर्थात् कौमियत के सिद्धान्त के लिए भी इतनी ही घातक होती। यह इस बात की गारण्टी देती थी कि रियासतों की भूमि में कोई हेर-फेर नहीं होना चाहिए। इससे इटली और जर्मनी का एकीकरण रुक जाता। हालैण्ड और बेलजियम तथा नार्वे और स्वेडन अलग-अलग नहीं होते और बालकन रियासतों को आजादी नहीं मिलती, अर्थात् यूरोप का नक्शा जैसा इस समय है वैसा नहीं होता। रूस, आस्ट्रिया और प्रशिया के कन्सर्ट के द्वारा यूरोप की शान्ति की रक्षा हो तो जाती, परन्तु वैधानिक स्वतन्त्रता और राष्ट्रीय आजादी हासिल नहीं होती। इस दुष्ट योजना के विफल होने का श्रेय अंग्रेज सरकार को है, जिसके दृढ़ रुख के कारण दूसरे राष्ट्रों को विवश होकर यह योजना छोड़नी पड़ी। अब असली बात थी हस्तक्षेप करने का अधिकार। इसमें मूल प्रश्न यह था कि पाँच बड़े राष्ट्रों को अर्थात् नैतिक पंचायत को यह अधिकार है कि पूर्व स्थिति को बदस्तूर बनाये रखने के नाम पर वे किसी भी राष्ट्र में हस्तक्षेप कर सकें। यूरोपीय कन्सर्ट का उद्देश्य यह था कि ऐसे क्रान्ति-युद्ध दुबारा न होने दिये जायँ, जिनके कारण समस्त महाद्वीप रक्तरंजित हो चुका था और जिनके कारण फिर वैसा ही हो सकता था। इसका मतलब था कि विभिन्न देशों के बाह्य सम्बन्धों पर कुछ नियन्त्रण हो, जिसमें यह भी बात शामिल थी कि देशों के आन्तरिक मामलों की व्यवस्था करने का भी अधिकार हो। कोनिट्ज के शब्दों में यूरोप एक राष्ट्र-परिवार है। अतः जिस विषय का सम्बन्ध एक राष्ट्र से है उसका सम्बन्ध वास्तव में सब राष्ट्रों से है। यदि कोई क्रान्ति उत्पन्न होते ही जहाँ की तहाँ नष्ट नहीं की गई तो उसका विष बिजली की भाँति समस्त यूरोप में फैल जायगा। सन् 1830 और 1848 में ऐसा ही हुआ था। पेरिस के जनतन्त्र ने जो उदाहरण उपस्थित किया था उसकी प्रतिध्वनि यूरोप की प्रत्येक राजधानी में जा पहुँची थी, इसलिए इंगलैण्ड ने हस्तक्षेप के सिद्धान्त को नहीं माना। इसमें यूरोप के प्रत्येक देश की आजादी के लिए खतरा था। यह सच है कि फ्रांस का उदाहरण दिया जा सकता था। वहाँ भी तो हस्तक्षेप किया गया था, परन्तु एक उदाहरण से सिद्धान्त स्थापित नहीं होता। वहाँ की परिस्थिति असाधारण थी, तो भी जब अहदनामा (Treaty of Alliance) तैयार किया जा रहा था और जो यूरोपीय कन्सर्ट का आधार था,

तब कासलरीग ने बड़ी होशियारी और तत्परता से फ्रांस के आन्तरिक मामलों में अत्यधिक और नंगा हस्तक्षेप नहीं होने दिया था। दूसरे राष्ट्रों के विषय में ग्रेट ब्रिटेन सहमत नहीं हुआ कि अन्तरराष्ट्रीय नियन्त्रण का सिद्धान्त लागू किया जाय। जब कोई खास मामला खड़ा हो तो उस पर पृथक् विचार किया जाय, ताकि पहले से ही बड़े राष्ट्रों को ऐसे काम करने के लिए मजबूर न होना पड़े जो उस राष्ट्र के लिए अहितकर हों। अंग्रेज सरकार ने इस विचार का जोरदार विरोध किया कि सब मित्र राष्ट्र मिलकर किसी एक जमी-जमाई रियासत की सहायता करें और इस बात पर ध्यान न दें कि उस राष्ट्र ने अपनी शक्ति का किस हद तक दुरुपयोग किया है। कासलरीग कहता था कि जब अहदनामा किया गया था तो यह इरादा नहीं था कि समस्त संसार की सरकारों का एक संघ बनाया जाय जो विभिन्न राष्ट्रों की सरकारों के आन्तरिक मामलों की निगरानी करे।[1] इसका उद्देश्य यह नहीं था कि क्रान्ति की प्रवृत्तियों का दमन किया जाये, चाहे वे यूरोप के किसी भाग में हों और उन परिस्थितियों का खयाल न किया जाये जो क्रान्ति के पक्ष में हों और जिनके कारण क्रान्ति हुई हो। कासलरीग, वेलिंगटन और कैनिंग तीनों पार्लियामेन्ट से डरते थे और उन्हें साहस नहीं होता था कि वे अज्ञात समुद्र पर चल दें जहाँ नौका-संचालन खतरनाक हो और नाव की पतवार आस्ट्रिया और रूस जैसी प्रतिक्रियावादी सरकारों के हाथ में हो।

ट्रोपो और लेबाक की काँग्रेसें 1820-21—एक्स-ला-चेपल की काँग्रेस में अंग्रेज मन्त्रियों को प्रथम बार यह सन्देह हुआ कि यूरोपीय कन्सर्ट से यूरोप की आजादियों के खतम होने की आशंका है। अगले वर्षों में जो काँग्रेसों में कार्यवाहियाँ हुईं उनसे इस सन्देह की पुष्टि हो गई। दूसरी काँग्रेस सन् 1820 में ट्रोपो नगर में हुई और उससे अगले साल लेबाक में। इसका अधिवेशन नेपोलियन बलवे के कारण किया गया था। इस बलवे का इतिहास पहले दिया जा चुका है। अपनी प्रजा के दबाव में आकर नेपल्स नरेश फर्डिनेन्ड ने विवशता से एक विधान मंजूर किया। इससे आस्ट्रिया को हस्तक्षेप करने का बहाना मिल गया। कासलरीग ने आरम्भ में ही अपना मत साफ-साफ प्रकट कर दिया था। उसका विश्वास था कि आस्ट्रिया का हस्तक्षेप उचित है और उसके दो कारण हैं। पहले तो अन्तरीप में उसके हितों की क्षति होने का डर है और लोम्बार्डी, वेनेशिया तथा सेंट्रल स्टेट्स में उसके राज्य के स्थायीपन को भी खतरा है। इस खतरे का कारण है दक्षिण में क्रान्तिकारी हलचल। दूसरा कारण यह था कि पाँच वर्ष पूर्व फर्डिनेन्ड ने आस्ट्रिया के सम्राट् के साथ जो सन्धि की थी उससे सम्राट् को यह अधिकार प्राप्त था कि नेपोलिटन ढंग

1. स्टेपलटन, दी पोलिटिकल लाइफ आफ केनिंग, i, 139।

की सरकार में कोई ऐसा परिवर्तन न होने दे जो उन सिद्धान्तों के प्रतिकूल हो जिनका इटालियन प्रान्तों में आस्ट्रिया ने अनुसरण किया है। इन आधारों पर किसी राष्ट्र ने आस्ट्रिया का विरोध नहीं किया और उसने अपनी सेनायें नेपोलिटन बलवे को दबाने के लिए रवाना कर दीं। फर्डिनेन्ड ने गम्भीरतापूर्वक यह शपथ ली थी कि वह विधान का आदर करेगा। इसलिए उसका मदद माँगना इस शपथ को भंग करना था। फिर भी मेटरनिक खाली इससे सन्तुष्ट नहीं था कि इटली के मामलों में वह चाहे जो कर सकता है। वह चाहता था कि उसको मित्र-राष्ट्रों का नैतिक समर्थन प्राप्त हो। इसलिए उसने प्रस्ताव किया कि नेपल्स की क्रान्तिकारी सरकार को मान्यता न दें और इस प्रकार आस्ट्रिया की नीति का समर्थन करें और साथ ही साथ अपने मंत्रियों पर कूटनीतिक प्रभाव डालें। इस प्रस्ताव को कासलरीग ने साफ शब्दों में अस्वीकार कर दिया। वह इस सिद्धान्त के पक्ष में था कि एक राष्ट्र को दूसरे राष्ट्र के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप का कोई अधिकार नहीं है जब तक कि किसी सन्धि के द्वारा ऐसे अधिकार प्राप्त न हो जायँ। नेपोलिटन बलवा ग्रेट ब्रिटेन के सन्धि-क्षेत्र से बाहर था और उसमें हस्तक्षेप करने के लिए उसके पास कोई उचित बहाना भी नहीं था। इसलिए उसका रुख पूर्ण उदासीनता का हो गया। आस्ट्रिया का मामला दूसरे पैराये पर था। नेपल्स के साथ जो उसकी सन्धि थी उससे उसको हस्तक्षेप करने का कानूनी हक था, लेकिन उसी अवस्था में जब वह यह समझे कि उसके असली हित खतरे में हैं। दूसरी तरफ मेटरनिक यूरोप से यह आदेश प्राप्त करना चाहता था कि हस्तक्षेप करने का अधिकार स्थापित हो जाय, सीमित कानूनी आधार पर नहीं बल्कि एक आम उसूल के आधार पर। यह उसूल था कि लोक-विद्रोह अर्थात् ऐसे बलवे, जो नीचे से शुरू होते हैं, अनुचित हैं। ये पब्लिक कानून के खिलाफ हैं और यूरोप में इनको बन्द किया जाना चाहिए। इस आधार को ग्रहण करके आस्ट्रिया के राजनीतिज्ञों ने ऐसी नीति का अवलम्बन किया जिसमें फूट के बीज मौजूद थे, क्योंकि कभी न कभी इससे संघ में फूट उपस्थित होना लाजिमी था।

अलेग्जेंडर का परिवर्तन—इसी समय अलेग्जेंडर के निजी विचारों में एक परिवर्तन आया जिससे मेटरनिक के हाथ मजबूत हो गये। कोटजेब्यू की हत्या के कारण आजादी के सिद्धान्तों में उसका विश्वास गिर चुका था। पहले भी उसका विश्वास कोई गहरा नहीं था परन्तु अब वह हिल गया। जब उसने सुना कि पैट्रोग्राड में शाही गार्ड्स ने बगावत कर दी है तब अलेग्जेंडर बिल्कुल अलग हो गया। गदर इसलिए हुआ था कि एक जर्मन कर्नल की निर्दयता से सिपाही भड़क उठे थे। यह जर्मन एक रेजीमेन्ट का कर्नल था। इसने प्रशिया का-सा अनुशासन रूस की सेना में जारी किया था और ऐसा करते हुए वह अपने आदमियों की बड़ी बेइज्जती करता

था। यह बेइज्जती सिपाहियों के लिए उतनी ही अपमानजनक थी जितनी स्वयं उसके लिए। इसलिए इस गदर का कोई राजनीतिक महत्व तो नहीं था, परन्तु इससे इतना अवश्य हुआ कि अलेग्जेंडर खुल्लमखुल्ला आस्ट्रिया के मन्त्री की गोद में जा बैठा। ट्रोपो में उसने मेटरनिक से कहा, "राजकुमार, अब हम एक हैं और यह सब-कुछ आपकी वजह से हुआ है। आपने स्थिति को बिल्कुल ठीक समझा है। मुझे अफसोस है कि हमने यूँ ही समय नष्ट कर दिया। अब हमको स्थिति सुधारनी चाहिए। मैं आपके पास कोई निश्चित विचार लेकर नहीं आया हूँ और न मेरे पास कोई योजना है। लेकिन मैं आपके पास दृढ़ और अटल निश्चय लेकर आया हूं। अब यह आपके सम्राट् का काम है कि वे जैसे चाहें वैसे उनका उपयोग करें। आप कहिए कि आपकी क्या इच्छा है और आप मुझसे क्या करवाना चाहते हैं, तो मैं उसको करूँ।"[1] अलेग्जेंडर ने अपना मत बदलकर आस्ट्रिया का विचारतन्त्र ग्रहण कर लिया। यह कूटनीति की दृष्टि से बड़े महत्व की बात थी। अब तक आस्ट्रिया रूस की नीति में बिल्कुल विश्वास नहीं करता था। उसका विश्वास था कि अलेग्जेंडर अपनी ऊँची भावनाओं को शब्दों के जाल में लपेटकर दुनिया के सामने रखता है और उसमें उसका गुप्त निश्चय छिपा हुआ है। वह वास्तव में यूरोप का कर्त्ता-धर्त्ता बनना चाहता है। उदाहरणार्थ यह बात किसी से छिपी नहीं थी कि रूस के एजेन्ट महाद्वीप में सर्वत्र फैले हुए थे जो क्रान्तिकारी असन्तोष उत्पन्न करते थे और लोगों को यह विश्वास दिलाते थे कि रशिया उन लोगों को अपने प्रभाव से मदद करेगा जो आजादी के लिए आन्दोलन करेंगे। इसलिए पाँच वर्ष तक मेटरनिक के विचार डाँवा-डोल रहे, क्योंकि उसको यह भय था कि रूस और फ्रांस तथा बरटमबर्ग जैसी छोटी-छोटी रियासतें आपस में कोई अहदनामा नहीं कर लें। जब अलेग्जेंडर से समझौता हो गया तो स्थिति बिल्कुल आसान बन गई। अब यह बात पक्की हो गई कि आजादी के विरुद्ध युद्ध करते समय आस्ट्रिया रूस से मदद माँग सकता है। इस प्रकार नैतिक पंचायत में अब दो दल दिखाई देने लगे। एक तरफ थी आस्ट्रिया, रूस और प्रशिया की प्रतिक्रियावादी सरकार और दूसरी ओर ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस की वैधानिक सरकारें।

ट्रोपो का प्रोटोकोल—इस परिवर्तित स्थिति का प्रतिबिम्ब ट्रोपो के प्रसिद्ध प्रोटोकोल में नजर आता था। इसके अन्दर निश्चित शब्दों में हस्तक्षेप का सिद्धान्त निहित था। जिन राष्ट्रों की सरकारों में क्रान्ति के कारण परिवर्तन हो गया है और जिससे दूसरे राष्ट्रों को आशंका है, वे वास्तव में यूरोपियन संघ के सदस्य नहीं रहेंगे। और जब तक उनकी स्थिति से यह गारण्टी न हो जाय कि स्थिति व्यवस्थित

---

1. फिलिप्स, कान्फिडरेशन आफ यूरोप, 220।

और स्थायी हो गई है, तब तक ऐसे राष्ट्र यूरोपियन अलायन्स से अलग रहेंगे। अगर ऐसे परिवर्तनों के कारण दूसरे राष्ट्रों को तत्काल खतरा है तो यह बड़े राष्ट्रों का कर्तव्य होगा कि शान्त साधनों से या आवश्यकता हो तो शस्त्र-बल से ऐसे अपराधी राष्ट्र को वापस यूरोपियन अलायन्स की शरण में लाएँ। ग्रेट ब्रिटेन इस घोषणा से अलग रहा। कासलरीग ने फिर दुबारा आपत्ति की और कहा कि ऐसी कोशिश की जा रही है जिससे राष्ट्रों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप हो सकेगा और इस विषय में एक ऐसा नियम बन जायेगा जिसको लागू करना कठिन होगा। उसने स्थिति का बड़े चातुर्य से विश्लेषण किया और ऐसा करने के लिये उसने जो दलीलें दीं उनका कोई जवाब नहीं हो सकता था। प्रोटोकोल का यह अर्थ लगाया जायगा कि अपनी प्रजा के विरुद्ध शासकों ने एक संघ बना लिया है। और शायद इसके कारण ऐसी नाजुक क्रान्तिकारी स्थिति उत्पन्न हो जायेगी जिसको शासक लोग रोकना चाहते हैं। इसके अतिरिक्त यूरोप के बड़े राष्ट्र क्या इस सिद्धान्त को मानने के लिये तैयार हैं कि एक-दूसरे के राज्य में जाँच की जा सकती है? अगर कोई आवश्यकता या समस्या पैदा हो गई हो तो उसका निर्णय वह राष्ट्र नहीं करेगा जिसको मदद दी जायगी, बल्कि वह राष्ट्र करेगा जो मदद देगा। यदि कोई अंग्रेज मंत्री ऐसे सिद्धान्त को इंगलैण्ड पर लागू करेगा तो उसके विरुद्ध पार्लियामेन्ट में निन्दा का प्रस्ताव आयेगा और इसको यूरोप का पब्लिक कानून मानकर दूसरी रियासतों पर लागू करने का तो सवाल ही पैदा नहीं होगा। फ्रांस की राज्य-क्रान्ति का तो मामला ही अलग है। वहाँ पर यह सिद्धान्त इसलिये लागू किया गया था कि क्रान्ति के कारण जनता पर बड़ी सख्ती होने लगी थी और क्रान्ति की विजय-बाढ़ बढ़ती जाती थी। इसका यह मतलब नहीं है कि जहाँ क्रान्ति हो वहीं हस्तक्षेप किया जाय। संक्षेप में ब्रिटिश सरकार ने साफ-साफ कह दिया कि ऐसे पुलिस प्रबन्ध के लिये कोई नैतिक जिम्मेदारी नहीं ली जा सकती जिससे यूरोप में एक आम सरकार स्थापित हो जाय। सबकी निगरानी के लिये एक डायरेक्टरी स्थापित कर दी जाय और आन्तरिक सत्ता और हुकूमत के सच्चे सिद्धान्त नष्ट कर दिये जायें।

विरोना की काँग्रेस *(1822)*—चौथी काँग्रेस विरोना में हुई। यह आखिरी काँग्रेस थी। इसने केवल स्पेन के प्रश्न पर ही विचार किया। 1820 की क्रान्ति के फलस्वरूप स्पेन नरेश फर्डिनेन्ड सप्तम ने विवश होकर इन्क्विजिशन (Inquisition) खतम कर दी थी और विधान घोषित कर दिया था, लेकिन आरम्भ से ही वह दो चालें चल रहा था। इधर विधान जारी किया, उधर अपनी प्रजा के विरुद्ध विदेश से सैनिक सहायता भी माँगी। उसकी प्रार्थना को अति-राजभक्तों (Ultra-Royalists) ने मंजूर किया। ये लोग चैटोब्रियन्ट से प्रभावित होकर शानदार नीति का अनुसरण कर रहे थे और बोरबन नरेश की सहायता करने को उत्सुक थे। विरोना की काँग्रेस

में फ्रांस ने अपने इस इरादे की घोषणा की कि स्पेन में निरंकुश सत्ता स्थापित करने के लिये हस्तक्षेप किया जायेगा। फ्रांस ने यह भी चाहा कि मित्र-राष्ट्र उसका नैतिक अनुमोदन करें। ब्रिटिश प्रतिनिधि वैलिंगटन ने अपनी सरकार को सूचित किया कि आस्ट्रिया, रूस और प्रशिया ने फ्रांस को सब प्रकार की सहायता देने का वचन दिया है। लेकिन ग्रेट ब्रिटेन टस से मस नहीं हुआ और अपनी उदासीनता की नीति पर दृढ़तापूर्वक डटा रहा। वैलिंगटन ने भी आग्रहपूर्वक लिखा था कि स्पेन के आन्तरिक मामलों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं किया जाय। इसका फल यह हुआ कि ग्रेट ब्रिटेन का महाद्वीपी राष्ट्रों से कोई सम्बन्ध नहीं रहा और जब फ्रांस की सेना ने स्पेन की सीमा पार की तो यूरोपीय तन्त्र पूरी तरह खतम हो गया और इसमें किसी को किसी प्रकार की शंका नहीं रही। जब विरोना काँग्रेस होने वाली थी तो कासलरीग के बाद कैनिंग विदेश मंत्री नियुक्त हुआ। उसको यूरोपीय कन्सर्ट की विफलता के विषय में कोई सन्देह नहीं था। उसने इस बात पर प्रसन्नता प्रकट की कि विरोना में यूरोपीय अहदनामे के तीन टुकड़े हो गये और वे तीनों टुकड़े साफ तौर पर एक-दूसरे से इतने भिन्न हैं जैसे इंगलैण्ड, फ्रांस और मास्कोवी के विधान। उसने लिखा था कि स्थिति पुनः अपनी पूर्वावस्था में आ रही है कि 'प्रत्येक राष्ट्र अपने लिये और भगवान् सबके लिये।' अब एरोपेगस या उन जैसों का समय निकल चुका है।

यूरोपियन कन्सर्ट की समाप्ति—यूरोपीय संघ स्थापित करने का प्रयास इसलिए सफल नहीं हुआ कि अलग-अलग राष्ट्रों की अलग-अलग आकांक्षायें थीं। यह सम्भव नहीं था कि इधर ग्रेट ब्रिटेन की और उधर महाद्वीपी राष्ट्रों की राय मेल खा सके। ब्रिटिश नीति की कुंजी थी स्वतन्त्र राष्ट्रों के मामलों में हस्तक्षेप न करना। इस सिद्धान्त पर कासलरीग और केनिंग अटल रहे। परन्तु यह सच है कि कासलरीग मित्र राष्ट्रों से यूँ ही खुल्लमखुल्ला लड़ाई मोल लेना नहीं चाहता था। लेकिन उसका उत्तराधिकारी इस प्रकार आगा-पीछा नहीं सोचता था। इसलिए मेटरनिक उसके विषय में कहता था कि "वह अनिष्टकारी उल्कापात है जिसको भगवान् ने क्रुद्ध होकर यूरोप पर डाला है।"[1] केनिंग ने वियना-स्थित अंग्रेज राजदूत को सन् 1823 में एक पत्र लिखा था जिसमें स्पष्ट शब्दों में बतलाया था कि अंग्रेज सरकार आरम्भ से ही दृढ़ता के साथ किस रास्ते पर चल रही है। पत्र में लिखा था कि "किसी स्वतन्त्र

1. मेटरनिक के विषय में केनिंग के विचार भी ऐसे ही थे। सन 1825 में उसने लार्ड ग्रेनविल को लिखा था कि आप मुझसे पूछते हैं कि मैं मेटरनिक से क्या कहूँगा। पहले तो आप यह सुनिये कि मैं उसको क्या समझता हूँ। वह इस महाद्वीप पर सबसे बड़ा बदमाश और झूठा है। शायद सभ्य संसार-भर में उस जैसा बदमाश और झूठा कोई नहीं है। स्टेपलटन, केनिंग एण्ड हिज टाइम्स, 427।

राष्ट्र के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करना या हस्तक्षेप करने के लिए किसी को मदद देना इंगलैण्ड का कर्तव्य नहीं है। फ्रांस के मामले में इंगलैण्ड जो मदद दे रहा है वह एक खास मामला है और इतना खास है कि उसके कारण तो निष्पक्ष रहने का नियम सिद्ध होता है। मैं यह मानता हूँ कि सन्धि के अनुसार हमारा सम्बन्ध केवल राष्ट्रों की उस भूमि से है जो सन्धि द्वारा निश्चित हुई है या जब एक राष्ट्र का दूसरे राष्ट्र से आपसी सम्बन्ध का सवाल हो। हमारा सम्बन्ध किसी राष्ट्र के आन्तरिक मामलों से नहीं है। केवल एक राष्ट्र अपवाद-स्वरूप है जिसका उल्लेख हो चुका है।" उसने फिर कहा, "अहदनामे के कामों पर हमारा क्या प्रभाव रहा है।" हमने लेबाक में आपत्ति उठाई और विरोना में भी विरोध किया, लेकिन हमारे प्रस्ताव को एक रद्दी कागज समझा गया। हमने जो एतराज किया वह हवा में उड़ गया। अगर विदेशों में हमें अपना प्रभाव स्थिर रखना है तो यह हमारी आन्तरिक शक्ति के आधार पर ही हो सकता है और इस शक्ति का स्रोत है सरकार और जनता में परस्पर सहानुभूति, सरकारी मंत्रणाओं और जनता के भावों का संयोग, लोक-सभा और सम्राट् में परस्पर विश्वास।"[1] इंगलैण्ड अपने रुख को इसलिये उचित मानता था कि अहदनामा हुआ तो इसलिये था कि फ्रेंच क्रान्ति के खतरे से यूरोप की नई शान्ति को बचाया जाय। लेकिन निरंकुश राष्ट्रों ने इसको प्रगतिशील आन्दोलनों से बचाने के लिये एक प्रकार का रूढ़ि दुर्ग बना दिया।

जातियों की जागृति—जातीय अधिकारों की हिमायत करते हुए ग्रेट ब्रिटेन ने एक ऐसी जबरदस्त ताकत छोड़ी जिसके छिपे हुए बल का उस समय उसको कुछ भी पता नहीं था। ग्रेट ब्रिटेन की नीति थी "जैसा अवसर हो वैसा ही कार्य करना और केवल ऐसी बात की चिन्ता करना जो आवश्यक और व्यावहारिक हो और ऐसे सिद्धान्तों से सम्बन्ध न रखना जो कोरे काल्पनिक हों।" उसने ऐसी जातीय प्रगतियों को सक्रिय सहायता नहीं दी जिन्होंने सन् 1815 की वियना कांग्रेस में निश्चित किये हुए भूमि-सम्बन्धी प्रबन्ध को नष्ट करके यूरोप का मानचित्र और का और ही कर डाला। फिर भी यूरोपीय कन्सर्ट से उसके हट जाने के कारण उस राजनीतिक व्यवस्था पर घातक प्रहार हुआ, जिसके कारण जातीय भावना या तो उत्पन्न होते ही मार दी जाती या अनिश्चित काल के लिये स्थगित कर दी जाती। फिर भी यह अनिवार्य था कि ब्रिटिश नीति में बहुत-सी परस्पर विरोधी बातें आतीं। कैनिंग ने कहा, "हमारा कार्य तो विश्व-शान्ति की रक्षा करना है और इसका साधन है जातियों की स्वतन्त्रता की रक्षा करना।" उसको यह बात पहले से ही नहीं सूझी कि जातियों की जागृति का यह परिणाम होगा कि विश्व-शान्ति ही थोड़े दिनों के लिये स्थगित

---

1. स्टेपलटन, केनिंग एण्ड हिज टाइम्स।

नहीं हो जायगी बल्कि संसार में ऐसी महाज्वाला प्रज्ज्वलित हो जायेगी जैसी अभी तक कभी नहीं हुई। अब विरोना की कॉंग्रेस के बाद यूरोपीय संघ का स्वप्न तो नष्ट हो चुका था और सारे यूरोप के शासन को बड़े-बड़े राष्ट्रों की एक समिति के द्वारा चलाने की कोशिश अब फिर दुबारा नहीं की जा सकती थी। इस पर भी यह परम्परा बनी रही कि अन्तरराष्ट्रीय मामलों में सब राष्ट्र मिलकर काम करें। इसके बाद यूरोप दो दलों में विभक्त हो गया। एक तरफ तो तीन राष्ट्र थे। ये इसलिए आपस में एक थे कि क्रान्तिकारी प्रगतियों को नष्ट किया जाय, और दूसरी तरफ दो पश्चिमी राष्ट्र थे जो जातीयता और सरकार के वैधानिक सिद्धान्तों का पक्ष करते थे। ऐसे भेद के होते हुए भी कोनिट्ज के शब्दों में यूरोप राष्ट्रों का परिवार बना रहा, और इसके सदस्यों के मामले इतने समान थे कि कोई अपनी-अपनी ढपली नहीं बजा सकता था। इसलिये उन्नीसवीं शताब्दी में यूरोपियन कन्सर्ट बार-बार प्रकट हुआ। समय की आवश्यकता के अनुसार बड़े राष्ट्र अस्थायी रूप से आपस में मिल-कर समस्त यूरोप से जो वे चाहते थे, करवाते रहे। ऐसी तीन समस्यायें थीं जिनके लिये सब राष्ट्र मिलकर काम कर सकते थे—1. पूर्वी प्रश्न, इसका विवेचन पहले किया जा चुका है, 2. बेलजियम राज्य की स्थापना और 3. पोलैण्ड का प्रश्न।

हालैण्ड और बेलजियम का एकीकरण, 1815—बेलजियम और हालैण्ड को मिलाकर एक करना 1815 में तय हो चुका था। उस समय यह निर्णय हुआ था कि किस देश में कितनी भूमि रहेगी। ये दोनों देश दो सौ वर्ष तक एक-दूसरे से अलग थे। जब डच लोग फिलिप द्वितीय की अधीनता में से निकल गये तो उन्होंने अपने दक्षिणी पड़ौसियों से भी नाता तोड़ लिया। तत्पश्चात् ये लोग स्पेन के अधीन रहे, फिर उनको पहले आस्ट्रिया ने और तदनन्तर फ्रांस ने राज्य-क्रान्ति के समय अपने-अपने राज्य में मिला लिया। जब नेपोलियन का साम्राज्य खत्म हो गया तो बेल-जियम ने फ्रांस से छुटकारा पा लिया। लेकिन विजयी लोग समझते थे कि यह जीता हुआ देश है और इसका वे जो चाहें कर सकते हैं। आस्ट्रिया ने एसे दूरस्थ प्रान्त का भार अपने ऊपर लेने से इन्कार किया जिस पर फ्रांस आसानी से हमला कर सकता था।[1] आस्ट्रिया ने चाहा कि बेलजियम के बजाय उसको उत्तरी इटली में कुछ प्रदेश दे दिये जायँ। इसलिये कासलरीग ने प्रस्ताव किया कि बेलजियम को ओरेन्ज घराने के अधीन नीदरलैण्ड्स के राज्य में शामिल कर लिया जाय। यह समझाया गया कि यूरोप में उचित संतुलन स्थापित करने के लिये यह आवश्यक है कि हालैण्ड का ऐसा

---

1. हम चाहते थे कि फ्रांस से हमारे देश का सीधा सम्पर्क न रहे, जिससे उन लड़ाइयों का अन्त हो जाय जो इस सम्पर्क के कारण दोनों पड़ोसी साम्राज्यों में हुआ करती थीं।" मेटरनिक, मेमोयर्स, i, 264।

पुर्नानर्माण किया जाय कि वह अपने ही साधनों से अपनी स्वाधीनता की रक्षा कर सके। इसका अभिप्राय यह था कि फ्रांस के उत्तर-पूर्व में एक ऐसा राष्ट्र स्थापित किया जाय जो इतना बलवान हो कि यदि फ्रांस का आक्रमण हो तो वह उसका मुकाबला कर सके। इसलिये दोनों देशों को एक करने के लिये एक सन्धि की गयी और आठ मदों में यह बतलाया गया कि इस संघ (Union) की शर्तें क्या होंगी। दोनों रियासतों को एक करने का निश्चय हुआ, धार्मिक समानता की गारण्टी दी गई, व्यापारिक अधिकार दोनों के समान रखे गये। यही निर्णय वैधानिक विशेषाधिकारों के सम्बन्ध में हुआ। दोनों राज्यों के कर्ज का देनदार संयुक्त राज्य के कोष को बनाया गया। कूटनीति के द्वारा जो भी हो सकता था इन दोनों राज्यों को एक करने के लिये किया गया। लो कंट्रीज (Low Countries) को एक राष्ट्र बनाने के लिये कोई कोशिश उठा न रखी। यह कहना भी न्याय की बात होगी कि इस संघ (Union) के सफल होने की आशा काफी मात्रा में थी। लेकिन इतिहासकार इस बात को नहीं मानते। निस्सन्देह यह संघ (Union) जातीयता के सिद्धान्त को चुनौती थी। इससे दो जातियाँ, दो जुदे-जुदे धर्म और दो भिन्न-भिन्न भाषायें एक कर दी गईं। लेकिन शायद सबसे अधिक महत्व की बात यह थी कि दो प्रकार की परम्पराओं को भी एक करने की कोशिश की गई। परन्तु इस चित्र का दूसरा पक्ष भी था। दोनों देशों के एक हो जाने से बेलजियम लोगों को शेल्ट (Scheldt) नदी में नौ-संचालन का अधिकार मिल गया और डच लोगों के उपनिवेशों में उनकी पहुँच हो गई। फलस्वरूप बेलजियम समृद्धि की ओर खूब बढा। उसके जल-मार्ग और स्थल-मार्ग उन्नत हो गये। खनिजों का खूब विकास हुआ। लोहे, ऊन और रूई से माल तैयार करने वाले कितने ही कारखाने स्थापित हो गये। लीज, घेंट, वरवियर्स और अन्य नगर सम्पन्न उद्योग-केन्द्र बन गये। डच लोगों से सम्बन्ध हो जाने के कारण उपनिवेशों और विदेशों के बाजार मिल गये, जिससे प्रतिवर्ष व्यापार खूब उन्नत होने लगा। इस प्रकार आर्थिक दृष्टि से दक्षिण प्रदेशों को खूब लाभ हुआ। अतः संघ से उनको सन्तुष्ट होना चाहिये था और इसमें कोई सन्देह नहीं मालूम होता कि यदि बुद्धि, प्रेम और नीति से काम लिया जाता तो जो वैमनस्य इन दो देशों को जबरदस्ती एक करने से उत्पन्न हुआ था वह बहुत कम हो जाता और कुछ समय व्यतीत हो जाने पर बेलजियम और हालैण्ड के लोग यह अनुभव करने लगते कि राजनीतिक और व्यापारिक लाभ को देखते हुए, सर्वहित दृष्टि से जो त्याग किया गया या रियायतें दी गईं वे ठीक ही थीं। परन्तु ऐसा नहीं हुआ।

बेलजियम के असन्तोष के कारण—कई विभिन्न कारणों के मिल जाने से सन् 1830 में एक क्रान्ति हुई। हालैण्ड की आबादी बीस लाख और बेलजियम की लगभग इससे दुगुनी थी। परन्तु स्टेट्स जनरल में दोनों का प्रतिनिधित्व बराबर

था। बेलजियन लोगों को अपनी राजनीतिक लघुता का अनुभव उस समय हुआ जब उन बेलजियन प्रतिनिधियों ने, जो राज-कर्मचारी थे, डचों के पक्ष में अपना मतदान किया। इससे सदन में हालैण्ड का बहुमत बन गया। दोनों देशों में प्रबन्ध-विषमता और भी खटकने वाली थी। विभागों के अध्यक्ष, सिविल सर्विस के लोग, राजदूत और उच्च सेनानायक प्रायः सब डच लोगों में से लिये जाते थे। बेलजियम और हालैण्ड में इस प्रकार अन्तर समझना बुद्धिमत्ता नहीं थी, न इसमें न्याय था न शिष्टता। अतः बेलजियन लोगों की शिकायत बिलकुल मुनासिब थी। उग्र कैथोलिक दल ने यह विरोध खड़ा किया था कि धार्मिक समानता नहीं होनी चाहिये। यह बात प्रशंसनीय नहीं थी। भाषा का प्रश्न अत्यन्त कठिन था। अतः इसके कारण और मतभेद और फूटाफूट होनी ही थी। बेलजियन लोग दो वर्गों में विभक्त हैं—(1) फ्लेमिंग्ज (फ्लेन्डर्स और ब्रेबेंट) और (2) वेलोन्स (हेनाल्ट, नामूर और लीज)। आबादी के दो-तिहाई तो फ्लेमिंग्ज ही हैं और उनकी भाषा डच जैसी ही है। दूसरे वर्ग की भाषा फ्रेंच से मिलती-जुलती है। इसलिये नई नीदरलैण्ड रियासत की राष्ट्रभाषा बनने का प्रथम अधिकार डच भाषा को था, परन्तु जब इस भाषा को जबरदस्ती से बेलजियम में सरकारी भाषा बनाने का प्रयास किया गया तो जातीय झगड़ा और भभक उठा। प्रेस के साथ जो मनमाना व्यवहार किया गया उससे उत्तरी और दक्षिणी प्रान्तों के बीच की खाई और अधिक चौड़ी हो गई। विधान की एक धारा के द्वारा सबको स्वतन्त्रतापूर्वक बहस करने का अधिकार दिया हुआ था, परन्तु व्यवहार में यह नहीं माना जाता था और जो सरकारी नीति की आलोचना करते थे उनको भारी दण्ड दिया जाता था। इससे सरकार की आलोचना बन्द नहीं हुई बल्कि और उग्र और तीक्ष्ण हो गई और बेलजियन लेखकों ने सरकार के विरुद्ध अथक आन्दोलन शुरू कर दिया। परन्तु सरकार के किसी कार्य से इतना रोष नहीं उमड़ा था जितना उसकी वित्त-नीति से। हालैण्ड पर भारी राष्ट्रीय ऋण था। इसका आधा हिस्सा जबरदस्ती से बेलजियम पर लाद दिया गया। बेलजियम की दृष्टि में यह घोर अन्याय था। बजट की कमी को पूरा करने के लिये जब नये कर लगाये गये तो उनसे भी स्थिति नहीं सुधरी। एक टैक्स रोटी पर और दूसरा मांस पर लगाया गया था, अर्थात् इन दोनों करों का प्रभाव जीवन की प्राथमिक आवश्यकताओं पर पड़ा। इससे अधिक अन्याय कुछ नहीं हो सकता था। जाति के प्रत्येक वर्ग ने इन करों को बहुत महसूस किया, खासकर गरीब लोगों ने। इसकी वजह से डच लोगों के आधिपत्य के विरुद्ध सारी कौम के दिमाग में तेजी आ गई।

इन कारणों से बेलजियम का जनमत शनैः-शनैः निश्चित रूप से हालैण्ड के विरुद्ध हो गया। उत्तर और दक्षिण के बीच गहरी खाई बन गई। बेलजियम के दोनों राजनीतिक दल—क्लेरिकल्स और लिबरल्स—आपस में मिल गये और इस प्रकार

एक राष्ट्रीय दल बन गया। सबके सामने समान खतरा था। उसे देखकर छोटे-छोटे मतभेदों को दफना दिया गया। अपने दिलों में बेलजियन लोग अब भी संघ के प्रति वफादार थे, क्योंकि डच लोगों के साथ सम्बन्ध हो जाने से उनको अनेक लाभ हुए थे जिससे बेलजियम का अच्छा औद्योगिक विकास हुआ था। इसलिये उनका मत यह नहीं था कि संघ को भंग कर दिया जाये, बल्कि यह था कि बेलजियम को अपने प्रबन्ध के विषय में स्वराज्य प्राप्त हो। सर्वत्र जोरदार आन्दोलन खड़ा हो गया, स्टेटस जनरल को हजारों दरख्वास्तें पेश की गईं जिनमें जनता ने अपना असन्तोष प्रकट किया। किंग विलियम में अनेक सद्गुण थे, परन्तु दुर्भाग्यवश उसका स्वभाव जिद्दी और हठी था। वह समझता था कि उसके इरादे अच्छे हैं और वह अपनी प्रजा की भलाई करना चाहता है। इसलिये वह लोगों की नामुनासिब चीख-पुकार नहीं सुनना चाहता था। वह समझता था कि यह नये बखेड़ेबाजों का काम है। सन् 1830 में जब फ्रांस में राज्य-क्रांति हुई और उसके समाचार बेलजियम पहुँचे तो वहाँ भी लोग बलवा करने के लिए तैयार बैठे थे। 25 अगस्त को आपेरा में एक खेल हुआ जो बलवे की झंडी सिद्ध हुआ। आपेरा के खेल का विषय था आजादी के लिए नेपोलियन संघर्ष। आपेरा हाउस जनता से खचाखच भरा हुआ था। उसमें क्रान्ति का ऐसा आवेश आया कि सब आपे से बाहर हो गये। बिना किसी प्रकार की तैयारी के बलवा हो गया और शीघ्र उसने क्रान्ति का आकार और प्रकार धारण कर लिया। प्रिंस आफ आरेंज के नायकत्व में एक सेना ने ब्रुसेल्स नगर में प्रवेश करने का प्रयास किया, परन्तु लोगों ने उसको पीछे हटा दिया। लोगों ने स्थान-स्थान पर नगर में दीवारें बनाकर सड़कें रोक रखी थीं। इस पराजय का नैतिक प्रभाव बड़ा जबरदस्त हुआ। बिजली की भाँति समस्त देश में बलवा फैल गया, एक कामचलाऊ सरकार कायम हो गई और बेलजियम देश की स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी गई। 10 नवम्बर को राष्ट्रीय काँग्रेस का अधिवेशन हुआ और विधान बनाने का कार्य हाथ में लिया गया।

शक्तियों का रुख—अब तक तो बड़े राष्ट्र निष्क्रिय द्रष्टाओं की भाँति सब-कुछ देख रहे थे। परन्तु अब उन्होंने कुलबुलाना शुरू किया। किंग विलियम ने लोगों से अपील की कि जो संघ उन्होंने ही बनाया है और जिसकी उन्होंने ही गारण्टी दी है उसको पुनः स्थापित करें। यदि दस वर्ष पहले ऐसी अपील की जाती तो लोग फौरन मंजूर करते, परन्तु इस समय अन्तरराष्ट्रीय स्थिति वैसी नहीं थी जैसी सन् 1820 में थी। यूरोपीय संघ अब चकनाचूर हो चुका था और यूरोप में दो विरोधी दल बन चुके थे। प्रतिक्रियावादी राष्ट्रक्रान्ति को समाप्त करने के लिए हालैण्ड के राजा के पक्ष में प्रसन्नता से हस्तक्षेप करते, लेकिन पोलैण्ड के कारण रूस और आस्ट्रिया के हाथ बँधे हुए थे अकेले प्रशिया में इतना दम नहीं था कि इंगलैण्ड और फ्रांस का मुकाबला करता। इसलिए अखाड़ा पश्चिमी राष्ट्रों के ही हाथ में रह गया और उसकी सहानु-

भूति बेलजियम के पक्ष में थी। लुई फिलिप जानता था कि फ्रेंच जनमत का अनादर करके यदि उसने प्रशिया को बेलजियम का बलबा दबाने दिया तो उसका सिंहासन पर टिकना असम्भव हो जायगा। इसलिए उसने अपना इरादा घोषित किया कि शस्त्रबल से बेलजियम की सहायता की जायगी। उसकी इस नीति का इंगलैण्ड ने समर्थन किया। ब्रिटिश सरकार चाहती थी कि यूरोपीय युद्ध न छिड़ जाये। परन्तु यदि फ्रांस और प्रशिया में बेलजियम के बारे में लड़ाई हो जाती, तो फिर यूरोपीय युद्ध होता ही। इसलिए बड़े राष्ट्रों की एक कांफ्रेंस लंदन में हुई। उसमें विचार करके हालैण्ड और बेलजियम का संघ खतम कर दिया गया, लक्समबर्ग वापस हाउस आफ आरेंज को दे दिया गया और लगभग आधा राष्ट्रीय ऋण बेलजियम के जिम्मे रखा गया। यह फैसला जनवरी का प्रोटोकोल कहलाता है। इसको किंग विलियम ने तो स्वीकार कर लिया परन्तु बेलजियम की राष्ट्रीय कांग्रेस ने इसको नहीं माना। विरोध विशेष इस बात पर हुआ कि लक्समबर्ग की डची का क्या किया जाय। सन् 1815 में यह डची हाउस आफ आरेंज को दी गई थी। हाउस आफ आरेंज ने मजबूर होकर कुछ प्रदेश प्रशिया को दिये थे जिसका यह बदला माना गया था। लेकिन लक्समबर्ग की ओर से राष्ट्रीय कांग्रेस में प्रतिनिधि भेजे गये थे और बेलजियम इस डची को छोड़ना नहीं चाहता था। बेलजियम की असेम्बली ने वे सब शर्तें नामंजूर कर दीं जो यूरोप के बड़े राष्ट्र उस पर थोपना चाहते थे। इतना ही नहीं, उसने फ्रेंच किंग के द्वितीय पुत्र ड्यूक आफ न्यूमर्स को अपना राजमुकुट अर्पण किया। यह बड़े राष्ट्रों का विरोध करना था, क्योंकि उनकी इच्छा थी कि कोई फ्रेंच राजकुमार बेलजियम की गद्दी पर न बैठे। लुई फिलिप ने अपने पुत्र की ओर से यह सम्मान लेना नामंजूर कर दिया। फ्रेंच जनता की दृष्टि में यह उसका अक्षम्य अपराध था। उसको इस बात का पता था कि यूरोप फ्रांस के किसी राजवंशज को बेलजियम में राज्य नहीं करने देगा। इसलिए वह बुद्धिमानी के साथ ऐसे युद्ध से दूर रहना चाहता था जिसका परिणाम पहले ही नजर आ रहा था। आखिरकार ऐसा उम्मीदवार भी मिल गया जो सब राष्ट्रों को मंजूर हो। वह था प्रिंस ल्योपोल्ड आफ सेक्सेकोबर्ग। यह जुलाई 1831 में बेलजियम का राजा बनाया गया।

फैसले में कठिनाइयाँ—अपनी नयी प्रजा को सन्तुष्ट करने के लिए ल्योपोल्ड ने बड़े राष्ट्रों को इस पर राजी कर लिया कि जनवरी के प्रोटोकोल की कुछ मदों को संशोधित कर दिया जाय। इसलिए नयी शर्तों में, जो अठारह मदें कहलाती थीं, बेलजियम को बड़ी-बड़ी रियायतें दी गईं। लक्समबर्ग बेलजियम के ही कब्जे में रहा। आधे ऋण के बजाय पूरे ऋण का भार अब हालैण्ड पर डाला गया। यह जिम्मेदारी उसे ऋण के सम्बन्ध में निश्चित हुई जो हालैण्ड ने संघ-निर्माण से पहले लिया था। यह जाहिर किया गया था कि प्रोटोकोल का यह संशोधन मौलिक और अटल है।

इसका बहाना लेकर किंग विलियम ने पूरे फैसले को ऐसा समझा मानो वह हुआ ही नहीं था। उसको यह साफ दिखाई देता था कि यदि वह राष्ट्रों के निर्णय को चुपचाप मानता जायेगा तो उसको कुछ लाभ नहीं होगा। इसलिए वह पिछली पछाड़ों के धब्बों को धोने के लिए बहुत ही उत्सुक था। अतः 36,000 सैनिकों के साथ उसने बेलजियम पर चढ़ाई की। बेलजियम की सेना का अभी संगठन ही पूरा नहीं हुआ था, इसलिए वह हमले का सामना नहीं कर सकी और पीछे हट गई। ऐसा मालूम होने लगा कि ल्योपोल्ड के शासन का अन्त होने ही वाला है। फ्रांस के हस्तक्षेप के कारण हमलावर लोग आगे नहीं बढ़ सके। वे लोग अपने शस्त्रबल का खूब प्रदर्शन कर ही चुके थे। अतः अब बेलजियम से वापस हट गये। अब बेलजियम को हार की कीमत चुकानी पडी। अठारह मदों को रद्द करके अब चौबीस मदों का फैसला हुआ जिसकी रू से हालैण्ड को मुआवजे के रूप में लिम्बर्ग और पश्चिमी भाग को छोड़कर सारा लक्समबर्ग मिल गया। विलियम सारे लक्समबर्ग को लेने पर तुला हुआ था। वह समझता था कि इस पर उसका पूरा हक है। इसलिए उसने ज्यादा अच्छी शर्तों के लिए माँग पेश की। अब बल-प्रयोग के अतिरिक्त कोई चारा नहीं रहा। एक फ्रेंच सेना ने एन्टवर्प पर कब्जा कर लिया जो अब तक डच गेरिजन के हाथ में था और इंगलैण्ड तथा फ्रांस की नौ-सेना ने मिलकर डच सागर-तट को चारों ओर से घेर लिया। इस दबाव से हालैण्ड ने घुटने टेक दिये और बेलजियम के साथ लड़ाई बन्द कर दी (1833), परन्तु डच नरेश अब भी बेलजियम को स्वतन्त्र देश मानने से इन्कार करता रहा और स्थिति भी वास्तव में पूर्ववत् ही बनी रही, क्योंकि लक्समबर्ग और लिम्बर्ग अब भी बेलजियम के ही अधिकार में थे। यह स्थिति पाँच साल तक चली। उसके बाद विलियम ने एकाएक घोषणा कर दी कि चौबीस मदें मुझे मन्जूर हैं। अब लक्समबर्ग और लिम्बर्ग पर कब्जा दिलाया जाय। विलियम ने बड़ा विरोध किया कि उससे जबरदस्ती त्याग करवाया जा रहा है, लेकिन यूरोपीय शक्तियाँ बेलजियम के प्रश्न का अन्तिम निर्णय करने के लिए तुली हुई थीं और डच सरकार की माँगों का समर्थन करती थीं। इन सेवाओं के बदले मे हालैण्ड ने बेलजियम की स्वतन्त्रता स्वीकार की और इस प्रकार उत्तरी और दक्षिणी नीदरलैण्ड में मैत्री सम्बन्ध स्थापित होने का रास्ता तैयार हो गया। अब यूरोप के राष्ट्रीय तन्त्र में एक राष्ट्र और जुड़ गया। पाँच बड़ी राष्ट्र-शक्तियों ने इस बात की गारंटी ली कि यह देश उदासीन रहेगा।

पोल लोगों की दशा—हम देख चुके हैं कि बेलजियन लोगों की सुषुप्त जातीयता की भावना विदेशी हुकूमत के दबाव से किस प्रकार जागृत हुई। उन्नीसवीं शताब्दी में पोल लोग भी दबी हुई जाति थे, लेकिन उनका उद्धार रुका रहा और वर्तमान शताब्दी में उनकी जागृति हुई। 1914 में पोलैण्ड की आबादी दो करोड़

के लगभग थी। इनमें पचास लाख आस्ट्रिया के अधीन, पैंतीस लाख जर्मनी के अधीन और शेष लोग रूस के अधीन थे। पहले हम आस्ट्रियन पोलैण्ड, प्रशियन पोलैण्ड और रूसी पोलैण्ड की दशा पर दृष्टिपात करेंगे और फिर हम पोलैण्ड के दुर्भागी बलवों का इतिहास देंगे।

1. **आस्ट्रियन पोलैण्ड**—पूर्वी यूरोप में पोल लोगों की सबसे अच्छी स्थिति गेलेशिया में थी। आसग्लिच (1867) के समय में पोल लोगो को एक विधान प्रदान किया गया था, जिसके अनुसार वे लोग अपने आन्तरिक मामलों में स्वाधीन हो गए थे। उनकी भाषा देश में सरकारी भाषा मानी जाती थी और उनकी डाइट को सम्पूर्ण राजनीतिक अधिकार प्राप्त थे। इस उदार नीति के कारण आस्ट्रिया के पोल हेप्सबर्ग राजतन्त्र के अधीन सुखी और सन्तुष्ट थे। उधर रूस और प्रशिया में पोलिस जाति पर दमन-चक्र चल रहा था, लेकिन गेलेशिया की आबादी केवल पोल लोगों की ही नहीं थी। वास्तव में इनमें 53 फीसदी पोल थे और शेष में से 43 फीसदी रुथेनियस थे। पश्चिमी गेलेशिया में पोलों का बहुमत था। यही इनका प्रधान नगर क्रेको था। पूर्वी गेलेशिया में रुथेनियन लोगों का बहुमत था और इसी में लेम्बर्ग शामिल था। ये लोग अधिकांश किसान थे। गेलेशिया में एक और जातीय समस्या खड़ी हो रही थी। 1914 में रुथेनियन लोगों की संख्या चालीस लाख थी और शिक्षा के प्रचार से उनमें धीरे-धीरे आत्म-चेतना की भावना जागृत होती जाती थी। आस्ट्रिया की यह नीति थी कि अपनी मातहत जातियों को परस्पर लड़ाया करे। इसलिए उसने रुथेनियन भाषा को सरकारी भाषा मान लिया। इतना ही नहीं, स्कूलों में भी यह भाषा पढ़ाई जाने लगी और एक रुथेनियन विश्वविद्यालय स्थापित हो गया। रुथेनियन लोगों में जातीय भावनाओं की पुष्टि में इस बात से भी मदद मिली कि भापा, जाति और धर्म की दृष्टि से वे छोटे-छोटे रूसी (Little Russian) लोगों से मिलते जाते थे जो रूस की सीमा के दूसरी ओर निवास करते थे। वास्तव में रुथेनियन और लिटिल रशिया दोनों के निवासी रुथेनियन जाति के थे। इन दोनों के बीच में एक प्रकार की दीवार अवश्य थी, परन्तु अब ये दोनों मिलते जाते थे और एक-दूसरे की ओर हाथ बढ़ा रहे थे। इन दोनों प्रदेशों का एक देश बनने वाला था, जिसको उस समय लोग उक्रेन (Ukraine) कहने लग गये थे। अभी तो रुथेनियन लोग यह आशा कर रहे थे कि उनको स्वतन्त्र डाइट बनाने का अधिकार मिलेगा और इसके द्वारा वे अपने पोलिश मालिकों से छुटकारा पा सकेंगे। लेकिन उसकी यह भी कल्पना थी कि वह दिन अवश्य आयेगा जब सारी रुथेनियन जाति, जिसकी संख्या तीन करोड़ के लगभग थी, इकट्ठी होकर उक्रेन नामक स्वतन्त्र राज्य में रहने लगेगी।

2. **प्रशियन पोलैण्ड**—प्रशिया चालीस साल तक अर्थात् 1914 तक पूर्वी मार्चेज में जबरदस्ती एक जाति बनाने की नीति पर चलता रहा। हंगरी की मेग्यर

जातियों ने जैसे पड़ोसी जातियों को मेग्यर बनाने की कोशिश की थी, उसी प्रकार प्रशिया ने ईस्टर्न मार्च के पोल लोगों को जर्मन बनाने का यत्न किया और यही नीति उत्तर स्क्लस्विक के डेन लोगों के सम्बन्ध में और एलसिसलोरेंस के फ्रेंच लोगों के सम्बन्ध में ग्रहण की। यह नीति बिस्मार्क ने जारी की थी और इसका यह आधार था कि साम्राज्य को दृढ़ करने का सर्वोत्तम उपाय यह है कि उसमें सब लोग एक ही जाति के हों। प्रिंस वान बूलो ने लिखा था कि हमको पोल लोगों का खयाल करके प्राचीन पोल राज्य में लोगों को जर्मन बनाने से पीछे नहीं हटना चाहिए। जब दो जातियों में संघर्ष होता है तो एक जाति को हथौड़ा होना चाहिए और दूसरी को ऐरन। एक विजेता होती है और दूसरी पराजित। 1863 में बिस्मार्क ने हुक्म दिया था कि धार्मिक शिक्षा के अतिरिक्त अन्य विषयो का माध्यम स्कूलों में केवल जर्मन भाषा ही होगी। इसके तेरह वर्ष बाद पोल जमींदारों की बेदखली शुरू हुई और अपना उपनिवेश बनाने के लिए जर्मन लोग वहाँ प्रवेश करने लगे। नतीजा यह हुआ कि जर्मन सरकार को घोर निराशा हुई। प्रिंस वान बूलो ने स्वीकार किया है कि हमारा उद्देश्य था जर्मन आबादी को बढ़ाना। इस दृष्टि से उपनिवेश बनाने का कार्य विफल हो गया। लगभग पच्चीस वर्ष में (1886-1906) सरकार ने 90,000 जर्मनों को पोलैण्ड की भूमि पर बसाया, लेकिन पोल लोगों की आबादी में भी दो लाख की वृद्धि हो गई। जमीन की कीमत भी बढ़ गई थी। कारण यह था कि सरकार ने बहुत-सी जायदाद खरीद ली थी और इसका लाभ वहाँ के पुराने निवासियों को मिलता था। साथ ही आत्म-रक्षार्थ पोल लोगों ने सहकारी संघ बनाये और बचत तथा उधार के लिये बैंक स्थापित किये। इससे उनको मुकाबला करने के लिये आर्थिक शक्ति ही प्राप्त नहीं हुई बल्कि उनकी जातीयता की भावना को भी प्रोत्साहन मिला। इसके बाद बेदखली की नीति और आगे बढ़ी। सरकार ने देखा कि जमीन को बेचने के लिये जर्मन लोग ही ज्यादा तैयार थे, इसलिये 1909 में जो बेदखली का कानून बनाया गया उसमें सरकार को अधिकार दिया गया कि पोल जमींदारों को अपनी जायदादें बेचने के लिये मजबूर किया जा सकता है। अन्त में 1908 में एक संघ कानून (Law of Associations) बना। इससे पोलिश भाषा पर एक और आघात हुआ। इसके अनुसार हुक्म दिया गया कि सब आम भाषाओं में केवल जर्मन भाषा का ही उपयोग किया जाये। केवल निर्वाचन-सम्बन्धी सभाओं में अन्य भाषाओं को काम में लाया जा सकता है, या उन सभाओं में जिनमें 60 फीसदी से अधिक उपस्थित लोग जर्मन नहीं जानते हों। यह रियायत भी केवल 20 वर्ष के लिये की गई। इन धाराओं को सख्ती के साथ लागू किया गया। फिर भी उनका उद्देश्य पूरा नहीं हुआ। एक जर्मन प्रोफेसर ने 1914 में लिखा था कि पोलिश भाषा जिलों में ही नहीं बढ़ रही है बल्कि नगरों और कसबों में भी इसका प्रचार अधिक हो रहा

है। यहाँ तक कि पोसेन (Posen) नामक राजधानी में भी यह आगे आ रही है। पोलैण्ड के मध्यम श्रेणी के लोग बढ़ते जाते थे और जर्मन भाषा घटती जाती थी।[1] प्रशियन पोलैण्ड में इस दमन नीति के परिणाम इस बात को प्रकट करते हैं कि जिस नीति का बिस्मार्क ने अनुसरण किया उसमें बुद्धिमत्ता नहीं थी। यह समझा गया था कि विभिन्न जातीय तत्वों को जबरदस्ती से परस्पर मिलाने से राष्ट्र बलवान होता है। यह धारणा गलत साबित हुई।

3. **रूसी पोलैण्ड**—रूस में पोल लोगों की दशा लगभग वैसी ही थी जैसी उनकी जर्मनी में थी। वे लोगों के जर्मनीकरण का ही नहीं बल्कि रूसीकरण का भी उतना ही विरोध करते थे। इस नीति के मूल में पोलैण्ड का असन्तोष था। रूसी भाषा ही रात-दिन के पब्लिक काम में और सरकारी स्कूलों और कालेजों में चलती थी और सारा राजकार्य का संचालन रूसी अफसर करते थे। पोल लोगों ने अनेक बार स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिये प्रयत्न किया। उन्नीसवीं शताब्दी के इतिहास में उनके स्वातन्त्र्य-संघर्ष का एक बड़ा अनोखा अध्याय है।

पोलैण्ड की समस्या और वियना की कांग्रेस—1815 में वियना की कांग्रेस के ध्यान में सबसे अधिक पोलैण्ड की समस्या थी। पोलैण्ड के 1772 से 1795 तक तीन बार टुकड़े हो चुके थे। इस अर्से में रूस ने पोलैण्ड के तीन-चौथाई भाग को अपने राज्य में मिला लिया था, और जब स्वतन्त्रता का संग्राम हुआ तो उसने वारसा की ग्रांड डची को भी छीन लिया था। यह डची नेपोलियन ने पोलैण्ड के उस हिस्से में बनाई थी जो आरम्भ में आस्ट्रिया और प्रशिया को दिया गया था। सम्राट् अलेग्जेंडर इस डची को अपने हाथ में रखना चाहता था। उसने यह भार अपने ऊपर लिया कि रूस की अधीनता में पोलैण्ड फिर कायम हो जायेगा। कासलरीग को डर था कि रूस दूसरे देशों को हड़पना चाहता है। उसने सम्राट् के प्रस्ताव का विरोध किया। उसकी नीति की बड़ी तीव्र आलोचना हुई, परन्तु इसमें भूलें चाहे जो हों, इस नीति के निर्माण में किसी सहानुभूति का अभाव नहीं था, क्योंकि सब लोग पोलैण्ड की आकांक्षाओं के साथ सहानुभूति रखते थे। उसकी अलेग्जेंडर के साथ एक बार भेंट हुई। उसके सम्बन्ध में उसने लिखा है कि अगर पोलैण्ड को फिर स्थापित करके स्वतन्त्र राष्ट्र बना दिया जाय तो ब्रिटिश सरकार को बड़ा संतोष होगा। परन्तु सरकार इसमें बहुत अन्तर समझती है कि पोलैण्ड के एक हिस्से को एक अलग राज्य बनाकर रूस उसको निगल जाय और समस्त पोलैण्ड को एक अलहदा और स्वतन्त्र राष्ट्र बना दिया जाय। अगर पोलैण्ड को पुनः स्थापित करने का प्रश्न

1. ई० बार्कर, दी सबमर्ज्ड पेरोलिटीज आफ दी जर्मन एम्पायर (1913) 17।

जीवित करना है तो इसको विस्तृत और उदार आधार पर खड़ा करना चाहिये।[1] पोलैण्ड की दृष्टि से यह नीति बहुत गलत थी। नेपोलियन के किये हुए काम को बिगाड़ना और पोलैण्ड की एकता को नष्ट करना मूलतः अनुचित बात थी। यदि पोलैण्ड का एक राज्य स्थापित हो जाय, चाहे वह रूस के ही अधीन हो, तो वह रूस के नौकरशाही दमन के सामने अधिक अर्से तक टिक सकेगा। इसके बजाय वारसा की डची के टुकड़े-टुकड़े कर दिये और पोलैण्ड का प्रदेश फिर आस्ट्रिया और प्रशिया में मिला लिया गया।

अलेग्जेंडर प्रथम और पोलैण्ड—अलेग्जेंडर पोलैण्ड के आदि राज्य को पुनः स्थापित नहीं कर सका। इससे उसको निराशा हुई। परन्तु वह अपने इस इरादे पर कायम रहा कि पोलैण्ड एक राज्य बनाया जाय। पोलैण्ड का नया विधान दोषरहित नहीं था, परन्तु यूरोप के अन्य विधानों से यह आगे बढ़ा हुआ था। रूस का सम्राट् इस राज्य का अध्यक्ष माना गया था। इसके राजमुकुट पर इसी का अधिकार था। धारासभा में दो सदन थे। एक सीनेट कहलाता था और दूसरा चेम्बर आफ डेपुटीज। सीनेट में सम्राट् द्वारा मनोनीत सदस्य थे और चेम्बर आफ डेपुटीज में सरदारों और डेपुटियों के निर्वाचित प्रतिनिधि। यहाँ का निर्वाचन नियम फ्रांस से अधिक अच्छा था। पोलैण्ड की भाषा सरकारी भाषा बना दी गई। सिविल और सैनिक नियुक्तियाँ केवल पोलैण्ड के नागरिकों के ही लिये रखी गईं। इस प्रकार आन्तरिक मामलों में पोलैण्ड स्वतन्त्र राष्ट्र हो गया और पोलैण्ड की जाति को पूरी मान्यता मिल गई। परन्तु यह प्रयोग बहुत बुरी तरह से विफल हुआ। इसके कारणों के विषय में मतभेद है। एक इतिहासकार का मत है कि स्वयं पोल के कारण ही पोलैण्ड की जातीय प्रगति में यह घातक कमजोरी थी कि वह प्रभावशाली वर्ग के हित के लिये चलती थी, सम्पूर्ण जाति के हित के लिये नहीं। यह स्पष्ट है कि यदि पोलैण्ड के लोग किसी वर्ग-विशेष के हित के बजाय अपने समस्त देश के हित की चिन्ता करते, तो जो कुछ भी उनको आजादी थी उसके बल पर वे एक सूत्र में बँध सकते थे और इतने बलवान हो जाते कि मौका आने पर वे विदेशी की हुकूमत के खिलाफ खड़े हो सकते थे। डाइट ने उस बिगड़ी हुई स्थिति से लाभ लेने के बजाय ऐसा रुख अख्तियार किया कि हर काम में विघ्न उपस्थित होने लगा, जिससे ऐसा मालूम हुआ कि रूसी शासन को असम्भव करने के लिये एक षड्यन्त्र का संगठन हो चुका है। इससे जार का उत्साह भंग हो गया और वह सावधानी से काम लेने लगा।[2] दूसरी ओर पोलैण्ड का एक इतिहासकार पोल लोगों को निर्दोष समझता

1. कासलरीग के सरकारी पत्र 'टेक्जेक्शन्स आफ दी रायल हिस्टोरिकल सोसाइटी' की थर्ड सीरीज में छपे हैं, vii, 70।
2. फिलिप्स, 'मॉडर्न यूरोप', 203।

है। उसने लिखा है कि इस देश पर जो बुरी से बुरी विपत्तियाँ आईं उसका कारण था नोवोसिल्टसौफ का हस्तक्षेप। यह पोलैण्ड का पिशाच था जिसने इस नये राष्ट्र के विरुद्ध अलेग्जेंडर के कान खूब भरे थे। रूस और पोलैण्ड के बीच जो अनबन थी उसका एक कारण यह भी था कि शुरू में बड़ी-बड़ी आशायें दिलाई गईं। खास करके एक वचन दिया गया कि लुथवानियन प्रान्त पोलैण्ड को दे दिये जायेंगे। यह आदि पोलैण्ड के हिस्से थे। अंग्रेज कवि बायरन ने लिखा है कि जार ने आशायें तो दिलाईं परन्तु पूरी नहीं कीं। इस कवि ने लिखा था कि यह जार दिखावटी काम करता है, घोर निरंकुश है, बर्फ के समान कभी पिघल जाता है और फिर सख्त हो जाता है, वह स्वतन्त्रता के विरुद्ध कोई आपत्ति नहीं करता, सिर्फ इतना कहता है कि कौमें आजाद हो जायेंगी। उसने बड़ी सज्जनता के साथ पोल लोगों को डाइट का अधिकार तो दे दिया परन्तु उसने कह दिया कि चुप रहो।

विधान का उल्लंघन—इस स्थिति के विषय में कुछ भी कहा जाय, चाहे इसको पोल लोगों का दुर्विनीत स्वभाव मानें या अलेग्जेंडर के रुख में परिवर्तन को मानें जिसके अनुसार उसने स्वातन्त्र्य-प्रेम को छोड़कर मेटरनिक के सम्प्रदाय को ग्रहण कर लिया था। लेकिन यह बात माननी पड़ेगी कि पोलैण्ड की आजादी धीरे-धीरे कम हो गई और दोनों देशों के बीच में द्वेष उत्पन्न हो गया। विधान का सबसे पहला उल्लंघन तो यह हुआ कि समाचारपत्र और पुस्तकों पर सन् 1819 में सेन्सर-शिप कायम कर दी गई। दूसरा कदम यह उठाया गया कि पाँच साल के लिये डाइट स्थगित कर दी गई। कारण यह था कि इसमें सरकार की बहुत खुल्लमखुल्ला आलोचना होती थी जिसके लिए यह दण्ड दिया गया था। अलेग्जेंडर के जीवनकाल में ही यह प्रकट हो गया था कि पोलैण्ड का चार्टर आफ लिबर्टीज अब अधिक समय तक न टिकेगा और जब निकोलस प्रथम राजसिंहासन पर बैठा तो इस आशंका ने निश्चय का रूप धारण कर लिया, क्योंकि निकोलस सम्पूर्ण स्वतन्त्र संस्थाओं का घोर विरोधी था। अब गुप्त सोसाइटियाँ बनने लगीं। 1828 में ऐसा मालूम होने लगा कि सैनिक बलवा होने वाला है और यह उस समय हुआ जब रूस और टर्की में युद्ध हो रहा था और जब युद्ध की आकस्मिक कठिनाइयों के कारण रूस के समस्त साधनों पर बड़ा जोर पड़ रहा था। दो साल बाद 1830 में फ्रांस की राज्यक्रान्ति हुई, जिसका पोल लोगों पर गहरा प्रभाव पड़ा। जब यह पता लगा कि निकोलस फ्रांस के विरुद्ध पोलैण्ड की सेना का उपयोग करना चाहता है, तो पोलैण्ड के षड्यन्त्र-कारियों ने फौरन कार्रवाई करने का निश्चय कर लिया, क्योंकि वे लोग जानते थे कि यदि पोलैण्ड की सेना की अनुपस्थिति में बलवा हुआ तो वह सफल नहीं हो सकता। 29 नवम्बर 1830 की रात को राजधानी में गड़बड़ हुई। बलवे का संगठन अच्छी तरह नहीं किया गया था। इसलिए इसको बड़ी आसानी से दबाया

जा सकता था, परन्तु ग्रांड ड्यूक आफ कान्सटन्टाइन, जो उस समय वाइसराय था, भयभीत होकर भाग गया। वारसा बलवाइयों के हाथ में आ गया और बहुत जल्दी क्रान्ति सारे यूरोप में फैल गई। एक कामचलाऊ सरकार स्थापित की गई और इसका डिक्टेटर जनरल क्लोपिकी को बनाया गया। यह नेपोलियन के समय का अनुभवी सेनानायक था, परन्तु इस समय स्थिति इसके वश में नहीं आई। उसने निकोलस के साथ बहुत अर्से तक समझौते की बातचीत की जो अन्त में निष्फल सिद्ध हुई। इस अर्से में वह बलवे का अच्छा संगठन कर सकता था, परन्तु यह अच्छा मौका भी उसके हाथ से जाता रहा। रूसी सेना अभी तैयार नहीं थी। अगर लिथुवानिया में जोर से हमला कर दिया जाता तो वहाँ उसको सिपाही भी बहुत मिलते और सारे युद्ध का स्वरूप ही बदल जाता। परन्तु बलवे का श्रीगणेश ही ठीक नहीं हुआ था। इसके नेता अयोग्य थे। उनमें निश्चय-शक्ति का अभाव था और आपस में बड़ी फूट थी। साथ ही निकोलस बड़े श्रम और तत्परता से तैयारी में लगा हुआ था। फरवरी के आरम्भ में डीबिस नामक सेनानायक ने पोलैण्ड की सीमा को पार किया। अब भी स्थिति सुधर सकती थी, परन्तु पोलिश जनरलों के ढिलमिल और दीर्घसूत्री तरीकों से विजय का मौका हाथ से जाता रहा। सितम्बर में रूसी लोग वारसा में घुसे और कुछ सप्ताह बाद क्रान्ति राज्य के हर हिस्से से समाप्त हो गई।

यूरोपीय राष्ट्रों का रुख—पोल लोगों को आशा थी कि यूरोप उनकी सहायता करेगा, परन्तु उनको भारी निराशा हुई। प्रशिया तो खुल्लमखुल्ला शत्रु ही था। केनिंग ने 1825 में प्रश्न किया कि प्रशिया की सरकार लोगों की भावुकता से बची हुई है। यद्यपि सरकार शायद ही कभी भावुकता से जीवित रह सकती हो, परन्तु क्या कारण है कि इस सरकार की राजनीति लोकप्रिय नहीं है, और वह भी इतने प्रत्यक्ष ढंग से? आस्ट्रिया का रुख भी निश्चित नहीं था। वह एक शब्द में दो बातें कहता था। वह रूस को कमजोर करना चाहता था, परन्तु उसको यह भी डर था कि कहीं आस्ट्रिया के अन्दर ही पोल लोग कोई उपद्रव न कर बैठें। उसको यह विचार भी आता था कि यदि आस्ट्रिया का कोई राजकुमार पोलैण्ड का बादशाह बनाया जाय तो कैसा हो। अन्त में आस्ट्रिया ने कोई छेड़छाड़ नहीं की और लड़ाई जैसे चल रही थी वैसे ही चलती रही। इंगलैण्ड और फ्रांस का जनमत बड़े जोर से पोल लोगों का समर्थन करता था, परन्तु लुई फिलिप शेखचिल्ली की भाँति रूस जैसी विशाल और प्रबल शक्ति के विरुद्ध जिहाद करके अपने राजसिंहासन को खतरे में नहीं डालना चाहता था। इंगलैण्ड भी अपनी इसी नीति पर दृढ़ था कि किसी राष्ट्र में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। जब बलवा दब गया तो पामर्स्टन ने रूस की सरकार से कहा कि पोलैण्ड राज्य का अन्त नहीं करना चाहिए था, क्योंकि यह उस पब्लिक

गारन्टी के सरासर विरुद्ध है जो 1815 की सन्धि में दी गई थी। निकोलस ने विजय-मद के कारण इंगलैण्ड की बात सुनी-अनसुनी कर दी और वह पोलैण्ड की स्वाधीनता का नामोनिशान तक मिटाने में निर्दयतापूर्वक लग गया। अब पोलैण्ड का कोई पृथक् अस्तित्व नहीं रहा और उसको रूस में मिला लिया गया। उसकी स्वतन्त्र संस्थायें खत्म कर दीं, प्रबन्ध में रूसी कर्मचारियों की बाढ़-सी आ गई, रूसी भाषा पोलैण्ड की सरकारी भाषा बना दी गई और पोलैण्ड की सेना शाही सेना में विलीन हो गई।

पोलैण्ड के राजनीतिक दल—यह रूसीकरण की नीति बड़े जोर से अथक ढंग के साथ पच्चीस वर्ष तक चलती रही। अलेग्जेंडर के सिंहासनारूढ़ होने पर मालूम होने लगा कि नये युग का उदय होने वाला है। सरकार की सख्ती एकदम कम हो गई। जिनको 1831 में देश से निर्वासित किया था उनको वापस बुला लिया गया। जातीय आन्दोलन ने, जिसको क्रीमिया के युद्ध से बड़ा बल प्राप्त हुआ था, फिर सिर उठा लिया। पोल लोग दो दलों में विभक्त थे—रेड और ह्वाइट। रेड क्रान्तिकारी दल था। ये लोग रूस से घोर और गहरी घृणा करते थे, क्योंकि उनकी दृष्टि में रूस के कारण ही सारी विपत्तियाँ उठानी पड़ रही थीं। ह्वाइट कन्जर्वेटिव दल था। ये लोग 1815 के विधान के आधार पर रूस के साथ मेल-जोल स्थापित करने के लिए तैयार थे। इन दोनों दलों के बाहर भी कुछ थोड़े-से ऐसे राजनीतिज्ञ थे जिनकी आकांक्षाएँ अधिक नरम परन्तु अधिक व्यावहारिक थीं। उनका प्रतिनिधि मारक्विस विलोपोलस्की था, जिसका अलेग्जेंडर द्वितीय पर बड़ा प्रभाव था। इसको देश के शासन का अध्यक्ष नियुक्त किया गया और ग्राण्ड ड्यूक आफ कान्सटेन्टाइन को वाइसराय बनाया। यह सम्राट् का भाई था। स्वतन्त्रता के साथ इसकी सहानुभूति थी और पोलैण्ड की तरफ इसका अच्छा झुकाव था। पोलैण्ड के जात्यभिमान को सन्तुष्ट करने के लिए कई रियायतें की गईं, परन्तु पोल लोग सन्तुष्ट होने वाले नहीं थे। उनका राजद्रोह इससे भी बढ़ गया था कि हाल ही में पोलैण्ड की कृषि सोसाइटी को खत्म कर दिया गया था। यह सोसाइटी पोलैण्ड के किसान दासों की दशा को सुधारने के लिए बनाई गई थी। पोल लोगों के राजद्रोह का दूसरा कारण यह था कि कोसेक सिपाहियों ने निर्दोष प्रदर्शनकारियों पर गोलियाँ चला दी थीं, जिससे लोगों में बड़ी उत्तेजना फैल गई थी। विलोपोलस्की ने लोगों को सन्तुष्ट करने के लिए सद्-भावना के साथ कोशिश की, लेकिन कुछ चली नहीं। लोगों की जिद्द नहीं पिघली। उनकी कोशिशों का जवाब रेड लोगों ने यह दिया कि उसको और कान्सटेन्टाइन को मारने के लिए उन्होंने बार-बार यत्न किया। उधर ह्वाइट लोग 1815 के विधान से कुछ भी कम मंजूर नहीं करना चाहते थे। इसके अतिरिक्त किसी भी शर्त पर वे सरकार का समर्थन करने के लिए तैयार नहीं थे। विलोपोलस्की का रोष फट पड़ा और उसने

कहा कि मुझे आपकी या अन्य लोगों की सहायता की अभिलाषा नहीं है और न मैं इसके लिए कहता हूँ। यह उत्तर उसने व्हाइट लोगों के एक शिष्टमण्डल को दिया था। उसने कहा कि यह सम्भव है कि कभी पोल लोगों के लिए कुछ हित का काम किया जा सकता है, लेकिन उनके द्वारा नहीं। ये बहादुरी के शब्द थे, लेकिन इस बात को भी वह जानता था कि उनकी हार हो गई है। जब उसको यह मालूम पड़ा कि क्रान्तिकारी नेताओं ने गुप्त रूप से समस्त पोलैण्ड देश में षड्यन्त्र का जाल बिछा दिया है तो उसने विवश होकर घातक कदम उठाया। भावी क्रान्ति को रोकने के लिए उसने कोशिश की कि उन सब लोगों को अनिवार्य रूप से रूसी सेना में भर्ती कर लिया जाय जिनके विषय में यह सन्देह है कि वे राजनीतिक आन्दोलन में शामिल हैं। इनमें से अधिकांश लोग भागकर जंगलों में जा छिपे और वहाँ अपनी टोलियाँ बना लीं। कुछ दिन बाद 21 जनवरी 1863 को क्रान्तिकारी दल ने यह प्रकट कर दिया कि बलवा होने वाला है और एक डिक्टेटर नियुक्त कर दिया। अब जो संघर्ष हुआ वह पोलैण्ड के इतिहास में भी ध्यान देने योग्य है। सफलता की केवल नाममात्र की आशा थी। 1830 में सेना और सरकार पोल लोगों के हाथ में थी। सन् 1830 में उनके हाथ में दोनों में से कोई भी चीज नहीं थी और वे निःशस्त्र थे। फिर भी बहुत भारी सेना के सामने वे छापामार तरीकों से कई महीने तक लड़ते रहे और उनका युद्ध मार्च सन् 1864 में जाकर समाप्त हुआ। इस अवसर पर फिर पोल लोगों के सजातीय गुण अथवा वीरता, दृढ़ता और दुर्दमनीयता प्रकट हुई। इस प्रगति का संचालन पाँच सदस्यों की एक गुप्त समिति करती थी। इन पाँचों के नाम वे लोग भी नहीं जानते थे जो उनके आदेश का पालन करते थे। इस गुप्त सरकार की हुकूमत शाही हुकूमत के मुकाबले में पोलैण्ड में ज्यादा मानी जाती थी।

अन्तरराष्ट्रीय स्थिति, 1863—अन्तरराष्ट्रीय स्थिति 1863 में भी 1830 के मुकाबले में अधिक अनुकूल नहीं थी। यूरोप के बड़े राष्ट्रों का पोलैण्ड-विषयक प्रश्न के सम्बन्ध में वैसा ही रुख था जैसा पहले। बिस्मार्क के नेतृत्व में प्रशिया ने मौका देखकर फौरन रूस के साथ एक सन्धि कर ली, जिसके अनुसार पश्चिम की सीमा पर हमला होने का खतरा नहीं रहा। यह दूसरा अवसर था जब जर्मनी ने यह जाहिर किया कि वह पोलैण्ड की आकांक्षाओं का परम शत्रु है। आस्ट्रिया यह तो चाहता था कि पोलैण्ड को जख्मी कर दे, लेकिन वह प्रहार करते हुए डरता था। इसलिए वह कभी तो हस्तक्षेप-नीति की ओर झुकता था और कभी उदासीनता की ओर। इंगलैण्ड में पोल लोगों के साथ जनता की सहानुभूति थी। फ्रांस में क्लेरिकल्स और लिबरल्स इस बलवे का मिलकर अनुमोदन करते थे। क्लेरिकल्स से यह कहा गया था कि धार्मिक अत्याचार के विरुद्ध कैथोलिक लोगों को बलवा करना चाहिए और लिबरल लोगों को यह समझाया गया कि यह जातीय बलवा है। इस-

लिए नेपोलियन और ब्रिटिश सरकार ने कुछ ऐसी कोशिश की कि वियना की सन्धि के आधार पर हस्तक्षेप करना चाहिए। लेकिन यह केवल बात ही बात थी। वे अपना विरोध प्रकट करने के लिए शस्त्र प्रयोग करना नहीं चाहते थे, इसलिए यह बात निष्फल साबित हुई। इस अवस्था में पोल लोगों को एक विशाल सैनिक साम्राज्य के विरुद्ध अकेले ही युद्ध करना पड़ा। आरम्भ से ही यह तो मालूम ही था कि इस संघर्ष का क्या नतीजा होगा।

पोलिश किसानों की मुक्ति—निकोलस मिलियूटिन की प्रेरणा से, जो एडिक्ट आफ इम्मेन्सिपेशन का मुख्य कर्ता था, उसने अब यह नीति जारी की। पोलैण्ड के अन्दर जो भी बलवा हुआ था वह वहाँ के सरदारों का काम था। इन लोगों को किसी समय खूब आजादी थी। वे मनमानी कर सकते थे। अब इनकी आजादी खत्म हो गई, इसलिए ये किसी भी प्रकार खुश नहीं होते थे। देश अभी सामन्ती चंगुल में फँसा हुआ था। जमीन सब इन्हीं लोगों के हाथ में थी, इसलिए ये लोगों से जबरदस्ती काम करवाया करते थे। बड़े-बड़े जमींदार आर्थिक दृष्टि से स्वतन्त्र थे और उनको कई प्रकार के विशेषाधिकार थे। इसके अतिरिक्त वे कई प्रकार के राजनीतिक कार्य भी करते थे। अपने गाँवों में इन्हीं की पुलिस थी और इन्हीं का न्याय। रूसी अफसरों की हुकूमत अभी गाँवों तक नहीं पहुँची थी। इसके अतिरिक्त कैथोलिक चर्च का प्रभाव भी सामन्तों के ही पक्ष में था। कैथोलिक चर्च रूस के आरथोडोक्स चर्च का घातक शत्रु था। पोलैण्ड की प्रत्येक प्रगति इसलिए सफल नहीं हो सकी कि वहाँ के दास अपने स्वामियों से बड़ी घृणा करते थे। मिलियूटिन की तजवीज भी पोलैण्ड के समाज में एक खाई खोदना था, जिससे वहाँ झगड़े चलते रहें और कभी समझौता न हो। 1864 के कानून ने पोलैण्ड में भी वही काम किया जो रूस में एडिक्ट आफ इम्मेनसिपेशन कर चुका था। इसने दासों को उन्नत करके स्वतन्त्र भूस्वामी बना दिया। जो जमीनें उनके कब्जे में थीं उनके वे ही मालिक हो गये और अपने मालिक की जायदाद पर जो बेगार किया करते थे उससे मुक्त हो गये। परन्तु यह बात साफ नहीं की गई कि सामन्तों के जंगलों के खेतों और चरागाहों में भी उनका अधिकार है या नहीं, शायद इस उद्देश्य से कि गाँव के लोगों में द्वेष हमेशा बना रहे। साथ ही ग्राम पंचायतों की एक व्यवस्था कायम की गई जिससे किसानों की नई आजादी को बाहर से कोई धक्का न लगे। इस प्रकार पोलैण्ड के सरदारों की हुकूमत एकदम खत्म हो गई और पोलैण्ड की रूसी हुकूमत का समर्थन करने के लिए एक नई शक्ति पैदा हो गई। कैथोलिक चर्च पर भी एक भारी प्रहार किया गया। इसके अधिकांश मठ खत्म कर दिये गये और इसकी जमीनें छीन ली गईं। इस प्रकार यह आशा की गई कि रूस के दो प्रबल शत्रु—सामन्त और कैथोलिक सम्प्रदाय दोनों—नष्ट हो जायेंगे।

बाद के विकास—इस सामाजिक क्रान्ति के बाद औद्योगिक क्रान्ति हुई। पोलैण्ड का व्यापार धड़ाधड़ बढ़ने लगा। बड़े-बड़े नगरों की आबादी खूब बढ़ी। विशाल कारखाने जहाँ-तहाँ कायम हो गये। तो भी पोलैण्ड की जातीय भावना अभी वैसी ही सजीव और सजग थी। इसमें किसी प्रकार की कमी नहीं आई थी। पोलिश भाषा का दमन, शासन से पोल लोगों का निष्कासन, संक्षेपतः रूसीकरण की सम्पूर्ण नीति और नौकरशाही का दमन-चक्र सब विफल हुए। 1914 के प्रारम्भ में ऐसा मालूम पड़ता था कि स्वाधीन पोलिश राज्य की स्थापना अभी बहुत दूर है। लेकिन जमाना बदलाखोर है। जब युद्ध की घोषणा हुई तो सरकार ने वचन दिया कि पोलैण्ड का राष्ट्र फिर स्थापित कर दिया जायगा। इस घोषणा में रूस की प्रतिज्ञा निहित थी और यह इस अध्याय के अन्त में उद्धृत करने योग्य है। "पोल लोगो, अब वह घड़ी आ गई है जब आपके पूर्वजों के स्वप्न साकार होने वाले हैं। डेढ़ सौ वर्ष पहले पोलैण्ड की खाल खींच-खींचकर उखाड़ दी गई थी, परन्तु इसकी आत्मा अमर थी इसलिए मरी नहीं। अब उन सीमाओं को खत्म कर दिया जायगा जो पोलिश जाति के दो टुकड़े करती हैं। अब हमारी कामना है कि रूसी सम्राट् की छत्रछाया में यह जाति एक हो जाय। इस छत्रछाया में ही पोलैण्ड का पुनर्जन्म हो। इसका सर्वस्व, भाषा और स्वराज्य सब स्वतन्त्र हों। रूस आपसे एक बात की आशा करता है और वह यह है कि सारी जातियों के अधिकारों पर समान विचार होना चाहिए, क्योंकि इतिहास ने आपको इन जातियों से सम्बद्ध कर रखा है।"

अध्याय 8

नया युग (1871—1914)

इस युग के लक्षण—पश्चिमी यूरोप के इतिहास में सन् 1870 में एक बहुत बड़े रचनात्मक युग का अन्त होता है। इस युग में अनेक प्रगतियाँ जारी हुईं, जिनके फलस्वरूप जर्मन साम्राज्य, इटली राज्य, तृतीय रिपब्लिक और दोहरे राजतन्त्र का जन्म हुआ। अगले चालीस वर्ष में कोई बड़ा राजनीतिक कार्य नहीं हुआ और इसमें इतनी घटनायें घटीं और इतनी जल्दी-जल्दी घटीं और उलझीं कि उनके विकास का कोई व्यवस्थित और सरल वर्णन करना कठिन है। जिस युग में दृढ़ीकरण होता है उसमें ऐसे नाटकीय लक्षण नहीं होते जिनसे लोगों की कल्पना जागृत हो और उनका ध्यान आकर्षित हो। इस युग में विभिन्न देशों की पार्लियामेन्ट के कार्यों में भी कोई ऐसी बात नहीं मिलती जिसमें सबकी रुचि हो। वर्तमान अध्याय में हम इन चालीस वर्षों के केवल कतिपय स्वरूपों का वर्णन करेंगे जिनका यूरोप के इतिहास में विशेष महत्व है, अर्थात् फ्रेंच रिपब्लिक की स्थापना, जर्मन साम्राज्य का दृढ़ीकरण, दोहरे रऔ तिहरे एलायन्सेज, पूर्वी प्रश्न और जर्मनी का वैल्ट पोलिटिक।

नैपोलियन तृतीय को सिंहासन से उतारना (1871)—फ्रांस और प्रशिया के युद्ध का परिणाम यह हुआ कि सन् 1870 में फ्रेंच रिपब्लिक की स्थापना हुई। नेपोलियन तृतीय पर यह दोष लगाया गया था कि उसने देश को बर्बाद किया है। उसी के कारण जर्मनी का आक्रमण हुआ और उसी के कारण देश के टुकड़े-टुकड़े हुए। इसलिए उसको दंड भोगना पड़ा, अर्थात् उसके राजवंश का अन्त हो गया। उसके कारण फ्रांस पर घोर विपत्ति आई थी। उसका यह फल उसे भोगना पड़ा था। यद्यपि किसानों से सम्राट् यह बात कहता रहता था कि उसके साम्राज्य की नींव लोगों की मर्जी पर खड़ी हुई है, लेकिन वास्तव में उसका सच्चा आश्रय उसका सेना थी। जब शाही सेना नष्ट हो गई तो उसको चारों ओर से क्रान्ति के खतरे ही खतरे दिखाई देने लगे। अपनी विपत्ति के समय में फ्रांस के लोगों को स्मरण आया कि 1792 में जनतंत्रीय सरकार ने उनकी किस प्रकार हमले से रक्षा की थी। अब वे लोग पुनः क्रान्ति की परम्पराओं की शरण में जाने लगे। उनको आशा थी कि इतिहास फिर चक्कर लगाएगा।

फ्रेंक फर्थ की सन्धि, 1871—यह कहना जरूरी है कि 1870 का जनतंत्र 1848 के जनतन्त्र जैसा नहीं था। यह पेरिस के जनतन्त्र ने सारी कौम पर नहीं थोपा था। यह प्रगति प्रान्तों में शुरू हुई थी और वहीं जनतन्त्र की स्थापना हुई थी। तब राजधानी में इसका समाचार पहुँचा था, इसलिए तृतीय जनतन्त्र का आधार पहले के जनतन्त्र की अपेक्षा अधिक विस्तृत था। इससे हम समझ सकते हैं कि यह अधिक समय तक क्यों टिका और क्यों अधिक दृढ़ साबित हुआ। साम्राज्य

के पतन के बाद नेशनल डिफेन्स (National Defence) की सरकार स्थापित हुई और जर्मन सेना को फ्रांस की भूमि से निकाल देने का भार इसने अपने ऊपर लिया। ज्यूलिस फेवर (Jules Favore) पर-राष्ट्रमंत्री ने कहा था कि न तो हम एक इंच-भर अपनी भूमि देंगे और न अपने किलों का एक पत्थर देंगे। युद्ध-सचालन का काम लियोन गेम्बेटा (Leon Gambetta) ने अपने हाथ में लिया। वह अदम्य व्यक्तित्व और धधकती हुई शक्ति के साथ राष्ट्रीय पुनर्गठन के कार्य में लग गया। लेकिन उसके वीर प्रयास से राजधानी की रक्षा नहीं हो सकी। तब बोरडो (Bordeaux) में नेशनल असेम्बली का अधिवेशन हुआ और वहाँ विचार हुआ कि युद्ध जारी रखा जाय या सन्धि की जाय। यह असेम्बली कौम की आवाज को पहचानती थी। इसलिये इस घोर युद्ध का अन्त करने हेतु इसने वे सब भारी शर्तें मान ली जो जर्मनी ने इसके सामने रखीं। सन्धि होते ही पुराना अन्तर्दलीय कलह, जिसके कारण दो पुश्त से फ्रांस लोहूलुहान हो रहा था, फिर प्रकट हुआ और पुनः देश-भर में घरेलू लड़ाई की भयंकरताएँ दिखाई देने लगीं।

पेरिस का फ्रांस के इतिहास में स्थान—फ्रांस के इतिहास में पेरिस का महत्व केवल राजधानी की हैसियत से ही नहीं दूसरे कारणों से भी बहुत बड़ा रहा है। फ्रीमेन ने कहा है कि इसी के चारों ओर फ्रांस का विस्तार हुआ है। इसलिए प्राचीन काल से फ्रेंच लोगों में पेरिस की ही बात चलती है और मार्ग-दर्शन और प्रेरणा के लिए ये लोग हमेशा पेरिस की ओर ताकते रहे हैं। इसलिए हमारी समझ में आता है कि 1789 से 1871 तक फ्रांस के वैधानिक विकास के मार्ग में क्यों गड़बड़ें आईं, क्योंकि जो राजधानी का स्वामी बन जाता था वह तत्काल प्रान्तों का भी स्वामी हो जाया करता था। पेरिस की पंचायत का संक्षिप्त विवरण अब हम देंगे। इसी ने ही सबसे पहले प्रकट किया कि फ्रांस अब राजधानी की धींगा-धींगी मानने के लिए तैयार नहीं है। पेरिस के जनतंत्र और नेशनल असेम्बली में जब संघर्ष हुआ तो नेशनल असेम्बली की जीत हुई। अब एक नगर सारे फ्रांस पर हुकूमत चलाने का दम नहीं भर सकता था। इससे यह भी सिद्ध हो गया कि बलवाइयों का राजतंत्र सुसंगठित राष्ट्र के सामने कमजोर हो गया है, क्योंकि वर्तमान विज्ञान के कारण मौजूदा सरकारों के हाथ में बड़े-बड़े साधन आ गये हैं।

पेरिस की कोम्यून (1871)—युद्ध आरम्भ होते ही प्रकट होने लगा कि पेरिस बलवा करने के लिए तुला बैठा है। केन्द्रीय हुकूमत के पास अब वह सेना नहीं थी जिस पर इनकी शक्ति टिकी हुई थी। इसलिए अब हुकूमत के पास वह दमन शक्ति नहीं थी जिसके द्वारा बीस वर्ष तक यह क्रान्ति के आवेश को रोके रही। जब यह दबाव हट गया तो शासन की बुरी तरह आलोचना होने लगी, इसलिए सूक्ष्म द्रष्टाओं के सामने यह बात साफ हो गई कि अब युद्ध जारी करने से ही लोग शान्त

होंगे। लेकिन जब युद्ध जारी हुआ तो विजय तो मिली नहीं बल्कि विपत्ति तेजी के साथ आने लगी। पेरिस के लोगों की असन्तोष-ज्वाला धधक उठी। जब नेशनल असेम्बली ने सन्धि की शर्तों की पुष्टि कर दी तो उन लोगों को बड़ा क्रोध आया जो युद्ध के लिए छटपटा रहे थे और क्रान्तिकारी डेप्यूटियों ने फौरन ही अपने-अपने स्थान त्याग दिये। उन्होंने असेम्बली पर यह दोष लगाया कि इसने दो प्रान्त शत्रुओं को दे दिये, फ्रांस के टुकड़े-टुकड़े कर दिये और देश को बर्बाद कर दिया। उग्र युद्ध-पार्टी की दृष्टि से एलसिस लोरेन का दे देना देश के साथ विश्वासघात था। इनका यह भी विश्वास था कि जनतन्त्र खतरे में है। कुछ ऐसे कारणों से, जिनको आगे चलकर बतलाया जायगा, नेशनल असेम्बली में बहुमत राजतन्त्रीय तत्वों का था। इसलिए यह स्वाभाविक बात थी कि उन्नत जनतन्त्रीय लोग इस पर विश्वास नहीं करते थे। साथ ही असेम्बली ने भी कोई ऐसी युक्ति से काम नहीं लिया जिससे विरोध ठंडा हो जाता। इसका अधिवेशन वरसाइल (Versailles) में हुआ। इससे पेरिस-निवासियों के आत्माभिमान को बड़ा धक्का लगा और जब इसने उनके आर्थिक हितों की जान-बूझकर उपेक्षा की तो वे लोग और भी चिढ़ गये। घेरे के दिनों में लोगों ने न किराया दिया न दूसरे आर्थिक कर्तव्य पूरे किये। राजधानी में इस समय बड़ी आर्थिक गड़बड़ थी और सब काम ठप्प पड़ा हुआ था। फिर भी असेम्बली ने इस बात से इन्कार किया कि कर्जे की अदायगी की तारीख आगे बढ़ाई जाय। इसने नेशनल गार्ड को वेतन देना बन्द कर दिया। यद्यपि यही उन लोगों का एकमात्र सहारा था जिन लोगों की रोजी युद्ध के कारण छिन गई थी। जर्मन लोगों के पेरिस के प्रवेश के बाद भी नेशनल गार्ड को अपने शस्त्र रखने की इजाजत थी। अब ये लोग बलवाइयों से मिल गये। बलवे के समय सरकार की तरफ से सबसे पहली कोशिश यह हुई कि नेशनल गार्ड के कब्जे से कई तोपें छीनी जायँ। यह यत्न असफल हुआ और सरकार हटकर वरसाइल चली गई। नगर को अपने विरोधियों के हाथों में छोड़ गई (18 मार्च)।

कम्यूनिस्ट कार्यक्रम—पेरिस का शासन इस समय दो संस्थायें करती थीं। एक जनरल कौंसिल आफ दी कम्यून (General Council of the Commune), जिसका निर्वाचन राजधानी के सब निवासी मिलकर करते थे और दूसरी सेन्ट्रल कमेटी (Central Committee) जो नेशनल गार्ड की प्रतिनिधि थी, और राष्ट्रीय सेना तथा जनरल कौंसिल के बीच में काम करती थी। कम्यूनिस्ट लोगों ने पुराना जनतन्त्रीय केलेण्डर अपनाया और लाल झण्डे का प्रयोग किया, जिसको वे सोशलिस्ट पार्टी का चिह्न समझते थे। परन्तु ऐसा मालूम होता था कि उनके पास कोई सोशल कार्यक्रम नहीं था। वास्तव में सामाजिक सुधारों में कौंसिल के कुछ ही सदस्यों की रुचि थी, परन्तु इन लोगों के म्युनिसिपल कार्यक्रम में स्वायत्त शासन के सिद्धान्तों से

आगे वढ़ी-चढ़ी कई बातें थीं। स्वायत्त शासन के सिद्धान्त फ्रांस में लगभग तीन-चौथाई शताब्दी से जमे हुए थे। सन् 1791 में फ्रांस की राज्यक्रान्ति के नेताओं ने पूर्ण विकेन्द्रीकरण की विधि स्थापित कर दी थी और स्थानीय पंचायतों को स्वायत्त शासन के विस्तृत अधिकार दे दिये थे। लेकिन जेकोबिन लोग प्रशियन और आस्ट्रियन सेनाओं को अपनी भूमि से निकालना चाहते थे। इसलिए उन्होंने पुराने शासन की परम्पराएँ पुनः ग्रहण कर लीं और स्वायत्त शासन का नामोनिशान तक मिटा दिया और ऐसी सरकार स्थापित की जो और भी अधिक केन्द्रीय थी। वास्तव में ऐसी सरकार फ्रांस में कभी कायम नहीं हुई थी। यह केन्द्रीय सरकार का तरीका नेपोलियन प्रथम ने अपनाया था और उसी ने उसको उन्नत किया था और कुछ संशोधन के साथ यह उन्नीसवीं शताब्दी में चलता रहा। कम्यूनिस्ट लोगों ने जेकोबिन लोगों के मौलिक सिद्धान्तों की कोई परवाह नहीं की और घोषणा की कि प्रत्येक नगर को स्वायत्त शासन का पूर्ण अधिकार है। इन लोगों ने फ्रांसीसियों से अपनी घोषणा में कहा कि पेरिस क्या माँगता है? सिर्फ इतना कि रिपब्लिक स्थापित की जाय और इसको मान्यता दी जाय और फ्रांस में सर्वत्र पूर्ण स्वाधीनता का दौरदौरा हो। आइन्दा सब कोम्यून्स को अपने सहज अधिकारों का उपयोग करना था, अर्थात् कोम्यून के बजट पर वोट देना, टैक्स निश्चित करना और किससे कितना लेना यह तय करना, स्थानीय कर्मचारियों पर नियन्त्रण रखना, शिक्षा, आन्तरिक पुलिस और मजिस्ट्रेटी की व्यवस्था करना, कोम्यून की सम्पत्ति का प्रबन्ध करना, निर्वाचन या कम्पीटीशन द्वारा राजकर्मचारियों को निर्वाचित करना और उनको बरखास्त करना। ऐसा नेशनल गार्ड व्यवस्थित करना जो अपने कर्मचारियों को निर्वाचित करे और जो स्वयं अकेला ही शान्ति की रक्षा कर सके। ऐसे स्वयं-शासित कोम्यून का एक संघ बनाना था। इसके प्रतिनिधि केन्द्रीय कार्यकारिणी के सदस्य होंगे, लेकिन इस कोम्यूनल फिडरेलिज्म की जाँच करने का कभी मौका ही नहीं आया। राष्ट्रीय सरकार की सेना, जिसके सिपाही फ्रांस के कैदी थे, धीरे-धीरे शहर में घुस गई। इन कैदियों को जर्मनी ने रिहा कर दिया था। इसके बाद घरेलू युद्ध हुआ जो 'ब्लडी वीक' कहलाता था। उस शताब्दी में इतना भयंकर युद्ध दूसरा कोई नहीं हुआ। कोम्यून की घोषणा में लिखा था—"सैनिकों को जगह दो। क्रान्ति के युद्ध की वेला आ पहुँची है। विघ्नों (Barricades) के बाद अपने मकान की बारी आयेगी और मकानों के बाद हमारी तबाही होगी।" इसके बाद घोर पाशविक संघर्ष हुआ। बलवा करने वालों का कत्ले-आम किया गया। मुकद्दमे नाम को भी नहीं चलाये गये। अनुमान है कि बीस हजार पेरिस-निवासी नष्ट हो गये। इसके अतिरिक्त युद्ध-कौंसिल ने तेरह हजार व्यक्तियों को सजा दी। उनमें से 7,500 को निर्वासित करके और शेष को या तो लम्बे अर्से के लिए जेल में ढकेल दिया या फांसी की सजा दी। यह फ्रांस की कानूनी

प्रथा का उल्लंघन था। इस प्रथा के अनुसार कामन लॉ के मुलजिम और राजनीतिक बलवाई अलग-अलग दृष्टि से देखे जाते थे। विजेताओं के बदले से उत्पीड़ित होकर एडवांस रिपब्लिक और सोशल पार्टी विलीन हो गई। उनका अस्तित्व ही नहीं रहा। इसके शत्रुओं ने इसका उन्हीं साधनों से अन्त कर दिया जिनका रोम में रिपब्लिक के अन्तिम दिनों में और फ्रांस के आतंक राज्य (Region of Terror) में उपयोग किया गया था। पेरिस कोम्यून के विषय में शायद ही कभी कोई अच्छी बात कही जाती होगी।

कोम्यून की आलोचना—कम्यूनिस्ट आन्दोलन को प्रायः पागलपन का आत्म-घात माना जाता है और फ्रांस के प्रति गहरा द्रोह। यह इसलिये विशेषकर निन्दनीय था कि इस समय समस्त देश शत्रु के हाथ में था। एक दृष्टि यह थी कि पेरिस के नेता लोग अपने देश की विपत्ति को अपने लिये बहुत अच्छा अनुकूल अवसर समझते थे। उसका खयाल था कि यह हुकूमत कायम करने का अवसर है। इसके खिलाफ कम्यूनिस्ट लोगों को देखा जाय तो वे जनतंत्र की रक्षा के लिये युद्ध कर रहे थे। इस समय वरसाइल में एक राजपक्षीय असेम्बली हो रही थी, उससे जनतन्त्र को बड़ा खतरा था। पेरिस के लोग वरसाइल के लोगों पर कुछ भी विश्वास नहीं करते थे। बस यही सम्पूर्ण विपत्ति का मूल था। व्यापक दृष्टि से देखा जाय तो पेरिस का कोम्यून कितने ही झगड़ों के बाद बना था और इन झगड़ों के कारण समस्त राजधानी में अपूर्व क्षोभ उत्पन्न हो गया था। लोग पागल-से हो गये थे। फ्रांस के इतिहास में भी ऐसी कोई घटना नही हुई थी। इसका कारण यह था कि युद्ध की विपत्तियों ने आग धधका दी थी। देश की भूमि छिन गई थी। लम्बे घेरे का सामना करना पड़ा था और विजय के बाद जर्मनी के लोगों ने बड़े गर्व के साथ पेरिस के बाजारों में कूच किया था।

बोर्डो का काम्पैक्ट—फ्रांस की आन्तरिक राजनीति में इस युग की रोचक बात यह थी कि जनतन्त्रीय सस्थायें धीरे-धीरे दृढ़ होती थीं। इस समय फ्रांस में दो पक्ष थे—एक राजपक्ष और दूसरा जनपक्ष। इन दोनों में परस्पर संघर्ष चला करता था। अब भी यह संघर्ष बहुत अर्से तक चला। इसका क्षेत्र था पार्लियामेंट। अभी कोई नहीं कह सकता था कि किस पक्ष की विजय होगी। असेम्बली का निर्वाचन तो शान्ति स्थापित करने के लिये हुआ था, इसलिये लोगों ने राजपक्ष को अपने मत दिये थे। सिवाय दक्षिण-पूर्वी हिस्से में निवास करने वालों के, जहाँ जर्मन सेनाओं का हमला हो चुका था, लोगों का यह खयाल था कि जनतंत्रीय असेम्बली युद्ध करेगी। अतः राजपक्ष के लोगों को उसके राजनीतिक विचारों के कारण वोट नहीं दिये थे बल्कि इसलिये दिये थे कि ये लोग उस दल के घोर विरोधी थे जो लड़ाई करना चाहता था। इस प्रकार 750 डेप्यूटीज में से 400 राजपक्ष के थे और लोगों की धारणा हो गई थी कि फ्रांस में पुनः राजतन्त्रीय शासन की स्थापना होने

वाली है। परन्तु फ्रांस की राजनीति की यह विशेषता है कि जिस घटना की कोई आशा नहीं होती, वही घटती है। इसलिये जिस असेम्बली की सहानुभूति राजपक्ष की ओर थी वही जनतन्त्र स्थापित होने का साधन बन गई। यह आश्चर्यकारी घटना क्यों हुई, इसके विषय में कई अनुमान लगाये जा सकते हैं। इसका निर्वाचन तो इस उद्देश्य से हुआ था कि यह निश्चय करे कि युद्ध होना चाहिये या सुलह होनी चाहिये, विधान बनाने का काम इसके सुपुर्द नहीं किया गया था। जब तक फ्रांस के अन्दर उसके शत्रु मौजूद थे, उसी अर्से में यदि राजसत्ता की घोषणा कर दी जाती तो घोर अन्तर्दलीय द्वेष उत्पन्न हो जाता। राष्ट्र के सामने एक नाजुक घड़ी थी, इसलिये राष्ट्रीय एकता की रक्षा करना सबसे अधिक आवश्यक था। असेम्बली में राजपक्ष के लोगों का बहुमत था। लेकिन अभी मौका नहीं आया था कि वे शक्तिशाली जनतन्त्रीय अल्पमत का विरोध करते। बोरबन राजवंश को पुनः राजसिंहासन पर बैठाया गया था। इससे लोगों ने यह सबक सीखा कि इनका राज्य बहुत अर्से तक नहीं टिक सकेगा। कारण यह था कि इन्होंने देश का एक हिस्सा शत्रु के सुपुर्द कर दिया था। इसलिये यह अधिक उचित समझा गया कि शान्ति-स्थापना का कार्य जनतन्त्र के सुपुर्द किया जाये, न कि सम्राट् के सुपुर्द। अगर सम्राट् ने फिर कुछ फ्रेंच प्रान्त शत्रु को समर्पित कर दिये तो उसकी स्थिति बहुत नाजुक हो जायेगी। इन विचित्र कारणों से असेम्बली ने अभी यह निश्चय नहीं किया कि फ्रांस में किस प्रकार का शासन स्थापित किया जाये। सब पार्टियाँ इस बात पर तो एकमत हो गईं कि अस्थायी राजनीतिक समझौता कर लिया जाय। इसका नाम कामपेक्ट आफ बोर्डो रखा जाय और वैधानिक समस्याओं पर विचार भी अभी स्थगित रखा जाय।

फ्रेंच रिपब्लिक की स्थापना—फ्रांस के लिये सौभाग्य की बात थी कि वहाँ थीअर्स जैसा नीतिवान् व्यक्ति मौजूद था। उसके व्यक्तित्व में बल था और कुशलता तथा सावधानी के कारण वह इस अपूर्व स्थिति में राष्ट्र की नौका का योग्यतापूर्वक संचालन कर सकता था। वह इस समय देश में सर्वाधिक लोकप्रिय था, क्योंकि सन् 1870 में उसने युद्ध का विरोध किया था। राष्ट्र ने उस समय उसके विरोध को उल्टा समझा, परन्तु फिर सबकी आँखें खुलीं। हृदय में थीअर्स राजवंश का पक्षपाती था, परन्तु वह सबसे पहले देश के हित का विचार करता था, अपने दल का नहीं। इसलिये वह ऐसा शासन स्थापित करना चाहता था जिसमें फूट का मौका सबसे कम हो। वह चीफ आफ दी एक्जिक्यूटिव अर्थात् कार्यकारिणी का प्रधान नियुक्त हुआ था, इसलिये वह अपना कर्तव्य समझता था कि शान्ति और संगठन करके देश की साख पुनः स्थापित की जाय जिससे उद्योग उन्नत और जाग्रत हो सके। इस कार्य में उसको कितनी सफलता हुई यह इस बात से प्रकट है कि दो साल में ही फ्रांस ने जर्मनी को बीस करोड़ पौंड का जुर्माना अदा कर दिया। यह बहुत बड़ा कार्य

था। इससे जर्मनी की सेनायें फ्रांस से निकल गईं और संसार के सामने यह प्रकट हो गया कि फ्रांस की साख फिर कायम हो गई है। परन्तु इतना करने पर भी थीअर्स चीफ मजिस्ट्रेट नहीं रह सका। ज्यों-ज्यों फ्रांस की हालत सुधरती जाती थी त्यों-त्यों जनतन्त्र के शत्रु फिर राजतन्त्र कायम करने के लिये खूब कोशिश कर रहे थे। यद्यपि उन्होंने थीअर्स को निकालकर मार्शल मैकमाहन को उसके स्थान पर बैठा दिया, फिर भी उनको अनुभव हो गया कि वे ध्येय के नजदीक नहीं हैं। वे लोग राजतन्त्र इसलिये कायम नहीं कर सके कि इस पक्ष के जितने समुदाय थे उन्होंने मिलकर अपनी पार्टी के लिये कार्यक्रम नहीं बनाया। उस समय गद्दी के लिये तीन हकदार थे—1. काम्टे डी चैम्बार्ड, यह चार्ल्स दसवें का पोता था, 2. काम्टे डी पेरिस, यह लुई फिलिप का पौत्र था, और 3. प्रिंस इम्पीरियल, यह नेपोलियन तृतीय का पौत्र था। थीअर्स अपने विरोधियों से कहा करता था कि गद्दी तो केवल एक है। इस पर तीन आदमी नहीं बैठ सकते। राजतन्त्र का पक्ष इसलिये निर्बल हो गया कि वंशानुगत राज्य के पोषक, ओरलियन घराने के समर्थक और साम्राज्यवादी तीनों में बहुत-से आपसी झगड़े थे। स्वयं राजपक्ष के लोगों में ही दोनों दलों अर्थात् वंशानुगत राज्य के पोषक और ओरलियन घराने के समर्थकों में करीब-करीब मेल हो गया था और बात यह ठहरी थी कि हेनरी पचम अर्थात् काम्टे डी चेम्बोर्ड सन्तानहीन था, इसलिये उसके बाद काम्टे डी पेरिस राजगद्दी पर बैठे। यह तजबीज इसलिये विफल हुई कि काम्टे डी चेम्बोर्ड ने तिरंगा झंडा ग्रहण करने से इन्कार किया। उसके खयाल से यह झंडा क्रान्ति का प्रतीक था। पुराने राजवंश के सफेद झंडे को अर्पण करने के बजाय तो वह यह अच्छा समझता था कि राजसिंहासन का मोह त्याग दे, क्योंकि सफेद झंडे को त्यागने का अर्थ यह होता कि दैवी अधिकार और अनियंत्रित राज्यसत्ता का भी परित्याग कर दिया। इन परिस्थितियों में यह सम्भव नहीं था कि राजतन्त्र फिर स्थापित किया जा सकता। असेम्बली ने औपचारिक रूप से एक्जीक्यूटिव के हैड को ही जनतन्त्र का अध्यक्ष मान लिया। इसका साफ अर्थ यह था कि असेम्बली अपने जनतन्त्र के सिद्धांत को नहीं छोड़ना चाहती थी। कुछ दिन बाद इस विषय का कानून बन गया कि जनतन्त्र सरकार के स्वरूप को बदलने के विषय में कोई प्रस्ताव नहीं आ सकता। अब आइन्दा के लिये जनतन्त्र राजनीतिक अखाड़े का विषय नहीं रहा।

तीसरे राजतंत्र का लक्षण—जनतंत्र के विधान का अन्तिम स्वरूप किसी वर्ग-विशेष का कार्य नहीं था बल्कि सबका कार्य था। वास्तव में यह विधान एक प्रकार का समझौता था जिसमें फ्रांस के ऐतिहासिक विकास के विविध स्वरूपों की झलक दिखाई देती थी। इसने समाज का वही स्वरूप रखा जिसका निर्माण क्रान्ति के द्वारा हुआ था, और केन्द्रीय प्रबन्ध-परम्पराएँ इसको साम्राज्य से मिली थीं और राजनीतिक शक्ति का इस प्रकार से विभाग किया गया था मानो वह निरंकुशवाद और जनतंत्र-

बाद में समझौता हो। इस विशेष स्वरूप के कारण ही विधान बहुत हद तक स्थायी हो गया और यही कारण था कि आखिरकार फ्रेंच जाति को निरन्तर रूप से राजनीतिक जीवन के उपभोग करने का अवसर मिला। फ्रांस में जितनी क्रान्तियाँ हुईं वे सब जनतन्त्रवाद ने ही नहीं करवाई थीं। पहली तीन क्रान्तियाँ अर्थात् 1792, 1830 और 1848 में उनका प्रभाव पेरिस तक ही सीमित था। इसलिये राजधानी में तो क्रान्ति हो गई लेकिन फिर कुछ अर्से बाद ही जिलों में राजतन्त्रवादी लोगों में इसकी प्रतिक्रिया हुई। चौथी बार जब क्रान्ति हुई (1870) तो विदित हुआ कि जनतन्त्र की जड़ बहुत गहरी घुस गई है। बोर्डो असेम्बली में राजपक्ष के लोगों का बहुमत बन गया था। वह केवल इत्तिफाक की बात थी और उसी के कारण जनतन्त्र की घोषणा करने में देर हुई। अतः जब जनतंत्रवादियों का अन्तिम ध्येय पूरा हो गया तो क्रान्ति होना आपसे-आप बन्द हो गया। इसी उद्देश्य के निमित्त इस दल का संगठन हुआ था।

जर्मन साम्राज्य का आन्तरिक दृढ़ीकरण—फ्रांस की भाँति जर्मनी में भी 1870 से नये युग का आरम्भ होता है। जिस वर्ष फ्रांस में जनतन्त्र की नींव पड़ी उसी वर्ष जर्मन साम्राज्य का भी जन्म हुआ। पिछले अध्याय में वर्णन किया है कि बिस्मार्क ने जर्मनी का एकीकरण करके मध्य यूरोप में एक बहुत बड़ी सैनिक राजसत्ता की किस प्रकार सृष्टि की। परन्तु अभी यह नया राष्ट्र गर्भावस्था में ही था। अभी इसके राजनीतिक अस्तित्व में सहकारिता की कमी थी। अभी अगली एक पुश्त तक जर्मन राजनीतिज्ञों की शक्तियों को कानूनी और माली परम्पराएँ जारी करने में लगानी थीं। जर्मन लोगों के लिये यह सौभाग्य की बात थी कि उनके साम्राज्य के विधाता के हाथ में लगभग बीस वर्ष तक उनके भाग्य की बागडोर रही। यह हो सकता है कि हमको उसके साधन अच्छे न लगे हों, परन्तु हम इस बात से इन्कार नहीं कर सकते कि बिस्मार्क प्रतिभावान पुरुष था। उसने आठ साल में ही जर्मन संघ बना दिया। जिस काम का उसने आरम्भ किया था उसको पूरा करने के लिये भी वही सबसे अधिक उपयुक्त पुरुष था। वह जर्मनी का विधाता था। इस हैसियत से उसकी प्रतिष्ठा बहुत बड़ी थी और इस नवजात राष्ट्र के सामने जो समस्याएँ थीं उनको हल करने में उसकी प्रतिष्ठा से बड़ी सहायता मिली। एकता में बहुत विघ्न आये और ऐसी शक्तियाँ सामने आईं जो फिर देश के टुकड़े-टुकड़े करना चाहती थीं। परन्तु बिस्मार्क के गुणों ने उसका साथ दिया और सब विघ्न पार हो गये। संघ के आधार पर उसको जर्मन राष्ट्र की रचना करनी थी और दक्षिण की रियासतों को भी समझा-बुझाकर अपने अनुकूल बनाना उसी का काम था। इस विषय में यह स्मरण रखने की बात है कि बवेरिया और वटमबर्ग ने जर्मन संघ को बड़ी अनिच्छा से स्वीकार किया था। यह बतलाना असम्भव है कि जब प्रशिया ने जर्मन मामलों का

संचालन करना शुरू किया तो उसका कितना विरोध हुआ, क्योंकि बंडसराथ की कार्यवाहियाँ रहस्य में छिपी हुई हैं। यह भी बात नहीं थी कि प्रशिया और दक्षिणी रियासतों के झगड़े आसानी से सुलझ गये।

जर्मनी की दबी हुई कौमें—जर्मन रियासतों में अलग-अलग रहने की प्रवृत्ति थी और अब संघ सरकार स्थापित हो चुकी थी। इसकी आवश्यकताओं का विभिन्न रियासतों के अधिकारों के साथ समन्वय होना था। यह कार्य बहुत कठिन था और इसमें अनेक प्रकार के विघ्न थे। जर्मन साम्राज्य के आन्तरिक दृढ़ीकरण में एक बड़ा विघ्न यह भी था कि वहाँ की आबादी में कुछ ऐसे तत्व थे जो जर्मन नहीं थे। ये लोग थे पूर्वी मार्चेज के पोल, उत्तरी स्कल्सविग के डेन, और एलसिसलोरेन के निवासी। इनको जबरदस्ती से जर्मनी में शामिल कर रखा था। जर्मनी से न उनकी भाषा मिलती थी, न उनकी परम्पराएँ। इसलिये इनको दलित जातियाँ (Submerged nationalities) कहा जाता था। पोललोगों की संख्या 35 लाख, डेन लोगों की डेढ़लाख और ऐलसिसलोरेन-निवासियों की 18 लाख और सन् 1914 में पूरे जर्मनी की जनसंख्या 65,000,000 थी। प्रशियन पोलैण्ड की दशा के विषय में हम पहले ही लिख चुके हैं। जिस नीति का पूर्वी मार्चेज में अनुसरण किया जाता था वही नीति उत्तरी स्कल्सविग के डेन लोगों के साथ बरती जाती थी। इस विषय में प्राग में एक सन्धि हुई, जिसके अनुसार नेपोलियन तृतीय के कहने पर प्रशिया ने यह स्वीकार कर लिया कि उत्तरी स्कल्सविग की आबादी वापस डेनमार्क को दे दी जायगी। शर्त यह रखी गई कि जनमत लिया जायगा और यह उत्तरी रियासत के साथ मिल जाने के पक्ष में आया तो समझौता कार्यान्वित किया जायेगा। सन्धि की यह शर्त केवल कागज में ही रही और लगभग पचास वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी डेन लोग इस बात पर राजी नहीं हुए कि वे जर्मनी में ही बने रहें। इस स्थिति को समझना कोई कठिन नहीं है। बात यह थी कि प्रशिया डेन लोगों की भाषा का उपयोग नहीं होने देता था और डेन लोगों को अपनी जमीन से बेदखल करता जाता था। ऐलसिसलोरेन के साथ दूसरे प्रकार का व्यवहार था। ऐलसिस की आबादी अधिकांश जर्मन है और लोरेन की अधिकांश फ्रेंच। ऐसा प्रायः कहा जाता है कि बिस्मार्क ऐलसिस और स्ट्रैसबर्ग को तो अपने चंगुल में रखना चाहता था, परन्तु अगर सैनिक दल का दबाव उस पर नहीं होता तो वह खुशी से लोरेन और मेज का पिंड छोड़ देता। कुछ भी सही, जर्मन लोग इन प्रान्तों को आत्मसात नहीं कर सके। उनकी नीति भी इनके साथ एक-सी नहीं रही। कभी वे स्नेह करते थे और कभी सख्ती।[1]

आन्तरिक समस्याएँ—दलित जातियों की संख्या इतनी कम थी कि वह जर्मनी के लिए कोई खतरा पैदा नहीं कर सकती थी। परन्तु इसमें भी सन्देह नहीं है कि

---

1. बार्कर, दी सबमर्ज्ड नेशनलिटीज आफ जर्मनी, 23।

जर्मनी के लिए वह कमजोरी का कारण थी। लेकिन इस नवीन राष्ट्र के स्थायीपन को इन जातियों से कोई विशेष खतरा नहीं था। उसके लिये खतरा दूसरी तरफ से था। यह याद रखने की बात है कि जर्मन साम्राज्य के लिये और थीअर्स द्वारा स्थापित की हुई फ्रांस की कंजरवेटिव रिपब्लिक के लिये अर्थात् दोनों के लिये खतरा था पादरियों से और सोशलिस्ट लोगों से। ये दोनों ही दल राष्ट्रों के शत्रु थे। बिस्मार्क को पहले तो रोमन कैथोलिक चर्च के साथ और फिर सोशल डेमोक्रेटों के साथ संघर्ष करना पड़ा। इस संघर्ष के इतिहास से हम समझ सकते हैं कि जर्मन में नये राजनीतिक तंत्र का जन्म होते ही कैसी समस्याएँ खड़ी हो गईं।

कैथोलिक सेन्टर—जर्मनी में रोमन कैथोलिक चर्च की शक्तियाँ बहुत विस्तृत थीं। इस पर राज्य का कोई नियन्त्रण नहीं था। यह चाहे जैसे अपने मामलों का प्रबन्ध कर सकता था। इसमें कोई हस्तक्षेप नहीं होता था। इस चर्च का अपने अनुयायियों पर भारी प्रभाव था। यह इस बात से प्रकट होता है कि चर्च के हित की रक्षा करने के लिये भक्त लोगों ने एक राजनीतिक संगठन खड़ा कर रखा था जो सेन्टर कहलाता था। 1871 में जो रेशटाग थी उसमें चर्च के 58 स्थान थे और तीन साल में इनकी संख्या बढ़कर 100 हो गई थी। पादरियों के बढ़ते हुए प्रभाव से सरकार चिंतित रहा करती थी। पार्लियामेन्ट में इसको विरोधियों का सामना करना पड़ता था और सेन्टर अर्थात् पादरियों की पार्टी बिस्मार्क की नीति का घोर विरोध करती थी। कोई समझौता करने के लिये तैयार नहीं थी। इस पार्टी में ही ग्रोस ड्यूचेन (Gross-deutschen) अर्थात् ग्रेटर जर्मनी की पार्टी शामिल थी। ये लोग चाहते थे कि जर्मन साम्राज्य में वे जर्मन तत्व भी मिला लिये जायें जो अपने भाइयों से बिछुड़े हुए हैं अर्थात् वे 800,000 जर्मन जो आस्ट्रिया में निवास करते हैं। ये लोग इस बात से भी असन्तुष्ट थे कि जर्मनी में भी अब कैथोलिक राजवंश के स्थान पर एक प्रोटेस्टेन्ट राजवंश स्थापित हो गया है। कैथोलिक लोग साम्राज्य में अल्पसंख्यक थे, इसलिये आत्मरक्षा की सहज प्रकृति से प्रेरित होकर वे लोग दृढ़ राजनीतिक अनुशासन की महत्ता का अनुभव करने लगे थे। इस पादरी पार्टी की ओर से व्याख्यान मंच पर एक यह बात कही जाती थी कि पोप की राजसत्ता पुनः स्थापित होनी चाहिये। इस प्रस्ताव के कारण बिस्मार्क और इटली राज्य का मैत्री सम्बन्ध खतरे में पड़ गया था। सेन्टर ने भी ऐसी पार्टियों के साथ सम्बन्ध जोड़ लिया जो दलित जातियों या राजवंश के लिये सरकार का विरोध करती थीं। प्रशियन पोलैण्ड के लोगों की माँग थी कि प्राथमिक पाठशालाओं में पोलिश भाषा पढ़ाई जाय। इस माँग का पादरी पार्टी समर्थन करती थी। हनोवर के ग्यूलफिक सरदार इसके गहरे विरोधी थे कि वंशानुगत राजा को देश से निकाल दिया है और होहेन-जोलर्न (Hohen-zollern) वंश ने राजगद्दी हथिया ली है। बिस्मार्क ने देखा कि इस दल की नीति साम्राज्य के हित के लिये घातक सिद्ध होगी,

इसलिये उसने इस दल को भंग करने का निश्चय कर लिया।

The Kultur Kamph—सेन्टर को नष्ट करने के लिये यह जरूरी था कि उस अधिकारी वर्ग को नष्ट किया जाय जो इसकी शक्ति का स्रोत था। यदि रोमन कैथोलिक की ऐसी दशा हो जाय कि इसको राज पर अवलम्बित रहना पड़े तो इसकी राजनीतिक शक्ति स्वतः ही नष्ट हो जायगी। ऐसी अवस्था में सरकार और चर्च में संघर्ष चलना ही था। इस संघर्ष की गति किसी नीति के अनुसार निश्चित नहीं हुई थी, बल्कि ऐसे ही इत्तिफाक से ही हो गई थी। सन् 1870 में पादरियों की एक काउन्सिल (Council of the Vatican) ने निश्चय किया था कि पोप जो भी करे वह उचित है। यह मत पेपल इन्फालिबिलिटी (Infallibility) कहलाता था। इसके कारण जर्मनी के कैथोलिक पादरियों में फूट शुरू हो गई। कितने ही कैथोलिक प्रोफेसरों और अध्यापकों ने इस मत का विरोध किया, और स्कूलों तथा विश्वविद्यालयों में इसका पाठ पढ़ाने से इन्कार कर दिया। ये लोग सनातनी कैथोलिक कहलाते थे। इनमें और रोम के कर्मचारियों में जल्दी ही झगड़ा शुरू हो गया और इस झगड़े में इतनी कटुता होती जाती थी कि सरकार के लिये यह असम्भव हो गया कि इसको चुपचाप देखती रहे। इस प्रकार सभ्यता का संघर्ष शुरू हुआ जिसको जर्मनी में कल्टुर केम्फ कहा जाता था। यह संघर्ष पादरियों की प्रतिक्रिया के विरुद्ध था। अपने विरोधियों के घुटने टिकाने के लिये जर्मन पादरियों ने चाहा कि उनको विश्वविद्यालयों तथा स्कूलों से निकाल दिया जाय। इन सनातनी कैथोलिक लोगों को जाति से निकाल दिया और इनके विवाह करने भी पादरियों ने बन्द कर दिये। इन कार्रवाइयों के विषय में विस्मार्क का मत था कि यह सरकार को चुनौती है। फिर छोटे-छोटे मसले मिलकर एक बड़ा मसला बन गया। वह यह था कि चर्च और सरकार में क्या सम्बन्ध होना चाहिये। उसका रोम के साथ कोई फैसला नहीं हो सका। तब चान्सलर ने अपनी प्रसिद्ध उक्ति बोली, हम जीते-जी और मरने के बाद भी केनौस हरगिज नहीं जायेंगे। उसने पोप सभा के साथ अपना राजनीतिक सम्बन्ध तोड़ लिया और स्कूलों के इन्सपैक्टर नियत करके शिक्षा का नियन्त्रण पादरियों के हाथ से निकालकर अपने हाथ में ले लिया और साम्राज्य-भर में यह अनिवार्य कर दिया कि विवाह सिविल मैरिज कानून के द्वारा हुआ करें। साथ ही उसने प्रसिद्ध मई के कानून पास करवा लिये। इनकी मनशा ही यह थी कि पादरियों की सत्ता कम हो और रोमन कैथोलिक चर्च सरकार के अधीन हो जाय। इस कानून के द्वारा कैथोलिक पादरियों को मना किया कि किसी को आम लोगों के सामने जाति-बहिष्कृत करके कोई काम करने के लिए मजबूर नहीं किया जाय। यह भी पाबन्दी लगा दी गई कि जो पादरी बनना चाहे वह जनरल नालेज में तथा धर्म-शास्त्रों में परीक्षा पास करे। यह परीक्षा सरकार लेती थी और इसमें बैठने के लिए यह जरूरी था कि उम्मीदवार तीन वर्ष तक

जर्मन विश्वविद्यालय में इन विषयों का अध्ययन करे। चर्च सेमीनार्स का भी इन्स्पैक्टर लोग निरीक्षण करने लगे। यह भी हुक्म दिया गया कि चर्च विभाग में जितनी नियुक्तियाँ हों उनका अनिवार्य रूप से नोटिस निकाला जाय। जेस्यूट लोगों को 1872 में जर्मन साम्राज्य से निकाल दिया गया था, अब 1875 में यह हुक्म हो गया कि समस्त धार्मिक संगठन (Order) भंग कर दिये जायँ।

कल्टूर कैम्फ का अन्त—अब सरकार और कैथोलिक कर्मचारियों के बीच खुल्लम-खुल्ला युद्ध शुरू हो गया। पोप पायस नवें ने मई के कानून की आमूलचूल निन्दा की और जर्मनी के 10,000 रोमन कैथोलिक पादरियों में केवल 30 ने पोप का हुक्म माना। 800 धार्मिक जिलों में गिरजाघर बन्द कर दिये गये। इस अर्से में बिस्मार्क और नेशनल लिबरल पार्टी में मेल था। इनकी सहायता से बिस्मार्क को पार्लियामेंट में अपनी तजवीजों के लिये बहुमत मिल जाया करता था। लेकिन जब उसने खुली तिजारत (Free Trade) की नीति का त्याग कर दिया तो उसमें और उसके पुराने साथियों में मतभेद जारी हो गया और अब बिस्मार्क कंजरवेटिव पार्टी के नजदीक आने लगा। अब उसको कैथोलिक सेन्टर को मनाने की आवश्यकता नहीं थी। उसने पादरियों के विरुद्ध जितने कानून बनाये थे उनको भी धीरे-धीरे वह मन्सूख करने लगा। जिस वक्त कल्टूर कैम्फ का बड़ा जोर था तो बिस्मार्क ने एक खास रुख ग्रहण किया था, लेकिन जब नया पोप लुई तेरहवाँ गद्दी पर बैठा तो बिस्मार्क अपने रुख को बलदने लगा। इस संघर्ष में विजय कैथोलिक पादरियों की हुई और उनको पुरानी शक्ति अधिकांशतः फिर प्राप्त हो गई जिसको छीनने के लिये बिस्मार्क ने यत्न किया था।

सामाजिक जनतन्त्र—रोमन कैथोलिक चर्च के साथ जो युद्ध चल रहा था उसको बन्द करने में बिस्मार्क की यह इच्छा थी कि अपनी सम्पूर्ण शक्ति अब उस शत्रु के विरुद्ध लगाई जाय जो बिस्मार्क के सब किये-कराये काम और उसके आधार को चुनौती दे रहा था। जब यह प्रशिया का राजनीतिज्ञ एक महान् सैनिक राजतन्त्र की नींव डाल रहा था। उस समय एक प्रबल और अत्यन्त प्रभावशाली क्रान्तिकारी शक्ति उदय हुई। जर्मन देश में सामाजिक जनतन्त्र के संस्थापक कार्ल मार्क्स और फर्डिनेन्ड लैसल थे। कार्ल मार्क्स ने मजदूरों के लिये एक सम्प्रदाय खड़ा कर दिया था और फर्डिनेन्ड लेसल ने उनके लिये एक संगठन तैयार कर दिया था। इस आन्दोलन की प्रगति से पता लगा कि जर्मन लोगों पर इसका कितना प्रभाव था। सन् 1877 में इस पार्टी के अनुयायियों की संख्या लगभग पाँच लाख थी। जब उसकी इस शक्ति का पता लगा तो एक नाजुक परिस्थिति उत्पन्न हो गई। इस पार्टी के आर्थिक आदर्शों की बात तो अलग है, लेकिन इसके कार्यक्रम का यह भी मतलब था कि बिस्मार्क ने अपने जीवन में बड़ी अभिलाषा के साथ जो काम किया है वह

नष्ट कर दिया जाय। वह चाहता था कि राजतन्त्र की संस्थाएँ मजबूत हों और पार्लियामेंट उन पर अनिक्रमण न करे तथा जर्मन साम्राज्य सैनिक आधार पर स्थापित किया जाये। बिस्मार्क के उत्तराधिकारी प्रिंस बूली ने लिखा था कि जर्मन साम्राज्य में प्रशिया सबसे आगे है और सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी प्रशियन राष्ट्र का विरोधी स्वरूप है। इस पार्टी का जर्मनी की देश-भक्ति की स्मृतियों से कोई सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि इन स्मृतियों पर राजतन्त्र और सेना की छाप थी। इसलिये सन् 1878 में बिस्मार्क ने दमन-नीति ग्रहण की और रेस्टाग से ऐसा कानून पास करवा दिया जिसका उद्देश्य था सोशल डेमोक्रेट्स को बिलकुल खत्म कर देना। इसके अनुसार सोसाइटियाँ, सभाएँ और प्रकाशन, जिनके द्वारा सोशलिस्ट सिद्धान्तों का प्रचार होता था, एकदम बन्द कर दिये गये और पुलिस को यह अधिकार दे दिया गया कि जिस किसी व्यक्ति पर सन्देह हो उसको तत्काल देश से निर्वासित कर दिया जाय। यह कानून बारह वर्ष तक रहा। इस अर्से में 1400 पुस्तकें जब्त हुईं, 900 व्यक्तियों को देश से निकाला गया और 1500 को जेल भेजा गया। इन कार्यवाहियों से मजदूर-वर्ग अपने राजनीतिक जन्मसिद्ध अधिकारों से वंचित हो गया, लेकिन फिर भी सोशलिज्म (साम्यवाद) का प्रचार बन्द नहीं हुआ और 1890 में जब निर्वाचन हुआ तो इस पार्टी के लगभग पन्द्रह लाख वोट पड़े और जब प्रथम महायुद्ध होने वाला था (1914-18) तो जर्मनी में सोशलिस्ट लोगों की संख्या चालीस लाख थी। यह संख्या सम्पूर्ण मतदाताओं की संख्या का एक तिहाई था। इतनी संख्या होते हुए भी उनका कोई राजनीतिक महत्व नहीं था। कारण यह था कि जर्मनी के मंत्री पार्लियामेंट के प्रति जिम्मेदार नहीं माने जाते थे।

स्टेट सोशलिज्म—सोशलिस्ट प्रगति को दबाने के लिये बिस्मार्क केवल दमन से ही काम नहीं लेना चाहता था। वह बहुत जल्दी इस बात को समझ गया था कि सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी को शक्ति इस बात से प्राप्त होती है कि लोग आर्थिक कठिनाइयों से दबे हुए हैं। इसलिये बिस्मार्क ने सोचा कि ऐसे कानून बनाये जायें जिससे ये कठिनाइयाँ हटें ताकि लोग इस नये सम्प्रदाय को छोड़ें और फिर बिस्मार्क की ओर झुकें। इसलिये परिस्थितियों के दबाव के कारण बिस्मार्क को स्टेट सोशलिज्म स्थापित करना पड़ा और अपनी योग्यता के बल से वह अनेक परम्पराओं का विरोध होते हुए भी कठिनाइयों के पार हो गया। इससे पता लगता है कि उसके व्यक्तित्व और निश्चय-शक्ति में कितना बल था। पहले तो यह माना जाता था कि सरकार का काम केवल इतना है कि पुलिसमैन की भाँति वह समाज की रक्षा करे। अब लोग मानने लगे थे कि सरकार का कार्य-क्षेत्र अधिक विस्तृत होना चाहिये। 1872 में जर्मनी के अर्थशास्त्रियों का एक समुदाय बना जो आरामी सोशलिस्ट (Socialists of the professional chair) कहलाता था। इन्हीं में

प्रसिद्ध प्रोफेसर स्मोलर (Schmoller) था। इन लोगों ने एक सभा की स्थापना की थी जो यूनियन फॉर सोशल पॉलिटिक्स (Union for Social Politics) कहलाती थी। ये लोग चाहते थे कि आर्थिक मामलों में सरकार का हस्तक्षेप हो। ये लोग जनमत को विशेष स्वरूप देने लगे। अब तक मैंचेस्टर सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का प्रचार था, परन्तु ये लोग चाहते थे कि अब इन सिद्धान्तों को छोड़ा जाय और नये युग के लिये मार्ग तैयार किया जाय। लार्ड मोर्ले ने रिचर्ड कोबडन की प्रशंसा की है। बिस्मार्क ने भी स्टेट सोशलिस्ट की हैसियत से खासा अच्छा काम किया था, इसलिये मोर्ले के शब्द उस पर भी लागू किये जायें तो कोई अनुचित बात नहीं है। आर्थिक और सामाजिक शक्तियों की बाढ़-सी आया करती है और ऐसी जातियों को दबा दिया जाता है जिनको ठीक-ठीक यह भी पता नहीं है कि क्या हो रहा है। बुद्धिमान् राजनीतिज्ञ उनको कहना चाहिये जो पहले से देख सकते हैं कि कैसा जमाना आनेवाला है। उन भावी परिस्थितियों के अनुसार संस्थाओं का स्वरूप और मानव-विचारों का स्वरूप बदलना चाहिये। 1821 में राजसिंहासन से जो भाषण दिया गया उसमें स्मरणीय शब्दों में कहा गया कि यह सरकार का कर्त्तव्य है कि मजदूरों की दशा सुधारी जाय, सामाजिक कुरीतियों का निवारण किया जाय और अपने समस्त सदस्यों के हित के लिये काम किया जाय, विशेषकर ऐसे लोगों के हित के लिये जो कमजोर हों। इस सिद्धान्त के अनुसार जर्मन सरकार ने ऐसे कानून बनाये जिनके अनुसार मजदूरों की बीमारी, दुर्घटना और वृद्धावस्था तथा असामर्थ का बीमा करवाया गया। सन् 1914 में इस कानून का असर लगभग दो करोड़ व्यक्तियों पर हुआ। यही सिद्धान्त कई दूसरे देशों ने भी ग्रहण किया। लेकिन बिस्मार्क ने लोगों का असन्तोष हटाने के लिये और सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी को नष्ट करने के लिये इन नियमों का निर्माण किया था। ये उद्देश्य पूरे नहीं हुए। सोशल डेमोक्रेसी खूब छलांगें मार-मारकर आगे बढ़ी। लोगों को यह आशा थी कि जब इसको पूर्ण सफलता प्राप्त हो जायेगी तो जर्मन साम्राज्य का भावी राजनीतिक रूपान्तर सम्भव हो सकेगा।

निर्बाध व्यापार के विरुद्ध प्रतिक्रिया—बिस्मार्क की आर्थिक नीति भी कम महत्व की नहीं है। जर्मनी ने निर्बाध व्यापार-नीति छोड़ दी थी। यह यूरोप के अगले विकास में बड़ी महत्वपूर्ण घटना थी। फ्रैंको-प्रशियन युद्ध के समय ऐसा मालूम होता था कि सम्पूर्ण महाद्वीप एक ही व्यापारिक ढंग में आ जायगा और सामान के अदल-बदल की धारायें संसार को ऐसी लपेट लेंगी जैसे किसी अतीत काल में समुद्र ने पृथ्वी को लपेट रखा था। इंगलैण्ड में निर्बाध व्यापार के आन्दोलन को पहले ही सफलता मिल चुकी थी और अब महाद्वीप के राष्ट्र भी इस नीति को अपनाते जाते थे और 1870 और 1880 के बीच जर्मनी ने भी अपने व्यापार पर से सब

बंधन हटा दिये थे। बिस्मार्क की दृष्टि में तोप के गोलों से इतना अनर्थ नहीं होता जैसा महसूल के युद्ध से हो सकता है। जब उसने फ्रांस के साथ समझौते की बातचीत की तो उसने साफ तौर पर यह शर्त रखी कि 1862 में जो व्यापारिक सन्धि हुई है उसी के अनुसार पुनः व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित किया जाये। लेकिन आठ वर्ष बाद उसने विश्वास बदल दिये और ऐसा आर्थिक परिवर्तन कर दिया जिससे स्थिति और की और हो गई। 1889 में उसने विदेश से आने वाले अन्न पर तथा दूसरी चीजों पर महसूल लगा दिया। अन्न के ऊपर शुरू में महसूल थोड़ा-सा था, लेकिन फिर बहुत बढ़ा दिया। इससे कृषकों को तो लाभ हुआ परन्तु व्यापारिक वर्ग को यह अच्छा नहीं लगा और सोशल डेमोक्रेसी के विकास में इससे प्रोत्साहन मिला।

प्रतिक्रिया के कारण—यह बतलाना कठिन है कि निर्बाध व्यापार की नीति का बिस्मार्क ने क्यों परित्याग किया। जर्मन साम्राज्य के पास कोई स्वतन्त्र और अलग आमदनी का जरिया नहीं था। जो रियासतें संघ में शामिल थीं वे प्रतिवर्ष संघ को निश्चित रकम दिया करती थीं। इसी से जर्मन साम्राज्य का काम चला करता था। जकात का सुधार करने का एक उद्देश्य यह था कि केन्द्रीय सरकार को स्वतन्त्र साधनों से रुपया मिलने लग जाय ताकि उनको रियासतों के दरवाजे नहीं खटखटाने पड़े। इस नीति में एक दूसरी घटना से भी सहायता मिली। 1874 और 1879 के अर्से में जर्मनी के अन्दर एक आर्थिक संकट उपस्थित हुआ। इस स्थिति से भी नई नीति को थोड़ी सहायता मिली। फ्रांस से जर्मनी ने लड़ाई के बाद जुर्माने के रूप में बहुत बड़ी रकम ली थी। इसकी सहायता से देश में बड़ी सट्टेबाजी शुरू हुई और माल इतना धड़ाधड़ पैदा होने लगा कि देश में उसकी खपत होना मुश्किल हो गया। इसके बाद सिक्के की कीमत घटने लगी और देश के आर्थिक जीवन में बड़ीगड़बड़ मची। इस प्रतिक्रिया को विस्तृत रूप से देखने पर विदित होता है कि निर्बाध व्यापार जर्मनी में बन्द होना ही था। कारण यह था कि जर्मन लोगों के दिमाग पर इस समय कौमियत का खयाल सवार हो रहा था। यह जातीयता की भावना मेजिनी ने पक्की की थी। वह कहता था कि सिद्धान्ततः मनुष्य जाति के लिए जातीयता वैसी ही चीज है जैसे कारखाने में श्रम-विभाग। यह मानव-संघ का माना हुआ प्रतीक है। जातीयता के विषय में यह माना जाता था कि यह एक विशेष मानव-समुदाय है जो किसी ऐसे प्रदेश में रहता हो, जो भौगोलिक दृष्टि से दूसरे देशों से कुछ अलग-सा मालूम होता हो और जिसकी परम्पराएँ तथा भाषा भी अलग हों। इस प्रकार की जाति यूरोपीय सभ्यता के काम में कुछ खास योग दे सकती है। इसके विपरीत यह विश्वास है कि जातियों का संघर्ष जीवन का नियम और ऐतिहासिक विकास है। इस विषय में जो जर्मन लोगों की दृष्टि थी उससे यह नतीजा निकलता था कि जातीयता बिगड़कर व्यापार का रूप धारण न कर ले। यह एक राष्ट्र की नीति हो

जाती है और ईर्ष्या के साथ दूसरे देशों से युद्ध करना ही यह उन्नति का लक्षण समझने लगती है। कारण कुछ भी हो, निर्बाध व्यापार की नीति को छोड़ देने से यूरोपीय राष्ट्रों के पारस्परिक सम्बन्ध कुछ ठीक नहीं रहे। सब राष्ट्र अलग-अलग हो गये और इनके बीच की खाई इससे और भी अधिक गहरी हो गई और यूरोपीय सभ्यता के कार्य में उनका सहयोग रुक गया।

फ्रेंच-प्रशिया युद्ध का यूरोप पर प्रभाव—नेपोलियन के साम्राज्य के अन्त के बाद अन्तरराष्ट्रीय स्थिति बिलकुल बदल गई। यूरोप को जान पड़ा कि उसकी मालकिन तो जाती रही और अब मालिक आ गया।[1] अब यूरोप की आँखें पेरिस पर नहीं बर्लिन पर टिकने लगीं। अब बिस्मार्क की अध्यक्षता में जर्मनी ने यूरोप पर आधिपत्य स्थापित कर लिया। यह कार्य शस्त्र-शक्ति के प्रदर्शन से नहीं बल्कि कूटनीति की उन चालों से हुआ था जिनमें चांसलर की बराबरी करने वाला उस समय कोई नहीं था। 1890 में जब उसके हाथ में शक्ति नहीं रही तो जर्मनी की पर-राष्ट्र-नीति नई दिशा में चलने लगी। अब विलियम द्वितीय और उसके सलाहकार वेल्टपोलिटिक के नये खतरनाक रास्ते पर जाने लगे। आगे जो घटनाएँ घटीं उनके प्रकाश में जब बिस्मार्क की नीति की बुद्धिमत्ता और दूरदर्शिता देखी जाती है तो मालूम होता है कि उसका काम कितना विलक्षण था।

बिस्मार्क की विदेश-नीति का ध्येय—1870 के बाद—फ्रेंच-प्रशियन युद्ध के बाद लोगों की स्मृतियों में बड़ी कटुता बनी रही। फ्रेंच लोग इस बात को नहीं मानते थे कि सेडान का फैसला आखिरी है। और यह भी स्वीकार नहीं करते थे कि एलसिसलोरेन खो गया। वे अपनी भावी आशा को एक शब्द द्वारा प्रकट करते थे, वह शब्द था रिवान्शे (Revanche)। एक जर्मन इतिहासज्ञ ने लिखा है कि आरम्भ से ही ऐसा मालूम होता था कि जर्मन के ऊपर फ्रांस के गिरवी का भार लदा हुआ है, क्योंकि जर्मनी का प्रत्येक शत्रु फ्रांस से अवश्य ही सहायता प्राप्त कर सकता था। बिस्मार्क ने पेरिस-स्थित अपने राजदूत को एक पत्र लिखा था जिससे पता चलता है कि रूस के प्रति उसका क्या रुख था। हम चाहते हैं कि फ्रांस हमारी शान्ति को भंग न करे। नवीन जनतन्त्र—रिपब्लिक—की ओर उसकी कोई दुर्भावना नहीं थी। वह चाहता था कि फ्रांसीसी लोगों के बदले के विचार दूसरी ओर फिर जायें, और वास्जेस में जो दरार है वहाँ वे न देखें, बल्कि उनकी आँखें दूसरी तरफ फिर जायें। इस आशा से उसने यह भी कोशिश की कि फ्रांसीसी लोग उपनिवेश-स्थापन में व्यस्त हो जायें। परन्तु वह अपने दिल में यह खूब जानता था कि दोनों देशों का वैमनस्य मिट नहीं सकता। 1870 की विपत्ति के धक्कों से फ्रेंच लोग

---

1 रोज, दी डेवलपमेंट ऑफ दी यूरोपियन नेशन्स, 153।

इतनी जल्दी सँभल गये जिसकी आशा नहीं थी। उन्होंने अपनी सैनिक शक्ति को भी जल्दी ही पुनः संगठित कर लिया। इससे जर्मनी को चेतावनी मिल रही थी। इसको मोल्टके ने इन शब्दों में व्यक्त किया था, "पिछले युद्ध से हमको आदर प्राप्त हुआ है, प्रेम नहीं। छः मास में जो हमने शस्त्र द्वारा प्राप्त किया है उसकी रक्षा शस्त्र द्वारा ही पचास वर्ष तक करनी पड़ेगी।" इन परिस्थितियों के कारण बिस्मार्क ने अपनी समस्त शक्तियाँ इस पर लगा दी कि फ्रांस यूरोप के अन्य राष्ट्रों से अलहदा हो जाय। उसने लिखा था कि हम चाहते हैं कि फ्रांस को कोई मित्र न मिले। जब तक उसको कोई मित्र नहीं मिलेगा तब तक जर्मनी को उससे कोई खतरा नहीं है।

आस्ट्रिया के साथ बिस्मार्क के सम्बन्ध—इस कार्य को जर्मन चांसलर ने बड़ी सफलता के साथ पूरा किया। इससे प्रकट हुआ कि वह राजनीति में कितना दक्ष था। अब जर्मनी परिपूर्ण हो गया था (1871-1890)। उसकी सेना को सैनिक विजय प्राप्त हो चुकी थी। कई प्रदेश उसने अपने राज्य में मिला लिये थे। इससे जर्मनी फूला न समाता था और जो कुछ उसको लाभ हो चुका था उससे वह सन्तुष्ट था। अब उसने अतिक्रमण की नीति छोड़ दी थी, क्योंकि इसका उद्देश्य पूरा हो चुका था। कोनिगरेट्ज और सेडान की जो उसने विजय प्राप्त की उनसे यूरोप को भय उत्पन्न हो गया था। बिस्मार्क इस भय का भी निवारण करना चाहता था। इसलिये अब उसके सामने कोई विशेष उद्देश्य नहीं था, सिवाय इसके कि यदि कोई हमला हो तो साम्राज्य की रक्षा की जाय। जब तक फ्रांस और प्रशिया में लड़ाई चलती रही तब तक उसके दिमाग में यह डर बना रहा कि यूरोप के कुछ राष्ट्र मिलकर कहीं हस्तक्षेप कर दें और उसकी विजय के फल को उससे आखिरी वक्त पर छीन लें। वह भली-भाँति जानता था कि इटली फ्रांसीसियों के प्रति बड़ा आभारी है। आस्ट्रिया को जर्मन संघ से बिस्मार्क ने निकाल दिया था। उसका भी वह देश बदल लेना चाहता है। रूस की मित्रता से जर्मनी को सहायता मिली थी और उसी के कारण आस्ट्रिया हस्त-क्षेप नहीं कर सकता था, लेकिन जब उसकी बगल में ही जर्मनी एक बड़ी सैनिक शक्ति के रूप में खड़ा हो गया तो वह भी चिंतित था। उस समय परिस्थितियाँ प्रशिया के अनुकूल थीं और फ्रांस के साथ वह जो चाहे कर सकता था, लेकिन अब तक यह खतरा बना ही हुआ था कि यूरोप के राष्ट्र जर्मनी के विरुद्ध उठ खड़े हों। इसलिये अब बिस्मार्क आत्म-रक्षा के निमित्त अपने भावी शत्रुओं को साम्राज्य के मित्र और सहायक बनाने के लिये यत्न करने लगा। उसकी निपुण युक्तियों के कारण उसका उद्देश्य सफल हो गया। आस्ट्रिया के साथ उसने अपने विजयोल्लास के समय में भी नर्म नीति से व्यवहार किया था। अब इसका फल मिला। हेब्सवर्ग राजवंश को अब यह आशा नहीं थी कि जर्मनी में फिर उनका आधिपत्य स्थापित हो जायगा। अब यह जल्दी-जल्दी पूर्वीय शक्ति बनता जाता था और अपनी आकांक्षाओं को बाल्कन

अन्तरीप में पूरी करना चाहता था। उसकी नीति का प्रवाह पूर्व की ओर था। वहाँ पर उसको विशेषकर रूस से आशंका थी, क्योंकि बालकन अन्तरीप को रूस अपना ही क्षेत्र समझता था, इसलिए उसको यह पसन्द नहीं था कि आस्ट्रिया किसी प्रकार का हस्तक्षेप करे। इस परिस्थिति में उसको जर्मनी की सहायता की आवश्यकता थी।

रूस के साथ उसके सम्बन्ध—आरम्भ में विस्मार्क ने रूस के साथ जोड़-तोड़ करके अच्छे सम्बन्ध स्थापित कर लिए थे। उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ से ही प्रशिया और रूस का घनिष्ठ सम्बन्ध था। सम्राट् और उसके भतीजे जार अलेग्जेंडर द्वितीय में व्यक्तिगत मित्रता थी। इससे उनकी राजनीतिक मैत्री का एक प्रकार से बीमा-सा हो गया था। उनकी स्थायी मित्रता की सम्भावना इस बात से दृढ़ हो गई थी कि दूसरी दिशाओं में उनके हित चाहे जितने भिन्न हों कम से कम एक विषय पर उनके हित समान थे। बिस्मार्क के लिए आस्ट्रिया और रूस को यह समझाने में कोई कठिनता नहीं थी कि पेरिस कोम्यून और जर्मन सोशल डेमोक्रेसी तथा रूसी शून्यवाद से समस्त राजतन्त्र देशों की निरंकुशता को भारी खतरा है। उसने कंजरवेटिव राष्ट्रों के भय का खूब फायदा उठाया। वह चाहता था कि एक दूसरा पवित्र संघ बनाया जाय। सन् 1872 में तीनों सम्राट् बर्लिन में मिले और वहाँ एक प्रकार का राजनीतिक समझौता हुआ, लेकिन इसको लिखित रूप नहीं दिया गया। इस समझौते का नाम है तीन सम्राटों का संघ (League of three Emperors)। लेकिन ये शब्द भ्रमोत्पादक हैं। कोई सन्धि तो नहीं हुई थी, लेकिन तीनों राष्ट्रों ने मिलकर यह तय किया कि विभिन्न देशों की सीमाएँ, जो अभी निश्चित हुई हैं, उनकी रक्षा की जाय। पूर्वी प्रश्न से जो समस्याएँ खड़ी हो गई हैं उनका निपटारा किया जाय और यूरोप में फैलती हुई क्रान्ति की प्रगति का दमन किया जाय। तीनों ने यह भी तय किया कि इस काम में वे परस्पर सहयोग देंगे। जर्मन चांसलर ने सच कहा था कि मैंने वियना जाने के लिये पुल बना दिया है और सेंट पीटर्सबर्ग जाने के लिए जो पहले पुल बना हुआ है उसको मैंने नहीं तोड़ा है। आगामी वर्ष किंग विक्टर इमेनुअल बर्लिन आया। जर्मनी की तरफ उसका मित्रता का रुख था और उसका यह आना उस मित्रता का प्रतीक था। इस प्रकार अब फ्रांस बिलकुल अकेला रह गया।

आस्ट्रिया और जर्मनी की सन्धि (1879)—1875 में पूर्वी प्रश्न फिर उपस्थित हो गया। इससे परिस्थिति में एक नई बात आ गई। जर्मन चांसलर नहीं चाहता था कि रूस और आस्ट्रिया के बीच बालकन अन्तरीप के छोटे-छोटे कौमी टुकड़ों के विषय में कोई प्रतिद्वन्द्वता खड़ी हो, लेकिन हरजेगोविना में बलवा हो गया, जिसके कारण प्राचीन हित-विरोध जागृत हो उठा। बर्लिन की काँग्रेस में (1878) जर्मनी ने आस्ट्रिया को सहयोग दिया। जब आस्ट्रिया ने बोसनिया पर कब्जा कर लिया तो

जर्मनी कुछ नहीं बोला। रूस को उस राष्ट्र की कृतघ्नता पर क्रोध आया जिसको 1870 में उसने भारी मदद दी थी। अब तीनों सम्राटों का संघ सहसा खत्म हो गया। रूसी सरकार ने माँग की कि बिस्मार्क या तो आस्ट्रिया को किसी किस्म की सहायता न दे या रूस के साथ अपना मैत्री-सम्बन्ध तोड़ दे। इसका नतीजा यह हुआ कि राष्ट्रों का एक नया संघ बनने लगा और जर्मन चांसलर ने आस्ट्रियन साम्राज्य के साथ एक सन्धि कर ली (1879)। आस्ट्रिया और जर्मनी की सन्धि 1887 तक गुप्त रखी गई। इसमें यह शर्त थी कि दोनों में से किसी पर अगर रूस हमला करे तो एक राष्ट्र दूसरे को अपने सम्पूर्ण सैन्य-बल से सहायता करेगा, परन्तु रूस के अतिरिक्त अगर किसी और राष्ट्र ने हमला किया तो एक राष्ट्र दूसरे के प्रति उदासीन रहेगा जब तक कि हमला करने वाले राष्ट्र को रूस से सहायता न मिले। इस प्रकार बिस्मार्क ने प्रशिया की विदेश-नीति का परम्परागत मार्ग बदल दिया। अब रूस के स्थान पर उसने आस्ट्रिया के साथ मित्रता का सम्बन्ध स्थापित कर लिया। उसकी नीति का जनता अनुमोदन करती थी, क्योंकि आस्ट्रिया के साथ उनका रक्त-सम्बन्ध था और उनको यह बात पसन्द नहीं थी कि अपने भाइयों के विरुद्ध स्लाव जातियों से सम्बन्ध जोड़ा जाय। नैतिक दृष्टि से इसको वे लोग असम्भव समझते थे।

तिहरी सन्धि—आस्ट्रिया और जर्मनी का सम्बन्ध पहले ही स्थापित हो चुका था। जब इटली इसमें शामिल हुआ तो यह तिहरी सन्धि हो गई। बिस्मार्क के लिये यह नीति-निपुणता की बात थी कि उसने इटली को जर्मन दायरे में शामिल कर लिया। इस प्रकार उसने मध्य यूरोप में एक फाँगा डाल दिया जिससे पूर्वी और पश्चिमी यूरोप के बीच एक ऐसी दीवार खड़ी हो गई जिसको पार करना आसान नहीं था। यह कार्य इसलिये विलक्षण मानना चाहिये कि इटली लेटिन राष्ट्र है। इसमें और जर्मनी में, जोकि ट्यूटोनिक है, कोई समानता नहीं थी, बल्कि एक ट्यूटोनिक राष्ट्र ने तो इटली के एकीकरण के रास्ते में कई प्रकार के रोड़े अटकाये थे। आस्ट्रिया के दमन की स्मृतियाँ अब भी इटालियन लोगों के दिलों में बिलकुल ताजा थीं और जब इर्रेडेन्टिस्ट (Irredentist) आन्दोलन खड़ा हुआ तो आस्ट्रिया के प्रति विरोध और अधिक बढ़ गया। इटली चाहता था कि टाइरोल (Tyrol) और दूसरे प्रदेश, जिनमें इटली भाषा बोली जाती थी, इटली में मिल जायँ। इस उद्देश्य की पूर्ति हेब्सबर्ग राजवंश को क्षति पहुँचाये बिना नहीं हो सकती थी, इसलिये इस तिहरी सन्धि में कोई स्थायीपन नहीं था। एक इटेलियन इतिहासकार ने लिखा है कि इस सन्धि को चुप-चाप लोगों ने मन्जूर तो कर लिया था, परन्तु इससे प्रेम किसी को नहीं था और यह खयाल किया जाता था कि ज्योंही यूरोपियन युद्ध छिड़ेगा त्योंहीं यह सन्धि खत्म हो जायगी। बिस्मार्क ने यह सन्धि कराई थी, लेकिन स्वयं उसके मन में भी सन्देह था कि यह सफल होगी या नहीं। सन् 1880 में उसने लिखा था कि इटली को हम कोई

प्रलोभन नहीं दे सकते. इसलिये हमको यह आशा नहीं है कि उसके साथ हमारी मैत्री बनी रहेगी। इसकी अपेक्षा तो हमको यह डर ज्यादा है कि वह कहीं हमारे शत्रुओं से न मिल जाय। फिर भी दो वर्ष बाद इटली ने पाँच साल के लिये यह तिहरी सन्धि कर ली और समय-समय पर इसकी मियाद बढ़ती गई। इटली ने मध्य राष्ट्रों के साथ अर्थात् जर्मनी और आस्ट्रिया के साथ जो यह सन्धि की थी इसके दो कारण थे। पहले तो जब रोम पर अधिकार कर लिया गया तो पोप और क्यूरिनिल में झगड़ा शुरू हो गया और इस कारण इटली के राजतंत्र के लिए खतरा खड़ा हो गया। पोप राज्य इसके लिये तैयार नहीं था कि इसकी राजसत्ता निःशेष हो जाय। तीसरे राजतंत्र की अधीनता में पादरी लोगों का दौरदौरा और तेज हो गया, जिससे यह डर बना रहा कि फ्रांस की संगीनों के बल से कहीं पोप की शक्ति पुनः स्थापित न हो जाय, परन्तु जब फ्रांस में पादरियों की शक्ति कमजोर होने लगी तो यह खतरा भी खत्म हो गया। लेकिन दुर्भाग्य के कारण ये दोनों लेटिन राष्ट्र जुदे-जुदे बने रहे। फ्रांस की सेनाएँ रोम में अर्से तक पड़ी रही थीं और इससे दस साल तक इटली का एकीकरण रुका रहा। इसी प्रकार सन् 1881 में फ्रांस ने ट्यूनिश पर कब्जा कर लिया था। इससे उत्तर अफ्रीका में इटली की विस्तार-योजनाएँ विफल हो गई थीं। इस प्रकार जब फ्रेंच कूटनीतिज्ञों ने इटली को छका दिया और अपने उपनिवेशों के विषय में उसको निराशा हुई, तो उसने जर्मनी से मित्रता कर ली, फ्रांस के प्रति उसके हृदय में द्वेष सुलगता रहा और महसूल की लड़ाई के कारण यह द्वेष और बढ़ता रहा। इस शताब्दी के अन्त में स्थिति कुछ सुधरने लगी। सन् 1902 में रोम-स्थित फ्रांसीसी राजदूत ने एक बात कही जिस पर फ्रांस और इटली दोनों सहमत थे। उसने कहा कि इन दोनों लेटिन राष्ट्रों में संघर्ष का चलता रहना असम्भव बात है।

बिस्मार्क और रूस का सम्बन्ध—आस्ट्रिया के साथ बिस्मार्क का घनिष्ठ सम्बन्ध था, फिर भी वह चाहता था कि रूस के साथ उसका मित्र-भाव बना रहे। वह समझता था कि तिहरी सन्धि किसी पर अतिक्रमण करने के लिये नहीं की गई और इसका यह मतलब भी नहीं है कि दूसरे राष्ट्रों के साथ मित्र-भाव स्थापित करने की अब सम्भावना नहीं है। यूरोपीय राजनीति में उसने दृढ़तापूर्वक अपना कंजरवेटिव (Conservative) रुख रखा। वह इस बात को मानकर चलता था कि फ्रांस और रूस को अलग-अलग रखा जाय। टिलसिट की सन्धि करके नेपोलियन और अलेग्जेंडर प्रथम ने एक-दूसरे से हाथ मिलाया था। उनका उद्देश्य था कि दोनों मिलकर संसार पर राज्य करेंगे परन्तु यह सन्धि थोड़े ही समय तक चली। तो भी मेटरनिक से बिस्मार्क तक जर्मन राजनीतिज्ञों के दिमाग में यह खतरा बना रहा कि कहीं दोनों राष्ट्रों में ऐसी सन्धि न हो जाय जिसका आधार टिलसिट से भी अधिक मजबूत हो। जब तक जर्मनी के शासन का सूत्र बिस्मार्क के हाथ में था, तब तक तो पश्चिमी जनतंत्र

और पूर्वी साम्राज्य में परस्पर समझौते की बात को वह रोक सकता था। सन् 1884 में तीनों सम्राट् फिर स्कियर निवाइस (Skiernewice) में मिले। वहाँ पर उन्होंने अपने पुराने मित्र-भाव को पुनर्जीवित किया और इस बात पर सहमत हुए कि इन तीनों में से एक ने किसी चौथे राष्ट्र के साथ युद्ध किया तो शेष दोनों उदासीन रहेंगे। परन्तु यह समझौता तीन साल तक ही रहा। फिर जर्मनी और रूस के बीच पुनर्बीमा सन्धि (री इन्श्योरेन्स कम्पैक्ट) के नाम से यह पुनर्जीवित हुआ।

दोहरी सन्धि—1890 में जब बिस्मार्क पदच्युत हो गया तो यूरोप की परिस्थिति बदल गई। इसका तत्काल परिणाम तो यह हुआ कि फ्रांस अब अकेला नहीं रहा। बिस्मार्क ने अपनी नीति से बीस वर्ष तक इसको इस कालकोठरी में डाल दिया था, लेकिन इस पुनर्बीमा सन्धि का भी 1890 में अन्त हो गया था। विलियम द्वितीय 1888 में जर्मनी के राजसिंहासन पर बैठा तो उसने यह सन्धि जारी नहीं रखी। इस प्रकार उसने बिस्मार्क की नीति के एक मूल सिद्धान्त का परित्याग कर दिया। इससे दोहरी सन्धि के आयोजन में मदद मिली। 1827 की लड़ाई के बाद से घटनाओं का प्रवाह निरन्तर फ्रांस और रूस के पारस्परिक समझौते की ओर था। उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में रिचलू और पोलिग्नेक ने, जो बोरबन नरेशों के मंत्री थे, इस सम्बन्ध की विशेष हिमायत की थी। लेकिन 1830 और 1863 में पोलैण्ड के बलवे हुए जिससे फ्रेंच लोग रूस के साथ किसी भी प्रकार की सन्धि करने को एक बुरी बात मानने लगे। लेकिन घटनाओं का चक्र इस निर्मम रूप से चला कि धीरे-धीरे पूर्व की निरंकुशता और पश्चिम की जनतन्त्रीयता आपस में मिल गईं। एलसिसलोरेन के छिन जाने से फ्रांस जर्मनी का कट्टर शत्रु बना हुआ था। फ्रांस चाहता था कि यह धब्बा धुल जाय, क्योंकि इससे राष्ट्र के स्वाभिमान को बड़ा धक्का पहुँचा था। फ्रांस के दिमाग में यह बात सबसे ज्यादा घूम रही थी। वह इस बात को भी समझता था कि अगर रूस के साथ इसका मेल हो गया तो वह एक तरफ अकेला नहीं पड़ा रहेगा और किसी पड़ोसी ने योंही उसके ऊपर हमला कर दिया तो उसके खिलाफ भी यह एक जबरदस्त गारन्टी रहेगी। उधर रूस भी फ्रांसीसी जनतंत्र की ओर सरकना चाहता था। जर्मन साम्राज्य के उदय से रूस के आत्मभिमान को बहुत थप्पड़ लगी थी। अब जर्मनी की सेना निस्सन्देह यूरोप में सबसे ज्यादा जबरदस्त मानी जाती थी। इससे जर्मनी यूरोप में एक प्रभावशाली राष्ट्र बन गया था। अब रूस की नीति का यह मूल मन्त्र बन गया था कि शक्तिशाली फ्रांस की आवश्यकता है। सन् 1875 में रूस और इंगलैण्ड ने मिलकर हस्तक्षेप किया था और पश्चिमी सीमा पर युद्ध होने का खतरा हटाया था। परन्तु इस समय तो पूर्वी प्रश्न के कारण घटनाओं के स्वरूप बदल रहे थे। बालकन अन्तरीप में आस्ट्रिया और रूस में तानाशाही चल रही थी, इसलिये बिस्मार्क को हस्तक्षेप करना पड़ा और उसने आस्ट्रिया को सहायता दी। बस इसी से बर्लिन और पैट्रो-

ग्राड में वैमनस्य पैदा हो गया। बस अब रूस और फ्रांस का पारस्परिक मेल होने ही वाला था। 1887 में यह साफ जाहिर कर दिया गया था कि अब रूस देखेगा कि राइन नदी के तट पर कौन-सी घटनायें घट रही हैं और इससे वक्त मिलने पर वह पूर्वी प्रश्न के विषय में विचार करेगा। अगर फ्रांस और जर्मनी में दूसरा युद्ध हुआ तो रूस उसी प्रकार उदासीन नहीं रहेगा जैसे वह पिछली बार था। कारण यह था कि अब रूस के हित कुछ बदल गये थे। बिस्मार्क की निपुण नीति और फ्रेंच जनतंत्र में अलेग्जेंडर तृतीय के अविश्वास के कारण फ्रांस और रूस की सन्धि में कुछ वर्ष की देर हुई, लेकिन दो घटनाएँ ऐसी घटीं, जिनके कारण तत्काल ही यह सन्धि करनी पड़ी। 1888 में फ्रांस के वित्त-वेत्ताओं ने रूसी सरकार को सहायता दी और फ्रांस की जनता से रूस ने भारी ऋण लिया जो छः वर्ष में सोलह करोड़ पौंड होने वाला था। 1890 में बिस्मार्क से इस्तीफा ले लिया और उसके उत्तराधिकारियों ने नई नीति जारी करना शुरू किया। अगले वर्ष फ्रांस की नौ-सेना क्रौन्सटेड्ट (Cronstadt) पर पहुँची और जार ने उसका स्वागत किया। 1893 में एक रूसी जहाजी बेड़ा टूलन में आया। फिर जार और प्रेसीडेन्ट ने परस्पर एक-दूसरे को तार भेजे जिनमें उन बन्धनों का उल्लेख किया गया जो दोनों राष्ट्रों को परस्पर बाँधे हुए हैं। यह निश्चय नहीं है कि इस अवसर पर कोई समझौता हुआ या नहीं, लेकिन कुछ भी हो अब फ्रांस और रूस में मेल हो गया था। अलेग्जेंडर द्वितीय की मृत्यु के बाद फ्रांस और रूस के सम्बन्ध दृढ़ आधार पर खड़े हो गये और सन् 1895 में दोहरी सन्धि का औपचारिक रूप से उद्घाटन हो गया।

सशस्त्र शान्ति—उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में अन्तरराष्ट्रीय स्थिति का सर्वोत्तम वर्णन रूस के सम्राट् के प्रसिद्ध शब्दों में किया जा सकता है। 1898 में हालैण्ड के प्रसिद्ध नगर दी हेग में एक शान्ति कान्फ्रेंस करवाने के लिये उसने लिखा था—"शान्ति की रक्षा अन्तरराष्ट्रीय नीति का उद्देश्य बतलाया जाता है। इसके नाम पर बडे-बड़े राष्ट्रों ने परस्पर प्रसिद्ध सन्धियाँ कर रखी हैं और इसकी अधिक गारन्टी करने के लिये उन्होंने अपनी सेनाओं का इतना अधिक विस्तार कर लिया है जितना पहले कभी नहीं किया था। इस वृद्धि के लिए राष्ट्र कोई भी त्याग करने से नहीं हिचकते। इसलिए सेनाओं की वृद्धि होती ही जाती है। परन्तु इन तमाम प्रयत्नों से अभी तक शान्ति-स्थापन के सुन्दर फल तो प्राप्त नहीं हुए हैं। ज्यों-ज्यों राष्ट्रों के शस्त्र बढ़ते जाते हैं त्यों-त्यों उनके ध्येयों की पूर्ति कम होती जाती है। शस्त्र-वृद्धि के कारण आर्थिक स्थिति नाजुक हो रही है। ज्यों-ज्यों सैन्य-सामग्री बढ़ती जाती है त्यों-त्यों खतरा भी बढ़ता जाता है। इस सशस्त्र शान्ति से जनता के ऊपर करों का भार इतना अधिक बढ़ता जाता है कि उसका सहन करना कठिन हो गया है। अतः यह स्पष्ट है कि यदि यही दशा बनी रही तो अनिवार्यरूपेण वही प्रलय उपस्थित हो

जायगा जिसको टालने का प्रयत्न किया जा रहा है और जिसकी भयंकरताओं की कल्पना से हम सब लोग पहले ही थर्रा उठते हैं। यह प्रलय पचास वर्ष तक रुका, लेकिन यूरोपियन जनता के सिर पर यह इस अरसे में मौत की भाँति मँडराया करता था। इस अर्से में बढ़ते हुए शस्त्र-संग्रहों को कम करने के लिए सर्व प्रकार के प्रयास किये गये परन्तु सब निष्फल सिद्ध हुए। 1899 और 1907 में दी हेग में कांफ्रेंस हुई और उन्होंने उपयोगी काम किया। परन्तु जिस मुख्य उद्देश्य के लिये उसका अधिवेशन करवाया गया था वह यूँही रखा रहा। कोशिश इस बात की थी कि शस्त्र-वृद्धि की सीमा निर्धारित कर दी जाय, लेकिन इस ओर तो कुछ हो ही नहीं सका। यूरोप के राष्ट्र ऐसे चक्कर में फँस गये कि उससे बाहर निकलने की कोई सम्भावना ही दिखाई नहीं देती थी। प्रत्येक राष्ट्र शान्ति-प्रेम की दुहाई देता था, लेकिन प्रत्येक राष्ट्र तैयारी युद्ध की करता था और तैयारी के विषय में कहता था कि यह आत्म-रक्षार्थ की जा रही है और वह भी इसलिये कि पड़ोसी राष्ट्र ऐसी तैयारियाँ कर रहे है जो आक्रमण करने के लिये की जाती हैं। 1914 में घटनाओं के जाल ने इस शस्त्र-शान्ति का भी अन्त कर दिया और फलस्वरूप संसार का प्रथम महायुद्ध हुआ (1914-1918)। इसका केवल संक्षिप्त वर्णन ही यहाँ पर दिया जा सकता है। इन भयंकर विकासों को समझने के लिये हमको दो बातों से सहायता मिलती है : (1) पूर्वी प्रश्न और (2) जर्मन साम्राज्य का वैल्टपोलिटिक।

1. **पूर्वी प्रश्न**—बर्लिन की कांग्रेस (1878) के बाद तीस वर्ष तक पूर्वी प्रश्न चुपचाप सोता रहा। रूस की सम्पूर्ण शक्तियाँ सुदूर पूर्व में लगी थीं। आस्ट्रिया बोसनिया के ऊपर अपना अधिकार पक्का कर रहा था। बालकन रियासतों में अभी राष्ट्रीय जागृति हुई थी। इसके कारण कई घरेलू प्रश्न खड़े हो गये थे। इसलिये ये नये राष्ट्र उनके हल करने में लगे हुए थे। इस अर्से में टर्की के भाग्य की बागडोर अब्दुल हमीद द्वितीय (1876-1909) के हाथ में थी। वह अपनी निपुण नीति का जाल यूरोपीय राष्ट्रों के पारस्परिक विद्रोह और द्वेष पर फैलाये रखता था और इस प्रकार उस खतरे को टालता रहता था जो उन सबके मिल जाने से पैदा होता। यूरोपीय राष्ट्रों के पर-राष्ट्र विभाग आम तौर पर आटोमन राष्ट्र की बातें किया करते थे और इसके शासन के तरीकों की चर्चा तो घर-घर में हुआ करती थी। उन्नीसवीं शताब्दी में ऐसे तीन मौके आये जब ऐसा मालूम हुआ कि टर्किश साम्राज्य छिन्न-भिन्न होने ही वाला है। हर मौके पर टर्की ने ज्यों-त्यों करके तूफान का मुकाबला किया। लेकिन जब भी मुकाबला किया तो उसका राज्य कम होता गया। इस प्रकार यूरोप में उसके राज्य के क्षेत्रफल में कमी आती ही रही। उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ और अन्त में भी टर्की प्रत्यक्ष में बीमार मालूम होता था और जो लोग धरातल से नीचे देख सकते थे उनको इस बात के चिह्न स्पष्ट नजर

आते थे कि इसके टुकड़े-टुकड़े हो रहे हैं। इस दशा को सुधारने के लिये तुर्क सुधारकों की एक पार्टी बनी। इन लोगों के विचार पश्चिमी ढंग के थे। ये लोग युवक तुर्क कहलाते थे। इनका कार्यक्रम वैधानिक था और राष्ट्रीय भी। ये लोग क्षीण टर्किश रियासत में नई जान फूँकना चाहते थे। इनकी इच्छा थी कि आटोमन साम्राज्य ज्यों का त्यों बना रहे। इन्होंने सेना में चुपके-चुपके आन्दोलन किया। सुल्तान को एकदम पता लगा कि उससे वह शस्त्र छिन गया है जो उसकी निरंकुशता का आधार था। 24 जुलाई 1908 को कुस्तुन्तुनिया में एक रक्तहीन क्रान्ति हुई और अपने राजसिंहासन को बचाने के लिए अब्दुल हमीद ने उस विधान को फिर जारी कर दिया जो उसने 1876 में स्थापित किया था और बाद में रद्द कर दिया। पश्चिमी यूरोप को यह आशा हुई कि टर्की ने वैधानिक राष्ट्रों के वर्ग में प्रवेश किया है और अब्दुल हमीद की निन्दनीय परम्पराओं को छोड़ दिया है। परन्तु ये आशाएँ यों ही गईं। वैधानिकता के लिए कोशिश हुई परन्तु वह विफल हुई। एक व्यक्ति ने आँखों-देखा वर्णन लिखा है कि आरम्भ से ही यह मालूम पड़ता था कि वैधानिक शासन के प्राथमिक सिद्धान्तों को लागू करने के लिए कोई भी कोशिश ईमानदारी या वफादारी के साथ नहीं की जा रही थी। युवक तुर्कों को संघ और उन्नति की कमेटी (Committee of Union and Progress) में सम्मिलित किया गया था, परन्तु उन्होंने भी अब्दुल हमीद के मनमाने तरीके जारी रखे, बल्कि वे अब्दुल हमीद से भी अधिक बुरे साबित हुए, क्योंकि ये लोग अनुत्तरदायी और अनुभवशून्य थे। लेकिन सम्पूर्ण विपदा की जड़ यह थी कि तुर्क लोगों ने अतिक्रमणात्मक राष्ट्रीयता की नीति ग्रहण की। इसी नीति से पूर्वी यूरोप को क्षति हुई है। साम्राज्य का पुनर्जीवन अधिक इन्सानियत के द्वारा नहीं बल्कि अधिक निरंकुशता के द्वारा किया जा रहा था। थोड़े समय में यह अनुभव हुआ कि टर्की की क्रान्ति से केवल उन्हीं कौमों पर प्रभाव नहीं पड़ रहा था जो आटोमन रियासत में शामिल थीं बल्कि इससे यूरोप को भी खतरा था। पूर्वी प्रश्न ने एकदम नया और नाजुक स्वरूप धारण कर लिया और घटनाओं का जो क्रम जारी हुआ उससे 1914-18 का युद्ध जारी हो गया।

बोसनिया और हरजेगोविना को राज्य में मिलाना—युवक तुर्कों की क्रान्ति का सबसे पहला नतीजा यह हुआ कि 7 अक्तूबर 1908 को बोसनिया और हरजेगोविना को आस्ट्रिया-हंगरी में मिला लिया गया। ये दोनों प्रान्त पिछले तीस वर्ष से आस्ट्रिया-हंगरी के अधिकार में थे और यह स्पष्ट हो गया होगा कि तलवार के बिना इनको नहीं छोड़ जायगा। इसमें सन्देह नहीं कि आस्ट्रिया-हंगरी की रचनात्मक नीति से इन प्रान्तों की बहुत आर्थिक उन्नति हुई। आस्ट्रिया-हंगरी ने सड़कें, रेलें और जनहित के लिए बड़ी-बड़ी इमारतें बनाईं। इसलिए आस्ट्रिया के शासन के पक्ष में बहुत-कुछ कहा जा सकता था, क्योंकि कुछ लोगों का यह भी तो कहना है कि निकट पूर्व में

व्यावहारिक राजनीतिज्ञ को व्यवस्थित और अच्छी सरकार स्थापित करनी चाहिए और राष्ट्रीयता के सिद्धान्त की अधिक चिन्ता नहीं करनी चाहिए। यह बहुत संभव था कि आस्ट्रिया-हंगरी आटोमन आधिपत्य के अन्त की औपचारिक घोषणा नहीं करता और व्यवहारतः बोसनिया पर राज्य करता रहता। इस स्थिति से ही उसको सन्तोष होना। लेकिन टर्की को नया जीवन प्राप्त हो रहा था और युवक तुर्क लोगों की सैनिक राष्ट्रीयता साम्राज्य की सब कौमों पर फिर हुकूमत कायम करना चाहती थी। इसे आस्ट्रिया ने समझा कि उसके बालकन राज्य को खतरा है। उसने बोसनिया की स्थिति में जो परिवर्तन किया उससे मालूम होता था कि वह अतिक्रमण करना चाहता है। यह वास्तव में अन्तरराष्ट्रीय कानून का उल्लंघन था और सर्बियन लोगों के लिए सीधी चुनौती थी। सर्बिया उस समय की प्रतीक्षा कर रहा था जब सर्बियन जाति के सब लोग एक राज्य में मिल जायेंगे। सर्बियन प्रान्तों को अपने राज्य में मिलाने के लिए वह इसलिये भी उत्सुक था कि इससे उसका राज्य समुद्र के किनारे तक पहुँच जाता। अब आस्ट्रिया-हंगरी के कार्य से सर्बियन राष्ट्र के स्थापित होने की आशाएँ धूल में मिल गईं और उसको घोर क्रोध आया। इस तनाव की हालत में ऐसा जान पड़ता था कि युद्ध होने ही वाला है। रशिया सर्ब लोगों को मुकाबला करने के लिए प्रोत्साहन दे रहा था। आखिरकार मार्च सन् 1909 में जर्मन सम्राट् ने आस्ट्रिया के पक्ष में चमकते हुए शस्त्रों के साथ खुल्लमखुल्ला हस्तक्षेप किया और जर्मनी ने पैट्रोग्राड पर ऐसा दबाव डाला कि रशिया को झुकना पड़ा। अब सर्बिया अकेला रह गया और होनहार के सामने सिर झुकाने के सिवाय उसके पास और कोई चारा नहीं रहा। मजबूर होकर उसने घोषणा कर दी कि आस्ट्रिया की इच्छा मानी जायगी। सर्बिया ने भी ऐलान किया कि बोसनिया में जो स्थिति कायम हो गई है इससे उसके अधिकारों पर कोई असर नहीं पड़ा है। बोसनिया और हरजेगोविना को आस्ट्रिया हंगरी ने अपने राज्य में मिला लिया है। उसके सम्बन्ध में जो उसने विरोध किया है उस रुख को अब बदल दिया जायगा। वह इस बात का वचन देता है कि भविष्य में वह आस्ट्रिया-हंगरी के प्रति अपनी नीति को बदलेगा और उसके साथ एक मित्र पड़ोसी जैसा व्यवहार करेगा। इससे नाजुक स्थिति का अन्त हो गया। उस क्षण तो ऐसा जान पड़ता था कि यूरोपीय युद्ध का खतरा टल गया क्योंकि रशिया ने स्लेवोनिक जाति की सहायता करना छोड़ दिया था और सर्बिया के जात्यभिमान को बड़ी ठेस लग चुकी थी। लेकिन मध्यवर्गीय राष्ट्रों ने जो कार्यवाहियाँ कीं उनसे मालूम हुआ कि वे दूसरे राष्ट्रों पर आक्रमण करना चाहते हैं। बस यह भावी विपत्तियों का सूचक था।

तुर्क नहीं बदलते—बोसनिया और हरजेगोविना के निकल जाने पर भी यूरोप में आटोमन साम्राज्य काफी लम्बा-चौड़ा था। इसमें मैसेडोनिया, अल्बेनिया और थ्रेस

शामिल थे और नोवी बाजार का सर्जक जो सर्बिया और मोन्टीनीग्रो को अलग-अलग करता है, वह भी आटोमन साम्राज्य में ही था। लेकिन नई वैधानिक सरकार ने प्रबन्ध के तरीके को बिलकुल नहीं बदला। योग्य दर्शकों ने टर्की को देखकर यह नतीजा निकाला कि तुर्क कभी नहीं बदलता। उसके पड़ोसी, उसकी सीमाएँ और उसके कानून चाहे बदलें, परन्तु उसके विचार और व्यवहार में कोई हेर-फेर नहीं होता। वह ज्यों का त्यों बना रहता है। वह चाहता है कि उसके साथ कोई हेर-फेर न करे। वह उन्नत होना नहीं चाहता। टर्की में कई विधान जारी हुए लेकिन लिखित कानून और संस्थाएँ हमेशा नहीं टिकतीं। इनमें टर्किश हुकूमत की वास्तविकताएँ कुछ अर्से के लिये छिप जाती हैं, परन्तु उसकी वास्तविकताओं पर कोई असर नहीं पड़ता।[1] सब ओर से टर्की के शासन के तरीकों की निन्दा होती थी, लेकिन फिर भी टर्की जिन्दा था। इसके कारण थे। सर चार्ल्स ईलियट ने लिखा है कि यूरोप में टर्की क्यों जिन्दा है—"पूर्वी प्रश्न को समझने के लिये यह जानना चाहिये कि टर्की यूरोप के अन्य राष्ट्रों जैसा नहीं है। टर्की में अनेक जातियाँ एक ही जिले में निवास करती हैं। ये अलग-अलग जिलों में आबाद नहीं हैं। अगर दस मील के फासले में तीन गाँव बसे हुए हैं तो इनमें एक तुर्क लोगों का, दूसरा यूनानियों का और तीसरा बलगारियन लोगों का या शायद अल्बेनियन लोगों का होगा। प्रत्येक गाँव की भाषा अलग, भूषा और धर्म अलग। कभी-कभी एक ही कस्बे में आठ प्रकार की जातियाँ और आठ प्रकार की भाषाएँ मिलती हैं, अर्थात् तुर्क, यूनानी, यहूदी, अरमेनियन, बलगेरियन, सर्बियन, व्लाच और अल्बेनियन। ये सब लोग अपनी-अपनी भाषा, पोशाक और आदर्शों के साथ अपना जीवन क्यों काट रहे हैं। विद्वान् लोगों के लिये यह रोचक विषय है कि इनका जीवन क्यों चल रहा है। लेकिन इतना ही नहीं, ये लोग आपस में लड़ते-झगड़ते हैं, इनमें द्वेष और द्रोह है और यही पूर्वी राजनीति का दैनिक चक्र है। तुर्कों के लिये कहा जाता है कि वे विनाशकारी हैं। यह बात ठीक हैं। उन्होंने बहुत-कुछ विनाश किया है और रचना कुछ भी नहीं की। परन्तु स्थिति को ज्यों का त्यों बनाए रखने में भी उनका बड़ा हाथ रहा है। जैसे अजायबघर में पुरानी चीजों का संग्रह सुरक्षित रहता है- ठीक उसी प्रकार छोटी-छोटी जातियाँ, जो दक्षिण-पूर्वी यूरोप में यूनानी साम्राज्य के समय निवास करती थीं, अब भी तुर्कों के राज्य में वैसी की वैसी बनी हुई हैं। शासन का केवल इतना ही मतलब लिया जाता है कि लोगों से खिराज आता रहे और उस्मान अली की स्थिति हमेशा जैसी की तैसी बनी रहे। यदि लोग इस बात को मान लेते हैं तो उनके तरीकों और रिवाजों में कोई हस्तक्षेप नहीं किया जाता। बस उपेक्षा के साथ उनको सहन किया जाता है। दूसरी बात यह है

1. ओडीसियस, टर्की इन यूरोप (1900), 139।

कि यूरोपियन लोगों में परस्पर झगड़े थे। उसके परिणामस्वरूप ही तुर्क लोग यूरोप में घुसे थे। उनकी प्रजा के मुकाबले में उनकी संख्या हमेशा बहुत कम रही है। अगर उनकी प्रजा आपस में मिल जाती तो उनका शासन नहीं टिक सकता था। भेद-नीति तुर्कों ने खूब सीख ली और इसका उपयोग वे प्रतिदिन बड़ी योग्यता से करते हैं। जब जाति, भाषा और धर्म के भेदों को मिलाने की कोशिश होती है तो इसमें रोक लगाने के लिए तुर्क लोग भरसक यत्न करते हैं।

मेसेडोनिया—किसी भी अन्य देश में जातियों का जाल इतना अधिक नहीं था जितना मेसेडोनिया में और किसी भी दूसरे देश में भेद-नीति इतनी सफल नहीं हुई जितनी यहाँ। बालकन अन्तरीप में मेसेडोनिया विपत्ति का केन्द्र था। मेसेडोनिया में जाति की समस्या इतनी जटिल है कि यूरोप के कूटनीतिज्ञ इसके विषय में अपनी हार मानते रहे हैं। प्रत्येक बालकन रियासत मेसेडोनिया को अपना हक समझती रही है। अपना धर्म, भाषा और जातियों का जाल इस देश में इतना जटिल है कि व्याख्या नहीं की जा सकती। भाषा और इतिहास के आदि-ज्ञान के आधार पर यह निश्चय करना कठिन है कि मेसेडोनिया बलगारियन है या सर्बियन। लेकिन उन दोनों देशों ने भाषा और धर्म को लेकर मेसेडोनिया में अपने पक्ष का बड़ा जोरदार प्रचार किया है। टर्की के सुल्तान ने इन जातीय भेदों का हमेशा पोषण किया था। इससे उसकी हुकूमत की रक्षा होती थी, क्योंकि मेसेडोनिया में तुर्क लोग केवल मुट्ठीभर हैं। रोमानियन लोगों को भी यह सुझाया गया था कि मेसेडोनिया में निवास करने वाले कुटजोव्लाच लोग उन्हीं के चिरविस्मृत भाई हैं। व्लाच लोग खानाबदोश जाति है और तुर्क लोगों की तरफ इनका रुख अच्छा है। कारण यह है कि इनका और तुर्क लोगों का आर्थिक मामलों में एकमत था। जब टैक्स कलेक्टर आते थे तो गाँव वाले अपने घरों में नहीं मिलते थे और उनको ढूँढ़-ढाँढ़कर वे लोग वापस चले जाते थे। इसके अतिरिक्त न तो सरकार कोई परेशानी उठाती थी और न गाँव वाले कोई कष्ट भोगते थे। इस स्थिति को सरकार स्वीकार कर लेती थी। जाति-समस्या को और कठिन बनाने के लिए मेसेडोनिया के कस्बों में यूनानी लोगों की बड़ी-बड़ी आबादियाँ थीं। मेसेडोनिया की दशा की वास्तव में कल्पना की जा सकती है, वर्णन नहीं किया जा सकता। इसलिये कहने की आवश्यकता नहीं है कि शासन बड़ा निकम्मा था। सुधार तो कभी नाम को भी नहीं हुए थे। यह बात जरूर है कि कमीशन कई कायम हुए। लेकिन वे सब अपनी जेबें भर-भरकर वापस चले गये और सबने अनुकूल रिपोर्ट लिख दी।

पहला बालकन युद्ध (1912-13)—सब बालकन रियासतें कहती थीं कि मेसेडोनिया हमारा है। इन परस्पर-विरोधी दावों के कारण मेसेडोनिया पूर्वी प्रश्न में प्रधान मुद्दा बन गया। यह देश हर रियासत का तो हो नहीं सकता था, इसलिये जब

तक दावेदार रियासतें संतोषप्रद रीति से अपने दावों का फैसला न कर लें तब तक यही अच्छा था कि मेसेडोनिया टर्की के अधीन ही बना रहे। इन पारस्परिक कलहों के कारण यह तो सम्भव नहीं मालूम होता था कि बालकन रियासतें आपस में मिल जायेंगी। परन्तु यह असम्भव बात ही सम्भव हो गई और बालकन संघ (बालकन लीग) बन गया। इस संघ का इतिहास अन्धकार में है। परन्तु यह बहुत सम्भव मालूम होता है कि युवक तुर्क मेसेडोनिया में अपनी हुकूमत को और ज्यादा मजबूत बनाने लगे और उनको यह डर हुआ कि बोसनिया की भाँति कहीं मेसेडोनिया भी उनके हाथ से हमेशा के लिए न निकल जाये। तब बालकन रियासतों को खतरे का अनुभव होने लगा। अलबेनिथा के बलवे से भी उनको प्रोत्साहन मिला था। त्रिपोली पर कब्जा करने के लिए उस समय इटली टर्की से लड़ रहा था और यूनान जानता था कि क्रीट के प्रश्न का हल युद्ध के द्वारा ही होगा। इन घटनाओं का भी बालकन रियासतों पर असर पड़ा। बड़े राष्ट्र हस्तक्षेप करना चाहते थे। उन्होंने बालकन रियासतों को चेतावनी दी कि यूरोपियन टर्की में युद्ध के बाद पूर्व स्थिति में किसी भी प्रकार का संशोधन स्वीकार नहीं किया जायगा। परन्तु घटनाएँ इतनी जल्दी-जल्दी घटीं कि उनका सारा हिसाब गड़बड़ हो गया। उनके विरोध करने पर भी 17 अक्तूबर 1912 को युद्ध आरम्भ हो गया। साथियों ने युद्ध-संचालन यों सोचा था कि बलगेरिया थ्रेस पर आक्रमण करे जहाँ तुर्की सेना का सामना करना पड़ेगा और सर्बिया तथा यूनान मेसेडोनिया में लड़ें। थ्रेस और मेसेडोनिया, दोनों जगह टर्की की भारी हार हुई। बलगारियन लोगों ने कर्क किलेसी पर अपना अधिकार जमा लिया, लुले बर्गास की लड़ाई में विजय प्राप्त की, एड्रियानोपल को घेर लिया, और फिर कुस्तुन्तुनिया पर चढ़ाई कर दी। यूनानी लोग सेलोनिका में घुस गये और उनकी नौ-सेना ने एजियन टापुओं पर कब्जा कर लिया। सर्बियन लोगों ने उसकब (26 अक्टूबर), मोनास्टिर और आचरिडा (18-23 नवम्बर) पर दखल कर लिया। अब युद्ध जारी रखना बेकार था। टर्की भी सन्धि करने के लिये तैयार हो गया। 3 दिसम्बर को लड़ाई बन्द हो गई और दो सप्ताह बाद लंदन में शान्ति कांफ्रेंस का अधिवेशन शुरू हो गया। लेकिन कुस्तुन्तुनिया में युद्ध पार्टी जोर पकड़ती जाती थी। उसने एक युद्ध-रचना रचकर कमालपाशा के मंत्रिमंडल को भंग कर दिया और उसके स्थान पर अनवर बे को बिठा दिया और प्रधान सेनानायक नजीम पाशा की हत्या कर डाली। लड़ाई फिर जारी हो गई और बहुत जल्दी-जल्दी टर्की के तीन किलों का पतन हो गया। यूनानियों ने 5 मार्च को जनीना छीन लिया, बलगेरियन लोग 26 मार्च को एड्रियानोपल में घुस गये और मोन्टीनेग्रीयन लोगों ने 22 अप्रैल को स्कूटरी को सर कर लिया। 30 मई 1913 को लन्दन की सन्धि हुई। बालकन युद्ध समाप्त हो गया। टर्की ने नोस मिडिया लाइन से पश्चिम की ओर स्थित अपना यूरोपीय प्रदेश सब छोड़ दिया और क्रीट का टापू भी दे दिया।

द्वितीय बालकन युद्ध—सन्धि होते ही विजयी मित्र आपस में लड़ने-झगड़ने लगे; क्योंकि लूट के माल को बाँटने में सब सहमत नहीं थे। दूसरे बालकन युद्ध की जिम्मेदारी किस पर कितनी थी यह बतलाना आसान नहीं है। परन्तु इतना तो स्पष्ट है कि इसमें स्वयं बड़े राष्ट्रों का भी कुछ अपराध था। आस्ट्रिया और इटली इस पर तुले हुए थे कि कुछ भी हो, सर्ब और मोन्टीनेग्रीयन लोगों को अलबेनिया से निकालना चाहिये। कारण यह था कि वे स्वयं ही अलबेनिया पर टकटकी लगाये हुए थे। शान्ति कायम रखने के लिये यूरोपीय राष्ट्रों ने इन दोनों सर्बियन रियासतों पर दबाव डाला और उनसे अलबेनिया का प्रदेश, खासकर स्कूटरी, छुड़वा लिया। अलबेनिया में बेहद आन्तरिक फूट थी, परन्तु तो भी उसको स्वतन्त्र राज्य बना दिया। राष्ट्रों के विरोधी रुख के कारण सर्बिया समुद्री किनारा प्राप्त नहीं कर सका। इस क्षति की पूर्ति वह मध्य मेसेडोनिया में करना चाहता था। देशों के विभागीकरण की सन्धि में सर्बिया को उत्तरी मेसेडोनिया मिला था परन्तु वह ज्यादा प्रदेश चाहता था। इसलिये उसने सन् 1912 में बलगेरिया के साथ जो सन्धि की थी उसको तोड़ दिया। दूसरी ओर बलगेरिया ने भी बुद्धिमत्ता से काम नहीं लिया। इसमें सन्देह नहीं कि टर्की के साथ युद्ध में सबसे अधिक जोर उसी पर पड़ा था, परन्तु इन स्थितियों में पूरा-पूरा बदला लेने का खयाल भी कोई अकल की बात नहीं थी। परन्तु बलगेरिया ने बड़ी ही गहरी भूल की। उसके साथियों ने उसको न छेड़ा था न कोई बात थी, परन्तु उसने उन पर हमला कर दिया। वह चाहता था कि वे डरकर दब जायेंगे, परन्तु नतीजा इसके विपरीत हुआ। सर्ब और यूनानी लोग हमलावरों पर पिल पड़े। रोमानियन लोगों ने भी उनका साथ दिया। इनको भी बलगेरिया से कुछ हिसाब साफ करना था। इस घरेलू संग्राम में प्रकट हुआ कि अन्तरीप के ईसाई लोग भी कत्ले-आम करने में उतने आगे बढे हुए हैं जितने तुर्क लोग। बलगारियन लोगों ने विवश होकर सन्धि की याचना की और बुखारेस्ट की सन्धि हुई। इसका फैसला अगस्त 1913 में बालकन लोगों पर थोपा गया। बिना कारण ही रोमानिया ने सिलिस्ट्रिया अध्यनिका पर कब्जा कर लिया, अर्थात् डाबरिच और सिलिस्ट्रिया के जिलों पर जो वास्तव में बलगारियन हैं। रोमानिया ने बिना उत्तेजना के ही यह कार्यवाही की थी। इसके सिवाय यह भी अपराध था कि बलगारियन डोब्रूजा के यहूदी और तुर्कों को, सहिष्णुता के कितने ही वर्ष बाद पुनः उस सामाजिक दुर्दशा और राजनीतिक गुलामी में ढकेल दिया जाय जिसमें उनके भाई अर्थात् यहूदी और तुर्क पहले से ही पड़े हुए थे और रोमानियन राज्य में यातनाएँ भोग रहे थे। सर्बिया ने उत्तरी और मध्य मेसेडोनिया को अपने राज्य में मिला लिया। इसमें उसकब, आचरीडा और मोनास्टिर भी शामिल थे। यूनान ने दक्षिणी मेसेडोनिया हड़प लिया और एजियन सागर के किनारे पर

कब्जा कर लिया जो मैस्टा नदी तक फैला हुआ था और जिसमें सेलोनिका तथा कवल्ला दो बन्दरगाह शामिल थे। बलगेरिया को थ्रेस और पूर्वी मेसेडोनिया मिला और एजियन समुद्र के तट का कुछ मील लम्बा टुकड़ा, जिसमें डेडीगाच बन्दरगाह था। ऐसा अनुमान किया गया था कि बुखारेस्ट की सन्धि के फलस्वरूप लगभग 10,00,000 से ऊपर बलगारियन लोग इस अन्तरीप में विदेशी हुकूमत के अधीन हो गये[1] और कवल्ला के छिन जाने से बलगेरिया ऐसे कुदरती बन्दरगाह में वंचित हो गया जो उसके आर्थिक विकास के लिये परम आवश्यक था। साथ ही तुर्क लोगों ने लन्दन की सन्धि की पावन्दी करने से इन्कार कर दिया और बलगेरिया से एड्रियानोपल नगर तथा थ्रेस का एक बड़ा हिस्सा छीन लिया। इस प्रकार बालकन युद्धों का अन्त हुआ। इतिहास में किन्हीं दूसरे युद्धों ने शायद अपना स्वरूप इतना और इतनी जल्दी बदला हो। यह उक्ति ठीक है कि बालकन युद्ध आरम्भ के समय तो आजादी का युद्ध था, फिर यह देशों को हड़पने वाला युद्ध हो गया और अन्त में यह उन्मूलन का युद्ध बन गया। हमको इस वर्णन में कोई और बात जोड़ने की आवश्यकता नहीं।

आस्ट्रिया और सर्बिया के झगड़े के कारण—1913 के बालकन फैसले ने प्रथम विश्व-युद्ध (1914-1918) के बीज बोए, क्योंकि आस्ट्रिया-हंगरी ने निश्चय कर लिया था कि बुखारेस्ट की सन्धि को फाड़कर फेंक दिया जाय। इसी कारण सर्बिया को अल्टिमेटम (अन्तिम नोटिस) मिला। आस्ट्रिया-हंगरी (Dual monarchy) या सर्बियन रियासत के बीच में लड़ाई के कारणों को समझने के लिए दो मौलिक घटनाओं को ध्यान में रखना चाहिए। 1. मूल में पूर्वीय प्रश्न आर्थिक प्रश्न है। जब आस्ट्रिया को इटली के अन्तरीप से निकाल दिया गया तो उसके व्यापारिक मार्ग भी भूमध्य सागर से एजियन सागर की ओर मुड़ गए। अब उसके पास केवल एक ही बन्दरगाह रह गया अर्थात् एड्रियाटिक सागर पर स्थित ट्रीस्ट और अब उसका मुख्य उद्देश्य बन गया लिवान्ट तक पहुँचना। आस्ट्रिया-हंगरी ने सेलोनीका के बन्दरगाह को अपना ध्येय बना रखा था और बहुत अर्से से वह इसको प्राप्त करने के लिए प्रयत्न कर रहा था और इसी हेतु वह पूर्व की ओर धैर्य के साथ बढ़ता जाता था। उसने बोसनिया पर कब्जा कर लिया था। अभी तो उसने पहली मंजिल ही तय की थी। इस रास्ते पर चलकर उसको बालकन अन्तरीप के ठेठ हृदय तक पहुँचना था। इसलिए आस्ट्रिया यह बिल्कुल नहीं चाहता था कि तुर्क साम्राज्य समय से पहले ही खत्म हो जाय। आस्ट्रिया-हंगरी के प्रभाव से ही बालकन लीग छिन्न-भिन्न हुई थी। अगर यह बनी रहती तो पूर्व का मार्ग बन्द रहता। दूसरे बालकन युद्ध का परिणाम, जो कुछ वियना और बुडापेस्ट में विश्वास के साथ आशा की जाती थी, उससे बहुत

---

1. एल० डब्ल्यू० लिड्, 'सम् फ्रन्टियर्स ऑफ टुमारो' (1915), 106।

विपरीत हुआ। यूनान के पास सेलोनिका पहले ही था। अब इस युद्ध ने इसकी और पुष्टि कर दी। सर्विया मध्य मेसेडोनिया में भली-भाँति जम गया। जर्मन और मेग्यर लोगों की नीति के मार्ग में वह बहुत बड़ा रोडा अटक गया। 1914-18 के विश्व-युद्ध का एक छिपा हुआ उद्देश्य यह भी था कि इस विघ्न को हटाया जाय। 2. फिर भी यह समस्या का केवल एक ही पहलू था। वियना और बेलग्रेड के पारस्परिक मतभेद का कारण यह था कि आस्ट्रिया सर्विया को पीडमोन्ट की भाँति एक छिपा हुआ विरोधी समझता था और असली प्रश्न जो सामने उपस्थित था वह यह था कि आस्ट्रिया साम्राज्य के स्लाव प्रान्त का भविष्य क्या हो? सर्विया को प्रदेश-लाभ से भी अधिक प्रतिष्ठा-लाभ हुआ। यह उसको अपनी विजयों के द्वारा प्राप्त हुआ था। सर्बिया पहले एक किसानों का देश था, लेकिन वह एकदम दक्षिण के स्लाव संघ का राजनीतिक केन्द्र बन गया। हंगरी के सर्ब लोग समझते थे कि बालकन रूपी सूर्य उदय हो गया है और अब उनके भाग्य-दिवस का भी उदय होने वाला है। आस्ट्रिया-हंगरी की नीति का संचालन भली-भाँति नष्ट हो रहा था। अब जल्दी ही उसको इसका फल भोगना पड़ा। एक तरफ यह बात थी कि मेग्यर लोगों के जातीय अत्याचारों के कारण हंगरी के स्लाव लोगों में गहरा असन्तोष फैल गया और वे लोग सर्वों के पक्ष में जो आन्दोलन हो रहा था उससे प्रभावित हो गए और चाहने लगे कि सर्बिया के साथ संघ बन जाय तो अच्छा हो। दूसरी ओर आस्ट्रिया की सरकार यह नहीं चाहती थी कि अलवेनिया सर्बिया को हड़प जाय, इसलिए अनिवार्य रूप से सर्बिया का फैलाव उन स्लाव प्रान्तों की ओर होने लगा जहाँ उसकी जाति के लोग बसते थे। इससे युद्ध जल्दी हो गया वरना शायद टल जाता।

2. **द्वितीय जर्मन वैल्ट पोलिटिक**—प्रथम महायुद्ध के समय जर्मनी में वैल्ट पोलिटिक नामक एक प्रगति चल रही थी और पूर्वी प्रश्न इस प्रगति का ही एक पक्ष था। इस महायुद्ध का यह मतलब नहीं था कि भविष्य में बालकन अन्तरीप में शक्तियों का सन्तुलन किस प्रकार हो। बड़ा प्रश्न तो यह था कि भावी संसार में जर्मन साम्राज्य का क्या स्थान हो। प्रथम विश्व-युद्ध का यह ऐतिहासिक महत्व था। जो राष्ट्र इसमें शामिल थे उनका अचल निश्चय और गम्भीर निष्ठा इस युद्ध से प्रकट हुई।

बिस्मार्क के बाद जर्मनी की विदेश-नीति—सन् 1890 और 1914 के बीच जो जर्मनी की विदेश-नीति थी उस पर कोई निर्णय प्रकट करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि समकालीन लोग जो भी निर्णय देंगे उसमें पक्षपात हो सकता है। इसलिए इसके बिना ही दो बातें कही जा सकती हैं। पहली तो जर्मनों के संस्थापक ने जिस नीति का अनुसरण किया था अब उसको छोड़ दिया गया था। प्रिंस बूलो ने स्वीकार किया है कि जब बिस्मार्क के उत्तराधिकारियों ने अन्तरराष्ट्रीय राजनीति के नए मार्ग पर चलना शुरू किया तो लोगों ने उसके खिलाफ बहुत आवाज उठाई थी, क्योंकि

बिस्मार्क की महाद्वीप नीति का सब अनुमोदन करते थे। इसलिए इसको छोड़कर दूसरी नीति को ग्रहण करना गलती मानी जाती थी। दूसरी बात यह थी कि कभी न कभी जर्मनी और यूरोपीय राष्ट्रों में संघर्ष होना अवश्यंभावी था। वर्तमान इतिहासकार को कोई विश्वसनीय प्रमाण नहीं मिलता, इसलिए जब वह वर्तमान कूटनीति के भेदों का उद्घाटन करना चाहता है तो स्वयं अन्धकार में चला जाता है और इन्हीं कारणों से वह तत्कालीन घटनाओं के अर्थ को स्पष्ट नहीं कर सकता। लेकिन फिर भी इस अर्से में (1890-1914) जर्मन विकास की मुख्य प्रवृत्तियाँ स्पष्ट जान पड़ती हैं।

लुई चौदहवें और विलियम द्वितीय की तुलना—जर्मन साम्राज्य के प्रथम बीस वर्ष में बिस्मार्क ने जिस दूरदर्शी नीति का अनुसरण किया उसका कुछ वर्णन हम पहले दे चुके हैं। उसकी नीति की विशेषता थी नर्मी। लौह चांसलर को अपने जीवन में भयंकर सपने आया करते थे कि यूरोप के राष्ट्र कहीं मिलकर युद्ध न कर दें। इसलिए उसके दिल में लगन लगी रहती थी कि साम्राज्य को हमले के खतरे से बचाया जाय। उसके हाथ में तिहरी सन्धि का रक्षा-शस्त्र था। अंग्रेज लोगों ने भी इस सन्धि के निर्माण का स्वागत किया था। वे लोग इसको यूरोपीय शान्ति की गारण्टी समझते थे। ज्यों ही बिस्मार्क के हाथ की शक्ति का सूत्र निकला तो मालूम पड़ा कि मामलों की गति में एक परिवर्तन-सा आ गया है और फिर ऐसा घटनाक्रम जारी हुआ जिसके कारण 1914-18 का महायुद्ध हुआ। यहाँ हम कह सकते हैं कि लुई चौदहवें के फ्रांस में और विलियम द्वितीय की जर्मनी में विलक्षण समानताएँ हैं। अपने प्रसिद्ध नीतिज्ञ रिचलु की सलाह में सत्रहवीं शताब्दी का फ्रांस यूरोप में प्रधान राष्ट्र माना जाने लगा था। यह प्रतिष्ठा उसको इसलिये प्राप्त हुई थी कि हेब्सबर्ग के सैनिक आधिपत्य का विरोध करके उसने छोटी-छोटी रियासतों की रक्षा की थी। लेकिन लुई चौदहवाँ बहुत आगे बढ़ गया। इसलिये रिचलु का किया-कराया काम उसने बिगाड़ दिया और उसकी आक्रमणात्मक नीति के कारण समस्त यूरोप ने मिलकर उसके विरुद्ध शस्त्र उठा लिये। इसी प्रकार बिस्मार्क के उत्तराधिकारी ने भी अपने अन्तिम ध्येयों के कारण लोगों को सर्वत्र भयभीत कर दिया और उनका भय इस खयाल से और बढ़ गया कि जर्मनी की राष्ट्रीयता सैनिकता का स्वरूप धारण करती जाती थी और यूरोप में राजनीतिक गड़बड़ करने के लिये उसके पास बड़ी शक्ति आ गई थी। इसलिये जिसका बिस्मार्क को भय था वही बात हुई। आत्मरक्षा के लिए लोगों में सहज प्रवृत्ति होती ही है। अतः जैसे यूनान ने स्पार्टा के विरुद्ध तैयारी की थी और यूरोप ने लुई चौदहवें और नेपोलियन के विरुद्ध संगठन किया था, उसी प्रकार अब जर्मनी के सैनिक आधिपत्य के विरुद्ध भी यूरोप के राष्ट्र तैयार होने लग गये थे।

वैल्ट पोलिटिक का अर्थ—1890 के बाद जर्मनी की विदेश-नीति को दो युगों में विभक्त किया जा सकता है। दोनों युगों में ध्येय तो एक ही था परन्तु साधन

भिन्न थे। इन दोनों युगों के बीच रूस-जापान युद्ध 1904 आता है। जब एशिया के छोटे-से राष्ट्र ने रूस को पछाड़ दिया तो जर्मनी ने पहले जैसे एहतियात की आवश्यकता नहीं समझी। अब तक वह रूस से डरता था और फूँक-फूँककर कदम उठाया करता था। जर्मन नीति का उद्देश्य एक शब्द के द्वारा व्यक्त किया जाता था। वह शब्द था वैल्ट पोलिटक, जिसका अर्थ है विश्व-नीति। एक जर्मन इतिहासकार ने लिखा है कि अब अपनी विदेश-नीति के निर्माण के लिए जर्मनी ने धीरे-धीरे केवल यूरोपीय महाद्वीप की भी चिन्ता करना छोड़ दिया है। यह नया विकास एकदम नहीं हुआ था। यह नहीं समझना चाहिये कि जर्मन सम्राट् विश्व-विजय के स्वप्न देखा करता है और इस नीति पर उसके व्यक्तित्व की छाप थी, या इसका निर्माण उन महत्वाकांक्षी राजनीतिज्ञों के कारण हुआ था जिनकी शक्ति फूटकर निकलना चाहती थी या यह उन जर्मन-पक्षीय जोशीले लोगों की कल्पना मात्र थी जिनका कोई राजनीतिक प्रभाव नहीं था। जर्मनी में जो जोर का विकास हो रहा था और जिसके कारण उस राष्ट्र ने अपनी प्रारम्भिक नीति की मर्यादाओं को तोड़ फेंका था यह उसका परिणाम था। वैल्ट पोलिटिक की केवल भावना से तो झगड़ना सम्भव नहीं था। यह सभी जानते हैं कि यूरोप का प्रत्येक बड़ा राष्ट्र विश्व-शक्ति बन गया है, अर्थात् ऐसे प्रत्येक राष्ट्र के पास यूरोप के बाहर बड़े-बड़े राज्य हैं और उसकी नीति केवल यूरोप को ही लक्ष्य में रख कर निर्मित नहीं होती। दूसरे देशों की भाँति जर्मनी का भी अधिकार था कि वह गोरे लोगों के भार का वहन करता और साथ ही गोरे लोगों की लूट में भी हिस्सा बँटाता। यह उसके दुर्भाग्य की बात थी कि जब अफ्रीका की लूट होने लगी तो वह अखाड़े में कुछ देर से पहुँचा। लेकिन यदि इसका दोष माना जाय तो यह दोष बिस्मार्क का था जो उपनिवेश बनाने के पक्ष में प्रायः नहीं था। फिर भी जर्मनी ने दक्षिण-पश्चिमी अफ्रीका, टोगोलैण्ड और केमेरून्स (1884) तथा न्यूगिनी और प्रशान्त सागर के टापुओं को हथिया लिया और इन सालों में उसने कुछ और भी मुल्कों पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। बिस्मार्क के बाद औपनिवेशिक साम्राज्य का विचार बड़े जोर से लोगों के दिमाग में घूमने लगा। प्रिंस बूली ने कहा है कि इसकी तह में जर्मन लोगों की महत्वाकांक्षा बड़ी बेचैनी से तड़प रही थी। अब जर्मनी भी बड़े राष्ट्रों का अनुकरण करना चाहता था और विश्व-नीति ग्रहण करना चाहता था। सन् 1870 और 1914 के बीच जर्मनी के उद्योग और व्यापार में बड़ी विलक्षण वृद्धि हुई। उसकी आबादी चार करोड़ अस्सी लाख से बढ़कर साढ़े छः करोड़ हो गई। उसका विदेशी व्यापार तिगुना हो गया, अर्थात् तीस करोड़ से पच्चानवे करोड़ हो गया। उसके व्यापारी जहाज धड़ाधड़ बनने लगे। अब जर्मनी कृषि-प्रधान देश नहीं उद्योग-प्रधान देश हो गया। सारांश यह है कि उद्योग, व्यापार और जहाजी तिजारत के कारण जर्मनी के उद्योगी जीवन में इतना अन्तर आ गया था कि अब वह अन्तरराष्ट्रीय उद्योग का

जीवन बन गया था और इसलिये राजनीतिक मामलों में साम्राज्य उन मर्यादाओं से आगे पहुँच गया था जो प्रिंस बिस्मार्क ने स्थापित की थीं। अब जर्मन राजनीतिज्ञों का मूल ध्येय यह हो गया कि जर्मन के पक्के माल को खपाने के लिये नये और निर्द्वन्द्व बाजार मिलें। इसलिये जर्मनी में प्रोत्साहन हुआ कि उपनिवेश बढ़ाये जायें। बस जर्मनी के राजनीतिक हिसाब का यही आधार था।

ड्रांग नेच आस्टेन (Drang nach Osten)—जर्मनी ने उपनिवेश के विषय में कुछ प्रयोग किये, परन्तु इसके परिणाम से उसको कोई विशेष सन्तोष नहीं हुआ। उपनिवेशों से जर्मनी में आर्थिक शक्ति के बजाय आर्थिक कमजोरी आई। क्षेत्रफल की दृष्टि से या कीमत की दृष्टि से उनकी दूसरे यूरोपीय राष्ट्रों के उपनिवेशों से कोई तुलना ही नहीं हो सकती थी। फिर यह बात भी जर्मनी के सामने थी कि संसार का सर्वोत्तम भाग तो पहले ही यूरोपीय राष्ट्रों में बँट चुका है और अब नये उपनिवेश तलवार के बल से ही प्राप्त हो सकते हैं। जर्मनी ने कोशिश की कि दूसरी दिशाओं में उसका व्यापारिक क्षेत्र स्थापित हो जाय। जर्मन वैल्ट पोलिटिक (विश्व-नीति) का प्रधान उद्देश्य था निकट-पूर्व और मध्य-पूर्व में आधिपत्य स्थापित करना। बिस्मार्क का ख्याल था कि सारे पूर्वी प्रश्न की इतनी भी कीमत नहीं है जितनी एक मामूली सिपाही की। इसलिये बर्लिन कांग्रेस में उसने एक ईमानदार दलाल का-सा काम किया, और उस कांफ्रेंस में जो कुछ फैसला हुआ उससे उसने कोई लाभ नहीं उठाया। लेकिन उसके उत्तराधिकारी के दिमाग में भूमध्य सागर भरा रहता था। इसका उस पर जबर-दस्त जादू था। वह सोचा करता था कि पूर्व की ओर बढ़ना चाहिये। उसको उधर नया संसार दीखता था जहाँ अपार सम्भावनाएँ थीं। इस समय टर्की में इंगलैण्ड का कोई प्रभाव नहीं था, इसलिये जर्मनी आगे बढ़ा और बड़ी सजधज के साथ उसने आटोमन साम्राज्य की बाँह पकड़ी और वह इस्लाम का सहायक बन गया। उसने घोषणा की कि इस पृथ्वी पर जो तीस करोड़ मुसलमान बिखरे हुए हैं उनको विश्वास दिलाया जाता है कि जर्मनी का सम्राट् सुख और दुख में उनका साथ देगा। इस घोषणा से प्रकट हुआ कि विलियम द्वितीय का विचार भावी संघर्ष में एशिया को दबाने के लिए मुस्लिम शक्ति का उपयोग करने का है। जर्मनी के व्यापार का एक स्वरूप यह भी था कि एशियाटिक टर्की में शान्तिपूर्वक प्रवेश किया जाय। विश्व-शक्ति के विचार के अतिरिक्त इस बात पर भी जोर दिया जाता था कि आर्थिक दृष्टि से एशिया माइनर का उपयोग किया जाय। बहुत अर्से पहले फ्रीड्रिच लिस्ट प्रसिद्ध अर्थ-शास्त्री ने यह सुझाया था कि लोअर डेन्यूब की खाड़ी में उपनिवेश बनाया जाय। एशिया माइनर और मेसोपोटामिया के उपजाऊ प्रदेश जर्मन जाति के साहस के लिए बडे आकर्षक क्षेत्र हैं। यहाँ पर बहुत लम्बा-चौड़ा प्रदेश है जहाँ कोई लोग नहीं रहते हैं और यदि रहते हैं तो वह हैं थोड़ी-सी बिना घरबार वाली अर्द्ध सभ्य

जाति। ये सब लोग केवल नाम के लिए एक गिरती हुई शक्ति के अधीन हैं। वहाँ पर जर्मनी की वह आबादी बड़ी आशा के साथ बसाई जा सकती है जिसके लिए अब जर्मनी में स्थान नहीं है। यहाँ पर रेलवे, नहरी काम, खानों के काम और कृषि-कार्य में जर्मनी पूँजी लगाई जा सकती है और उस पर बड़ा लाभ होगा। जब यह प्रदेश समृद्ध हो जायगा तो जर्मनी का पक्का माल यहाँ पर खूब खप सकेगा। इस देश में बहुत अच्छी खेती हो सकती है और यहाँ पर खनिज पदार्थ हैं, इसलिए जर्मनी में काम करने वाले लाखों और करोड़ों मजदूरों को यहाँ भोजन मिल सकेगा और कल-कारखानों के लिए कच्चा माल। इन आर्थिक प्रलोभनों के साथ-साथ यह भी कहा गया कि टर्की के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध हो जाने पर राजनीतिक तथा अन्य लाभ भी होंगे। टर्की के यूरोपियन और एशियायी भाग पर माली और आर्थिक नियंत्रण स्थापित हो जाने से अच्छे सिपाही मिलेंगे ही, जो जर्मन लोगों से ट्रेनिंग पाकर अव्वल दर्जे के सैनिक बनाये जा सकते हैं। इसके अलावा दक्षिण-पूर्वी यूरोप, पूर्वी भूमध्य सागर और संपूर्ण डेन्यूब पर, बगदाद पर और फारस की खाड़ी के मार्ग पर एक प्रकार का नियंत्रण हो जायगा और ऐसा होने पर केवल प्रशिया पर ही नहीं बल्कि केस्पियन सागर के पूर्व को ओर रूसी प्रदेश पर और भारतवर्ष पर भी दबाव डाला जा सकेगा। बगदाद रेलवे की तजवीज में ये सब सम्भावनाएँ निहित थीं, जो लोगों को चकाचौंध करती थीं। इस रेल का उद्देश्य था कि अन्त में बर्लिन और प्रशिया की खाड़ी के बीच रेल मार्ग तैयार हो जाय। इसका आरम्भ 1888 में हुआ था। टर्की ने इजाजत दे दी थी कि इस्मिथ (कुस्तुन्तुनिया से पूर्व) से अंगोरा तक जर्मन लोगों की देखरेख में रेल बनाई जा सकती है, लेकिन बगदाद, ईरान की खाड़ी तक इसको बढ़ाने को तजवीज ने सन् 1903 में निश्चित स्वरूप धारण किया।

जर्मन नौ-सेना—जब विश्व-नीति का विचार हुआ तो उससे यह बात भी निकली कि एक शक्तिशाली नौ-सेना तैयार की जाय। कोनिगरेट्ज और सेडान की विजय से जर्मनी को यह घातक विश्वास हो गया था कि युद्ध राष्ट्र की सम्पूर्ण बुराइयों का अचूक इलाज है। इसके द्वारा उनकी राष्ट्रीय विपदाओं की कुल गाँठें काटी जा सकती हैं। युद्ध के द्वारा ही प्रशिया बना है और इसी साधन से जर्मनी का जन्म हुआ है। मिराबो कहा करता था कि युद्ध ही तो जर्मनी का प्रथम व्यवसाय है। इसलिए यदि जर्मनी अपने नए उद्देश्यों के लिए नए शस्त्र तैयार करे और रक्त और शस्त्र के द्वारा अपनी कामनाएँ पूरी करे तो इनमें नई बात क्या थी। यह तो उसका परम्परा-गत तरीका था। जब जर्मन नौ-सेना तैयार की गई तो इसका उद्देश्य बिल्कुल साफ था और इस पर किसी को कोई एतराज भी नहीं हो सकता था। जर्मन चांसलर ने लिखा था कि समुद्र पर हमारे ऊपर चोट हो सकती है। हमने समुद्र पर करोड़ों रुपये लगाये हैं और इस धन के साथ हमारे देशवासियों का सुख और दुख सम्बन्धित है। अगर

हम समय पर उनकी रक्षा नहीं करते तो फिर हमेशा के लिए खतरा हो जाता और हम लाचार होकर देखते रहते कि हम कुछ नहीं कर सकते। फिर हमारी ऐसी हालत हो जाती कि हम करोड़ों देशवासियों को न कोई रोजगार दे सकते थे और न उनका पालन कर सकते थे। नतीजा यह होता कि आर्थिक दृष्टि से एक नाजुक स्थिति पैदा हो जाती जो बढ़ते-बढ़ते एक कौमी आफत की शकल अख्तियार कर लेती। लेकिन सबसे बड़ा डर तो यह था कि जल्दी-जल्दी नौ-सेना तैयार करने का असली उद्देश्य वास्तव में यह था कि ग्रेट ब्रिटेन की नौ-सेना का मुकाबला किया जाय। उस समय ग्रेट ब्रिटेन की सागर-शक्ति सबसे आगे बढ़ी हुई थी। सन् 1900 में यह स्वीकार किया गया कि जर्मनी के पास ऐसा मजबूत लड़ाकू जहाजी बेड़ा होना चाहिए कि बड़ी-से-बड़ी सागर-शक्ति से भी यदि मुकाबला हो जाय तो उसी शक्ति के लिए खतरा हो। इस प्रवृत्ति का यह नतीजा हुआ कि जर्मनी और ग्रेट ब्रिटेन में प्रतिद्वन्द्वता शुरू हो गई, जिससे दोनों मुल्कों के सम्बन्ध में किंचित कटुता आ गई और इससे प्रथम विश्व-युद्ध (1914-18) को भड़काने में सहायता मिली।

रूस-जापान युद्ध के परिणाम—रूस-जापान युद्ध 1904 का अन्तरराष्ट्रीय राजनीति पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा। इसने शक्ति-सन्तुलन में गड़बड़ डाल दी जिस पर यूरोप की सब व्यवस्था टिकी हुई थी। अब तक जर्मन सम्राट् की नीति यह थी कि एहतियात के साथ और रुक-रुककर आगे बढ़ना चाहिए, परन्तु अब भविष्य में उसकी नीति हो गई अपनी शक्ति का प्रदर्शन करना और जर्मन जाति के सैनिक देश को उत्तेजित करना। तिहरी सन्धि अब आक्रमण की सन्धि बन गई और अगले दस वर्ष में बार-बार कई ऐसी नाजुक घड़ियाँ आईं जब यूरोप में लड़ाई होते-होते बची। इस अर्से में अन्तरराष्ट्रीय झंझटें भी कई उत्पन्न हुईं और वे निरन्तर चलती रहीं। रूस और जापान के युद्ध को समझने के लिए हमको यह याद रखना चाहिए कि उन्नीसवीं शताब्दी में रूस के पास अपार सैनिक शक्ति थी और इस कारण उसकी प्रतिष्ठा बहुत बढ़ी-चढ़ी थी। कारण यह था कि नेपोलियन के पतन में उसका बहुत बड़ा हाथ था। क्रीमिया के युद्ध में यह जरूर प्रकट हो गया था कि देखने में उसकी सैनिक शक्ति बहुत मालूम होती है परन्तु वास्तव में इतनी बड़ी नहीं है। फिर भी बिस्मार्क की नीति का यह मुख्य सिद्धान्त था कि रूस के साथ मित्रता बनी रहे। रूस के डर से विलियम द्वितीय भी कुछ रुकता था। इससे उसके काम पर रोक-थाम हुआ करती थी। लेकिन जब एशिया के एक छोटे-से राष्ट्र ने इस विस्तृत निरंकुश साम्राज्य को पछाड़ दिया—ऐसे राष्ट्र ने जो पचास वर्ष पूर्व केवल धनुष और बाण का प्रयोग जानता था—तो यूरोप की स्थिति पर इसका प्रभाव बहुत भारी हुआ। रूस को अपार जनहानि हुई और काफी बड़ी देशहानि भी। पोर्ट आर्थर का किला उसके हाथ से जाता रहा और उसकी नौ-सेना के दो बेड़े नष्ट हो गये। लेकिन इन आर्थिक हानियों के अतिरिक्त इस युद्ध का सबसे

बुरा नतीजा यह हुआ कि रूस की प्रतिष्ठा मिट्टी में मिल गई। फिर वहाँ घरेलू झगड़े-बखेड़े हो गये जिससे देश कमजोर हो गया। इसलिये इस समय मध्यवर्ती शक्तियों की आक्रमणात्मक तजवीजों को रोकने के लिये रूस में सामर्थ्य नहीं थी।

तिहरी सन्धि—रूस-जापान युद्ध का एक नतीजा यह भी हुआ कि फ्रांस और इंगलैण्ड एक-दूसरे की ओर सरकने लगे। ब्रिटिश सरकार ने देखा कि अब एकान्त को खत्म करने का मौका आ गया है। अब तक तो उसको यही नीति थी, परन्तु बोर युद्ध के बाद उसमें परिवर्तन आये। इस परम्परागत रुख में तबदीली का कारण यह था कि इंगलैण्ड को यह डर था कि कहीं यूरोप के कुछ राष्ट्र मिलकर उसके खिलाफ न हो जायँ। यह डर शायद निर्मूल था, क्योंकि वह बात सम्भव नहीं थी कि ग्रेट ब्रिटेन के खिलाफ यूरोप के कुछ राष्ट्र मिल जाते, खासकर जब तक एलसिसलोरेन जर्मनी के चंगुल में फँसा हुआ था। प्रिंस बूलो ने कहा था कि फ्रांस समझाने से समझता भी नहीं। इसलिये जब कभी हम राजनीतिक हिसाब लगाएँ तो इस बात का खयाल रखना चाहिये कि जब तक एलसिसलोरेन पर हमारा कब्जा बना हुआ है तब तक हम फ्रांस को समझा-बुझाकर अपने पक्ष में नहीं कर सकते और यदि हम सोचते हैं कि ऐसा हो सकता है तो यह हमारी कमजोरी है। जर्मनी का बिल्कुल विचार नहीं है कि एलसिसलोरेन फ्रांस को वापस दे दिया जाय। जब ग्रेट ब्रिटेन ने यह इरादा कर लिया कि महाद्वीप पर कोई साथी टटोला जाय तो अब यह सवाल रह गया था कि दोहरी सन्धि की जाय या तिहरी। यह कहा गया था कि उस समय तक इसमें सन्देह था कि हम तिहरी सन्धि न करें। हमारी परम्पराएँ और हमारा रक्त-सम्बन्ध हमको जर्मनी और आस्ट्रिया की ओर बुला रहा है। जर्मनी के साथ हमारी कभी लड़ाई नहीं हुई, लेकिन विलियम द्वितीय के वक्तव्य में ऐसी बात है जिससे अविश्वास उत्पन्न होता है। इसके अलावा कुछ दूसरे भी उद्देश्य थे जिससे इंगलैण्ड के राजनीतिज्ञ दोहरी सन्धि की ओर झुकते थे। उधर फ्रांस इंगलैण्ड से हाथ मिलाने के लिये उत्सुक था। जापान से हार जाने के कारण रूस की शक्ति को तो मानो लकवा हो गया था। इसलिये फ्रांस फिर एक खतरनाक कोने में पड़ा था। फिर दोहरी सन्धि के कारण यह उसमें से निकला। अब एक फ्रांस और इंगलैण्ड में उपनिवेश के कारण खटपट रहा करती थी, परन्तु अब यूरोप में ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई थी कि दोनों में मिल-जुलकर काम करने की जरूरत थी। इसलिये इन झगड़ों के विषय में भी समझौता हो गया। ग्रेट ब्रिटेन ने मान लिया कि फ्रांस मोरक्को में अपने हाथ फैलाये और इसके बदले में फ्रांस ने यह मंजूर कर लिया कि इंगलैण्ड मिस्र पर कब्जा कर ले और दूसरे मामलों में जो हित-विरोध था वह भी चतुरता के साथ निपटा दिया गया। इस प्रकार अप्रैल सन् 1904 में इंगलैण्ड और फ्रांस की सन्धि हो गई। साथ ही इस सन्धि से यह भी प्रकट होता है कि यदि दोनों

ओर से कठिनाइयों को दूर करने की अभिलाषा हो ओर दोनों ही राष्ट्र कोई बीच का रास्ता टटोलना चाहें तो उनमें मित्रता होना कितना आसान है। इतिहास में पचास फीसदी युद्ध तो इस कारण होते हैं कि एक राष्ट्र दूसरे पर जान-बूझकर हमला करता है, लेकिन शेष पचास फीसदी युद्ध ऐसी ईर्ष्या और गलतफहमी की वजह से हो जाया करते हैं जो शान्ति के साथ विचार करने पर टल सकते हैं।

मोरक्को का प्रश्न : पहला स्वरूप (1905)—जब मोरक्को का प्रश्न उपस्थित हुआ तो इस बात की जाँच हुई कि इंगलैण्ड और फ्रांस की सन्धि में कितना बल है। कुछ साल से फ्रांस शान्तिपूर्वक मोरक्को में प्रवेश कर रहा था। यह चाहता था कि अन्त में इसको फ्रांस के राज्य में मिला लिया जाय। इसने इटली (1990;, ग्रेट ब्रिटेन (अप्रैल 1904) और स्पेन (1904) के साथ मुहाइदा कर लिया था कि मोरक्को के मामले में यह जो चाहेगा करेगा। मोरक्को के मामले में फ्रांस का विशेष स्वार्थ था। इसको सब लोग जानते थे। उत्तर अफ्रीका में जो फ्रांस के प्रदेश थे उनसे मोरक्को की सीमा मिली हुई थी और मोरक्को के साथ फ्रांस का इतना व्यापार था जितना इंगलैण्ड और जर्मनी के साथ भी नहीं था। दूसरी तरफ जर्मनी का भी यह दावा सच्चा था कि उसके स्वार्थ भी मोरक्को में लगे हुए हैं और मेड्रिड में जो सन्धि हुई थी (1880) उसके अनुसार जर्मनी के बिना मोरक्को के विषय में कोई फैसला नहीं हो सकता था। जर्मनी यह बात भी जोर के साथ कहता था कि उपनिवेशों के बिना जर्मनी का काम नहीं चल सकता है, इसलिये पश्चिमी राष्ट्र आपस में मिलकर यह तय नहीं कर सकते थे कि मोरक्को का क्या किया जाय। इन कारणों के आधार पर जर्मनी कहता था कि उसका हस्तक्षेप होना चाहिये। जर्मनी ने अपने अधिकारों का दावा इतने जोर-शोर के साथ पेश किया कि यूरोप के राष्ट्र भयभीत हो गये। उसने धमकी का रुख इसलिये अख्तियार किया था कि मुकडेन (मार्च 1905) में रूस की हार हो चुकी थी। 31 मार्च को जर्मन सम्राट् टेंजियर पहुँचा और साफ शब्दों में मोरक्को के स्वराज्य की घोषणा कर दी। यह फ्रांस को एक प्रकार की चुनौती थी परन्तु फ्रांस करता क्या! वह लड़ाई के लिये तैयार नहीं था। अब जर्मनी ने कहा कि एक अन्तरराष्ट्रीय कांफ्रेंस बुलाई जाय, और मोनसियर डिलेकेसे के विरोध करने पर भी परराष्ट्र-मन्त्री ने जर्मनी की माँग को स्वीकार कर दिया। तब डिलेकेसे ने त्यागपत्र दे दिया और एलजेसिरास में कांफ्रेंस का अधिवेशन हुआ। बहुत लम्बी-लम्बी बहसें हुईं, जिनसे ऐसा खतरा मालूम होता था कि लड़ाई होने वाली है, परन्तु फिर कन्वेशन ऑफ एलजेसिरास (Convesion of Algeciras) (7 अप्रैल 1906) के द्वारा एक काम-चलाऊ-सा समझौता हो गया। सुल्तान की बादशाहत औपचारिक रूप से मान ली गई। पुलिस और नेशनल बैंक पर अन्तरराष्ट्रीय नियंत्रण स्थापित कर दिया गया और यह सिद्धान्त मान लिया गया कि सब देशों के दरवाजे खुले रहेंगे

लेकिन फ्रांस को यह इजाजत दी गई कि वह मोरक्को में शान्तिपूर्वक प्रवेश करता रहे। जर्मन चांसलर ने इस स्थिति का सिंहावलोकन करते हुए कहा था कि न हम जीते न हम हारे हैं। पहले इंगलैण्ड और फ्रांस में ही सन्धि थी। उसके स्थान पर अब जर्मनी ने एक अन्तरराष्ट्रीय समझौता करवा दिया और उसने यह दावा भी पेश किया कि "अन्तरराष्ट्रीय महत्व के मामले में उस पर खयाल किया जाय।" जर्मनी जाँच करना चाहता था कि देखें मोरक्को के मामले को लेकर इंगलैण्ड और फ्रांस की सन्धि कायम रहती है या नहीं, लेकिन जर्मनी, इंग्लैण्ड और फ्रांस को अलग नहीं कर सका और न उनमें कोई फूट के बीज बो सका। मोरक्को के मामले का ऐतिहासिक महत्व इतना ही है कि जर्मनी और पश्चिमी राष्ट्रों में बल-परीक्षा का यह पहला ही मौका था।

एगेडिर की घटना: दूसरा स्वरूप (1911)—1911 की गर्मी में मोरक्को का प्रश्न फिर कठिन हो गया। मोरक्को में अराजकता फैल गई, इसलिये फ्रांसीसी सेना ने राजधानी (फेज) पर कब्जा कर लिया। जर्मनी ने इसका यह मतलब समझा कि फ्रांस का इरादा मोरक्को को अपना अधीन राज्य बनाने का है। इसलिये पेंथर नामक क्रूजर एगेडिर को रवाना कर दिया (1 जुलाई, 1911) और बहाना यह लिया गया कि क्रूजर जर्मन हितों की रक्षा करने के लिये भेजा गया है। जर्मनी का इरादा मोरक्को के किसी हिस्से को अपने राज्य में मिलाने का था या नहीं, यह तो विवाद का विषय है, परन्तु क्रूजर को भेजने से यह प्रकट हो गया कि जर्मनी एगेडिर या मोगेडर में एक हवाई अड्डा कायम करना चाहता है। ग्रेट ब्रिटेन ने अपने साथी की ओर से हस्तक्षेप किया। इंगलैण्ड का यह कर्तव्य था कि फ्रांस की सहायता करता, परन्तु एटलांटिक सागर के तट पर किसी बन्दरगाह का जर्मनी के हाथ में होना, इंगलैण्ड के व्यापार-मार्ग के लिये खतरे की बात थी। इसलिये ब्रिटिश सरकार ने सूचना दी कि यदि ब्रिटिश हितों की उपेक्षा की जायगी, तो यह ऐसा अपमान होगा जिसको इंगलैण्ड जैसा देश सहन नहीं कर सकेगा और कुछ सप्ताह तक ऐसा मालूम होता रहा कि किसी भी क्षण लड़ाई शुरू हो जायगी। तब जर्मनी ने अपनी माँगें नरम कीं, परन्तु यह पता नहीं लगता कि क्यों। यह भी कहा जाता है कि जर्मनी के सामने अर्थ-संकट था, लेकिन यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि जर्मन सरकार मोरक्को के प्रश्न को लेकर कोई नाजुक स्थिति पैदा करना चाहती थी या नहीं। जर्मनी समझता था कि उसके स्वार्थ की सिद्धि वास्तव में दूसरी जगह हो सकती है। वह पूर्वीय प्रश्न को लेकर तो लड़ाई करने के लिये तैयार था, लेकिन अफ्रीका के विषय में वह समझौता करना चाहता था (4 नवम्बर, 1911)। सन्धि की बातचीत का सारांश यह था कि जर्मनी ने मोरक्को को फ्रांस के अधीन मान लिया। इसके बदले में फ्रांस ने फ्रेंच कांगो का उत्तर-पश्चिमी हिस्सा छोड़ दिया। इन शर्तों से दोनों देशों में बड़ा असन्तोष हुआ, लेकिन क्षति-पूर्ति का सिद्धान्त कोई अनुचित बात नहीं थी। इस समय औपनिवेशिक

साम्राज्य की दृष्टि से फ्रांस का दूसरा दर्जा था। उसने उत्तरी अफ्रीका का बहुत बड़ा हिस्सा दबा लिया था और इसके बदले में उसने दूसरे राष्ट्रों को बड़ी-बड़ी रियायतें दी थीं। इंगलैण्ड को मिस्र में, इटली को ट्रिपोली में, स्पेन को टेन्जीयर में और अब उसने जर्मनी को भी रियायत दी।

प्रथम विश्व-युद्ध (1914-18)—एगेडिर की घटना के बाद जर्मनी में अपने असली शत्रु के विरुद्ध बड़ा क्रोध उमड़ा। रेश्टेग में एक कन्जरवेटिव नेता इंगलैण्ड को ही असली शत्रु मानता था, लेकिन धीरे-धीरे यह तनाव कम होने लगा। इंगलैण्ड और जर्मनी के सम्बन्ध को सुधारने के लिये बड़ी कोशिश की गई। इन दोनों देशों के बीच में सन्देह का कोहरा छाया हुआ था। इसको हटाने के लिये यह कोशिश की गई कि मित्र भाव से बहस की जाय। 6 दिसम्बर सन् 1911 को इंगलैण्ड के प्रधान मंत्री ने एक वक्तव्य में कहा कि इंगलैण्ड ने किसी राष्ट्र के साथ ऐसी कोई गुप्त सन्धि नहीं कर रखी है जो किसी राष्ट्र के खिलाफ युद्ध करने के लिये उसको विवश करे। हमारी यह अभिलाषा नहीं है कि हम ऐसे किसी राष्ट्र के रास्ते में रोड़ा अटकाएँ जो इस पृथ्वी पर और सूर्य के नीचे अपने लिये स्थान ढूँढ़ना चाहता हो। इंगलैण्ड का सबसे बड़ा हित इसमें है कि संसार में शान्ति हो। इंगलैण्ड की कूटनीति इसी उद्देश्य में लगी हुई है। जर्मन सरकार को यह सूचित किया गया था कि इंगलैण्ड किसी भी हालत में उस पार्टी का पक्ष ग्रहण नहीं करेगा जो जर्मनी पर हमला करे। तो भी जर्मनी के साथ समझौते की कोई बात आगे नहीं बढ़ी और अक्टूबर सन् 1914 में ब्रिटिश सरकार ने अपनी असफलता का कारण बताया। "वे चाहते थे कि जब जर्मनी किसी से लड़ाई लड़े तो हम पूर्ण रूप से उदासीन रहें और ऐसा वचन हमसे उस समय लिया जा रहा था जब जर्मनी आत्म-रक्षा के लिये और आक्रमण करने के लिये बड़ी जबरदस्त तैयारी में लगा हुआ था। खासकर वह अपनी नौ-सेना को दृढ़ कर रहा था। ऐसी माँग का उत्तर केवल एक ही हो सकता था और यह उत्तर हमने दे दिया।" जब ऐसी बात-चीत चल रही थी तब पूर्व की ओर एक नया तूफान उठा, और बालकन समस्या की ओर सारा संसार टकटकी लगाकर देखने लगा। हम उन घटनाओं का पहले ही वर्णन कर चुके हैं जिनके कारण सर्बिया ने दूसरे राष्ट्रों के प्रदेश हथियाये और यूनान ने सेलोनिका पर कब्जा कर लिया। इन घटनाओं से यह भय होता था कि आस्ट्रिया-हंगरी का राजतंत्र छिन्न-भिन्न होनेवाला है और उसके साथ ही नष्ट होगा जर्मन-नीति का मूल उद्देश्य अर्थात् पूर्व की ओर बढ़ना। अपनी पूर्वीय योजनाओं की खातिर जर्मनी 1909 और 1914 में युद्ध छेड़ने के लिये भी तैयार था। इससे पहले रूस मध्य राष्ट्रों के सामने झुक गया, लेकिन 1914 में उसने दूसरा रुख रखा। उसने सर्बिया को अपने भाग्य के भरोसे छोड़ने से इन्कार किया और उसका नतीजा हुआ प्रथम विश्व-युद्ध (1914-1918)।

अध्याय 9

यूरोप 1914-1939

समकालीन इतिहास—इस युग में ऐसी घटनाएँ घटीं जो हमने देखी हैं। हम में से कुछ ऐसे लोग हैं जिन्होंने इन घटनाओं के स्वरूप का निर्धारण किया है। इसके विषय में हम सब बहस करते हैं और हमारे ऊपर इनका प्रभाव पड़ा है। इसलिए हमको ऐसा प्रतीत होता है कि इन घटनाओं के निर्माण में हमारा भी भाग रहा है। इसलिए सिद्धान्ततः वर्तमान संसार के विषय में हमको भूतकाल की अपेक्षा अधिक ज्ञान होना चाहिए, क्योंकि अतीत के ज्ञान के लिए हमको लिखित और अल्प साधनों पर आश्रित रहना पड़ता है। परन्तु वास्तव में यह बात नहीं है। घटनाओं के स्वरूप को ठीक-ठीक देखने के लिए यह जरूरी है कि कुछ समय व्यतीत हो गया हो। किसी पर्वत को भी ठीक-ठीक देखने के लिए हमको फासले पर खड़ा होना पड़ता है। वर्तमान यूरोप के भँवर और प्रवाह तथा प्रतिप्रवाह हमारे चारों ओर घूमते हैं। इसलिए हम घटनाओं के सम्बन्ध में ठीक-ठीक निर्णय नहीं कर पाते। अन्तरराष्ट्रीय स्थिति भी बड़ी तेजी के साथ बदलती रहती है। क्षण-क्षण में इनका स्वरूप और का और होता रहता है। इसलिए इनका ठीक-ठीक अर्थ समझना कठिन है और शाश्वत सत्यों के साथ इनका सम्बन्ध जोड़ना भी इतना ही कठिन है। रंग-बिरंगी घटनाएँ क्षण-क्षण हमको घेरे रहती हैं। इससे हमारा दिमाग परेशान रहता है। जिन्दगी के इन पहलुओं के कारण हम पागल-से हो जाते हैं और ऐसा मालूम होता है कि मानवता सिसकती हुई रेत पर अपना भवन खड़ा कर रही है। जब धुँधली और अस्पष्ट प्रगतियाँ शान्त हो जाती हैं तब उनका अर्थ हमारी समझ में आता है। तभी हम समझते हैं कि जंगल कहाँ है और वृक्ष कहाँ हैं और तब हमको पता लगता है कि तमाम क्रियाओं का स्रोत क्या था। फिर भी दो विश्व-युद्धों के बीच के पच्चीस वर्षों में एक विशेष एकता है। इनके कुछ विशेष लक्षण हैं जिनके आधार पर हम भूत और वर्तमान का सम्बन्ध निश्चित कर सकते हैं और वर्तमान घटनाओं के जटिल जाल में हमको संसार की राजनीति और अर्थ-नीति के शाश्वत प्रवाह दिखाई देने लगते हैं। इस जटिल ताने-बाने को सुलझाने के लिए हमको जिस प्रकाश की आवश्यकता है उसके दो स्वरूप हैं। पहला अन्तरराष्ट्रीय शान्ति की स्थापना, जिसका आधार है सामूहिक रक्षा और दूसरा इसकी असफलता के कारण वरसाइल के सिद्धान्तों से हटना और इसी के साथ है ऐसे यूरोपियन देशों में स्वातंत्र्य-भावना का ह्रास जहाँ स्वतंत्र संस्थाओं की जड़ लोक-परम्पराओं में घुसी हुई नहीं है। अगले पृष्ठों में हम यूरोप के नये नक्शे का उल्लेख करेंगे। इसमें राष्ट्र-संघ के उत्थान

और पतन का इतिहास होगा, डिक्टेटरशिप अर्थात् तानाशाही के उदय का वर्णन किया जायगा, श्रमजीवियों के जनतन्त्र की उत्पत्ति का हाल होगा और विकृत जातीयता के आर्थिक परिणामों का विवेचन होगा, अर्थात् यह बतलाया जायगा कि संसार की आर्थिक अवस्था का किस प्रकार गला घोटा गया है। इन विकासों के कारण वर्तमान युग का एक गहरा नाटकीय रूप बन गया है। यह इतिहास का एक साधारण स्वरूप नहीं है। हमारे सामने क्या बात स्थायी है और क्या अस्थायी है, इसका निर्णय आगे आने वाली पुश्त करेगी। घटनाओं के महत्व को अगली पुश्त उनके शोर और गुल के आधार पर नहीं जाँचेगी बल्कि यह देखेगी कि ऐतिहासिक विकास में उनका कौनसा स्थान है। इतिहासकार के लिए यह बड़ी कठिनाई है, परन्तु इससे उसको रुकना नहीं चाहिए और वर्तमान संसार के स्वरूप को ठीक-ठीक समझाने के लिए उसको यत्न करना चाहिए।

(i)

1914 से 1918 का महायुद्ध

युद्ध के उद्देश्य—विश्व-युद्ध 1914 में आरम्भ हुआ और इसको समाप्त होने में चार साल से अधिक लगे। दुर्भाग्य के दिन बहुत जल्दी-जल्दी निकले। ऐसी स्थिति में आस्ट्रिया-हंगरी ने सर्बिया के विरुद्ध 28 जुलाई को, जर्मनी ने रूस के विरुद्ध 1 अगस्त को, फ्रांस के विरुद्ध 3 अगस्त को और ग्रेट ब्रिटेन ने जर्मनी के विरुद्ध 4 अगस्त को युद्ध की घोषणा कर दी। अन्त में संसार के अधिकांश राष्ट्र इस भँवर में आ फँसे। यह अपूर्व संघर्ष 51 महीने तक चला। फिर शत्रु की शक्ति मुकाबला करने योग्य नहीं रही और वह बिल्कुल बैठ गया। 29 सितम्बर 1918 को बलगेरिया ने, 30 अक्तूबर को टर्की ने, 3 नवम्बर को आस्ट्रिया-हंगरी ने और 11 नवम्बर को जर्मनी ने विजयी पक्ष की इजाजत से लड़ाई बन्द कर दी। दोनों लड़ने वाले पक्षों ने इस अर्से में बड़े धैर्य और लगन के साथ संघर्ष किया, जिससे प्रकट हो गया कि उनके स्वार्थ इसमें कितने लगे हुए थे। मध्य यूरोप के साम्राज्यों ने इसलिये युद्ध किया कि वे यूरोप पर अपना सैनिक आधिपत्य जमाना चाहते थे। मित्र राष्ट्रों ने और उनके दूसरे साथियों ने संसार के अन्तःकरण को हिला दिया। उन्होंने ऐसी नैतिकता की बातें कीं जो उस समय बड़े महत्व की मालूम होती थीं।[1] सम्यक् दृष्टि वाले लोगों ने दृढ़ निश्चय किया कि इस युद्ध के द्वारा सब युद्ध समाप्त हो जाने चाहिये। सैनिकता

---

1. गुप्त संधियों से प्रकट हो गया था कि साम्राज्यवादी उद्देश्य भी थे, परन्तु जर्मनी ने भी स्वीकार किया था कि हमारे शुत्रओं ने आरंभ में बहुत ऊँचे उद्देश्य अपने सामने रखे थे। प्रेसीडेंट विलसन के 14 मुद्दों में वे ही सिद्धान्त थे जो संधि-वार्ता के आधार माने जाते थे।

की भावना हमेशा के लिये खत्म हो जानी चाहिये। निरंकुशता के स्थान पर स्वतन्त्र संस्थाएँ कायम होनी चाहिये। संसार को जनतंत्र की स्थापना के लिये सुरक्षित होना चाहिये और सद्भावना तथा स्वातंत्र्य का संसार में स्थान होना चाहिये। 1914-18 के महायुद्ध के परिणाम भी उसके संघर्ष के अनुरूप ही थे। तीन शाही खानदान खतम हो गये, अर्थात् हेब्सबर्ग, हीहेनजोलर्न और रोमेनोफ। आस्ट्रिया-हंगरी का साम्राज्य भंग हो गया, जर्मन साम्राज्य लुंज-पुंज हो गया, आटोमन साम्राज्य सिकुड़कर छोटा-सा जनतन्त्र बन गया। इस प्रकार तीन साम्राज्य तो नष्ट हुए और उन्नीसवीं शताब्दी की राष्ट्रीय प्रगति पर्यवसान पर पहुँची। सबसे महत्व की बात यह थी कि एक ऐसा यन्त्र खड़ा किया जाये जिसका उद्देश्य शान्ति के तरीके से संसार के झगड़ों को निपटाना हो और समस्त संसार की शक्तियों को ऐसे आक्रमण के खिलाफ संगठित करना हो जो अकारण ही किया गया हो।

महायुद्ध के स्वरूप—1914-18 के विश्व-युद्ध का प्रभाव लोगों के मन पर बहुत गहरा पड़ा। इसके कारण यूरोप वधगृह बन गया था। पहले लोग युद्ध को एक प्रकार का टूर्नामेंट-सा मानते थे। यह मध्यकालीन विचार नष्ट हो गया। अब युद्ध में कोई चमक-दमक नहीं रही। वर्तमान युद्ध की भयानकता और वास्तविकता नंगे रूप में संसार के सामने आ गई. अर्थात् ट्रेंचों के अन्दर से लड़ना, भारी और भभकने वाले गोलों का उपयोग करना जिससे युद्ध-क्षेत्र भर गये और जिनके कारण जहाँ-तहाँ सैनिकों के लुंज-पुंज शरीर नजर आने लगे और प्रकाशहीन नगर और निहत्थे लोगों पर बमों की वर्षा। पहले युद्ध के समय दो वर्ग माने जाते थे, अर्थात् कर्ता और द्रष्टा। इस युद्ध ने,सबको एक ही वर्ग में रख दिया, अर्थात् सब कर्ता ही कर्ता थे, द्रष्टा कोई नहीं रहा। लोग चाहे लड़ें नहीं और युद्ध की सामग्री तैयार न करें, लेकिन युद्ध का खतरा सबके लिये समान था। जब ग्रेट ब्रिटेन नेपोलियन के साथ ऐसा युद्ध कर रहा था जो जीवन और मरण का प्रश्न था, तब जेन आस्टिन नामक एक लेखिका ने कई उपन्यास लिखे। इन ग्रन्थों में युद्ध के उपरोक्त स्वरूप का कहीं उल्लेख नहीं है, लेकिन 1914-18 के महायुद्ध ने लोगों के दिलों में ऐसा आतंक पैदा कर दिया कि इन दिनों में युद्धों की भयंकरता के अतिरिक्त और कोई बात लोगों को सूझती ही नहीं थी। अब युद्ध के समय सम्पूर्ण जन-शक्ति का उपयोग होता है और खेतों में, कारखानों में और फैक्ट्रियों में पुरुषों का स्थान स्त्रियों को लेना पड़ता है। दूसरा पाठ जो महायुद्ध ने पढ़ाया, वह यह है कि अगर दोनों पक्षों में शस्त्र और सामग्री के विषय में बहुत बड़ा भेद न हो तो यह बतलाना असम्भव है कि युद्ध कितने समय तक चलेगा। 1914 में जब युद्ध आरम्भ हुआ तो ऐसा अनुमान किया जाता था कि यह संघर्ष कुछ महीनों में ही समाप्त हो जायगा। ऐसा समझा जाता था कि क्रिसमस से पहले सब झगड़ा खत्म हो जायगा। यह भी खयाल किया जाता

था कि अगर युद्ध बहुत समय तक चला तो संसार का नाजुक और पेचीदा अर्थतन्त्र नष्ट हो जायगा। लोगों की यह भविष्य-वाणी गलत साबित हुई। इसमें सन्देह नहीं कि यह बात तो सत्य है कि विजय उसी को प्राप्त होगी जिसकी थैली बड़ी होगी, लेकिन निर्बल पक्ष के पास भी ऐसे सैनिक साधन होते हैं जिनके द्वारा वह लड़ाई को लम्बी कर सकता है और दूसरे पक्ष को सन्देह में डाल देता है कि अन्त में क्या होने वाला है। पहले जमाने में विजय बहुत जल्दी प्राप्त हो जाती थी। हारेस वालपोल लड़ाई के समय रोज प्रातःकाल पूछा करता था, आज कहाँ जीत हुई ? उसको यह डर रहा करता था कि कहीं किसी विजय का उसको पता न चले। परन्तु अब यह हाल हो गया है कि लड़ाई निरन्तर होती रहती है। जैसे कसाई-खाने में जानवर कटते हैं उसी प्रकार सैनिक कटते रहते हैं। कुछ इंच भूमि हाथ से चली जाती है या कुछ इंच भूमि वापस आ जाती है। सिपाहियों और अफसरों की मृत्यु की सूचियाँ प्रति दिन लम्बी होती जाती हैं। 1914-18 के विश्व-युद्ध ने यह गहरा सत्य भी प्रकट कर दिया कि वर्तमान युद्ध के दो मोर्चे होते हैं—एक रणभूमि और दूसरा देशभूमि। दोनों का महत्व बराबर है, क्योंकि किसी देश को चाहे प्रत्येक रणभूमि में विजय मिल जाय, लेकिन यदि जनता में क्षोभ उत्पन्न हो गया और धैर्य नहीं रहा या देश भूख से पीड़ित है तो विजय पराजय का रूप धारण कर लेती है। यूरोप के वर्तमान इतिहास ने यह भी बतला दिया है कि आर्थिक दृष्टि से देखा जाय तो जीत किसी की नहीं होती, क्योंकि विजय प्राप्त करने के बाद भी पर्याप्त हरजाना किसी को नहीं मिलता। नाशकारी युद्ध के कारण दोनों पक्षों पर भारी बोझ पड़ता है और युद्ध-दंड से वह कभी पूरा नहीं होता। इसके अतिरिक्त यह बोझ युद्ध के समय में ही नहीं आगे भी चलते रहते हैं, क्योंकि जब हारा हुआ शत्रु अपनी आर्थिक स्थिति सुधार लेता है तो विजयी पक्ष का फिर सामना करता है। इसलिये युद्ध के बाद शान्ति नहीं शस्त्र-शान्ति हुआ करती है।

युद्ध के प्रथम दो वर्ष—जर्मन लोगों को यह आशा थी कि वे अपने शत्रुओं पर जल्दी ही विजय प्राप्त कर लेंगे। परन्तु पश्चिम में यह आशा पूरी नहीं हुई। बलगेरिया ने अच्छा मुकाबला किया जिससे जर्मन सेनाओं को आगे बढ़ने में देर हुई और मारने की लड़ाई (6-10 सितम्बर 1914) के कारण पेरिस बच गया। इस पश्चिमी सीमा पर अब ट्रेंचों का युद्ध जारी हो गया। ऐसा मालूम होता था कि किसी किले को घेर रखा हो। फ्रांस के आर-पार सैकड़ों मील तक पंक्तियों के दोनों तरफ एक ओर जर्मन और दूसरी ओर मित्रों की सेनाएँ ट्रेंचों में पड़ी रहीं। फायदा जर्मन लोगों को हो चुका था, क्योंकि उन्होंने बेलजियम और फ्रांस की भूमि पर कब्जा कर लिया था और उनकी चौकियाँ फ्रांस की राजधानी के लगभग 55 मील तक जा पहुँची थीं और अंग्रेजी थानों से 65 मील दूर रह गई थीं। पूर्व की ओर से रूस ने

हमला किया था, लेकिन मार्शल वान हिन्डनबर्ग के नायकत्व में जर्मन लोगों ने रूस की सेना को खदेड़कर भगा दिया और उधर की ओर जर्मनी की भूमि पर कोई हमलावर नहीं रहा। इससे मित्रों की आशा पर पानी फिर गया। उन लोगों का यह विश्वास था कि जब रूस का पूर्व की ओर दबाव बढ़ेगा तो पश्चिम में उनको कुछ चैन मिलेगा। अक्तूबर 1914 में टर्की जर्मनी की ओर से लड़ाई में शामिल हुआ। इसका जवाब ग्रेट ब्रिटेन ने यह दिया कि साइप्रस टापू को अपने राज्य में मिला लिया और मिस्र को एक सुरक्षित राज्य घोषित कर दिया। टर्की के पीछे बल्गेरिया भी जर्मनी से मिल गया (अक्तूबर 1915), इटली ने यूरोप की मध्यवर्ती रियासतों के साथ की हुई तिहरी सन्धि तोड़ दी और वह मित्रों में मिल गया। मई 1915 में ऐसा हमला हुआ जो हमेशा याद रहेगा। मित्रों ने चाहा कि भूमध्य सागर से काले सागर में पहुँचने के लिये जो जलडमरुओं का रास्ता है उसको साफ किया जाय। कुस्तुन्तुनिया पर अधिकार किया जाय और रूस को एकान्त में निकालकर पश्चिमी राष्ट्रों के साथ जोड़ दिया जाय और इस प्रकार जर्मनी को चारों ओर से दबोच दिया जाय। कर्नल लोरेन्म ने लिखा है कि यह चढ़ाई टर्की के लिये घोर विपत्ति थी, परन्तु वास्तव में यह बात नहीं थी। यह चढ़ाई यों ही रही। इसका कोई नतीजा नहीं निकला। उस वधगृह में आटोमन साम्राज्य की रही-सही सेना खत्म हो गई। अगले वर्ष दो बड़ी-बड़ी लड़ाइयाँ हुई और उनका भी कोई खास नतीजा नहीं निकला। इनमें एक वर्ड़ून की लड़ाई थी और दूसरी सोम की। जर्मन लोग वर्ड़ून के किले को जीतना चाहते थे लेकिन यहाँ पर डटकर मुकाबला हुआ। सोम पर भी दोनों पक्षों ने बड़ी बहादुरी के साथ लड़ाई लड़ी। 1916 में मित्रों की स्थिति और बिगड़ी। मध्यवर्ती राष्ट्रों ने बलगेरिया की सहायता से सर्बिया को तहस-नहस कर ही दिया था, परन्तु इसकी चिन्ता न करके रोमानिया ने आस्ट्रिया-हंगरी के विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया। लेकिन साल की समाप्ति से पहले ही शत्रु ने इस देश को दवा लिया और राजधानी उनके हाथ में चली गई।

युद्ध का तीसरा वर्ष—1917 में मित्र-राष्ट्रों पर बहुत विपत्तियाँ आई, परन्तु इससे यह भी अनुमान होता था कि अन्त में उनकी जीत होने वाली है। पश्चिम में आस्ट्रियन लोगों ने इटेलियन सेना को कैपोरेटो (अक्तूबर 1917) के रणक्षेत्र में हराया और इटली की सहायता के लिये फ्रेंच, और ब्रिटिश सेनाएँ एकदम भेजनी पड़ीं। पूर्व में रूस में राजनीतिक उथल-पुथल हो गई, जिसके कारण स्थिति का रूपान्तर हो गया। रूस की प्रारम्भिक पराजय से जो हानि हुई थी उसकी अभी कोई अच्छी पूर्ति नहीं हो पाई थी। रूसी सेना अच्छी प्रकार सजी हुई थी, परन्तु इसका आत्म-विश्वास पराजय के कारण हिल गया था। मार्च 1917 में रूस में क्रान्ति हुई और कामचलाऊ सरकार बनी जिसने अपने इरादे की घोषणा की कि अब नये उत्साह

और शक्ति के साथ युद्ध जारी रखा जायगा। मित्रों के दबाव डालने पर जून में गेलेशिया पर रूस ने हमला भी किया लेकिन सफलता नहीं हुई। नवम्बर 1917 में दूसरी रूसी क्रान्ति हुई और रूस ने युद्ध करना छोड़ दिया।। जब बोलशेविक लोगों के हाथ में शक्ति आई तो उन्होंने जर्मनी से बातचीत करके युद्ध स्थगित कर दिया और फिर दिसम्बर में सन्धि की बातचीत शुरू हो गई। उस समय ट्राटस्की रूस का पर-राष्ट्र मंत्री था। उसने ब्रेस्टलिटोवस्क (Brest-Litovsk) की सन्धि पर हस्ताक्षर करने से इन्कार कर दिया और अपने पद से त्यागपत्र दे दिया। परन्तु लेनिन ने इसमें विरोध नहीं माना और मार्च 1918 की सन्धि पर हस्ताक्षर हो गये। इसके अनुसार रूस को बड़ी सख्त शर्तें माननी पड़ीं। सीमान्त प्रदेश और यूक्रेन[1] उसके हाथ से जाते रहे। लेनिन ने ब्रेस्टलिटोवस्क में आत्म-समर्पण इसलिये स्वीकार किया था कि वह शान्ति के साथ कुछ साँस लेना चाहता था। फिर भी पराजय, विभाजन और अपमान तथा गुलामी पर, जो इस सन्धि के अनुसार रूस को भोगनी पड़ी, उसको बड़ा अफसोस हुआ। वह दिन दूर नहीं था जब पराजित जर्मनी के प्रतिनिधियों ने वरसाइल की सन्धि का लगभग ऐसे ही शब्दों में विरोध किया था। अगर जर्मनी रूस के साथ इस प्रकार की सन्धि नहीं करता तो उसके विरोध में शायद अधिक वजन होता। अप्रैल 1918 में जो प्रेसीडेन्ट विलसन ने कहा वह वास्तव में संसार का मत था। उसने कहा, "जर्मनी के सैनिक नेताओं ने, जो वहाँ के वास्तविक शासक हैं, जो कुछ किया है उसको समझने में हम कोई भूल नहीं कर सकते। उनकी न्याय और ईमानदारी का समय आ गया है इसी के आधार पर आयन्दा भी उनकी जाँच होगी।" रूस ने लड़ाई करना छोड़ दिया तो तत्कालीन सैनिक स्थिति पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा। अब जर्मनी को दो मोर्चों पर लड़ाई करने की आवश्यकता नहीं थी। अपनी सेना के कितने ही डिवीजन अब उसने पश्चिमी रणक्षेत्र की ओर भेज दिये। अब अपने विरोधियों के मुकाबले में जर्मनी की सेना की संख्या अधिक हो गई थी।

यूनाइटेड स्टेट्स का प्रवेश—यूरोपीय युद्ध से रूस के हट जाने से जो क्षति हुई थी उसकी आवश्यकता से अधिक क्षति-पूर्ति एक ऐसी महत्वपूर्ण घटना से हो

---

1. ब्रेस्टलिटोवस्क (मार्च, 1918) की सन्धि के अनुसार तय हुआ था कि पोलैंड और बालटिक प्रान्त रूस के अधीन नहीं रहेंगे। जर्मनी और आस्ट्रिया हंगरी इनकी जनता से सहमति लेकर इनके विषय में निर्णय करेंगे। रशिया ने उक्रेन की स्वाधीनता स्वीकार कर ली थी। यह बिल्कुल स्पष्ट दिखाई देता था कि आत्मनिर्णय की चाहे डींग मारी जाती रहे, परन्तु जो प्रदेश रूस से ले लिये जाएँगे, वे जर्मनी के अधीन रहेंगे। यह सन्धि जे० डब्ल्यू० ह्वीलर बेनेट-कृत 'ब्रेस्टलिटोवस्क' की परिशिष्ट 5 में छपी हुई है। इसी मास में बुखारेस्ट में एक संधि हुई, जिसके अनुसार रोमानिया जर्मनी के हाथ में आ गया और उसकी रेलें, गेहूँ और पैट्रोल अनिश्चित समय के लिये जर्मनी के अधीन कर दिये गये।

गई जो इसी साल घटी अर्थात् यूनाइटेड स्टेट्स का प्रवेश। जर्मनी ने 1917 में निश्चय किया था कि जल-मग्न नौकाओं द्वारा अनियंत्रित युद्ध किया जायेगा। इस निश्चय के कारण ही अमेरिका ने युद्ध में प्रवेश किया। जर्मन नौ-सेना ने ब्रिटिश नौ-सेना का मुकाबला करने का साहस तो नहीं किया। हाँ केवल एक बार उसने मुठभेड़ की। जटलैण्ड की लड़ाई में (31 मई से 1 जून 1916) कोई भी जीता हो लेकिन उसका व्यावहारिक फल यह हुआ कि जर्मनी की नौ-सेना अपने ही बन्दरगाहों में बन्द पड़ी रही और लड़ाई के अन्त तक वह वहाँ से नहीं हिल सकी। जहाजों द्वारा माल ले जाने का काम इंगलैण्ड का प्रधान व्यवसाय था। जर्मनी चाहता था कि इसको क्षति पहुँचाई जाय। इसलिए अब उसने यह नीति ग्रहण की कि ब्रिटिश व्यापारिक जहाजों को जलमग्न नौकाओं द्वारा डुबोया जाय। फरवरी 1915 में उसने जलमग्न नौकाओं द्वारा इंगलैण्ड को चारों ओर से घेर लिया। तब इंगलैण्ड की कौंसिल ने निश्चय किया कि किसी भी प्रकार की पाबन्दी नहीं मानी जाय। तब जलमग्न नौकाओं का खतरा और बढ़ गया। ल्यूसीटेनिया नामक एक एटलांटिक लाईनर पर जर्मनी की जलमग्न नौकाओं ने टारपीडो का वार किया (मई 1915), जिसके फलस्वरूप पुरुष, स्त्रियाँ और बच्चे मिलाकर 1000 यात्री मर गये। ऐसा अनुमान लगाया गया था कि ब्रिटिश बन्दरगाहों से रवाना होने वाले चार व्यापारिक जहाजों में से एक तो डुबा ही दिया जाता था। इस प्रकार 90,00,000 टन के वजन के ब्रिटिश जहाज शिकार हो गये थे। इस प्रकार स्थिति बड़ी खतरनाक हो गई। इस पर काबू करने के लिये इंगलैण्ड ने हर व्यापारिक जहाज के साथ रक्षक जहाज भेजना शुरू किया। जितनी क्षति होती थी उससे भी अधिक जहाज बनने आरम्भ हुए और अमेरिका के नाशक जहाजों का सहयोग प्राप्त किया। इसलिये यह बहुत सम्भव था कि जलमग्न नौकाओं के युद्ध से ग्रेट ब्रिटेन पर इतना दवाव नहीं पड़ता कि वह आत्मसमर्पण कर देता। परन्तु एक समय ऐसा आया था जब ऐसी आशंका होती थी कि जर्मनी का उद्देश्य पूरा हो जायगा। इस आशंका का जर्मनी पर यह प्रभाव पड़ा कि उसने दूसरी भारी भूल की। भूल यह थी कि उसने उदासीन जहाजों पर भी निर्दयतापूर्वक आक्रमक्ष करना शुरू किया। इसका परिणाम उतना ही घातक हुआ जितना बेल्जियम पर आक्रमण करने का हुआ था। यह ऐसी भूल थी जिसके कारण उसके बड़े-बड़े दृढ़ शत्रु युद्ध में सम्मिलित हो गये। 21 जनवरी सन् 1917 को जर्मनी ने युनाइटेड स्टेट्स को एक नोट भेजा, जिसमें घोषणा की गई कि जलमग्न नौकाओं के युद्ध पर अब किसी भी प्रकार का नियंत्रण नहीं होगा। नोट में कहा गया था कि इंगलैण्ड ने जर्मनी को भूखों मारकर हार मनाने की कोशिश की है। इससे स्त्रियों और बच्चों को, रोगियों और वृद्धों को अपनी मातृ-भूमि की खातिर घोर यातनाएँ सहनी पड़ी हैं। इस भूखों मारने वाले युद्ध का अन्त करने

के लिये जर्मन सरकार को उन सब शस्त्र-नियंत्रणों का अन्त करना पड़ रहा है जिनको स्वयं उसने समुद्र पर युद्ध करने के लिये ग्रहण किया था। जर्मनी की इस दलील को, कि अंग्रेजों के घेरे का जवाब वह उदासीन जहाजों को डुबाकर देना चाहता है, युनाइटेड स्टेट्स ने बिल्कुल मंजूर नहीं किया। हाँ, जर्मनी ने इतना जरूर कहा था कि उन्हीं जहाजों को डुबाया जायगा जो ग्रेट ब्रिटेन के साथ व्यापार करेंगे। अब युनाइटेड स्टेट्स ने 6 अप्रैल 1917 को जर्मनी के साथ अपना राजनीतिक सम्बन्ध तोड़ दिया और उसके विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। यूनाइटेड स्टेट्स युद्धक्षेत्र में इसलिये आ उतरा कि जर्मनी के सैनिक स्वामियों ने उस पर भी यातनाएँ और अपमान ढाना शुरू कर दिया था। तथापि अमेरिका का हस्तक्षेप इस इरादे से नहीं हुआ था कि केवल अमेरिका के हितों की ही रक्षा की जायगी। प्रेसीडेन्ट विलसन ने चिरस्मरणीय शब्दों द्वारा उन ऊँचे उद्देश्यों की घोषणा की जिनका वह अपने मन में इस प्रथम विश्व-युद्ध से (1914-18) सम्बन्ध जोड़ता था। संसार जनतंत्र के लिये बिल्कुल सुरक्षित हो जाना चाहिये। इसकी शान्ति के लिये ऐसी सरकारों से कोई खतरा नहीं रहना चाहिये जिनका आधार संगठित सेना है और जिसका नियंत्रण लोकमत पर निर्भर नहीं बल्कि अपनी मर्जी पर निर्भर है।" यूनाइटेड स्टेट्स के शामिल होने से मित्रों को अपार अर्थ-सहायता और प्रभूत जनशक्ति प्राप्त हुई। ऋण घोषित किये गये, युद्ध-पोतों का निर्माण हुआ और अनिवार्य सैनिक-सेवा जारी की गई। 1918 में अमेरिकन सेना ने यूरोप में प्रवेश करना शुरू किया और इतनी आई कि उसकी संख्या बीस लाख हो गई। इसके बाद जनरल ल्यूडन डौफ ने लिखा था कि "जब अमेरिका से सैनिक सहायता आई और उसने ऐसी अंग्रेजी और फ्रांसीसी सेनाओं का स्थान ले लिया जो अभी युद्ध नहीं कर रही थीं और जब ये सेनायें रणक्षेत्र में आगे लगीं तो हमारे विरुद्ध जो सन्तुलन था वह घटने लगा। इस कारण युद्ध का निर्णय अब अमेरिका के हाथ में चला गया।"

युद्ध का चतुर्थ वर्ष—अब युद्ध के अन्तिम अंक के लिये रंगमंच तैयार हो गया था। अब तक जर्मन सेना की संख्या अधिक थी। अतः जर्मन सेनानायकों ने यह आवश्यकता अनुभव की कि यूनाइटेड स्टेट्स की सेनाओं के आने से पहले ही मित्रों की सेनाओं को खदेड़ा जाय और उनको मुठ-भेड़ के लिये विवश किया जाय। इस-लिए जर्मनी के सेना-संचालकों ने मार्च 1918 में एक आखिरी हमला किया। इसका सामना करने के लिए सम्पूर्ण मित्र सेना का नायकत्व फ्रेंच जनरल मार्शल फौच को दिया गया। सम्पूर्ण सेना का संचालन एक हाथ में आ जाने से मित्रों के प्रत्याक्रमण की सफलता निश्चित-सी हो गई। जनरल ल्यूडन डौर्फ ने स्वयं लिखा था कि "अब जर्मनी की युद्ध-शक्ति के खत्म होने में कोई शंका नहीं थी।" इस आक्रमण में जर्मनी की रिजर्व सेनाएँ बहुत खत्म हुईं और फिर उस पर निरन्तर हमले होने लगे और

उसकी हार पर हार होने लगी और जब जर्मन सेनाएँ पीछे हटने लगीं तो स्पष्ट ही युद्ध का अन्त अब नजर आने लगा है। जब देखा गया कि जर्मनी अभी तो व्यवस्थित रूप से पीछे हट रहा है, लेकिन ऐसा जान पड़ता है कि जल्दी ही भगदड़ मच जायगी और फिर जर्मनी पर भी हमला हो सकेगा, तब जर्मन सेना-संचालकों ने आग्रह किया कि उनकी सरकार युद्ध को स्थगित करने के लिए याचना करे। अक्टूबर 1918 में सेना-शिविर से जर्मनी के चांसलर को एक तार भेजा गया जिसमें जनरल ल्यूडन डौर्फ ने कहा कि "अब फौरन ही हमारी प्रार्थना घोषित कर दी जाय कि हम सुलह चाहते हैं। अभी तो हमारे सैनिक रणक्षेत्रों में डटे हुए हैं, लेकिन यह कहना असम्भव है कि कल क्या हो जाय।" मार्शल वान हिंडनबर्ग ने, जो 1916 में प्रधान सेनानायक नियुक्त हो चुका था, एक वक्तव्य प्रकाशित किया जिसमें कहा गया था कि "सेना के जनरल हैडक्वार्टर्स इसी बात पर दृढ़ हैं कि शत्रु से सुलह करने के लिए तत्काल कहा जाय। हमारी सेना मेसेडोनिया के मोर्चे पर हार चुकी है और पश्चिम में हमारे रिजर्व कमजोर होते जाते हैं, इसलिये सम्भव नहीं है कि हम शस्त्र-बल से शत्रु को मजबूर करके सुलह करवा सकें। शत्रु लगातार अपनी रिजर्व सेना को लड़ने के लिए भेज रहा है। अभी जर्मन सेना के पैर दृढ़ हैं और शत्रु के आक्रमणों को विजयपूर्वक वापस धकेल रही हैं, परन्तु स्थिति दिन-प्रतिदिन नाजुक होती जाती है।" जब सुप्रीम कमान को यह विश्वास हो गया कि अब सैनिक स्थिति और भी बुरी होगी तो उसने अपनी सरकार पर दबाव डाला और विवश होकर जर्मन सरकार ने युद्ध स्थगित करने की बातचीत शुरू की। बस अब स्थिति सैनिक नेताओं के हाथ से निकल गई। आगे चलकर जनरल ल्यूडन डौर्फ ने यह यत्न किया कि सन्धि-वार्ता बन्द हो जाय और जुए के खिलाड़ी की तरह एक पासा फेंककर और देखा जाय कि क्या होता है तो उसकी कुछ नहीं चली और उसको अपने स्थान से अलहदा कर दिया गया।

चौदह पाइंट—पहले लोग युद्ध-भूमियों की ओर देखते थे, परन्तु अब चान्सलरीज (परराष्ट्र-सचिवालयों) की ओर देखने लगे। अब कूटनीतिज्ञ लोग पुनः अपने आसनों पर आ बैठे जहाँ से सेनानायकों ने उनको गत चार वर्ष तक निकाल रखा था। यूनाइटेड स्टेट्स के प्रेसीडेंट और मध्यवर्ती राष्ट्रों की सरकारों में अब परस्पर 'नोट' आने-जाने लगे। प्रेसीडेन्ट विलसन ने 8 जनवरी 1918 को कांग्रेस में भाषण देते हुए सन्धि की शर्तें प्रस्तुत की थीं जो चौदह पाइन्ट के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन चौदह पाइन्ट का ऐतिहासिक महत्व है, क्योंकि उन्हीं के आधार पर जर्मनी आत्म-समर्पण करने के लिए तैयार हुआ था। (1) शान्ति के मुहाइदे प्रकटरूपेण किये जाएँगे। उनके बाद किसी प्रकार के खानगी अन्तरराष्ट्रीय समझौते नहीं किये जाएँगे। कूटनीति साफ और स्पष्ट ढंग से चलती रहेगी और जनता उसको देखती रहेगी। (2) शान्तिकाल तथा युद्धकाल में समुद्रतटीय भागों (Territorial Waters) को

छोड़कर शेष सागरों पर नौ-संचालन की सबको पूर्ण स्वतन्त्रता होगी, लेकिन अन्त-रराष्ट्रीय मुहाइदों को लागू करने के लिए समस्त समुदों पर या उनके किसी भाग पर नौ-संचालन बन्द किया जा सकेगा। (3) यथासम्भव समस्त आर्थिक रुकावटें हटाई जायेंगी और सब राष्ट्रों में समान व्यापारिक स्थिति स्थापित की जायगी। (4) सब राष्ट्रों को यह गारन्टी दी जायगी और उनसे यह गारन्टी ली भी जायगी कि उनके शस्त्रास्त्र घटाकर इतने कम कर दिये जाएँगे जो केवल आन्तरिक रक्षा के लिये आवश्यक हों। (5) उपनिवेश-सम्बन्धी दावों का स्वतन्त्र रूप से, खुले दिमाग से, और निष्पक्षता से फैसला किया जायगा। ऐसे फैसले करते समय इस सिद्धान्त का पालन किया जायगा कि वहाँ किसका राज्य हो। इसका निर्णय करते हुए तत्सम्बन्धी आबादी के हितों को उतना ही वजनदार माना जायगा जितना उन सरकारों की उचित माँगों को जिनके अधिकारों का निर्णय करना है। (6) सम्पूर्ण रूसी भूमि को खाली किया जायगा। (7) वेलजियम को खाली करके उसकी सरकार के सुपुर्द किया जायगा। (8) फ्रांस की सब भूमि स्वतन्त्र की जायगी और जो हिस्से दवा लिये हैं वे पुनः उसकी सरकार के सुपुर्द किये जाएँगे। एलसिसलोरेन के सम्बन्ध में सन् 1871 में जो फ्रांस के साथ अन्याय किया गया था और जिसके कारण पचास वर्ष तक विश्व-शान्ति में गड़बड़ रही, उसका निराकरण किया जायगा ताकि सबके हित की दृष्टि से पुनः शान्ति की स्थापना हो सके। (9) इटली की सीमाओं की पुनर्व्यवस्था यह बात ध्यान में रखकर की जायगी कि इटैलियन जाति किन स्पष्ट और संविधेय लाइन्स तक बसी हुई है। (10) आस्ट्रिया-हंगरी की जातियों का स्थान संसार की कौमों में सुरक्षित और निश्चित होना चाहिये और उनको पूरा मौका मिलना चाहिये कि वे स्वराज्य के द्वारा अपना विकास कर सकें। (11) रोमानिया, सर्बिया और मोन्टीनिग्रो को खाली किया जाय। (12) आटोमन साम्राज्य के तुर्की भागों को आश्वासन दिया जाय कि वहाँ उनका राज्य सुरक्षित रहेगा, परन्तु जो अन्य जातियाँ इस समय तुर्क राज्य के अधीन हैं उनको आश्वासन दिया जाय कि उनका जीवन निस्सन्देह सुरक्षित रहेगा और स्वराज्य के साथ विकास करने के लिए उनको पूर्णतया निर्बाध अवसर प्राप्त होगा और डार्डेनल्स में होकर सदैव सब कौमों के जहाज और तिजारत अन्त-रराष्ट्रीय गारन्टी के साथ स्वतन्त्रतापूर्वक गुजर सकेंगे। (13) एक स्वतन्त्र पोलिश राज्य स्थापित किया जायगा। इसमें ऐसे प्रदेश शामिल होंगे जिनकी आबादी निस्सन्देह पोल हो। इस देश की समुद्र तक स्वतंत्र और सुरक्षित पहुँच होगी और इसकी राज-नीतिक और आर्थिक स्वतन्त्रता तथा इसकी भूमि की अविभाज्यता की गारन्टी अन्त-रराष्ट्रीय मुहाइदे के अनुसार दी जायगी। (14) विशेष मुहाइदों के अधीन एक राष्ट्र-संघ बनाया जायगा ताकि राजनीतिक स्वतन्त्रता और देश की अविभाज्यता के विषय में परस्पर गारन्टी दी जा सके और ऐसी गारन्टी छोटे और बड़े राष्ट्रों को समान रूप

से दी जा सके। अगले भाषण में विलसन ने अपने चौदह मुद्दों का सारांश इस प्रकार बतलाया—"हम जो प्रयास कर रहे हैं वह ऐसी अन्तरराष्ट्रीय व्यवस्था के लिये है जिसका आधार न्याय और अधिकार के विस्तृत और व्यापक सिद्धान्तों पर हो—यह केवल जोड़तोड़ की सन्धि न हो। लोग और प्रदेश असबाब या गोटों की भाँति कभी इस राज्य में और कभी उस राज्य में न दे दिये जाएँ। उनके साथ खिलवाड़ न हो, यहाँ तक कि शक्ति-सन्तुलन की खिलवाड़ भी न की जाय। अब इस खिलवाड़ का मान सदैव के लिए जाता रहा है।" चौदह में से एक पाइन्ट, जिसका सम्बन्ध आस्ट्रिया-हंगरी से था, बाद में संशोधित किया गया था। कारण यह था कि चेकोस्लाव और युगोस्लाव जातियों ने कुछ दावे पेश किये थे, जिनको यूनाइटेड स्टेट्स ने मजूर कर लिया था। चोदहों पाइन्ट पर मित्र लोग सहमत हो गये परन्तु दो पाइन्ट पर अभी अपना मत प्रकट नहीं किया। एक पाइन्ट समुद्र-स्वतन्त्रता के विषय में था और दूसरा युद्ध की क्षति-पूर्ति के बारे में। (1) दूसरा वाक्यांश, जो समुद्र-स्वतन्त्रता के विषय में है, उसके कई अर्थ हो सकते हैं जिनमें से कुछ मित्र राष्ट्रों को मंजूर नही हो सकते थे। (2) 'दबाई हुई भूमि को पुनः स्थापित किया जायगा', इसका यह अर्थ लिया गया था कि मित्रों की शान्त आबादी और सम्पत्ति को जर्मनी के आक्रमण से जो क्षति हुई है उसकी वह पूर्ति करेगा। मध्य राष्ट्रों का चौदह पाइंट्स को मंजूर कर लेना यह माने रखता था कि अन्य विषयों में जर्मनी यह भी स्वीकार करता है कि एलसिसलोरेन फ्रांस को वापस दिया जायगा और आस्ट्रिया-हंगरी इस बात को जानता है कि उसकी मातहत जातियाँ आजाद कर दी जाएँगी। परन्तु इसका यह भी अर्थ था कि जर्मनी बिना शर्त आत्म-समर्पण नहीं कर रहा है, क्योंकि सब लड़नेवाले राष्ट्रों ने यह मन्जूर किया था कि प्रेसीडेन्ट विलसन के भाषण सन्धि-वार्ता के प्रामाणिक आधार हैं। हाँ 'यह बात भी थी कि उनको एक-एक करके लागू करने पर उनके विभिन्न अर्थ होने वाले थे। 3 नवम्बर 1918 को आस्ट्रिया-हंगरी के साथ और 11 नवम्बर 1918 को जर्मनी के साथ युद्ध-विराम सन्धि हो गई। युद्ध का तुमुल शब्द शान्त हो गया। 1914-18 का संग्राम समाप्त हो गया।

निकट-पूर्व में युद्ध—युद्ध का प्रधान स्थान तो पश्चिमी मोर्चा ही था, लेकिन दूसरे स्थानों पर भी ग्रेट ब्रिटेन ने कुछ लड़ाइयाँ लड़ीं जो कम महत्व की नहीं थीं। इन लड़ाइयों को उस समय 'साइड शोज' अर्थात् छोटे-मोटे खेल के नाम से पुकारा जाता था और इनके महत्व के विषय में भी गहरा मतभेद था। कुछ लोगों का कहना था कि मित्र राष्ट्रों के सम्पूर्ण साधन एक ही ध्येय की पूर्ति में लगा देने चाहिये, अर्थात् जर्मन सेनाओं को हराने में। अन्य मोर्चे पर जर्मनी की स्थिति अजेय है और यदि कोई विजय की आंशा है तो वह जर्मनी को पीछे से खदेड़ने में ही हो सकती है, अर्थात् पूर्व की और से उसको दबाने में। इन छोटे-छोटे खेलों में एक था डार्डिनल्स का हमला। इसमें तुर्की सेनाओं की बड़ी क्षति हुई, परन्तु हमला निष्फल रहा। दूसरा 'साइड शो'

था अरब लोगों को आटोमन साम्राज्य की अधीनता से स्वतन्त्र करना। अन्ततोगत्वा इसमें सफलता प्राप्त हुई। मक्का के शरीफ के नेतृत्व में हज्जाज में एक बलवा करवाया गया (1916)। बलवा करने वाले किसी जातीयता की भावना से प्रेरित नहीं हुए थे। वे लोग लूटमार करना चाहते थे। लेकिन अंग्रेजों ने उनको खूब धन दिया, तब कहीं नेता लोग 'तितर-बितर होने से रुके।' इन शब्दों का उपयोग कर्नल लोरेन्स ने किया था जिसने अरब में ऐसे कारनामे किये कि उसकी बड़ी प्रतिष्ठा हुई। उसने भी एक युद्ध का कार्यक्रम बनाया था। इसका बड़ा सुन्दर चित्र उसने अपने ग्रन्थ 'दी सेवन पिलर्स आफ़ 'विजडम' (The Seven Pillars of Wisdom) में किया है। उसकी योजना थी कि रेलमार्गों पर खूब धावा किया जाय। रेल के पुलों और लाइनों को नष्ट करने के कारण यात्रा करना बहुत ही खतरनाक हो गया था, लेकिन अरब लोगों का बलवा तो एक छोटी-सी घटना थी और उसका ध्येय केवल इतना ही मात्र था कि शत्रु का ध्यान बँट जाय। पेलेस्टाइन और सीरिया में युद्ध का नायकत्व जनरल ऐलेम्बी के हाथ में था जो लारेन्स के शब्दों में मित्रों की युद्ध-शक्ति की कुछ परवाह नहीं करता था। वह अपने ही ढंग से लड़ता था और उसको अपनी ही शक्ति पर विश्वास था। वह समझता था कि उसको जो विजय प्राप्त हुई है वह उसी की कुशलता के कारण हुई। अरब लोग कुछ भी करें उसको अपनी विजय पर पूरा विश्वास था। 9 दिसम्बर सन् 1917 को जरुसलम ने जनरल ऐलेम्बी को आत्म-समर्पण कर दिया और 30 दिसम्बर सन् 1918 को उसने दमस्कस छीन लिया। ब्रिटिश सेनाओं ने पेलेस्टाइन और सीरिया को मुक्त कर दिया। तुर्कों के साथ जो युद्ध हुआ था उसका यह अंतिम चरण था। उसके बाद बगदाद पर कब्जा हुआ और फिर मेसोपोटामिया को आजाद किया। विवश होकर टर्की ने युद्ध-विराम के लिए याचना की (30 अक्टूबर 1918) और उसके बाद बलगेरिया ने भी शस्त्र डाल दिये (29 सितम्बर) क्योंकि मित्रों की सेना ने, जिसका प्रधान खेमा इस समय सेलोनिका में था, उसकी सेना को हरा दिया था।

जर्मनी की पराजय के कारण—जर्मनी की पराजय के कारण क्या थे? युद्ध के आरम्भ के समय अर्थात् 1914 में उसके पास ऐसी प्रभूत सेना थी जो शायद संसार ने कभी देखी ही नहीं हो और उसको यह फायदा था कि लड़ाई महाद्वीप के अन्दर हुई। उसके विरुद्ध मित्र शक्तियों और संयुक्त शक्तियों (Allied and Associated Powers) के विशाल आर्थिक साधन थे। इसलिए उसकी विजय इस बात पर निर्भर थी कि वह जल्दी से युद्ध-क्षेत्र में पूरी विजय प्राप्त कर सकता है या नहीं। यह उससे नहीं हो सका, इसलिए अब उसके धैर्य की जाँच होने लगी। इस प्रकार के युद्ध में जर्मनी की पराजय इतनी निश्चित थी जैसे अंकगणित का जोड़। मारने की लड़ाई के बाद जर्मनी की गति रुक गई थी और एक प्रकार की ठंडी लड़ाई

शुरू हो गई थी। यह नहीं कहा जा सकता कि यह स्थिति कब तक चलेगी, लेकिन जर्मनी की सैनिक शक्ति और आर्थिक शक्ति इतनी नहीं थी जो इस प्रकार की लम्बी और अनिश्चित लड़ाई को सहन कर सके। उसकी अपार और अप्रितम जनक्षति हो चुकी थी। इसलिए उसकी सैनिक शक्ति अत्यन्त क्षीण होती जाती थी। ब्रिटिश कमांडर-इन-चीफ ने लिखा था कि सन् 1918 के उत्तरार्ध में जर्मनी हरगिज घुटने नहीं टेकता, अगर जर्मनी के रिजर्व का निरन्तर क्षय नहीं होता। ग्रेट ब्रिटेन का समुद्र पर आधिपत्य था ही। इससे जर्मनी की आर्थिक शक्ति नष्ट हो गई और इससे यह भी प्रकट हुआ कि समुद्र-शक्ति का कितना प्रभाव है। ब्रिटिश नौ-सेना ने घेरा डालकर शान्त किन्तु घातक दवाव डाला और यह प्रतिवर्ष बढ़ता ही गया। जनरल ल्यूडन डोर्फ ने सार्थक रूप से यह स्वीकार किया था कि "अगर लड़ाई चलती रहती तो हमारी पराजय नहीं रुक सकती थी। अब यह लड़ाई थकाने के लिए हो रही थी और आर्थिक दृष्टि से हमारी स्थिति अनुकूल नहीं थी।" उसने यह भी कहा कि अन्न-स्थिति के कारण लोगों का आत्म-विश्वास घटता जाता था। कितने ही प्रदेशों में लोगों की शारीरिक और मानसिक शक्ति गिरती जाती थी, इसलिए उनमें सामना करने की ताकत नहीं रही थी। ऐसी स्थिति साफ नजर आ रही थी। सरकार ने जर्मनी और आस्ट्रिया की राजधानी के निवासियों के लिए जो राशन्स जारी किए उनसे शब्दों की अपेक्षा अधिक पता चलता है कि युद्ध के अन्तिम वर्ष में वहाँ की आवादी की कैसी दुर्दशा थी। बर्लिन में एक सप्ताह में एक व्यक्ति को चार पौंड रोटी, साढ़े सात पौंड आलू और कभी-कभी आधा पौंड मांस और आधा पौंड शक्कर दी जाती थी और इसके साथ छोटी-सी मछली, मक्खन, पनीर, मुरब्बा आदि दे दिया जाता था। वियना में दैनिक राशन घटाकर तीन औंस रोटी, एक औंस मांस, एक चौथाई औंस मक्खन वगैरा, ढाई औंस आलू और एक चौथाई औंस मुरब्बा वगैरा दिया जाता था। कम खुराक का नतीजा यह हुआ कि मृत्यु-संख्या अत्यधिक बढ़ गई और नव-युवकों की शारीरिक शक्ति बहुत घट गई। अब जर्मन लोगों में आत्म-बल के साथ विरोध करने की शक्ति बिल्कुल नहीं रही। यह सम्भव नहीं था कि ऐसी कठिनाइयों को वे निश्चित समय तक सहते रहते। इस स्थिति का असर उन लोगों पर भी पड़ा जो रण-भूमि में लड़ रहे थे।[1] फिर भी जर्मनी के आत्म-समर्पण का प्रधान कारण शत्रु-सेना के वे प्रहार थे जो जर्मनी के सैनिक यंत्र पर निरन्तर रूप से किए जा रहे थे और जिसके कारण वह यंत्र टूटता जाता था। इस स्थिति से विवश होकर ही जर्मनी के सैनिक नेताओं ने सुलह के लिए याचना की थी। जर्मनी में लोगों के बलवे

2. "जन्मभूमि से आने वाले पत्रों में शिकायतें भरी रहती थीं और उनका प्रभाव होने लग गया था। मोर्चों पर लड़ने वालों के कुटुम्ब बड़े कष्ट में थे, इसलिए ये लोग असन्तुष्ट होते जाते थे।" (हिटलर, मेन कैम्फ)।

और सरकार का अन्त सैनिक आत्म-समर्पण से पहले नहीं हुआ बल्कि बाद में हुआ, अर्थात् जब जर्मन लोग पराजय से संतप्त और भुखमरी से दुखी हो गए, उसके बाद। एक और दूसरा कारण, जिससे जर्मनी की पराजय हुई, वह बोलशेविक लोगों की क्रान्ति थी। जर्मन सरकार ने रूस में फूट के बीज बोए थे। उद्देश्य यह था कि पूर्व की ओर से उनकी सैनिक स्थिति सुधर जाय। लेकिन थोड़े अर्से के लिए जो राहत मिली उसकी बड़ी कीमत चुकानी पड़ी। रूस की कैद से जो जर्मन सैनिक छूट-कर आए और जो सेना में फिर भर्ती हो गए, उनके कारण सेना में आत्म-विश्वास कम होने लगा। राजनीतिक विचार सीमाओं को नहीं मानते, इसलिए बोलशेविक संक्रमण सोवियत संघ की सीमाओं को पार करके दूर-दूर तक फैल गए। फिर यूना-इटेड स्टेट्स के हस्तक्षेप करने के बाद जर्मन लोगों पर गहरा मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ा। अब उनकी आत्मा में यह विश्वास घुस गया कि युद्ध में विजय प्राप्त करने की कोई आशा नहीं है और अन्तिम बात यह थी कि फ्रांस ने युद्ध के दबाव को खूब सहन किया और रूस ने अपूर्व त्याग किया। मित्रों को विजय दिलाने में ये भी बड़े कारण थे।

लड़ाई की कीमत—1914-18 के विश्व-युद्ध का जितना विस्तार था उतना ही मूल्य था। विजेता और पराजित दोनों ही पक्षों को इसकी भयंकर कीमत चुकानी पड़ी। युद्धक्षेत्र में मारे जाने वालों की संख्या अस्सी लाख थी, जिसको सुनकर दिल थर्राता है। जख्मियों की संख्या दो करोड़ थी। इसके अतिरिक्त उन लोगों की संख्या भी कम नहीं थी जो शत्रु के दबाए हुए या घेरे हुए प्रदेशों में कष्ट सहन करने के कारण मर गए थे। युद्ध में जो खर्चा हुआ उसके अंक ऐसे हैं जो ज्योतिष-शास्त्र में ही काम आ सकते हैं। 1915 के मार्च तक ग्रेट ब्रिटेन ने प्रतिदिन पन्द्रह लाख पौंड खर्च किए। फिर 1915 से 1916 तक चालीस लाख पौंड प्रतिदिन। 1916 से 1917 तक पचपन लाख पौंड प्रतिदिन और 1917 से 1918 तक पैंसठ लाख पौंड प्रतिदिन। उसका राष्ट्रीय ऋण भी, जो पहले सत्तर करोड़ आठ लाख पौंड था, अब सात अरब तितालीस करोड़ पचास लाख पौंड हो गया। यूनाइटेड स्टेट्स 1917 में युद्ध में सम्मि-लित हुई थी। सन् 1918 में उसने 16,000 मिलियन डालर का ऋण लिया। फ्रांस का राष्ट्रीय ऋण भी 34,182 मिलियन फ्रैंक से बढ़कर 147,472 मिलियन फ्रैंक हो गया और जर्मनी का राष्ट्रीय ऋण, जो पहले 5,000 मिलियन मार्क था, अब 160,600 मिलियन मार्क हो गया। अमेरिकन फिडरल रिजर्व बोर्ड ने अनुमान लगाया था कि सब लड़ने वाले राष्ट्रों का संयुक्त व्यय 31 मई 1918 तक 35,000 मिलियन पौंड हो चुका था और यह सोचा गया था कि वर्ष के अन्त में यह खर्चा 40,000 मिलियन पौंड हो जायगा[1] परन्तु लड़ाकू जातियों के राष्ट्रीय ऋण के चकाचौंध करने वाले अंकों से

1. 'ए हिस्ट्री ऑफ दी पीस कांन्फ्रेंस ऑफ पेरिस (ए० एच० डब्ल्यू० वी० टेम्परले)।

युद्ध के पूरे खर्चे का नाप नहीं किया जा सकता। जिन प्रदेशों पर शत्रु ने अधिकार कर लिया था वहाँ बड़ी निर्दयतापूर्वक वर्बादी की गई। उत्तरी फ्रांस, बेलजियम, उत्तरी इटली और रूसी पोलैण्ड के युद्ध-स्थलों में एक तत्कालीन वर्णन के अनुसार उद्योग-धन्धों की इतनी क्षति हुई थी कि उनको अब नींव डालकर ही खड़ा करना था। उत्तरी फ्रांस में विनाश-कार्य इतना हुआ कि बहुत-से गाँव और कस्बों को, जो बड़ी समृद्धावस्था में थे, फिर दुबारा बनाकर बसाना था। जब आस्ट्रिया-हंगरी की सेनाएँ सर्बिया से हटीं तो मुल्क को बर्बाद करके हटी थीं और यही हालत रूसी फौजों ने हटते वक्त आस्ट्रियन गेलेशिया की कर दी थी। अब वायुमण्डल में युद्ध-स्थल के भयंकर दृश्य, नष्ट-भ्रष्ट प्रदेश, भारी ऋण और भार आदि की विषाक्त और कटु स्मृतियाँ व्याप्त हो रही थीं। ऐसे वायुमण्डल में फ्रांस की राजधानी में नया यूरोप बनाने के लिए शान्ति परिषद् के राजनीतिज्ञों ने काम करना शुरू किया।

(ii)

शान्ति की सन्धियाँ 1919-1923

वरसाइल की सन्धि—वरसाइल की सन्धि (1919) की वास्तव में बड़ी कीमत थी जो जर्मनी को 1914-18 के विश्व-युद्ध में हार जाने के कारण चुकानी पड़ी। उसको मुख्यतः भूमि-हानि बहुत हुई। यूरोप का नक्शा ही दूसरा बन गया। उत्तर, दक्षिण, पूर्व और पश्चिम में केन्द्रीय साम्राज्य की सीमाएँ दुबारा निश्चित हुईं और विशेषकर पूर्व की सीमा की ओर के प्रदेश में बहुत लम्बे-चौड़े परिवर्तन हुए। पश्चिम की तरफ ऐलसिस और लोरेन का इलाका फ्रांस को वापस दे दिया गया ताकि 1871 में जो फ्रांस के साथ अन्याय हुआ था उसकी क्षति-पूर्ति हो सके। सारबेसिन नामक प्रदेश जर्मन साम्राज्य से अस्थायी रूप से अलग कर दिया गया। उत्तर फ्रांस में कोयले की खानों को जर्मनी ने बिल्कुल बर्बाद कर दिया था। उसकी क्षति-पूर्ति के लिए यह इलाका उससे लिया गया था। इसको राष्ट्रसंघ द्वारा नियत किये हुए कमीशन के अधीन रखा गया, परन्तु पन्द्रह वर्ष के बाद जनमत लेकर यह तय करना था कि यह प्रदेश जर्मनी में मिलेगा या फ्रांस में। अगर जनमत जर्मनी के पक्ष में होगा तो फ्रांस का जो खानों पर स्वामित्व है उसकी कीमत जर्मनी को चुकानी पड़ेगी। उत्तर में मध्य स्कलसविग में भी जनमत लेकर तय करना था कि यह प्रदेश डेनमार्क में मिलेगा या जर्मनी में। जब जनमत लिया गया तो उत्तरी भाग ने डेन्मार्क के पक्ष में और केन्द्रीय भाग ने जर्मनी के पक्ष में मत दिया। इसके अतिरिक्त कुछ इलाके बेलजियम को दे दिये गये। पूर्व में जर्मनी से प्रदेशों के विषय में बहुत त्याग करवाया गया और यह कहा गया कि अठारहवीं शताब्दी में प्रशिया के शासकों ने पोलैण्ड को बहुत क्षति पहुँचाई थी। पोसेन और लगभग सारा पश्चिमी प्रशिया

पुनर्निर्मित पोलिश रियासत में मिला दिया गया। जनमत लेकर अपर सिलेशिया को जर्मनी और पोलैण्ड में विभक्त कर दिया। पोलैण्ड को एक बन्दरगाह देने के लिए जर्मनी के डेन्जीग नगर को स्वतन्त्र नगर बनाकर राष्ट्र संघ के अधीन कर दिया। मित्रों ने इस बात को स्वीकार किया कि यहाँ की आबादी प्राय: जर्मन है, लेकिन उन्होंने यह भी कहा कि डेन्जीग और पोलैण्ड के आर्थिक स्वार्थ समान हैं और पोलैण्ड की यह माँग उचित है कि उसकी समुद्र तक पहुँच होनी चाहिये। पोलैण्ड और डेन्जीग को सम्बन्धित रखने के लिए एक पोलिश कोरीडर (Polish Corridor) अर्थात् पोलैण्ड का मार्ग स्थापित किया गया। इसके कारण पूर्वी प्रशिया शेष जर्मनी से अलग हो गया। यही कारण बतलाकर मेमल को भी छीनकर नवनिर्मित रियासत लिथुआनिया में मिला दिया गया। यूरोप के बाहर और भी भूमि-परिवर्तन किये गये जहाँ जर्मनी के औपनिवेशिक साम्राज्य पर गहरा प्रभाव पड़ा। जर्मनी से कहा गया कि अपने समुद्र पार राज्य से सम्बन्ध रखने वाले सब अधिकारों और पदवियों का त्याग कर दे। इन राज्यों में जर्मन साउथ वेस्ट अफ्रीका शामिल था जो यूनियन ऑफ साउथ अफ्रीका को दे दिया गया। जर्मन वेस्ट अफ्रीका में टोगोलैण्ड और केमेरून्स (Cameroons) शामिल थे। इनको ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस में विभक्त कर दिया गया। जर्मन ईस्ट अफ्रीका को ग्रेट ब्रिटेन और बेलजियम में बाँट दिया गया। ग्रेट-ब्रिटेन को टंगेनिका (Tanganyika) का प्रदेश मिला। युद्ध का आरम्भ होते समय जर्मन उपनिवेशों में 23,500 जर्मन थे। इनमें से बहुत-से स्थायी रूप से वहाँ बस गए थे। जर्मनी के विदेशी व्यापार को इनसे आधा प्रतिशत मिलता था।[1] यहाँ साढ़े बारह लाख आदिनिवासी रहते थे। इनमें से 42 प्रतिशत ब्रिटिश साम्राज्य को, 32 प्रतिशत फ्रांस को और 25 प्रतिशत बेलजियम को दे दिये गये। प्रशान्त महासागर में जो जर्मनी के उपनिवेश थे उनको जापान, आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैण्ड में विभक्त कर दिया। जर्मनी के ये चारों उपनिवेश राष्ट्र-संघ के आदेश के अनुसार दूसरे राष्ट्रों को दिये गये थे। लेकिन पारिभाषिक रूप में इन दूसरे देशों की उन पर हुकूमत कायम नहीं की गई थी बल्कि केवल संरक्षकता स्थापित की गई थी। वरसाइल की सन्धि में दो वाक्यांश ऐसे रखे गये जिनकी मन्शा यह थी कि जर्मनी को अन्यत्र जो भूमि-क्षति हुई है उसकी पूर्ति के लिए जर्मनी आस्ट्रिया से या चेकोस्लेवेकिया से भी कुछ नहीं माँगे। एक वाक्य में कहा गया था कि जर्मनी आस्ट्रिया की स्वतन्त्रता को स्वीकार करता है और आयन्दा भी उसकी स्वतन्त्रता का वह आदर करता रहेगा। वह इस बात पर सहमत है कि चेकोस्लेवेकिया की यह स्वतन्त्रता हमेशा बनी रहेगी और उसकी सीमाएँ जो निर्धारित की गई हैं वे भी नहीं बदली जायेंगी।

---

1. उन्होंने जर्मनी को उष्ण कटिबन्ध में उत्पन्न होने वाला कुछ खाद्य पदार्थ और कच्चा माल दिया था। डब्ल्यू० ओ० हेण्डरसन, दी इकोनोमिक हिस्ट्री रिव्यू, नवम्बर 1938।

दूसरे वाक्यांश—भूमि-सम्बन्धी प्रश्नों के अतिरिक्त वरसाइल की सन्धि में खास बातें थीं क्षति-पूर्ति, राइनलैंड से सेनाओं को निकालना, निःशस्त्रीकरण और जर्मनी से यह गारन्टी लेना कि वह अपने कर्त्तव्यों को पूरा करेगा। जर्मनी ने यह उत्तरदायित्व स्वीकार किया कि मित्र-राष्ट्रों को और संयुक्त मित्र राष्ट्रों की सरकारों को तथा उनकी जनता को लड़ाई के कारण उससे बड़ी क्षति हुई है। जर्मनी से कहा गया कि किलों की रक्षा न करे और राइन नदी के दोनों किनारों पर तीस मील तक सेना के पड़ाव नहीं डाले। समस्त राष्ट्रों के शस्त्रों की सीमा निर्धारित करने का काम शुरू हो जाए, इस उद्देश्य से उसने अपनी सेना घटाकर केवल एक लाख कर दी। इस एक लाख में अफसरों की सेनाएँ भी शामिल थीं। अनिवार्य सैनिक सेवा बन्द कर दी गई। उसकी नौ-सेना की सीमा कम हो गई और जलमग्न नौकाएँ समर्पण करनी पड़ीं। इन शर्तों ,की पाबन्दी की गारण्टी के लिए राइन नदी से पश्चिम की ओर का प्रदेश और पुल मित्र राष्ट्रों ने और संयुक्त राष्ट्रों ने पन्द्रह साल के लिए अपने अधीन करके वहाँ अपनी सेनाएँ नियत कर दीं।

सन्धि के प्रति जर्मनी का विरोध—पेरिस की शान्ति परिषद् में (1919) जर्मन लोगों को शामिल नहीं किया गया था। जब विजेता शक्तियों ने शर्तें तय कर लीं तब उनको बुलाया गया। वरसाइल की सन्धि का ऐसा स्वरूप नहीं था जैसा लड़ने वाले दो पक्षों के बीच किए हुए वायदे का हुआ करता है। यह तो एक प्रकार का आदेश था जो कि दलित और पराजित शत्रु पर विजेताओं ने थोपा था। जर्मन प्रतिनिधियों को केवल इतनी इजाजत दी गई थी कि उनके सामने जो मसविदा है उस पर वे अपने विचार प्रकट कर सकते हैं। इस अवसर का उपयोग करके जर्मनी के प्रतिनिधियों ने सन्धि की शर्तों का घोर विरोध किया। "यह वह न्यायोचित सन्धि नहीं है जिसका हमको वचन दिया गया था। न्यायोचित और स्थायी सन्धि का जो आधार मंजूर किया गया है उसके यह मसविदा बिलकुल विरुद्ध है। हमारे शत्रुओं ने बार-बार इस बात का दावा किया है कि वे जर्मनी की शाही और गैर-जिम्मेदार सरकार के विरुद्ध युद्ध कर रहे हैं, जर्मन कौम के खिलाफ नहीं। हमारे शत्रुओं ने यह बात भी बार-बार दोहराई है कि इस अपूर्ण युद्ध की समाप्ति के बाद एक नई प्रकार की शान्ति स्थापित होनी चाहिए, अर्थात् अधिकार की शान्ति, शक्ति की शान्ति नहीं। हमारे शत्रुओं के सामने अब अनुत्तरदायी जर्मन सरकार नहीं है। जर्मन साम्राज्य का नया विधान और उसकी लोकप्रिय सरकार का संगठन जनतन्त्र के अत्यन्त कठोर सिद्धान्तों के अनुकूल है और यह भी बिल्कुल स्पष्ट है कि सैनिक भावना का परित्याग कर दिया गया है। परन्तु सन्धि के मसविदे में अन्य बातों की नितान्त उपेक्षा की गई है। इस बात की कल्पना करना कठिन है कि किसी शाही सरकार पर इससे अधिक सख्त शर्तें और क्या लादी जा सकती थीं।" जर्मनी से जो

माँगें की गई थीं उनकी सख्ती का अत्यन्त तीव्र शब्दों में विरोध करते हुए भी जर्मन प्रतिनिधियों ने यह बात स्वीकार की कि "जर्मन जानता है कि शान्ति प्राप्त करने के लिए त्याग करना चाहिए। इसलिए वह अपनी सामर्थ्य की पराकाष्ठा तक जाने का यत्न करेगा।"

जर्मन की खास शिकायतें—जर्मन प्रतिनिधियों ने जो विचार प्रकट किए उनमें विस्तारपूर्वक बतलाया गया है कि उनकी क्या शिकायतें हैं। "पश्चिम में सार पर एक जर्मन प्रदेश, जिसकी आबादी कम से कम साढ़े छः लाख है, जर्मन साम्राज्य से पन्द्रह वर्ष के लिए पृथक किया जा रहा है और कारण केवल यह बतलाया गया है कि इस प्रदेश में कोयले की बहुतायत है और उस पर कोई अपना दावा पेश कर रहा है। अपर सिलेशिया भी जर्मनी से अलग करके पोलैण्ड को दिया जा रहा है। यद्यपि पिछले साढ़े सात सौ साल से इसका पोलैण्ड से कोई राजनीतिक सम्बन्ध नहीं रहा है। पोसेन और पश्चिमी प्रशिया में निवास करने वाले लाखों जर्मन लोगों को पोलिश राज्य के अधीन किया जा रहा है। पूर्वी प्रशिया जर्मन साम्राज्य की भूमि से अलहदा किया जाएगा और यही व्यवहार मेमल के साथ होगा जो कि शुद्ध जर्मन प्रदेश है। डेनजिग सदैव जर्मन प्रदेश रहा है परन्तु अब वह स्वतन्त्र रियासत बनकर पोलैण्ड के राज्य के अधीन हो गया। पोलैण्ड को समुद्र तक पहुँचने की आवश्यकता है, परन्तु वह आवश्यकता इस प्रकार पूरी की जा सकती है कि स्वतन्त्र बन्दरगाह बना दिए जायें और वहाँ पोलैण्ड को विशेष अधिकार दे दिया जाय।" जर्मन प्रतिनिधियों ने कहा कि "मनमाने ढंग से कहीं इतिहास की दुहाई दी गई है, कहीं जाति-विशेषताओं का विचार प्रकट किया गया है, कहीं आर्थिक हित आगे रखे गए हैं, परन्तु प्रत्येक दशा में निर्णय जर्मनी के प्रतिकूल किया गया है। जर्मन सरकार इस बात पर तैयार थी कि पोलैण्ड को पोसेन का वह हिस्सा दे दिया जाय जहाँ पर पोल लोगों की ही आबादी है और पश्चिमी प्रशिया के वे जिले भी दे दिए जाएँ जहाँ निस्सन्देह पोल लोग ही निवास करते हैं। परन्तु सन्धि का मसविदा इससे बहुत आगे बढ़ा हुआ है, क्योंकि ऐसा प्रदेश, जिसके जर्मन होने में कोई सन्देह नहीं है और जिसके लिए न्यायपूर्वक यह नहीं कहा जा सकता कि वहाँ के निवासियों में जर्मन जाति की विशेषताएँ नहीं हैं, उसको जर्मनी से काटकर अलग किया जा रहा है। अपने विरोधियों के उदाहरण की नकल करके जर्मनी ने निज निर्णय के सिद्धान्त का आव्हान किया। "इस युद्ध में एक नए मौलिक कानून का जन्म हुआ है। वह है निज निर्णय का अधिकार। परन्तु इस अधिकार को इस प्रकार लागू नहीं किया जाना चाहिए जिससे केवल जर्मनी को ही हानि हो बल्कि सब रियासतों पर यह समान रूप से लागू होना चाहिए और जो जर्मन आबादियाँ वापस जर्मन साम्राज्य में शामिल होना चाहती हैं वहाँ पर भी इस सिद्धान्त को लगाना चाहिए।" यह कहा गया था कि

"सार, ऐलसिस लोरेन, डेनजिग, मेमल और जो प्रदेश पोलैण्ड या बेलजियम को दिए गए हैं उनके सम्बन्ध में इस सिद्धान्त का उल्लंघन किया गया है। इस सिद्धान्त के विरुद्ध जर्मन आस्ट्रिया में निवास करने वाले लाखों जर्मन लोगों को उनकी इच्छा होते हुए भी जर्मनी में नहीं मिलने दिया जाता और हमाई सीमाओं पर निवास करने वाले अन्य लाखों जर्मनों को भी विवश किया जा रहा है कि उनका प्रदेश नव-निर्मित चेकोस्लोवेकियन रियासत का हिस्सा रहेगा।" यह भी चेतावनी दी गई कि "ऐलसिस लोरेन के निवासी क्या चाहते हैं, इसकी जाँच यदि अभी नहीं की गई तो इस प्रश्न का हल कभी नहीं होगा।" उपनिवेशों के विषय में यह कहा था कि उपनिवेशों के प्रश्न का हल भी न्याय और शान्ति के विरुद्ध किया गया है। जर्मनी अपने उप-निवेशों को इसलिए रखना चाहता है कि उसने न्यायपूर्वक उनको प्राप्त किया है और निरन्तर तथा फलप्रद परिश्रम के द्वारा उसने उनका विकास किया है। इसलिए वे उसकी राष्ट्रीय सम्पत्ति का एक अंश हैं। उनकी इसलिए जरूरत है कि वहाँ उसके माल की बिक्री होती है और जो अतिरिक्त आबादी जर्मनी में नहीं बस सकती वह वहाँ बसाई जा सकती है। जर्मनी इस बात पर राजी था कि उसके उपनिवेशों का प्रबन्ध राष्ट्र संघ के सिद्धान्तों के अनुसार किया जायगा बल्कि संघ के हुक्म से किया जायगा।

दूसरी पेचीदगियाँ—जर्मन प्रतिनिधियों ने अपने विचारों में जो अनेक प्रश्न खड़े किये थे उनमें क्षतिपूर्ति का प्रश्न बड़ा पेचदार था। जर्मनी के कर्तव्यों के विषय में जो बात तय हुई थी उसका मतलब अब यह हो गया है कि बेलजियम और फ्रांस की भूमि जो जर्मनी ने अपने कब्जे में कर ली थी वहाँ की आबादियों की जो क्षति हुई है उन सबकी जर्मनी पूर्ति करेगा। यह कहा गया था कि सन्धि के मसविदे में जो बात इस विषय में लिखी गई है वह मुहाइदे से आगे बढ़ी हुई है। अगर विजयी शक्तियाँ जिद करके जर्मनी के ऊपर ऐसा ऋण लादना चाहती हैं जिससे भविष्य के लिये कोई बात सम्भव ही न रहे, तो जर्मन लोग समझेंगे कि उनको दासता में धकेला जा रहा है। जर्मनी ने इस बात पर भी विरोध किया कि उसे फिलहाल राष्ट्रसंघ में शामिल क्यों नहीं किया जाता। यह आवश्यक है कि आरम्भ से ही जर्मनी को समानता के आधार पर राष्ट्रसंघ में सम्मिलित किया जाय। इस समय आस्ट्रिया एक छोटा-सा जर्मन जनतन्त्र बन गया था। उसके विषय में यह वचन लिया गया कि जर्मनी का कभी इरादा नहीं था और न आयन्दा इरादा होगा कि आस्ट्रिया और जर्मनी की सीमाएँ बलपूर्वक बदल दी जाएँ। बीस वर्ष बाद यह वचन भंग कर दिया गया। वास्तव में मित्रराष्ट्रों को जर्मनी के पिछले कारनामों को देखते हुए उस पर विश्वास नहीं होता था। इसलिए उन्होंने उसकी नम्रता की दलीलों पर, या भावी कलह की चेतावनी पर या उसके यह कहने पर कि ऐसी शर्तें की जा रही हैं जिनके कारण दूसरा युद्ध अवश्य होगा, आदि

बातों पर ध्यान नहीं दिया। जर्मन प्रतिनिधियों ने जो अन्तिम दलील दी वह बड़ी प्रभावोत्पादक थी। "मनुष्य जाति को एक करने के लिए जो शक्तियाँ इस समय काम कर रही हैं वे कभी इतनी जोरदार नहीं थीं जितनी अब हैं। वरसाइल की शान्ति-परिषद का ऐतिहासिक कर्तव्य यही है कि मानव-जाति का संघ स्थापित कर दे। जब स्वतन्त्रता और श्रम के आधार पर एक नया कामनवैल्थ स्थापित किया जा रहा है तो जर्मन जनता उन लोगों से प्रार्थना करती है जो अब तक शत्रु थे कि सम्पूर्ण राष्ट्र और मानव-समाज की हित-रक्षा के लिए ऐसी शान्ति स्थापित की जाय जिसको अपनी अन्तरात्मा के आदेश के अनुसार वे स्वीकार कर सकें। अब जो सन्धि हो रही है उसका यह सिद्धान्त और उद्देश्य है कि आयन्दा के लिए सुरक्षा का ऐसा प्रबन्ध किया जाय कि यह युद्ध अन्तिम युद्ध हो और ऐसी भयंकर विपत्ति पुनः मनुष्य जाति को फिर नहीं उठानी पड़े। एक बहुत बड़े राष्ट्र को दासता में जकड़कर तथा दलित करके स्थायी शान्ति की स्थापना नहीं की जा सकती। यह नवीन सन्धि वास्तव में न्याय-सन्धि होनी चाहिए और लोगों को राजी-राजी मन्जूर होनी चाहिए। इस सन्धि के प्रति सब पक्षों का न्याय और स्वतन्त्र स्वीकृति, जो मुहाइदा होने वाला है, उसके लिए बड़ी जबरदस्त गारन्टी होगी।

जर्मनी को मित्रों का उत्तर—जर्मन प्रतिनिधियों ने प्रस्तावित सन्धि का विरोध इस आधार पर खड़ा किया था कि जिन शर्तों पर युद्ध-विराम पर दस्तखत हुए हैं उनके यह खिलाफ है और यह न्याय-सन्धि नहीं बल्कि हिंसा-सन्धि है। मित्र शक्तियों और संयुक्त शक्तियों का उत्तर इस दावे से सहमत था कि शान्ति-सन्धि प्रेसिडेन्ट विलसन के चौदह पाइन्ट्स पर आश्रित होनी चाहिए। और यह दावा किया गया था कि इन सिद्धान्तों से ही उनका मार्ग-प्रदर्शन हुआ है। दूसरे दावे की बावत लिखा गया था कि यह संग्राम मानवता और अधिकार के प्रति अपराध है। यदि ऐसा नहीं माना गया तो वे मित्रगण उन लोगों के सामने झूठे साबित होंगे जिन्होंने विश्व-स्वातन्त्र्य के निमित्त बलिदान कर दिया है। इसलिए इस भयंकर युद्ध का हिसाब तय करने के लिए न्याय ही एकमात्र आधार हो सकता है। जर्मन प्रतिनिधियों ने न्याय की ही याचना की है और उनका कहना है कि न्याय के बावत जर्मनी को वचन दिया गया था, तो जर्मनी को न्याय ही मिलेगा। लेकिन न्यान सबके लिए होना चाहिए। न्याय होना चाहिए मृतकों के लिए और जख्मियों के लिए और उनके लिए जो पितृहीन हो गए हैं, जो अपने प्रियजनों से वंचित हो गए हैं, और यह सब इसलिए कि यूरोप प्रशिया के निरंकुशवाद से मुक्त हो जाय। न्याय उनके लिए होना चाहिए जो युद्ध-ऋण के भार से लड़खड़ा रहे हैं। इस ऋण का परिणाम तीस हजार मिलियन पौंड हो गया है। यह सब इसलिए हुआ है कि स्वतन्त्रता की रक्षा हो। न्याय उन लाखों लोगों के लिए भी होना चाहिए जिनके घर और जमीन, जिनके जहाज और जायदाद

जर्मन जंगलीपन ने नष्ट कर डाले हैं । इसीलिए मित्र शक्तियों और संयुक्त शक्तियों ने निश्चय किया है कि सन्धि का असली स्वरूप यह होना चाहिए कि जर्मनी यथाशक्ति क्षति-पूर्ति के लिए भरसक प्रयास करे, क्योंकि क्षति-पूर्ति न्याय का तत्त्व है । इस युद्ध के फलस्वरूप किसी न किसी को तो दुःख भोगना ही चाहिए। यह दुःख जर्मनी भोगे या वे लोग जिनके साथ उसने अन्याय किया है । यदि सबके साथ न्याय नहीं किया गया तो संसार को नई विपत्तियों का सामना करना पड़ेगा । उनका (मित्रों का) विश्वास है कि प्रस्तावित सन्धि मौलिक रूप से न्याय-सन्धि है । वे यह भी जानते हैं कि यह अधिकार-सन्धि है और इससे वे शर्तें पूरी होती हैं जो युद्ध को स्थगित करते समय की गई थीं ।

सन्धि की हिमायत—फिर उत्तर में एक-एक करके उन पाइन्ट्स का जवाब दिया जो जर्मनी ने अपने विरोध में खड़े किए थे । यदि प्रदेश-सम्बन्धी फैसला 'सब हालतों में नहीं, किन्तु कुछ हालतों में' जर्मनी के प्रतिकूल है तो इसका यह उद्देश्य नहीं है कि जर्मनी के साथ अन्याय करने का कोई विचार है । यह बात सत्य है कि जर्मन साम्राज्य का काफी बड़ा हिस्सा उन जिलों से बना है जो अन्यायपूर्वक छीने गए थे । इस सन्धि में 'प्रत्येक प्रादेशिक फैसला देश-विशेष के धार्मिक, जातीय और भाषा-सम्बन्धी मामलों पर ध्यान और परिश्रम के साथ विचार करके किया गया है ।' सार के प्रश्न की बाबत मित्रों ने कहा कि 'यह विशेष प्रकार की क्षति-पूर्ति इसलिए निश्चित की गई है कि उत्तर फ्रांस की खानों को नष्ट करना ऐसा कार्य है जिसका निश्चित और उदाहरण-योग्य ही बदला होना चाहिए । एलसिस लोरेन में जर्मनी ने जनमत की माँग की है जो स्वीकार करने योग्य नहीं है, क्योंकि उसने चौदह पाइन्ट्स और विराम-सन्धि की शर्तों को मंजूर किया है । और इन शर्तों में यह शामिल है कि एलसिस लोरेन खाली किया जाय । जर्मनी की पूर्वी सीमाओं के मसले में दो मौलिक सिद्धान्त माने गए हैं । प्रथम तो पोलैण्ड में वह स्वतन्त्रता स्थापित की जाय जिससे एक शताब्दी पूर्व उसको अन्यायपूर्वक वंचित कर दिया था, दूसरे पोलैण्ड में ऐसे देश शामिल किए जाएँ जहाँ के निवासी निस्सन्देह पोलिश हैं । यह सच है कि जर्मन सीमा से दूरस्थ कुछ प्रदेश ऐसे हैं जहाँ अधिकांश आबादी जर्मनों की है, परन्तु यह असम्भव है कि ऐसे देशों को जर्मनी में और इनके चारों ओर के इलाकों को पोलैण्ड में रखकर जर्मनी की सीमा निश्चित की जा सके । 'इसके अतिरिक्त यह भी याद रखने की बात है कि इन प्रदेशों में जर्मन जनसंख्या किन साधनों से बढ़ाई गई है, अर्थात् वहाँ के असली निवासियों को वहाँ से निकाल दिया गया था ।' फिर भी अन्याय की संभावना को दूर करने के लिए मित्रों ने कुछ संशोधन स्वीकार कर लिए हैं ताकि पोलैण्ड की पश्चिमी सीमा ऐसी बन जाय जो जातीय विभाग के अधिक अनुकूल हो । अपर सिलेशिया का वह हिस्सा, जो पोलैण्ड को दिया जायगा, ऐसे लोगों से आबाद है जो अधिकांश निस्संदेह

पोलिश हैं। फिर भी जर्मनी के दावे का लिहाज करके जनमत ले लिया जायगा। पूर्वी प्रशिया जर्मनी से कई सौ वर्षों से अलग था और 1866 से पहले यह जर्मनी की राजनीतिक सीमा के अन्दर नहीं था। इसके अतिरिक्त पूर्वी प्रशिया के लोग जो जर्मनी में सम्मिलित होना चाहते हैं, उनके हित में इतनी जान नहीं है जितनी पोलिश लोगों के हित में, क्योंकि उनको समुद्र तक सीधा मार्ग चाहिए। लिथुआनिया के लिए मेमल और पोलैण्ड के लिए डेनजिग ही समुद्र-द्वार और बन्दरगाह हो सकते हैं। जर्मनी के उपनिवेशों की जब्ती भी मुनासिब है, क्योंकि जर्मन औपनिवेशिक शासन से वहाँ के निवासी अत्यन्त दुखी थे। और यह भी एहतियात करना आवश्यक है कि इन उपनिवेशों में कहीं सैनिक अड्डे न स्थापित कर दिए जाएँ। क्षति-पूर्ति के सम्बन्ध में यह बतलाया गया कि 'पराजित देश ज्यों का त्यों है और मित्रों के देशों की भाँति वह विनाश के दुःख से दुखी नहीं है।' जर्मनी को राष्ट्र-संघ का सदस्य अभी इसलिए नहीं बनाया जा सकता कि संसार की स्वतन्त्र जातियों का उसके पास समानता के साथ बैठना असम्भव है। वे जानते हैं कि उनको अन्यायपूर्वक कितनी क्षति पहुँचाई गई है।' इस अभिप्राय से कि अनिवार्य निःशस्त्रीकरण जर्मनी को कम अखरे, मित्र और संयुक्त शक्तियाँ यह लिखकर रखना चाहती हैं कि 'जब जर्मनी अपने निःशस्त्रीकरण की शर्तों को मंजूर कर लेगा तो अन्य देशों के शस्त्रों को कम करने में आसानी और सुविधा होगी।' जर्मनी ने इस बात का भी विरोध किया था कि उसमें भविष्य के विषय में गारन्टी क्यों ली जा रही है। इसको साफ नामंजूर कर दिया। 'इस विषय में केवल प्रेसीडेन्ट विलसन के शब्दों को दुहराया जा सकता है। भावी शान्ति की रक्षा के विषय में गारन्टी की इसलिए आवश्यकता है कि सन्धि में ऐसी पार्टियाँ भी होंगी जिनके वचन अविश्वसनीय सिद्ध हो चुके हैं।' यद्यपि उत्तर में नरमी नहीं थी परन्तु वास्तव में कई रियायतें दी गई थीं, विशेषतः जर्मनी की पूर्वी सीमा और अपर सिलेशिया के विषय में। इन संशोधनों के साथ वरसाइल की सन्धि पर 28 जून 1919 के दिन जर्मनी ने वरसाइल राजप्रासाद के हाल में अपने हस्ताक्षर कर दिए। यहीं 1871 में बड़े अभिमान के साथ जर्मन साम्राज्य की घोषणा की गई थी—अर्थात् पराजित शत्रु की राजधानी की देहली पर। जमाने ने अपना बदला लिया। इतिहास के पृष्ठों पर यह बात पुनः साक्षी रूप में लिखी गई कि मनुष्यों के भाग्य में किस प्रकार उथल-पुथल हुआ करती है।

सेन्ट जर्मेन की सन्धि—वरसाइल की सन्धि के बाद दूसरी सन्धियाँ हुईं जिनके अनुसार यूरोप में बड़े-बड़े प्रादेशिक परिवर्तन हुए। सेन्ट जर्मेन की सन्धि से आस्ट्रिया एक छोटा-सा जर्मन जनतन्त्र बन गया। यहाँ के नरेश कई शताब्दियों से यूरोप में सबसे बड़े शासक माने जाते थे। हेप्सबर्ग राजवंश का भी अन्त हो गया। इस नए जनतन्त्र की आबादी साठ लाख थी। आस्ट्रिया के प्रान्तों में कई प्रकार की जातियाँ

निवास करती थीं—जर्मन, मग्येर, चेक, स्लोवक, पोल, रूथेन, सर्ब, क्रोट, रूमानियन और इटेलियन आदि। ये प्रान्त संलग्न रियासतों में विभक्त कर दिए गए। इन अधीन जातियों को 'स्वशासन' के सिद्धान्त के अनुसार विमुक्त किया गया था। परन्तु इटली ने टाइरोल प्रान्त को, जो ब्रेमर की घाटी तक फैला हुआ था, अपने राज्य में मिला लिया। इसमें ढाई लाख जर्मनों की आवादी थी। इस पर 'स्वशासन' का सिद्धान्त लागू नहीं होता था। आस्ट्रिया ने विरोध करते हुए कहा कि दक्षिण टाइरोल को सैनिक विचार की वलिवेदी पर क्यों चढ़ाया जा रहा है, परन्तु कुछ सुनवाई नहीं हुई। आस्ट्रिया का साम्राज्य भंग हो गया। इसकी एवज में अगर उसको कुछ मिला तो वह था हंगरी का पश्चिमी भाग (German West Hungary) जिसमें जर्मन लोग निवास करते थे।

ट्रायनन की सन्धि, 1920—ट्रायनन की सन्धि से हंगरी के भी भाग्य का फैसला हो गया। उसको आस्ट्रिया से अलग कर दिया और उसके प्रान्तों में से ट्रान्सिलवेनिया रूमानिया को, क्रोशिया सर्बिया को और स्लोवेकिया चेक लोगों को दे दिया। इन प्रदेशों के निकल जाने से उसकी आबादी घटकर दो करोड़ दस लाख से पचहत्तर लाख रह गई और उसके लगभग तीस लाख देशभाई ऐसी जातियों के अधीन कर दिए गये जिनसे वे घृणा करते थे। अत: उसको गहरा रोष आया। मग्येर लोगों ने हंगरी का एक ऐसा नक्शा बनाया जिसके चारों ओर आग धधक रही थी। आस्ट्रिया के विरोध की भाँति हंगरी का विरोध भी किसी ने नहीं सुना। अपने दर्पयुग में उसने जो व्यवहार अपनी अधीन जातियों के साथ किया था वही अब उसके साथ हुआ। विजेताओं ने उससे कहा कि 'एक हजार वर्ष पुराना राज्य भी स्थायी नहीं रह सकता अगर उसका इतिहास यह वतलाता हो कि एक अल्पसंख्यक जाति ने अपने अधीन कई जातियों का लम्बे अर्से तक घोर दमन किया है।'

अन्य संधियाँ—न्यूली की सन्धि से (1919) वलगेरिया का भी कुछ प्रदेश उससे छीन लिया। सेवर (1920) की सन्धि से टर्की को थ्रेस से वंचित कर दिया और मानो यूरोप से निर्वासित कर दिया। फिर इसके बजाय लोसान की सन्धि हुई। यह सन्धि भी एक ही थी। यह दोनों पक्षों में स्वतन्त्रता के साथ हुई थी। टर्की ने मिस्र, सूडान, साइप्रस, पेलेस्टाइन, सीरिया, मेसोपोटामिया और अरब को छोड़ दिया, परन्तु कुस्तुन्तुनिया, पूर्वी थ्रेस और ऐनेटोलिया तथा स्मर्ना उसी के राज्य में बने रहे। लोग यूनानी नगर कुस्तुन्तुनिया को लोलुप दृष्टि से देखते थे, परन्तु वह टर्की के कब्जे में ही रहा और यूरोप में अब भी उसका पैर जमा रहा। स्ट्रेट्स का अन्तरराष्ट्रीयकरण हो गया और उनमें नौ-संचालन का अधिकार सब राष्ट्रों को दे दिया गया।

पोलैण्ड—इन सन्धियों से जो फैसले हुए उनके द्वारा 1919 और 1939 का यूरोप और का और ही हो गया। कुछ नई रियासतें वन गई और कुछ रियासतों का

आकार बढ़ गया। आस्ट्रिया-हंगरी के छिन्न-भिन्न हो जाने से और रूस और जर्मनी के प्रदेश अलग हो जाने से इतनी भूमि मिल गई कि इससे नई रियासतें बनाई जा सकती थीं और पुरानी रियासतों का आकार बढ़ाया जा सकता था। नई रियासतों में सबसे बड़ी रियासत पोलैण्ड थी। वास्तव में यह एक प्राचीन राष्ट्र का पुनर्जन्म था जिसके पड़ोसियों ने इसकी स्वतंत्रता को नष्ट कर दिया था। परन्तु वे लोग इसकी स्मृति को विलीन नहीं कर पाये थे। अठारहवीं शताब्दी में पोलैण्ड के टुकड़े-टुकड़े करके पड़ौसी रियासतों ने ऐसा जुर्म किया था जो यूरोप की राजनीतिक रचना में बहुत बुरी तरह से सड़ने लगा था। और यह तो इतिहास का न्याय था कि आखिर-कार इसका पुनर्जन्म होता। रशिया ने रूसी पोलैण्ड, जर्मनी ने पोसेन और पश्चिमी प्रशिया और आस्ट्रिया ने गेलीशिया दिया। पोलिश कोरिडर के द्वारा पोलैण्ड की समुद्र तक गति हो गई। डेनजिग नगर को स्वतन्त्र नगर बना दिया जो पोलैण्ड का बन्दरगाह हो गया एवं दो करोड़ अस्सी लाख की आबादी के साथ पोलैण्ड ने सद्-भावना के वायुमण्डल में अपना दूसरा जीवन आरम्भ किया। लेकिन उन लोगों के दिलों में कुछ डर भी था जो यह जानते थे कि अपनी अत्यधिक महत्वाकांक्षा के कारण ही पोलैण्ड को इतनी विपत्ति सहनी पड़ी थी।

चेकोस्लोवेकिया—चेकोस्लोवेकिया पोलैण्ड से बहुत-कुछ मिलता-जुलता था। वह इस प्रकार कि इस नये जनतंत्र में चेक और जर्मन लोग किसी समय स्वतन्त्र देश में निवास करते थे। यह बोहेमिया का राज्य कहलाता था। तीस-वर्षीय युद्ध में इस राज्य का अन्त हुआ था। और लोगों की भाँति चेक लोगों में भी उन्नीसवीं शताब्दी में राष्ट्रीय भावना बनी हुई थी। एक चेक देशभक्त ने कहा था कि 'आस्ट्रिया से पहले हम विद्यमान थे। अब आस्ट्रिया नहीं है तो भी हम मौजूद हैं।' परन्तु दैव ने चेक लोगों को ऐसे लोगों के साथ बाँध रखा था जिनके साथ युगों से उनका विरोध चलता आया था। शान्ति परिषद में (1919) यह कहा था कि बोहेमिया की जर्मन आबादी को अधिकार होना चाहिये कि वह स्वयं ही अपने भाग्य का निर्णय करे। इसके विरुद्ध चेक नेता यह माँग करते थे कि बोहेमिया की ऐतिहासिक सीमाएँ फिर कायम हों। इसके अनुसार बोहेमिया में एक पर्वत-माला खड़ी थी जिससे सैनिक सीमा बनती थी। आखिर उन्हीं लोगों की इच्छा पूरी हुई। कारण यह था कि चेकोस्लोवक सेनाओं ने मित्रों के पक्ष में युद्ध किया था। आस्ट्रिया ने विरोध किया कि लाखों जर्मन लोगों को जातीय सिद्धान्त का उल्लंघन करके क्यों दूसरे लोगों में मिलाया जाता है, परन्तु इस प्रार्थना पर कोई ध्यान नहीं दिया गया। जवाब यह दिया कि जर्मन भाषा बोलने वाली आबादियाँ जो इन प्रान्तों की सीमाओं पर निवास करती हैं (बोहेमिया), उनको चेक लोगों के साथ ही सम्बन्धित रहना चाहिये ताकि राष्ट्रीय एकता के विकास में वे साथ-साथ काम कर सकें, क्योंकि बहुत अर्से से इतिहास ने उन्हें एक बन्धन में

बाँध रखा है।' यह दलील दोनों जातियों के ऐतिहासिक सम्बन्ध पर आश्रित थी। लेकिन कुछ और भी बातें थीं जिनके कारण जर्मन, चेक और स्लोवक जातियों को शामिल करके एक खिचड़ी रियासत बना दी गई। 'इन सीमान्त प्रदेशों में यदि चेक जाति की अल्प संख्या की उपेक्षा की जाती, तो भी यह सम्भव नहीं था कि चेक और जर्मन लोगों को विभक्त करने वाली कोई रेखा कायम की जा सकती। इस देश के मध्य भाग में तो प्राय: चेक लोगों की आबादी है और सीमाओं पर अधिकांश जर्मन निवास करते हैं। परन्तु बीच-बीच में ऐसे अनेक प्रदेश हैं जहाँ दोनों जातियाँ अत्यन्त घुली-मिली हुई हैं। बोहेमिया की ऐतिहासिक सीमाएँ प्रकृति ने ऐसी निश्चित की हैं जितनी यूरोप में किसी अन्य देश की नहीं। यदि इन सीमाओं को रद्द कर दिया जाता तो बोहेमिया को तीन प्रकार से हानि होती। चेकोस्लोवाकिया फिर अत्यन्त अरक्षित हो जाता और उसका स्वतन्त्र जीवन असंभव हो जाता। इससे वह अनेक खनिज पदार्थों से वंचित हो जाता जिन पर बोहेमिया की समृद्धि आश्रित थी। इसके अतिरिक्त जर्मन इलाके अपने स्वाभाविक बाजारों से, जो बोहेमिया के कृषि-केन्द्र में स्थित थे, कटकर अलग हो जाते। उद्योग-धन्धों में चेक मजदूर नहीं मिलते और जर्मनी के उद्योग-धन्धों के साथ उनको जबरदस्त मुकाबला करना पड़ता। मुख्यत: इन्हीं कारणों से पेरिस की शान्ति-परिषद की सुप्रीम कौंसिल ने बोहेमिया और जर्मनी के बीच की ऐतिहासिक सीमा को ज्यों का त्यों रहने दिया। जब पहली राष्ट्रीय असेम्बली का अधिवेशन हुआ तो उसमें जर्मन लोग नहीं थे। यह इस बात का अशुभ सूचक था कि बीस वर्ष बाद चेकोस्लोवाकिया के फिर टुकड़े-टुकड़े होने वाले हैं। परन्तु अभी तो यह अशुभ विकास भविष्य में छिपा हुआ था। अपने प्रथम प्रेसीडेन्ट टामस मेसेरिक की अध्यक्षता में नवीन जनतन्त्र ने उत्साह के साथ अपना घर बाँधना शुरू किया। इसके काम में कितनी कठिनाई थी इसका अन्दाजा इस बात से हो सकता है कि 1910 में उसी हिस्से में, जहाँ अब नया जनतन्त्र कायम हुआ था, 82,00,000 चेक और स्लोवाक थे, 37,50,000 जर्मन थे, 8,00,000 मेग्येर थे, 1,50,000 पोल थे और 1,12,000 रूथेन थे।

अन्य नयी रियासतें—अन्य नई रियासतें, जो सन् 1918 में एकदम अस्तित्व में आई, वे फिनलैण्ड, लिथुआनिया, एस्टोनिया और लेटविया थीं। ये सब रियासतें पहले रूसी साम्राज्य में शामिल थीं। जब यूरोप का नया नक्शा बना तो नई रियासतें बनाने के अतिरिक्त पुरानी रियासतों का आकार नये प्रदेशों के मिल जाने से काफी बढ़ गया। पहले बतलाया जा चुका है कि फ्रांस, इटली, डेनमार्क और बेलजियम को क्या मिला। सर्बिया को क्रोशिया, मोन्टीनिग्रो, स्लोविया, डालमेशिया, बोसनिया और हरजेगोविना दिए गए थे। उसका नाम यूगोस्लाविया रखा गया। सब मिलकर इसकी आबादी 1,35,00,000 थी, जिसमें 5,00,000 जर्मन और 5,00,000 मेग्येर भी शामिल थे।

रूमानिया को जो दो प्रदेश मिले—ट्रांसिलवेनिया जो हंगरी ने लिया गया था और बेसरबिया जो पहले रूस का था, उसकी आबादी 1,60,00,000 हो गई। इनमें 15,00,000 मेग्येर और 7,50,000 जर्मन थे।

सन्धियों का मूल्यांकन—1919-23 की सन्धियों का विवेचन करते समय हमें यह याद रखना चाहिए कि वे किन परिस्थितियों में हुई। पहली बात तो यह थी कि पेरिस में जिन राष्ट्रों के प्रतिनिधि सम्मिलित हुए थे उनको केवल अपनी-अपनी माँगों की फिक्र थी। कोई यूरोप में प्रदेश चाहता था और कोई अफ्रीका में उपनिवेश चाहता था। संसारव्यापी शान्ति की किसी को कोई चिन्ता नहीं थी। दूसरी बात यह थी कि प्रत्येक देश में पराजित देशों के खिलाफ बड़ा शोरगुल था। इससे विवश होकर जिन विषयों में सुप्रीम कौंसिल के सदस्य अपने साथियों पर किसी विशेष बात के लिए जोर देते थे या जिन विषयों में सर्वसम्मति की आवश्यकता थी, उन पर सदस्य मत-भेद प्रकट करके कोई निर्णय नहीं होने देते थे। उस समय यह बात प्रसिद्ध थी कि सुप्रीम कौंसिल में विभिन्न मत हैं और उनका समन्वय करने में बड़ी कठिनाई हो रही है। तीसरी बात यह थी कि ये सन्धियाँ एक व्यक्ति की कृति नहीं अनेक व्यक्तियों की कृति थीं। एक समकालीन आलोचक ने बतलाया है कि वरसाइल की सन्धि कई भागों में तैयार की गई थी—राजनीतिक, आर्थिक, माली, सैनिक और नौसैनिक। और इसलिए मालूम नहीं पड़ा कि जर्मनी के ऊपर कितना भार लादा जा रहा है। इनको देखते हुए यह कोई अचम्भे की बात नहीं है कि कुछ अर्से बाद वरसाइल सन्धि की कटु आलोचना करना और इसको बुरी सन्धि बतलाना फैशन-सा हो गया था। यह सम्भव है कि अगर विजयी शक्तियाँ जर्मनी के साथ इतनी कठोरता का व्यवहार नहीं करतीं तो शायद इस बदली हुई स्थिति को जर्मनी सहन कर लेता। लेकिन यह बात सम्भव ही है निश्चित नहीं। कम से कम यह सन्देहास्पद है कि जर्मनी का सैनिक वर्ग नरम से नरम सन्धि को भी बुरी नहीं बतलाता और कभी न कभी इस बात का यत्न नहीं करता कि जर्मनी को पुनः वही प्रतिष्ठा प्राप्त हो जाय जो पहले यूरोप में थी। सैनिक वर्ग की अब प्रतिष्ठा जाती रही थी और पराजय के कलंक से वह तिलमिला रहा था। कुछ भी हो 1914 और 18 के युद्ध के बाद स्थिति ऐसी नहीं थी कि मित्र कोई उदारता या विशाल हृदयता से काम करते थे। फ्रांस ने देखा कि उसके बहुत बड़े प्रदेश को उसके प्रबल और भयंकर शत्रुओं ने कब्जा करके नष्ट कर डाला है। ब्रिटिश साम्राज्य अपने लगभग 10,00,000 वीरों की मृत्यु पर शोक मना रहा था। इसलिए जनमत इस बात के लिए तैयार नहीं था कि ऐसे देश के साथ नरमी का व्यवहार किया जाय, जो यदि चाहता तो इस ज्वाला को टाल सकता था, और जो युद्ध के रक्तपात के लिए अपराधी था। इसलिए निश्चय किया गया था कि जहाँ तक राजनीतिक युक्तियाँ काम दे सकती हों वहाँ तक ऐसी घोर विपत्ति की पुनरावृत्ति को रोका जाय

और इस हेतु शत्रु से ऐसा दंड लिया जाय जो नैतिकता के निन्दनीय अन्त का प्रतीक बनकर युग-युगान्तर तक इसकी घोषणा करता रहे। इसलिए जर्मनी को निःशस्त्र किया गया, उसके प्रदेश छीने गए और कुछ समय के लिए उसको संसार की जातियों से बहिष्कृत-सा कर दिया गया। ब्रेस्टलिटोवस्क और बुखारेस्ट की सन्धियाँ करते समय जर्मनी ने भी रूस और रूमानिया के साथ बड़ी कठोरता का व्यवहार किया था। अब उसके साथ व्यवहार करते हुए उसी की नजीर से काम लिया गया। फिर भी नवीन यूरोप का आधार भय और बदले पर नहीं था। ये नई सन्धियाँ विभिन्न देशों से कुछ प्रतिनिधियों ने तरंगों या मौजों में आकर नहीं की थीं। प्रादेशिक फैसलों का मूल सिद्धान्त जातीय विशेषता ही माना गया था। आस्ट्रिया, हंगरी और आटोमन साम्राज्य का भंग तथा प्रशिया से ऐसे प्रदेशों को वापस लेना जो उसने पोलैण्ड से छीने थे, ये सब जातीयता के सिद्धान्त के ही परिणाम थे। इस सिद्धान्त के अपवादस्वरूप डेनजिग को स्वतंत्र नगर बनाया गया था कि पोलैण्ड समुद्र तक पहुँच सके। जर्मनी और आस्ट्रिया के मेल का निषेध किया गया था। क्षति-पूर्ति के लिए सारे प्रदेश को जर्मनी से कुछ समय के लिए अलग किया गया था और पुनर्निर्मित बोहेमिया की रियासत में जर्मन और चेक लोगों के ऐतिहासिक सम्बन्ध की रक्षा की थी। हर दृष्टि से देखा जाए तो इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि यूरोप के नये नक्शे का आधार बहुत हद तक न्याय ही था, बल्कि पुराने यूरोप का नक्शा इतना न्यायोचित नहीं था। जातीयता के आधार पर कहा जा सकता था कि प्रादेशिक परिवर्तन उचित थे और इस बात की दलील दी जा सकती है कि आखिरकार जो फैसला जातीय भावना की दृष्टि से किया गया है वही सम्भवतः स्थायी रह सकता है। इन सन्धियों में सबसे बड़ा दोष यह था कि प्रादेशिक पुनर्व्यवस्था के कारण जो आर्थिक संकट उत्पन्न होने वाला था उससे बचने के लिए कोई आयोजन नहीं किया गया था। महसूल चौकियों की लगभग 12,000 मील लम्बी रेखाएँ बन गईं और ये रेखाएँ उस महाद्वीप पर बनीं जो अपार आकार के युद्ध से परिश्रान्त होकर बैठा हुआ था। इस स्थिति से यूरोप इसलिए बाहर नहीं निकल सका कि आर्थिक राष्ट्रीयता बहुत प्रबल हो गई और उसके कारण युगों के दबे हुए झगड़े पुनः प्रज्ज्वलित हो गए।

अल्पसंख्यक लोगों की समस्या—आर्थिक संकट और झंझटें स्थायी हो गईं। इन्हीं के कारण अगले बीस वर्ष तक राजनीतिक अस्थिरता चलती रही। दूसरी गड़बड़ की बात यह थी कि लाखों जर्मन और मेग्येर लोग अपनी मातृभूमि से पृथक् कर दिए गए थे। आस्ट्रिया से चालीस लाख जर्मनों को अलग कर दिया गया था। इनमें से अधिकांश लोग चेकोस्लोवेकिया में शामिल किए गए थे। जर्मनी ने पोलैण्ड को दस लाख से अधिक जर्मन दिए थे और अपने दो नगर—डेनजिग और मेमल—से वह वंचित हो गया था। हंगरी लगभग तीस लाख मेग्येरों से बिछुड़ गया जिनमें से लगभग बीस

लाख तो उसकी सीमा के समीप ही रहते थे। फिर भी यह स्मरण रखने की बात है कि मध्य और पूर्वी यूरोप में अनेक जातियों का जाल बिछा हुआ है जो आपस में इतनी मिली हुई हैं कि अलग नहीं की जा सकतीं। कहीं-कहीं यह नीति बरती गई थी कि खास-खास जिलों में जबरदस्त कौम को बसाया जाय ताकि वहाँ की जातीय विशेषता बदल जाय, उदाहरणार्थ जब प्रशिया ने पोलैण्ड का एक भाग छीन लिया तो उसमें बड़ी संख्या में जर्मन लोग बसाए गए। जो रियासतें यह शिकायत करती थीं कि उनके देश-भाई दूसरे राज्य में क्यों शामिल कर दिए, उन्हीं के यहाँ भी अल्पसंख्यक जातियाँ बसी हुई थीं। हंगरी की आबादी पचहत्तर लाख थी, परन्तु उनमें पन्द्रह लाख ऐसे थे जो मेग्येर नहीं थे। स्वशासन (Self-determination) के आधार पर जातीय समस्या का हल करने से अल्पसंख्यक लोगों का बलिदान हुआ। ट्रांसिलवेनिया हंगरी से निकलकर रोमानिया में मिल गया। उसमें पन्द्रह लाख मेग्येर निवास करते थे लेकिन रोमानियन लोग पचास प्रतिशत ज्यादा थे। हम यह देख चुके हैं कि शान्ति-परिषद् जातीय सिद्धान्त का हर हालत में पालन नहीं करती थी। इसके निर्णयों पर कभी आर्थिक, कभी ऐतिहासिक और कभी सैनिक अवस्था का प्रभाव पड़ता था। परन्तु जहाँ जातीय सिद्धान्त का पालन होता था वहाँ देखा जाता था कि यदि अन्याय ही होना है तो कम से कम हो। अतः बहुसंख्यक लोगों के अधिकारों पर अल्पसंख्यक लोगों की अपेक्षा अधिक ध्यान दिया जाता था। साथ ही यह मान लिया गया था कि जातियों के संघर्ष में प्रत्येक जाति घन बनना चाहती है और शेष समस्त जातियों को ऐरण बनाना चाहती है। 1914-18 के विश्व-युद्ध का कारण यही था। यदि जातीय असन्तोष चलने दिया जाता तो अवश्य ही यूरोप में फिर आग लग जाती। इस खतरे के निवारण के लिए अल्पसंख्यक लोगों की रक्षा के हेतु पोलैण्ड, चेकोस्लोवेकिया, यूगोस्लाविया और यूनान ने सन्धियों पर अपने हस्ताक्षर किए। प्रत्येक देश ने यह वचन दिया कि मित्र और संयुक्त शक्तियों के साथ जो हमारी सन्धि हुई है उसमें ऐसी शर्तें शामिल कर ली जायगी जिसको उपरोक्त शक्तियाँ उन लोगों की रक्षा के लिए आवश्यक समझती हैं, जिनका धर्म, भाषा और जाति बहुसंख्यक लोगों से भिन्न हो। दुर्भाग्य से इस शर्त की ईमानदारी से पाबन्दी नहीं हुई। भूतकाल का पाठ फिर भुला दिया, और अल्पसंख्यकों पर ऐसी कठिनाइयाँ लाद दी गईं जो जातीय कटुता के लिए अच्छा उपजाऊ खेत बन गईं।

(iii)
राष्ट्र-संघ

1914-18 के युद्ध का परिमाण, तज्जन्य क्षतियों का आकार, विनष्ट और अवरुद्ध प्रदेशों में लोगों के दुःख, विजेता और पराजित दोनों का ऋणभार, सबसे अधिक राष्ट्रीय झगड़ों का फैसला करने में युद्ध-साधन की निस्सारता—इन सब कारणों से ऐसी विश्वव्यापी भावना बन गई थी कि यह आशा की जाने लगी कि मानवता के

विकास में अब बड़ा परिवर्तन होने वाला है। राष्ट्र-संघ के विधाता लोगों के हृदयों में उत्पन्न होने वाली इस क्षणिक भावना को पकाना चाहते थे और इस सामग्री से ऐसा ताना-बाना बुनना चाहते थे जो बहुत भारी हो और तोड़ने से नहीं टूटे। इतिहास के पृष्ठ इस बात के साक्षी हैं कि मनुष्य युद्ध की उपयोगिता में अन्धविश्वास रखते आए हैं, परन्तु अगणित बार यह अनुभव भी हो चुका है कि युद्ध बारूद की भाँति नाश करता है, रचना नहीं, और जब राष्ट्रीय समस्याओं को दबाव से हल किया जाता है तो उनके स्थान में नई समस्याएँ खड़ी हो जाती हैं। व्यक्तिगत कार्यवाही का स्थान सामूहिक कार्यवाही को देकर राष्ट्र-संघ लोगों में यह भावना उत्पन्न करना चाहता था कि वे सुरक्षित हैं ताकि वे शान्ति की भाषा में विचार करना शुरू करें और भूतकाल की संघर्ष-भाषा को छोड़ें। अब तक तो यह समझा जाता था कि राष्ट्र के पास युद्ध अन्तिम औषध है। इसलिए इसको वैसे ही समझना चाहिए जैसे ऐंग्लो-सेक्सन देशों के मल्ल-युद्ध, अर्थात् जंगली जमाने का बचा-खुचा रिवाज। इस प्रकार राष्ट्र-संघ एक गहन मनोवैज्ञानिक क्रान्ति करना चाहता था। वह मनुष्य जाति की युद्ध-भावना को शान्ति-भावना में बदलना चाहता था। पिछले बीस वर्ष की घटनाओं की रोशनी में देखा जाय तो यह विचार अव्यावहारिक और विचित्र प्रतीत होता है, परन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि मनुष्य जाति को सभ्य बनाने की विधि में यह तत्व की बात है कि मनुष्य के मनोविज्ञान पर औचित्य का प्रभाव हो जिससे मनुष्य की सहज प्रवृत्तियाँ नरम हो सकें, क्योंकि इनको खुला छोड़ देने से विनाश होता है।

राष्ट्र-संघ का अहदनामा—राष्ट्र-संघ का अहदनामा उन राष्ट्रों के बीच में कोई अलग समझौता नहीं था जो इस सघ के सदस्य बनाए गए थे। यह वरसाइल की सन्धि में ही गुँथा हुआ था। यह युक्ति इसलिए ग्रहण की गई थी कि जो सरकारें इसको सम्भव या अभीष्ट नहीं मानती हैं उनकी उपेक्षा के कारण यह अन्तरराष्ट्रीय आयोजन यों ही पीछे न डाल दिया जाय। वरसाइल की सन्धि में इसको शामिल करने से एक और उद्देश्य सिद्ध हुआ। इस सन्धि के निर्माता लोग यह कहने का साहस नहीं करते थे कि जो कुछ उन्होंने किया है वह सही है। वे जानते थे कि इसकी दस्तावेजें क्रोध और घृणा के वायुमण्डल में तैयार की गई हैं और युद्ध के कारण जो राग और द्वेष उत्पन्न हुए थे उनकी इन पर गहरी छाप है। इसलिए उन्होंने ऐसा यन्त्र तजवीज किया जिसके द्वारा कुछ समय बाद यह उग्रता नरम हो जाय। राष्ट्र-संघ एक प्रकार का न्यायालय था। यहाँ पर पराजित देश सम्मिलित राष्ट्रों से नरम वर्ताव के लिए अपील कर सकते थे। अहदनामे की भूमिका में कहा गया था कि इसका उद्देश्य है अन्तरराष्ट्रीय शान्ति की सुरक्षा स्थापित करना और यह उत्तरदायित्व मन्जूर करना कि युद्ध का आश्रय नहीं लिया जायगा। और सन्धि में जो जिम्मेदारियाँ दर्ज हैं उनका अक्षरशः आपसी व्यवहार में पालन किया जायगा। अहदनामों में जितनी धाराएँ हैं उनमें

निम्नलिखित धाराएँ भी दर्ज थीं—धारा दसवीं, 'राष्ट्र-संघ के सदस्य इस बात का वचन देते हैं कि सब सदस्यों की प्रादेशिक एकता और वर्तमान राजनीतिक स्वतन्त्रता का, अगर किसी बाहर की शक्ति ने उन पर आक्रमण किया तो आदर, किया जायगा और रक्षा की जायगी।' धारा बारहवीं, 'राष्ट्र-संघ के सदस्य इस बात पर सहमत हैं कि अगर उनमें पारस्परिक कोई भी झगड़ा उठ खड़ा होगा, जिससे लड़ाई की संभावना हो, तो वे उस मामले को फैसले के लिए कौंसिल के सामने पेश करेंगे। वे इस बात पर भी सहमत हैं कि किसी भी हालत में वे युद्ध का आश्रय नहीं लेंगे जब तक कि कौंसिल की रिपोर्ट के बाद या निर्णायकों के फैसले के बाद तीन महीने व्यतीत न हो जाएँ।' धारा सोलहवीं, 'इस अहदनामे की उपेक्षा करके यदि कोई सदस्य युद्ध छेड़ दे तो यह माना जायगा कि उसने राष्ट्र-संघ के समस्त सदस्यों के खिलाफ लड़ाई छेड़ दी है। ऐसी अवस्था के लिए राष्ट्र-संघ के सदस्य यह अपने ऊपर जिम्मेदारी लेते हैं कि ऐसे देश के साथ कोई व्यापारिक या आर्थिक सम्बन्ध नहीं रखा जायगा। ऐसी अवस्था में कौंसिल का यह कर्त्तव्य होगा कि सम्बन्धित सरकारों से यह सिफारिश करे कि कितनी स्थल-सेना, नौ-सेना और वायु-सेना संघ के प्रत्येक सदस्य को भेजनी चाहिए ताकि अहदनामे की रक्षा के लिए शस्त्र कार्यवाही की जा सके।' धारा तेईसवीं, 'राष्ट्र-संघ के सदस्य यह भी प्रयत्न करेंगे कि कारखाने में काम करने वाले पुरुष, स्त्री और बच्चों के लिए ऐसी स्थिति उत्पन्न की जाय जो उचित और मानवीय हो।'[1]

अमरीका का रुख—राष्ट्र-संघ का लोगों ने अपार हर्ष के साथ स्वागत किया। जनरल स्मट्स ने बड़े आशावाद के साथ लिखा, 'मानवता की गति फिर शुरू हो गई

---

1. मजदूरों की आकांक्षाओं को अन्तरराष्ट्रीय मान्यता दी गई थी और इसको अधिकार-पत्र (चार्टर आफ राइट्स) के रूप में प्रकट किया गया था। राष्ट्र-संघ के अहदनामे की भाँति इस अधिकार-पत्र का वरसाइल की सन्धि में समावेश किया गया था। एक अर्थ में यह अधिकार-पत्र अहदनामे का ही दूसरा स्वरूप था, क्योंकि इसको राष्ट्रों के मतभेदों को मिटाने के लिए तैयार किया गया था और उद्देश्य यह था कि इससे राष्ट्र की आन्तरिक शांति में वृद्धि हो। मजदूरों के इतिहास में यह प्रथम घटना थी कि संसार की सरकारों ने मिलकर मजदूरों की माँगों को अन्तरराष्ट्रीय मान्यता दी।

अन्तरराष्ट्रीय मजदूर सभा (लेबर कांफ्रेंस) निश्चित समय पर बार-बार हुआ करती थी। मजदूरों के अधिकार-पत्र में जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया था, उनको ये सभाएँ स्थूल रूप दिया करती थीं। इन प्रस्तावों को कार्यान्वित करने से पहले यह आवश्यक था कि राष्ट्र-संघ के सदस्य उनको स्वीकार करें। अन्तरराष्ट्रीय मजदूर कार्यालय स्थायी संस्था थी, और संसार-भर के औद्योगिक जीवन और मजदूरों की स्थिति से सम्बन्ध रखने वाली समस्त जानकारी यह दफ्तर संग्रह करता था और उसका वितरण भी करता था।

है। पुरानी नींवें हिल उठीं। अभी स्थिति ने स्थिर रूप धारण नहीं किया है। मानवता का कारवाँ कूच कर रहा है।' आगे चलकर उसने कहा, 'मानव-शासन में राष्ट्र-संघ एक नया युग उत्पन्न करेगा और लोगों को शान्ति की गारन्टी देगा। समस्त जातियों के मजदूरों के लिए एक अन्तरराष्ट्रीय पंचायत बनेगी और मनुष्य जाति की आत्मीय उन्नति का स्वरूप साकार होगा।' अन्त में उसने कहा कि मुझे इस बात का विश्वास है कि 'इस युद्ध के कारण जो यूरोप का विनाश हुआ है उससे बचने के लिए राष्ट्र-संघ रास्ता दिखाएगा।' लगभग बीस वर्ष तक इन आशाओं के विषय में लीग के सहायक यह समझते रहे कि ये पूरी होने वाली हैं। 1924 में पता लगा कि राष्ट्रों के समाज में राष्ट्र-संघ ने कितना ऊँचा स्थान प्राप्त कर लिया है। उस वर्ष के जेनेवा अधिवेशन में सात प्रधान मन्त्री और सोलह पर-राष्ट्र-मन्त्री सम्मिलित थे। 1920 में भी जब राष्ट्र-संघ का प्रथम अधिवेशन हुआ तो 42 सदस्यों ने प्रतिनिधि भेजे थे, लेकिन इनकी कार्यवाही कुछ फीकी रही, क्योंकि अमरीका इसमें शामिल नहीं हो सका। प्रेसीडेन्ट विलसन के प्रभाव और प्रतिष्ठा के कारण ही संसार की समस्त शक्तियों ने राष्ट्र-संघ का मसविदा मन्जूर किया था, लेकिन अब इसका विधाता अपने ही देश में सम्मान का पात्र नहीं था। जब वरसाइल की सन्धि का मसविदा अमरीका की सीनेट में पुष्टि के लिए पेश किया गया तो उसमें कई प्रकार के संशोधनों का प्रस्ताव हुआ जो अमरीका की कार्यकारिणी ने मन्जूर नहीं किए। विलसन के राजनीतिक विरोधियों ने उसको परम्परागत चेतावनी दी। यह चेतावनी अमरीकन जनतन्त्र के हृदय में बैठी हुई थी। वह यह थी कि फँसाने वाली सन्धियाँ नहीं की जाएँ। विलसन ने कहा कि फँसाने वाली सन्धियाँ तो केवल वे ही होती हैं जो खास सूरत में की जाएँ या खास पार्टी के साथ में। लेकिन जो सन्धि संसार के सम्पूर्ण राष्ट्रों से की जाती है वह फँसाने वाली नहीं होती। 1920 का निर्वाचन पर-राष्ट्र-नीति को लेकर ही किया गया था। इसमें रिपब्लिकन पार्टी को विजय प्राप्त हुई। नतीजा इसका यह हुआ कि सीनेट ने वरसाइल सन्धि की कोई पुष्टि ही नहीं की और अमरीका राष्ट्र-संघ का सदस्य भी नहीं बना। इस प्रकार सबसे अधिक शक्तिशाली और सबसे अधिक निस्स्वार्थ राष्ट्र के अलग रहने से राष्ट्र-संघ के हाथ बहुत बँध गए। प्रेसीडेन्ट विलसन चाहता था कि सामूहिक सुरक्षा और पारस्परिक उत्तरदायित्व के आधार पर संसार में शान्ति स्थापित करने का एक अनोखा प्रयोग किया जाय। अमरीका के अतिरिक्त और कोई राष्ट्र राष्ट्र-संघ से अलग नहीं रहा। 1921 में इसके सदस्यों की संख्या 51 थी, 1932 में 57 और 1934 में 60।

राष्ट्र-संघ के कार्य—आरम्भ से ही राष्ट्र-संघ ने यह दृढ़ निश्चय कर लिया था कि अन्तरराष्ट्रीय विषयों में उसको शून्य नहीं समझा जाए। अपने अस्तित्व के प्रारम्भिक वर्षों में इसकी प्रतिष्ठा निरन्तर बढ़ती गई। कारण यह था कि इसने कई

राष्ट्रीय झगड़ों में सफलतापूर्वक बीच-बचाव कर दिया था।[1] 1921 में इसने अन्तर-राष्ट्रीय न्याय की स्थायी अदालत (Permanent Court of International Justice) स्थापित कर दी और इसका स्थान भी 'दी हेग' निश्चित हुआ। उसी वर्ष इसने सर्बिया को धमकी दी कि यदि अलबेनिया से उसने अपनी सेना नहीं हटाई तो अहदनामे की सोलहवीं धारा के अनुसार उस पर आर्थिक पाबन्दियाँ लगाई जाएँगी। तब सर्बिया ने अपनी सेनाएँ हटा लीं। सन् 1923 में इटली ने यूनान का कोफ्यू नामक टापू छीन लिया था और इससे लड़ाई हो जाती, परन्तु राष्ट्र-संघ ने इटली और ग्रीस के बीच का झगड़ा शान्त कर दिया। इसी वर्ष इसने तीन और बड़े-बड़े आर्थिक काम किए। इसने आस्ट्रिया और हंगरी को दीवालियेपन से बचाने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लिया। एशिया माइनर और पूर्वी थ्रेस से जो यूनानी शरणार्थी आए उनको यूनान में बसाने के काम का इसने निरीक्षण किया। 1925 में ग्रीस ने बलगेरिया का कुछ प्रदेश दबा लिया था। इससे दोनों के बीच सीमा-सम्बन्धी झगड़ा उत्पन्न हो गया था। इसको भी राष्ट्र-संघ ने निपटाया। लेकिन आगामी वर्ष एक अशुभ घटना हुई। ब्राजील और स्पेन चाहते थे कि उनको कौंसिल में स्थान मिले। इस विषय में कुछ मतभेद और मनमुटाव हो गया, जिसके कारण उन्होंने राष्ट्र-संघ की सदस्यता छोड़ दी। इससे एक उदाहरण उपस्थित हो गया और तीन वर्ष बाद दूसरे बड़े-बड़े सदस्यों ने भी उसका अनुसरण किया। लेकिन राष्ट्र-संघ में एक सदस्य बढ़ गया। अब जर्मनी को कौंसिल में स्थायी स्थान मिल गया। राष्ट्र-संघ की सदस्यता इस बात की प्रतीक थी कि प्रतिष्ठा की दृष्टि से जर्मनी अन्य बड़ी-बड़ी शक्तियों के समान है। अब जर्मनी यूरोपीय कन्सर्ट में शामिल हो गया और ऐसा मालूम होता था कि यह नए युग की सूचना है।[2]

पेरिस का अहदनामा—लीग के जीवन के दस वर्ष समाप्त होते-होते दो घटनाएँ ऐसी घटीं जो इस बात की सूचक थीं कि संसार में शान्ति का राज्य स्थापित करने के लिए जो प्रगति शुरू हुई है वह चरम सीमा पर पहुँच चुकी है। पहली घटना थी पेरिस का अहदनामा (1928)। इसके जन्मदाता थे मोन्सीयर ब्रियन्ड, फ्रांस का पर-राष्ट्र मंत्री, और मिस्टर केलोग, अमरीका का सेक्रेटरी ऑफ स्टेट। इस अहदनामे पर दस्तखत करने वाले राष्ट्रों ने आत्म-रक्षा के अधिकार को सुरक्षित रखते हुए इस बात का वचन दिया कि लड़ाई को कानून के क्षेत्र से बाहर समझा जायेगा। इसके

---

1. लार्ड रोबर्ट सेसिल ने कहा था कि राष्ट्र-संघ की अनेक पारिभाषिक प्रगतियों का उद्देश्य यह था कि राष्ट्र-संघ विश्व-शान्ति की रक्षा करने के अतिरिक्त एक अन्य अन्तरराष्ट्रीय प्रगति भी निरन्तर रूप से जारी रखे। राष्ट्रीय संघ अन्तर-राष्ट्रीय सहकारिता द्वारा स्वास्थ्य, आर्थिक पुनर्निर्माण आदि काम करता था। देखो—प्र० मोरले, दी सोसाइटी ऑफ नेशन्स।
2. सोवियत रशिया लीग में 1934 में प्रविष्ट किया गया था।

अमर वाक्य किसी दिन राष्ट्रों की पंचायत के लिए बाइबिल के-से उपदेश माने जाएँगे। अहद करने वाली पार्टियों ने घोषणा की कि अन्तरराष्ट्रीय मतभेदों का हल करने के लिए युद्ध करना हम निन्दनीय समझते हैं। राष्ट्रों के पारस्परिक सम्बन्धों में युद्ध को राष्ट्रीय नीति के समान समझा जाता है। इसका हम परित्याग करते हैं। हम इस बात पर सहमत हैं कि झगड़े या विवाद किसी भी प्रकार के हों और चाहे किसी भाँति वे उत्पन्न हुए हों यदि खड़े हों तो उनका हल या फैसला शान्त साधनों के अतिरिक्त अन्य किसी साधन से नहीं किया जायगा।

यूरोप का फिडरल यूनियन—दूसरी प्रसिद्ध घटना 1930 में हुई। मोन्सीयर ब्रियन्ड ने एक मसविदा तैयार किया और चाहा कि राष्ट्र-संघ के अन्दर एक यूरोपीय संघ बनाया जाय। "आज किसी को इस बात में सन्देह नहीं है कि यूरोप की आर्थिक और नैतिक शक्तियों के परस्पर न मिलने से समस्त राजनीतिक और अन्य संस्थाओं की उत्तमता और विकास में एक बहुत बड़ी अड़चन उपस्थित हो रही है। यह भी प्रवृत्ति है कि इस प्रकार की संस्थाएँ ही सार्वभौम शान्ति के संगठन का आधार मानी जाएँ। इस सहयोग के अभाव के कारण आर्थिक बाजार विस्तृत करना सम्भव नहीं है। उद्योग के केन्द्रों में उत्पत्ति बढ़ाई नहीं जा सकती और न उसमें तरक्की हो सकती है और इसी कारण इस बात की भी गारन्टी नहीं की जा सकती कि मजदूरों के लिए नाजुक स्थिति पैदा नहीं होगी। इस प्रकार की स्थिति से ही राजनीतिक और सामाजिक स्थिरता हुआ करती है। यूरोप का युक्ति-युक्त संगठन करने और चिर-स्थायी सहयोग स्थापित करने के लिए यह आवश्यक था कि एक प्रारम्भिक फिडरल संघ स्थापित किया जाय जो यूरोपीय राष्ट्रों में दृढ़ता बढ़ाये और उनका परस्पर सम्पर्क स्थापित करे, ताकि जिन समस्याओं का सबसे सम्बन्ध है उनका अध्ययन हो सके, उन पर बहस हो सके और उनका कोई हल हो सके।" मसविदे में कहा गया है कि "अभी कोई ऐसा आदर्श खड़ा किया जा रहा है जो यूरोपीय संघ यन्त्र की सब शक्तियों को पूरी कर सके। अभी तो केवल यह आवश्यकता अनुभव हो रही है कि यूरोपीय सरकारों में कुछ सम्पर्क बढ़े और दृढ़ता आए जिससे सब समान समस्याओं का, जिनका यूरोप की शान्ति से सम्बन्ध है, हल हो सके। इसके अतिरिक्त यह प्रश्न बिल्कुल नहीं है कि राष्ट्र-संघ के बाहर कोई यूरोपीय संगठन खड़ा किया जाए। इसके विपरीत संघ की भावना के अनुसार उसके नियन्त्रण में यूरोपीय हितों का समन्वय करना है। संघ के व्यापक आयोजन के अन्दर एक छोटा आयोजन किया जा रहा है, शायद जो अधिक कारगर सिद्ध हो। कुछ ऐसे प्रश्न हैं जिनका सम्बन्ध यूरोप से ही है। उनके विषय में यूरोपीय राष्ट्र ऐसी आवश्यकता अनुभव करें जो उनकी जातीय समानता और सभ्यता की एकता को ध्यान में रखकर वे स्वयं कुछ काम करें। इस बात पर जोर दिया गया कि यूरोपियन सरकारों का संघ कायम करने से विभिन्न

राष्ट्रों के शासन-अधिकारों पर किसी प्रकार का प्रभाव नहीं पड़ेगा। पूर्ण शासन-स्वतन्त्रता और राजनीतिक स्वतन्त्रता के आधार पर यह आयोजन खड़ा किया गया है।" आगे चलकर भविष्यवाणी करते हुए कहा गया कि "इससे अधिक शुभ मुहूर्त दूसरा नहीं आवेगा। यूरोप में रचनात्मक कार्य अभी हाल होने की आवश्यकता है। पिछले युद्ध के कारण जो समस्याएँ—आर्थिक और नैतिक—उत्पन्न हुई थीं उनका फैसला होने वाला है, जिससे नया यूरोप उस भार से मुक्त हो जायगा जो उस पर अभी तक लदा हुआ था, जो उसके मनोविज्ञान और उसके अर्थ-तन्त्र पर बड़ा जोर डाल रहा था। अब मालूम होता है कि यूरोप एक नया कदम उठाने के लिए तैयार है। यह प्रयास ऐसा होगा जो इस नई परिस्थिति में उपयुक्त माना जायगा। यह निश्चय करने का समय है। इस समय यूरोप अपने भाग्य का निर्णय कर सकता है। मिलो और समृद्ध बनो। यह ऐसी आवश्यकता है जो भविष्य में यूरोप के राष्ट्रों के सामने खड़ी होगी। ऐसा मालूम होता है कि लोगों की भावनाएँ इस विषय में पहले ही स्पष्ट हो चुकी हैं। यह सरकारों का कर्त्तव्य है कि आज वे अपनी जिम्मेदारियों को समझें। यदि ऐसा नहीं किया तो इसमें यह खतरा है कि आर्थिक और नैतिक आवश्यकताओं का उपयोग व्यक्ति विशेष करेगा और फिर ऐसे आयोजन में कोई व्यवस्था नहीं रहेगी। यह सरकारों के ऊपर दायित्व है कि इन शक्तियों पर वह सामूहिक नियन्त्रण करें जिससे यूरोप की जनता और सम्पूर्ण मानवता को लाभ हो।"

संघ को ग्रहण लगा—सन् 1932 में मोन्सियर ब्रियन्ड (Briand) का देहान्त हो गया। उसका नाम लोकार्नो की सन्धि, पेरिस के अहदनामे और यूरोपीय संघ के साथ जुड़ा हुआ था। इन दस वर्षों पर उसके नाम की छाप थी। इस युग में वह बहुत बड़ा राजनीतिक व्यक्ति था। इसकी मृत्यु के बाद नये पुरुष और नये साधन रंगमंच पर दिखाई देने लगे। राष्ट्र-संघ की बार-बार हार हुई, जिसका परिणाम यह हुआ कि उसको ग्रहण-सा लग गया। अन्तरराष्ट्रीय कानून का राज्य एकदम खतम हो गया। किसी से बिना पूछे ही राष्ट्र सन्धियाँ तोड़ने लगे। इसलिये अन्तरराष्ट्रीय समझौतों में कोई पवित्रता नहीं रही। कहाँ तो विश्व-शान्ति का स्वप्न था और कहाँ अब एकदम नंगे रूप में और जंगली तरीकों से आक्रमण होने लगे। एक ही रात में यूरोप का राजनीतिक दृश्य और का और ही हो गया। इतिहास के नये अध्याय के लिए रंगमंच तैयार हो गया। यह अध्याय था वरसाइल से पीछे हटना। यूरोप में ही नहीं बल्कि एशिया और अफ्रीका में भी अन्तरराष्ट्रीय विश्वास का स्थान पाशविक बल और महत्वाकांक्षा ने लिया। प्रेसीडेन्ट रूजवेल्ट के शब्दों में अन्तरराष्ट्रीय विश्वास तब उत्पन्न होता है जब सभ्य राष्ट्र दूसरे राष्ट्रों के अधिकारों और स्वतन्त्रता का आदर करते हैं। सन् 1939 में प्रेसीडेन्ट रूजवेल्ट ने कांग्रेस में भाषण दिया। उसमें सारांशतः बतलाया कि पिछले आठ वर्षों ने अनुभव का पाठ पढ़ाया है। 'सन् 1931

से संसार की तूफानी घटनाएँ बिजली की गति से आगे बढ़ गई हैं। इन आठ वर्षों में हमारे बहुत-से दोस्त यह आशा करते रहे कि मनुष्य का सहज सौजन्य उन लोगों की रक्षा करेगा जिन्होंने आत्म-रक्षा की तैयारी नहीं की है और जो मनुष्य जाति पर सहज विश्वास करते हैं। आज हम अधिक बुद्धिमान हैं और दुखी भी।' राष्ट्र-संघ को ग्रहण लगा, उसके दो कारण थे। पहले तो उसको इससे कठिनाई रही कि शुरू से ही अमरीका अनुपस्थित रहा। हाँ अगर स्पष्ट और दृढ़ नीति का अनुसरण किया जाता तो संघ की सदस्यता में यह जो बहुत बड़ी दराज थी उसकी पूर्ति हो जाती। दूसरा कारण, जो सबका मूल था, वह स्वयं संघ ही था। इसमें छोटे-छोटे मामलों को तय करने के लिए तो शक्ति थी, लेकिन आज की बड़ी-बड़ी समस्याओं को हल करने के लिए इसमें आत्मिक एकता नहीं थी। कुछ बड़े प्रश्नों का हल यह बिल्कुल नहीं कर सका और इसकी अयोग्यता साफ जाहिर हो गई। इससे यह भी पता लग गया कि संघ के सदस्य केवल वचन द्वारा मसविदे की प्रशंसा करते हैं। एक प्रश्न था निःशस्त्रीकरण का। इससे जाँच हो गई कि सदस्यगण सामूहिक सुरक्षा पर विश्वास करने के लिए तैयार हैं या शस्त्र-शक्ति पर ही उनका विश्वास है। दूसरे प्रश्नों का सम्बन्ध मंचूरिया और अबीसीनिया से था। सिद्धान्त के लिए संघ युद्ध करने के लिए तैयार था या नहीं, इसकी जाँच भी हो गई।

निःशस्त्रीकरण—अहदनामे की आठवीं धारा में यह दर्ज किया गया था कि शान्ति की रक्षा के लिए आवश्यक है कि राष्ट्रीय शस्त्रास्त्र इतने कम कर दिये जाएँ जिनके बिना राष्ट्र की रक्षा न हो सके और अन्तरराष्ट्रीय कर्त्तव्यों का पालन सामूहिक कार्यवाही करके किया जाय। संघ की कौंसिल को यह काम सौंपा गया कि वह इस काम के लिए योजना बनाए। ब्रिटिश प्रधानमन्त्री की राय थी कि 'यदि हम शस्त्रों को सीमित न कर देंगे तो न तो हमको स्थायी शान्ति प्राप्त होगी और न जर्मनी के शस्त्रों को हमेशा के लिए हम सीमित करवा सकेंगे।' इस धारा की शर्तों को कार्यान्वित करने के लिये टैकनिकल आयोग नियुक्त किया गया। इसको सब मानते थे। निःशस्त्रीकरण के प्रश्न की जाँच करना इन आयोगों का काम था। बहुत अर्से तक लम्बी-लम्बी बहसें हुईं परन्तु कोई सार नहीं निकला। संघ के इस प्रमाद और धीमेपन का कारण यह बतलाया गया कि फ्रांस अपनी सेना को कम करने के लिए बिल्कुल तैयार नहीं है। उसके रुख को समझने के लिए यह स्मरण रखना चाहिए कि 1919 में अमरीका और ब्रिटिश सरकार ने फ्रांस के साथ एक सन्धि की थी, जिसके अनुसार उन्होंने वचन दिया था कि अगर उस पर जर्मनी ने अकारण हमला किया तो वे तत्काल उसकी सहायता करेंगे। ब्रिटिश सरकार ने गारन्टी इस शर्त पर दी थी कि अमरीका भी उसका साथ देगा, परन्तु अमरीका की सीनेट ने इस सन्धि की पुष्टि करने से इन्कार कर दिया। इसलिये ब्रिटेन की बात यों ही गई। इस घोर निराशा के कारण ही फ्रांस की

पर-राष्ट्र-नीति ने दूसरी गति ग्रहण कर ली। इसका पहला और अन्तिम उद्देश्य यह था कि आत्म-रक्षा होनी चाहिये। लेकिन जब गारन्टी के अहदनामे की पुष्टि नहीं हुई तो फ्रांस के लिए खतरा पैदा हो गया। परिणाम यह हुआ कि अब फ्रांस सोचने लगा कि जर्मनी के खतरे से अपने-आपको किस प्रकार बचाया जाय। इसके अतिरिक्त वरसाइल की सन्धि में जो निःशस्त्रीकरण की शर्तें थीं उनके पालन करने में भी जर्मनी ने हीला-हवाला किया। इससे फ्रांस को डर लगने लगा और उन लोगों के हाथ मजबूत हो गये जो निःशस्त्रीकरण का विरोध कर रहे थे।

निःशस्त्रीकरण के लिए विश्व-परिषद्—लोकार्नो की सन्धि (1925) हो जाने पर स्थिति अधिक आशाजनक हो गई थी। इसके अनुसार इंगलैण्ड ने फ्रांस को यह गारन्टी दी कि यदि बिना किसी उत्तेजना के कोई राष्ट्र फ्रांस पर आक्रमण करेगा तो उसको सहायता दी जायेगी। फिर जर्मनी के साथ भी फ्रांस का सम्बन्ध पहले से अधिक अच्छा हो गया। अब ऐसा मालूम होता था कि निःशस्त्रीकरण की समस्या पर तत्परता से विचार करने के लिए उपयुक्त समय आ गया है। इसलिए निःशस्त्रीकरण कांफ्रेंस के अधिवेशन के लिए तैयारी होने लगी। फिर भी शस्त्रों को न्यून और नियमित करने के हेतु जो अन्तरराष्ट्रीय कांफ्रेंस होने वाली थी वह 1932 से पहले नहीं हो सकी। इसमें चौंसठ राष्ट्रों के प्रतिनिधि उपस्थित थे जिनमें रूस और अमरीका भी सम्मिलित थे। रूस तो अभी राष्ट्र-संघ का सदस्य भी नहीं था। फ्रांस ने यह तजवीज की कि एक अन्तरराष्ट्रीय सेना बनाई जाय जिसमें आवश्यकता होने पर राष्ट्रीय सेना के कन्टीन्जेंट भी शामिल कर दिये जाएँ और जब कोई राष्ट्र आक्रमण करे तो उसके विरुद्ध राष्ट्र-संघ इस सेना का उपयोग करे। यदि यह सम्भव होता तो यह योजना सर्वोत्तम थी। इसके द्वारा राष्ट्र-संघ ऐसी कार्यवाही कर सकता था जिसका प्रभाव पड़ता और सुरक्षा की सच्ची भावना उत्पन्न होती, परन्तु वह यों ही गई। इसके बजाय यह प्रस्ताव हुआ कि अत्यन्त आक्रमणात्मक शस्त्रों का अन्त कर देना चाहिए। यह प्रस्ताव कुछ विशेषज्ञों की कमेटी के सुपुर्द किया गया और उन्होंने 'आक्रमणता' पर इतनी बहस की कि यह एक प्रकार का दर्शनशास्त्र बन गया और वे लोग इसमें डूब गये। कई बहुमूल्य मास यों ही बीत गये। फिर अमरीका ने प्रस्ताव किया कि वर्तमान शस्त्रों का तृतीयांश कम कर दिया जाय। कई देशों ने यह मत प्रकट किया कि भारी तोपें, टैंक, बौम्ब डालने वाले हवाई जहाज और रासायनिक युद्ध सब शान्त होने चाहिये। कांफ्रेंस अपनी समस्याओं पर बहस करती रही और साथ ही यूरोप पतन के निकट जाता रहा। इस दलील में मुख्य बात यह थी कि जब तक सुरक्षा का कोई प्रबन्ध न हो जाय तब तक निःशस्त्रीकरण अव्यावहारिक है। लेकिन साथ ही निःशस्त्रीकरण के बिना सुरक्षा भी प्राप्त नहीं की जा सकती। इस कांफ्रेंस का एक ठोस परिणाम यह निकला कि जर्मनी को अब निःशस्त्री-

करण के लिहाज से दूसरी राष्ट्रीय शक्तियों के समान मान लिया गया। इस प्रकार उसका पद अन्य राष्ट्रों के बराबर हो गया। इस बात को टाला भी नहीं जा सकता था, क्योंकि केवल जर्मनी ने ही अब तक अपने शस्त्रों की यथोचित कमी की थी और यह इरादा था कि यह सार्वभौम निःशस्त्रीकरण का आरम्भ मात्र है। फ्रांस, ग्रेट ब्रिटेन और अमरीका ने प्रस्ताव किया कि जर्मनी फिर शनैः-शनैः शस्त्र तैयार करके दूसरे राष्ट्रों के समान बन जाय। लेकिन क्षति-पूर्ति की भाँति यह रियायत भी बहुत देर में दी गई। जर्मनी में इस समय कई आन्तरिक परिवर्तन हो चुके थे जिनके कारण उसकी नीति का रूपान्तर हो चुका था। जब नेशनल सोशलिस्टों की शक्ति बढ़ गई तो वे लोग राष्ट्र-संघ तथा निःशस्त्रीकरण कांफ्रेंस से ही हट गये और अब उन्होंने शस्त्र-निर्माण की घुड़दौड़ शुरू की। तब यूरोप के शेष राष्ट्रों ने भी उनका अनुकरण किया। यह स्थिति और अधिक नाजुक इस कारण हो गई कि राष्ट्र-संघ इटली के आक्रमण से अबीसीनिया की रक्षा नहीं कर सका। इसका वर्णन अभी किया जायेगा। दीवार पर मानो स्पष्ट शब्दों में भाग्य की रेखाएँ खिंची हुई थीं और जो उनको देखता था वह समझ सकता था कि उनका क्या मतलब है। ब्रिटिश सरकार ने घोषणा की (1936) कि संसार की वर्तमान अवस्था में इसके सिवाय कोई चारा नहीं है कि आत्म-रक्षा के साधनों का भली-भाँति अवलोकन किया जाय और हमलों से बचने के लिए और अन्तरराष्ट्रीय कर्त्तव्य का पालन करने के लिए आवश्यक साधन जुटाए जाएँ। इन शब्दों के साथ यूरोपीय नाटक के प्रथम अंक का पर्दा उठा। इस अंक पर प्रधान पात्र था आदर्शवाद। जब दूसरे अंक का पर्दा उठा तो वायुमण्डल सनसनीदार था और तीसरे अंक में जो ज्वाला धधकने वाली थी उसकी यह भूमिका मात्र थी।

जापान और मन्चूरिया—राष्ट्र-संघ की तीन समस्याओं पर हार हुई थी। इनमें अब हम दूसरी का वर्णन करेंगे। जापान को किसी सन्धि के अनुसार मन्चूरिया में कुछ अधिकार थे। इनके आधार पर उसने मन्चूरिया में बड़ी पूँजी लगा दी थी और उसके वहाँ बड़े ठोस स्वार्थ उत्पन्न हो गये थे। अब मन्चूरिया की शत्रुता और नई रेलों के निर्माण से, जो चीन की सम्पत्ति थी, इन स्वार्थों और पूँजी को खतरा पैदा हो गया था। अब तक तो चीन और जापान का पुराना द्वेष दबा हुआ था, परन्तु अब कई बातें ऐसी हुईं जिनसे वह ऊपर आ गया और जापानी सेनाओं ने स्थिति अपने कमान में ले ली। अब समय भी प्रगतिशील नीति जारी करने का आ गया था। इस समय घटनाओं का संयोग अनुकूल था—चीन में राष्ट्रीय भावना की जागृति हो चुकी थी जिससे मन्चूरिया में जापानी उन्नति को खतरा था, नानकिंग और कैंटन में अनबन शुरू हो गई थी जिससे चीनी सरकार में निर्बलता आ गई थी, जापान में अशान्ति फैली हुई थी, क्योंकि कृषि-पदार्थों का मूल्य गिरता जाता था,

बेकारी बढ़ती जाती थी और कम्यूनिस्ट आन्दोलन चल रहा था। इसके अतिरिक्त यूरोप में सब चीजों के भाव गिर रहे थे, जिससे यूरोपीय राष्ट्रों को इच्छा नहीं होती थी कि सुदूर पूर्व में सक्रिय हस्तक्षेप करें। इसलिए 1931 में जापानी सेना ने मन्चूरिया की राजधानी मुकडेन पर कब्जा कर लिया। कारण यह बतलाया गया कि जापान ने माँग की कि चीन में जो जापान का बहिष्कार किया जा रहा है वह बन्द होना चाहिए और इस बात को स्वीकार करना चाहिए कि मन्चूरिया में उसका विशेष अधिकार है, जिसमें यह भी शामिल है कि जापानी लोग मन्चूरिया में व्यापार कर सकते हैं और वहाँ सुरक्षित रूप से आबाद हो सकते हैं। चीनी सरकार ने राष्ट्र-संघ की कौंसिल के सामने अपील पेश की। राष्ट्र-संघ ने जापान से मन्चूरिया को खाली कर देने के लिए कहा और जाँच करने के लिए एक कमीशन रवाना किया। जापान ने इस बात की प्रतीक्षा नहीं की कि कमीशन की रिपोर्ट प्रकाशित हो जाय, बल्कि राष्ट्र-संघ के सामने एक ऐसी स्थिति उपस्थित की मानो जो होना था वह हो गया। मन्चूरिया में तीन करोड़ की आबादी है और खनिज पदार्थों की बहुतायत है। इस प्रान्त के विषय में घोषणा की गई कि अब यह स्वतन्त्र राज्य बना दिया गया है और भविष्य में इसका नाम मंचुकुओ होगा। चीन का एक सम्राट्, जो राजसिंहासन से उतार दिया गया था, इस नई रियासत का शासक बना दिया गया। मन्चुकुओ वास्तव में एक रियासत नहीं, कठपुतली बनाई गई थी, क्योंकि असली शक्ति जापानियों के हाथ में रखी गई थी। जाँच कमीशन ने रिपोर्ट की कि वर्तमान राज्य असली स्वाभाविक स्वतन्त्र प्रगति के द्वारा स्थापित नहीं किया गया है। यह भी कहा गया कि जापानियों का सैनिक हस्तक्षेप उचित नहीं है, क्योंकि यह कदम उचित आत्म-रक्षा के रूप में नहीं उठाया गया है। राष्ट्र-संघ ने अपने सदस्यों से आग्रह किया कि मन्चुकुओ रियासत को मान्यता न दी जाये। तब जापान ने इसका बदला यों लिया कि राष्ट्र-संघ की सदस्यता छोड़ दी। राष्ट्र-संघ कोई ऐसा कार्य नहीं कर सका जिसका जापान पर कोई असर पड़ता और जापान ने जो इसकी अवहेलना की उससे इसकी प्रतिष्ठा में बड़ा ह्रास हुआ।

राष्ट्र-संघ का रुख—राष्ट्र-संघ के समर्थक लोगों ने अपने पक्ष में बहुत-सी दलीलें ढूँढीं। उन्होंने कहा कि यह घोषणा कभी नहीं की गई कि जापान ने हमला किया है। जापान और चीन ने इस विवाद के समय कभी शस्त्र-प्रयोग नहीं किया। इसके दौरान चीन ने जापान से अपना राजनीतिक सम्बन्ध नहीं छोड़ा। चीनियों ने अहदनामे की सोलहवीं धारा का आह्वान नहीं किया जिसका उपयोग कानूनन उसी अवस्था में किया जा सकता है जब दोनों पक्ष लड़ने लग गए हों। इसलिए वास्तव में लीग से यह प्रार्थना की ही नहीं गई कि वे जापान पर व्यापारिक प्रतिबन्ध लगा दें। यह भी कहा गया कि जापान को चीनी प्रदेशों में सेना रखने का अधिकार था। इसके

अतिरिक्त यह भी एक व्यावहारिक विचार था कि प्रशान्त महासागर के दोनों ओर के बड़े राष्ट्र अर्थात् अमरीका और रूस राष्ट्र-संघ के सदस्य नहीं थे और इन दोनों के सहयोग के बिना कोई सामुद्रिक कार्यवाही नहीं की जा सकती थी। इस प्रकार अनेक बातें कही गईं। इसके जवाब में यह कहा गया था कि जापान के राष्ट्र-संघ से हटते ही यह प्रकट हो गया था कि वह हमलावर था, वास्तव में मन्चूरिया और शंघाई में लड़ाई शुरू हो गई थी, चीन ने टोकियो से अपने राजदूत को इसलिए वापस नहीं बुलाया था और सोलहवीं धारा को लागू करने की माँग इसलिए नहीं की थी कि वह राष्ट्र-संघ के प्रति बहुत ही वफादार था और उसको यह विश्वास था कि वह स्थिति पर काबू कर लेगा। इसके अलावा जब राष्ट्र-संघ के हाथ में यह मामला था तो वह कोई उग्र कार्यवाही भी नहीं करना चाहता था। यह स्पष्ट है कि जापान के सन्धि-अधिकारों का उल्लंघन हुआ था। चीनी सरकार ने भी बहुत सोच-समझकर युक्ति से काम लिया था और अहदनामे के शब्द कुछ अस्पष्ट-से थे, इसलिए यदि राष्ट्र-संघ ने आर्थिक और सैनिक कार्यवाही नहीं की तो भी उसके पक्ष में ये दलीलें दी जा सकती थीं। इस समय राष्ट्र-सघ केवल नैतिक दबाव डालकर ही रह गया। लेकिन वह दिन नजदीक आ रहा था जब इसको निश्चित कदम उठाना था और इसकी अग्नि-परीक्षा होने वाली थी।

इटली और एबीसीनिया—जब 1935 में इटली ने एबीसीनिया पर आक्रमण किया तो राष्ट्र-संघ की परीक्षा का समय आया कि वह अपने सदस्यों की किसी के आक्रमण से रक्षा कर सकता है या नहीं। इटली राष्ट्र-सघ का शुरू में ही सदस्य बन गया था। शान्ति परिषद् के पाँच बड़े सदस्यों में से एक था। इन पाँचों ने ही अहद-नामे का मसविदा तैयार किया था। पेरिस में होने वाले अहदनामे पर भी इटली के दस्तखत थे। इसके अनुसार भी सब सदस्यों को युद्ध का उपयोग राष्ट्रीय नीति के रूप में नहीं करना चाहिए था। इटली की यूरोपीय महाशक्तियों में गणना थी और पश्चिमी सभ्यता की यह भी एक रक्षक मानी जाती थी। इसलिए जब वह दोनों अहदनामों में दर्ज किये हुए अपने कर्त्तव्यों से विमुख हुआ तो यूरोप की अन्तरात्मा में हलचल मच गई और ऐसी हलचल मची जैसी एशिया से सम्बन्ध रखने वाले प्रश्न से भी नहीं मची थी। मन्चूरिया में यह स्थिति इतनी स्पष्ट नहीं हुई थी जितनी एबीसीनिया में। अब राष्ट्र-संघ की नैतिक हुकूमत डाँवाडोल हो गई थी और सामूहिक रक्षा का सिद्धान्त तो खतरे में पड़ गया था। इटली के पक्ष में कुछ भी कहा जाय, लेकिन अपने एक समकक्ष सदस्य की स्वतन्त्रता को नष्ट करने का प्रयत्न करना एक बहुत बड़ी चुनौती थी और राष्ट्र-संघ इसकी उपेक्षा उसी समय में कर सकता था जब अपने दायित्व को, जो उस पर अन्तरराष्ट्रीय स्थिति के संरक्षक की हैसियत से आया हुआ था, बिल्कुल छोड़ बैठता। इसलिए इसको ऐसा निर्णय लेना पड़ा जिससे इसके भाग्य का भी फैसला

हो गया। 1935 में इटली और एबीसीनिया के बीच सीमा-सम्बन्धी विवाद खड़ा हुआ। उसी बीच इटली ने अहदनामे के अनुकूल राष्ट्र-संघ से अपील की। समझौता कराने वाले नियुक्त कर दिए गए। उन्होंने ऐसा निर्णय दिया कि सर्वसम्मति से दोनों ही पक्षों को अपनी जिम्मेदारी से बरी कर दिया। इस समझौता कराने वाली समिति में इटली के भी दो सदस्य थे। वे भी अन्य सदस्यों से सहमत थे। इटेलियन सरकार अब वापस मुड़ना नहीं चाहती थी। मुसोलिनी ने घोषणा की कि 'हमारा निश्चय अटल है, अब वापस जाने का कोई प्रश्न नहीं है।' सरकार और जनता अब ऐसे युद्ध में लग गए हैं जिसको अन्त तक पहुँचाना है, चाहे वह अंत कैसा ही हो।

आर्थिक दबाव—जिनेवा में राष्ट्र-संघ का अधिवेशन हुआ। उस अवसर पर ब्रिटिश विदेश-मन्त्री ने एक भाषण दिया। इससे सम्पूर्ण राष्ट्रों का नेतृत्व हुआ। "राष्ट्र-सघ ने साफ और निश्चित शब्दों में अपने ऊपर कुछ दायित्व लिये हैं। उनके अनुसार राष्ट्र-संघ और मेरा देश इस बात को मानता है कि अहदनामे का पूर्णरूप से सामूहिक ढंग से पालन किया जाय और अनुत्तेजित आक्रमण को रोकने के लिए भी धैर्य के साथ विशेष सामूहिक कार्यवाही की जाये।" अन्य शक्तियों ने भी ग्रेट ब्रिटेन की भाँति अपना रुख दृढ़ रखा। इस भाषण का लोगों ने बड़े आवेश के साथ स्वागत किया, जिससे यह प्रकट हो गया कि समस्त संसार का जनमत बहुत बड़ी संख्या में इसका समर्थन करता है। युद्ध को टालने के लिए राष्ट्रसंघ की कौंसिल ने विदेशी विशेषज्ञों का एक मिशन नियुक्त किया और एबीसीनिया में सुधार करने का काम उसके सुपुर्द किया। इसने अपने ऊपर यह काम लिया कि युथोपियन साम्राज्य में इटली को विशेष आर्थिक अधिकार दिलाए जाएँगे। ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस इस बात पर भी सहमत हो गये कि इटली को कुछ प्रदेश भी मिलें, परन्तु इन प्रस्तावों से मुसोलिनी की महत्वाकांक्षा को संतोष नहीं हुआ। अक्तूबर 1935 में इटली की सेनाओं ने सीमा पार करके एबीसीनिया पर हमला किया। कौंसिल ने इटली को हमलावर करार दिया और अहदनामे की सोलहवीं धारा लागू की गई। इस धारा में लिखा गया था कि राष्ट्रसघ के अहदनामे का उल्लंघन करके यदि कोई सदस्य युद्ध का आश्रय ले तो स्पष्ट रूप से यह माना जाएगा कि उसने राष्ट्रसंघ के समस्त सदस्यों के प्रति युद्ध जारी कर दिया है। ऐसी अवस्था में राष्ट्रसघ अपने ऊपर यह जिम्मेदारी लेता है कि उस राष्ट्र से सब प्रकार का व्यापारिक तथा आर्थिक सम्बन्ध तोड़ दिया जाएगा। आर्थिक दंड तो तत्काल और आप-से-आप लड़ाई शुरू करने पर दे दिया गया, लेकिन सैनिक कार्यवाही की जाय या नहीं, यह कौंसिल के निर्णय पर छोड़ दिया गया। राष्ट्रसंघ ने इटली पर जो प्रतिबंध लगाये उनमें से एक यह था कि इटली को शस्त्र और विशेष सामान नहीं बेचा जाए, इटली से कोई माल नहीं मँगाया जाए और इटली को कोई ऋण नहीं दिया जाए। संघ के सस्दयों में से बावन ने शस्त्र और ऋण

सम्बन्धी प्रतिबन्ध को माना, इक्कावन ने विशेष माल का प्रतिबन्ध स्वीकार किया और पचास ने इटली के माल का बहिष्कार किया। इस प्रकार राष्ट्रसंघ ने एकता का बड़ा प्रभावोत्पादक प्रदर्शन किया, लेकिन इटली पर कोई जोर नहीं पड़ा। इटली ने इसका यह जवाब दिया कि जिन देशों ने राष्ट्र-संघ की हिदायतों के अनुसार कार्यवाही की थी उनसे माल मँगवाना बन्द कर दिया और अब युद्ध समाप्त करने के लिए बड़ी तत्परता से कार्य करने लगा।

एबीसीनिया को इटली ने छीना—दिसम्बर (1935) में संसार को यह जान कर आश्चर्य हुआ कि शान्ति-स्थापना की एक ऐसी योजना बनाई गई है जिसके अनुसार एबीसीनिया का बहुत बड़ा भाग हमलावर को दे दिया जायगा। आक्रान्त देश को हानि पहुँचाकर हमलावर को पुरस्कार देने से राष्ट्र-संघ की नैतिक स्थिति में बड़ा अन्तर आया। यह शान्ति प्रस्ताव अहदनामे के अनुसार नहीं था। इससे यह भी अर्थ निकलता था कि राष्ट्र-सघ की एकता और सामूहिक सुरक्षा केवल थोथी बातें हैं। इसके विरुद्ध प्रबल जनमत जागृत हो गया। अतः इटली तथा राष्ट्र-संघ की कौंसिल ने इसको नामंजूर कर दिया। आर्थिक प्रतिबन्ध तो जारी रहे लेकिन सैनिक कार्यवाही नहीं की गई, यहाँ तक कि तेल की आमद की भी रोकथाम नहीं की गई। एबीसीनिया की दुर्गम भौगोलिक स्थिति को देखते हुए ऐसा अन्दाजा था कि बोर युद्ध की भाँति यहाँ का युद्ध भी अर्से तक चलेगा। शर्त यह थी कि युथोपियन सेना इटली से मुकाबला न करे और छापामार विधि से युद्ध करती रहे। इस आधार पर यह आशा थी कि इटली युद्ध करते-करते थक जायगा और आर्थिक प्रतिबन्धों के दबाव के आगे घुटने टिका देगा। परन्तु इटली की सेनाएँ बड़ी तेजी और जल्दी से आगे बढ़ती गईं और ये अन्दाजे सब गड़बड़ हो गए। एबीसीनिया की सेना ने युद्ध-क्षेत्रों में इटली की सेना का सामना किया। इटली के पास युद्ध करने के लिए खूब मशीनों के शस्त्र थे जिससे इटली को भारी विजय प्राप्त हुई। इटली ने राजधानी एडिसअबाबा पर अधिकार कर लिया और सम्राट् भाग गया। इस प्रकार युद्ध समाप्त हो गया। एबीसीनिया इटली में मिला लिया गया और इटली साम्राज्य की घोषणा कर दी गई। ये घटनाएँ मई 1936 में हुईं। इसके बाद आर्थिक प्रतिबन्ध हटा लिए गए।

राष्ट्र-संघ की असफलता के कारण—पचास विरोधी राष्ट्रों के मुकाबले एक अकेले सदस्य ने राष्ट्र-संघ की सत्ता का सफलतापूर्वक सामना किया। इससे संघ की शक्ति और प्रतिष्ठा को ऐसी चोट लगी कि वह फिर संभल नहीं सका। संघ की इस हार के कई बड़े-बड़े कारण थे, परन्तु पहले हम उन कारणों पर विचार करेंगे जो स्वयं संघ ने बतलाए थे। पहले तो विश्व के समस्त राष्ट्र इसके सदस्य नहीं थे, इसलिए इसका प्रभाव सीमित था। संघ ने आर्थिक प्रतिबन्ध लगाकर इटली के चारों ओर एक दीवार अवश्य खड़ी कर दी थी, परन्तु इस दीवार में कई छेद थे। इसलिए

आर्थिक प्रतिबन्धों का तात्कालिक प्रभाव नहीं हो सकता था। फिर राष्ट्र-संघ ने उस समय हस्तक्षेप किया जब स्थिति नाजुक हो चुकी थी। उस समय दोनों देश काफी उलझ चुके थे। यदि वे मैदान से हटते तो उनकी प्रतिष्ठा को धक्का लगता। इसके अलावा सामूहिक सुरक्षा की व्यवस्था के लिए सैनिक दबाव परमावश्यक था। परन्तु इसमें कठिनता यह थी कि राष्ट्र-संघ के समस्त सदस्य अहदनामे के अनुसार अपने दायित्व को पूरा करने के लिए तैयार नहीं थे। यदि तेल पर प्रतिबन्ध लगा दिया जाता या स्वेज नहर बन्द कर दी जाती, तो इटली यह समझता कि यह सैनिक दबाव है और उसके साथ युद्ध जारी हो गया है। इसमें यह भी खतरा था कि इटली ग्रेट ब्रिटेन के विरुद्ध युद्ध छेड़ दे और ग्रेट ब्रिटेन को कोई अन्य राष्ट्र सहायता न दे और उसको अकेले ही युद्ध लड़ना पड़े। सैनिक दबाव के लिए यह आवश्यक था कि सब सदस्य सामूहिक तौर पर एकमत होते, परन्तु यह हो नहीं सकता था, क्योंकि कोई भी राष्ट्र केवल सिद्धान्त के कारण इटली से लड़ना नहीं चाहता था। एक चौथा और सबसे बड़ा कारण था फ्रांस की नीति। उस कठिन और जटिल स्थिति में इसी देश पर सब कुछ निर्भर था। वास्तव में राष्ट्र-संघ के समर्थन के लिए किसी अन्य राष्ट्र की इतनी प्रेरणा नहीं हो सकती थी जितनी फ्रांस की। फ्रांस की दृष्टि में राष्ट्र-संघ नए यूरोप का दुर्ग था जिसकी शान्ति-सन्धियों द्वारा रचना की गई थी। परन्तु जब परीक्षा का समय आया तो फ्रांस शिथिल हो गया। उसने कुछ नहीं किया। अभी-अभी फ्रांस इटली के साथ एक सन्धि कर चुका था, जिसमें यह इरादा प्रकट किया गया था कि दोनों देशों में जो परम्परागत मित्रता है और जो इन दोनों को परस्पर मिलाती है उसको पुनः पुष्ट किया जाय। इस सन्धि से उत्तर अफ्रीका के दो पड़ोसियों के औपनिवेशिक विवाद ही शान्त नहीं हुए बल्कि फ्रांस को अपनी अल्पाइन सीमा के विषय में जो चिन्ता रहा करती थी वह हट गई। फ्रांस नहीं चाहता था कि इस सन्धि में कोई गड़बड़ पैदा हो जाय और इसका तो उसको डर था कि कहीं इटली जर्मनी की गोद में न जा बैठे। फ्रांस को इतनी ही चिन्ता इस बात की थी ही कि ग्रेट ब्रिटेन अलग न हो जाय। राइन नदी के उस पार फ्रांस के लिए जो खतरा खड़ा हो रहा था उसमें उसको ग्रेट ब्रिटेन की सहायता की आवश्यकता थी और किसी भी हालत में फ्रांस उस दायित्व से तो इन्कार कर ही नहीं सकता था जो अहदनामे के अनुसार उस पर था। तत्कालीन फ्रेंच मंत्रिमंडल की सम्मति थी कि इस स्थिति में कुछ ढिलमिल और नरम-सी नीति से काम लेना चाहिए। इसलिए इसने राष्ट्र-नौका को इस भाँति चलाया कि दो खतरनाक पहाड़ियों से बच जाय। उग्र मार्ग से दूर रहकर तो उसने इटली को खुश रखा और थोड़ा-सा साथ ग्रेट ब्रिटेन का देकर उसकी भी सद्भावना बनाए रखी। इस प्रकार फ्रांस और ग्रेट ब्रिटेन का सहयोग खुलकर नहीं हुआ। यह अधूरी कार्यवाहियों के लिए बहाना था और कारण भी। यह इटली के लिए केवल संकेत था, दबाव नहीं था।

राष्ट्र-संघ की असफलता से उपदेश—सामूहिक सुरक्षा के सिद्धान्त की जाँच उस समय हुई जब स्थिति अत्यन्त अनुकूल थी। किसी को इसमें किंचित् मात्र भी सन्देह नहीं थी कि अबीसीनिया पर आक्रमण करके इटली ने अहदनामे का खुल्लमखुल्ला उल्लंघन किया है और यह भी स्पष्ट मालूम होता था कि अगर राष्ट्र-संघ के नैतिक अधिकार को जीवित रखना है तो इटली की चुनौती को स्वीकार करने की भारी आवश्यकता है। आर्थिक प्रतिबन्ध लगाने के विषय में पचास राष्ट्र सहमत थे और यदि सैनिक कार्यवाही करने का प्रस्ताव आता तो उनमें से अधिकांश उसका समर्थन करते। परन्तु इन सदस्यों के आकार और भौगोलिक स्थिति को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि यदि युद्ध शुरू हो जाता तो इन सदस्यों से बहुत थोड़ी सहायता मिलती। बड़े राष्ट्रों में से एक (अमरीका) तो राष्ट्र-संघ का सदस्य ही नहीं था और दो (जापान और जर्मनी) ने सदस्यता छोड़ दी थी और एक (इटली) ने हमला ही किया था और ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस और रूस ये तीन बड़े राष्ट्र रह गये थे, लेकिन इनकी सहायता का असर ज्यादा नहीं हो सकता था। इसलिए यह नहीं कहा जा सकता था कि अगर लड़ाई शुरू होती तो क्या होता। सिद्धान्ततः सामूहिक रक्षा सब सदस्यों की सामूहिक कार्यवाही पर निर्भर थी, लेकिन व्यवहार में यह थोड़े-से सदस्यों के त्याग पर अवलम्बित थी। यह दलील उन लोगों को अच्छी लगती थी जो इस बात की उपेक्षा करते थे कि अहदनामा एक गम्भीर अन्तरराष्ट्रीय समझौता है जिससे इधर-उधर के कारण बतलाकर बचने का यत्न नहीं करना चाहिए और यह भी सोचना चाहिये कि यदि युद्ध जारी हो गया तो बड़े राष्ट्रों को छोटे राष्ट्रों से जो सहायता मिलेगी वह भी हेय या उपेक्षा के योग्य नहीं होगी। तर्क करते-करते आखिर हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि एक राष्ट्र की रक्षा सब राष्ट्रों की रक्षा है, चाहे उसका आकार कुछ भी हो और उसके पास शस्त्र थोड़े हों या अधिक। आगे चलकर जो घटनाएँ घटीं उनसे इस उक्ति का गम्भीर सत्य प्रकट होगा। अगले तीन वर्ष में लीग के अन्य सदस्य अर्थात् आस्ट्रिया और चेकोस्लोवाकिया आक्रमण के शिकार हो गये। चेकोस्लोवाकिया के मंत्री ने डरते-डरते भविष्यवाणी की थी कि शायद मेरा देश दूसरा यूथोपिया होगा। यह वाणी दर्दनाक तरीके से पूरी हुई। राष्ट्र-संघ ने इटली के खिलाफ जो संघर्ष किया उसमें कई प्रश्न निहित थे। इसको तो थोड़े ही लोगों ने अनुभव किया, लेकिन राष्ट्र-संघ की हार का सबने भाष्य किया। इससे उन लोगों के स्वप्न छिन्न-भिन्न हो गये जिनको यह आशा थी कि सामूहिक रक्षा के आधार पर विश्वशान्ति हो सकती है। फिर तो यह मालूम पड़ा कि राष्ट्र-संघ तो बालू के किले से भी अधिक कमजोर है। राष्ट्र-संघ के इतिहास से यह नतीजा निकल सकता है कि हमारे युग में मशीनों ने तो बहुत उन्नति की है, परन्तु नीति में वह पिछड़ा हुआ है।

(iv)

सोवियत रूस

क्रान्ति के कारण—रूस की क्रान्ति की जड़ें इसके इतिहास में बहुत गहरी घुसी हुई थीं। जब पश्चिमी विचारों का प्रभाव रूस पर होने लगा तो यह मानो एशियायी गर्भ से बाहर निकलने लगा। उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में यहाँ एक प्रगति आरम्भ हुई जिसका अभी समय नहीं आया था। इसलिए कितने ही अर्से तक इस आन्दोलन के नेता ही नेता थे। अनुयायी कोई नहीं था। परन्तु 1914-18 के विश्व-युद्ध का रूस पर सीधा असर यह हुआ कि समस्त देश में प्रगति की हलचल फूट पड़ी और इसने रूसी समाज की जड़ों को हिला दिया। इसमें देश का राजतन्त्र ही नहीं इसकी समाज-व्यवस्था भी चकनाचूर हो गई। रूस में दो क्रान्तियाँ हुईं, लेकिन शायद यह कहना अधिक ठीक होगा कि क्रान्ति तो एक ही थी लेकिन इसके दो अध्याय थे। इसका राजनीतिक अध्याय मार्च की क्रान्ति कहलाता है जो मार्च 1917 में हुई। इसने निरंकुशता के भाग्य का अन्त कर दिया। इस क्रान्ति का दूसरा अध्याय नवम्बर की क्रान्ति कहलाता है जिसको बोलशेविक क्रान्ति भी कहते हैं। यह नवम्बर 1917 में हुई और इसके फलस्वरूप मजदूर जनतन्त्र का जन्म हुआ।

मार्च की क्रान्ति—मार्च की क्रान्ति किसी व्यवस्थित षड्यंत्र का परिणाम नहीं थी। यह एकदम हुई। यहाँ तक कि क्रान्ति करने वाले ही इसके लिए तैयार नहीं थे। एक व्यक्ति ने आँखों देखा वर्णन लिखा है कि उस समय क्रान्तिकारी लोग तो मूर्ख कुमारी लड़कियों को भाँति सोए पड़े थे। इसका तात्कालिक कारण तो जनता का असन्तोष था जो अन्न के अभाव से उत्पन्न हुआ था। लोग रोटियों के लिए लम्बी-लम्बी कतारें बनाकर खड़े रहते थे। इसी से हड़तालें हुईं और उपद्रव हुए। इन्होंने बहुत जल्दी बलवे का रूप धारण कर लिया। अब लड़ाई और एकतन्त्र का विरोध होने लगा। लोग समझते थे कि निरंकुश सत्ता की निर्बलता और अयोग्यता के कारण राजनीतिक कठिनाइयाँ और दुःख उत्पन्न हुए हैं। कारण यह है कि वर्तमान राजसत्ता जर्मनी और आस्ट्रिया-हंगरी से सफलतापूर्वक युद्ध नहीं कर सकी। 8 मार्च 1917 को पैट्रोग्राड के कपड़ों के कारखाने में काम करनेवाली औरतें कारखाने में हड़ताल करके बाहर निकल आईं और रोटी के लिए चिल्लाने लगीं। दूसरे दिन अन्य मजदूर भी उनमें शामिल हो गए और सबने 'रोटी दो, रोटी दो' का नारा लगाना शुरू किया और उसी के साथ यह भी चिल्लाहट शुरू हुई कि युद्ध बन्द किया जाय और निरंकुशता का अन्त हो। तीसरे दिन बलवे ने देशव्यापी हड़ताल का रूप धारण कर लिया और क्रान्ति की प्रवृत्तियाँ प्रकट होने लगीं। इस समय वे सब दबे हुए तत्व ऊपर आ गये जो प्रकट होने के लिये अनुकूल अवसर की प्रतीक्षा कर रहे थे। एक पुलिस रिपोर्ट में लिखा था कि

बलवाइयों को सेना से शह मिली हुई थी जिसके कारण वे लोग समझते हैं कि उनका कोई बिगाड़ नहीं होगा। पहले तो सैनिक लोग उदासीन रहे, परन्तु जल्दी ही ये बल-वाइयों से मिलने लग गये। सेना के कुछ हिस्सों ने बगावत कर दी और खुल्लमखुल्ला प्रदर्शनकारियों से जा मिले। पाँच दिन पश्चात् अर्थात् 15 मार्च को क्रान्तिकारी उबाल पराकाष्ठा पर पहुँच गया और जार निकोलस द्वितीय ने कठिनाइयों में फँसकर, जिनमें कुछ परिस्थितियों के कारण और कुछ उसकी भूलों के कारण तथा निर्बल व्यक्तित्व के कारण उत्पन्न हुई थीं, सिंहासन का परित्याग कर दिया। एक राजसत्ता का तत्काल अन्त हो गया और उसके स्थान पर एक कामचलाऊ सरकार बन गई। रूस की क्रान्ति में पैट्रोग्राड ने वही काम किया जो पेरिस ने फ्रांस की राज्य-क्रान्ति में किया था। राजधानी में जो घटनाएँ घटीं उनको समस्त देश ने बिना हिचकिचाहट स्वीकार कर लिया। फ्रांस और रूस की राज्य-क्रान्तियों में एक और भी विचित्र समानता है। शक्ति प्राप्त तो मजदूरों ने की लेकिन फिर उन्होंने इसको मध्य वर्ग के हाथ में सौंप दिया। प्रत्यक्ष में यह विरोधाभास मालूम होता है, परन्तु इसका कारण यह था कि मजदूर इसकी रक्षा नहीं कर सकते थे। अभी यह पता नहीं था कि शस्त्र-सेना का क्या रुख होगा और डूमा (पार्लियामेंट) ने जो सरकार कायम की थी वह तो क्रान्ति के विरुद्ध थी ही।

सोवियत लोग—मार्च की क्रान्ति से उदार तत्त्वों के हाथ में सत्ता आई। ये लोग पूँजीपतियों के वर्ग में सम्मिलित थे और ये अपनी स्थिति को नरम सोशलिस्ट लोगों की सत्ता से ही कायम कर सकते थे। मजदूरों ने देश का शासन तो अपने हाथ में नहीं लिया परन्तु वे सोवियत एजेन्सियों के द्वारा इसका नियन्त्रण करते थे। इस संस्था का जन्म सन् 1905 में क्रान्ति के समय हुआ था। उस समय हड़ताल करने वाले नेताओं ने एक समिति स्थापित की थी जो मजदूरों की सोवियत कहलाती थी। मार्च की क्रान्ति के बाद जो इस प्रकार की सोवियत समितियाँ बनीं उनमें मजदूर और सैनिक दोनों के प्रतिनिधि शामिल थे। सैनिक लोग कहते थे कि बलवे के दिनों में हम क्रान्ति के हित की दृष्टि से उदासीन रहे और इसलिए क्रान्तिकारियों को विजय प्राप्त हुई। अब एक तरफ तो कामचलाऊ सरकार काम कर रही थी और दूसरी ओर सोवियत तन्त्र कायम हो गया। इसलिए कुछ लोग सरकार की ओर थे और कुछ लोग सोवियत की ओर। नतीजा इसका यह हुआ कि सरकारी कर्मचारियों और शक्तिधारियों के बीच एक घातक फांगा फँस गया। इसके फलस्वरूप पूँजीपति मंत्रिमंडल की सत्ता शुरू से ही कमजोर हो गई। यह सरकार थोड़े दिन चली और वह भी कीर्ति के साथ नहीं और फिर इसलिए चलती रही कि लोगों ने आँखें बन्द कर लीं लेकिन वास्तव में इसने कुछ काम नहीं किया। फिर भी इसने इतना तो किया कि समस्त जातियों और कौमों को रूसी साम्राज्य में इसने समान बना दिया।

और विशेषकर यहूदी लोगों की 600 असुविधाएँ, जो कानूनी पुस्तक में दर्ज थीं, रद्द कर दीं। लेकिन यह उन समस्याओं को हल नहीं कर सकी जिनके कारण निरंकुश सत्ता समाप्त हो चुकी थी और कुछ महीने में इसने अपने पूँजीपति उत्तराधिकारियों का भी अन्त कर दिया। ये समस्याएँ युद्ध के आसपास खड़ी हुई थीं। किसान लोग भूमि माँगते थे और मजदूर लोगों के दिमाग में क्रान्ति भरी हुई थी।

युद्ध की समस्याएँ—1914-18 के विश्व-युद्ध में रूस की इतनी क्षति हुई जितनी किसी दूसरे लड़नेवाले राष्ट्र की नहीं और संगीनों और मशीनगनों से इतने लोग नहीं मारे गये जितने रोगों के शिकार हो गए। रणभूमि में इसकी जीत से उस घोर नर-संहार की पूर्ति नहीं हो सकती थी जो उसको सहना पड़ा। बल्कि यों कहना चाहिए कि रूस को अधिकांश हार ही हार खानी पड़ी। एक रूसी जनरल ने यह बात स्वीकार की थी कि वर्तमान युद्ध की कला और विज्ञान हमारे बूते से बाहर है। पश्चिमी राष्ट्रों ने उसके सैनिक सामान की कमी पूरी करने में मदद दी, लेकिन वाहन प्रवन्ध इतना दूषित था कि तमाम मोर्चों पर आदमी, शस्त्र और खाद्य पदार्थ यथा-समय नहीं पहुँच सके। रूस के पास जन-शक्ति बहुत थी। उसके प्राकृतिक साधन भी विपुल थे, परन्तु आर्थिक दृष्टि से वह बहुत पिछड़ा हुआ देश था। इसलिए इन साधनों से भी कोई लाभ नहीं हो सका। यह कोई अचम्भे की बात नहीं है कि रूस के सिपाहियों को भी अब युद्ध-श्रान्ति हो गई थी और उनके झुण्ड फौज को छोड़कर भाग रहे थे। कितनी ही फौजी यूनिट्स ने तो लड़ने से इन्कार कर दिया था। एक अफसर ने लिखा था कि 'अब कोई लड़ना नहीं चाहता था। सबका ध्यान एक वस्तु पर लगा हुआ था और वह थी शान्ति।' तत्कालीन वर्णन इस बात की पुष्टि करता है कि यह नैतिक पतन क्रान्ति से नहीं हुआ बल्कि इसके कारण क्रान्ति हुई थी। डूमा के अध्यक्ष के अनुसार 'सेना के तितर-बितर होने के लिए क्रान्ति से पहले ही भूमि तैयार हो चुकी थी।' उसके बयान से उन अनेक रूसी लोगों के मत की पुष्टि होती है जो कहते थे कि अगर राजनीतिक उथल-पुथल नहीं होती तो भी ऐसी अवस्था में रूस अलग ही सन्धि कर लेता। तमाम राष्ट्र का जोश कम होने लग गया था, लेकिन शासक दल के हट जाने के बाद इसमें फिर जान आ गई और काम-चलाऊ सरकार नई शक्ति के साथ युद्ध का संचालन करने लगी। फिर भी दूसरे देशों के प्रदेशों को रूस में मिलाने के विरुद्ध बहुत प्रतिक्रिया हुई। परराष्ट्र-मंत्री मिलियूकोव चाहता था कि कुस्तुन्तुनिया को दबाकर अपने राज्य में मिला लिया जाय, इसलिए उसको मजबूर किया गया कि अपने पद को छोड़ दे। फिर केबिनेट में नरम सोशलिस्ट जा पहुँचे और इस प्रकार एक संयुक्त मंत्रिमंडल बन गया (मई 1917)। अब केरेन्सकी युद्ध-मंत्री नियुक्त हुआ। वह मोर्चों पर गया और सिपाहियों को उत्साहित किया कि हमला किया जाय। जुलाई में यह युद्ध-गति फिर आरम्भ हुई,

परन्तु यह बिल्कुल निष्फल हुई जिससे सरकार की प्रतिष्ठा बिल्कुल नष्ट हो गई। इस सरकार का प्रधान मंत्री केरेन्सकी था। अब क्रान्ति का दूसरा अध्याय आरम्भ हुआ। लोगों का युद्ध-विरोध अब जोर पकड़ने लगा। बोलशेविक लोग शान्ति की माँग करने लगे। सब लोग यही चाहते थे, इसलिए इनका आन्दोलन बड़ा जोरदार बन गया। इस आन्दोलन में एक बात और शामिल हो गई। किसानों को यह वचन दिया गया कि उनको भूमि मिलेगी।

भूमि की समस्या—पिछले अध्याय में हम बतला चुके हैं कि जिन शर्तों पर उनको मुक्त किया गया था उनको किसान लोग अन्यायपूर्ण समझते थे। इससे वे गुलामी से तो मुक्त हो गये, परन्तु फिर भी वे भूस्वामियों को मुआवजा देते थे क्योंकि उनके बेगार लेने के अधिकार छिन गये थे। किसानों का दावा था कि अठारहवीं शताब्दी में भूस्वामियों को सैनिक-सेवा के दायित्व से मुक्त कर दिया गया था। उसी समय किसानों को भी उनके दायित्व से मुक्त कर देना चाहिए था। ये लोग जमीन जोतते थे इसलिए जमीन के मालिकों के यहाँ काम करना पड़ता था। अब काम के बजाय उनको रुपया देना पड़ता था। इस पर किसान लोग बड़े असन्तुष्ट थे। उनका खयाल था कि जो कुछ मुआहिदा हुआ है उसका उल्लंघन हो रहा है। किसान लोग 1907 तक इस प्रकार भूस्वामियों को रुपया देते रहे। इसके अतिरिक्त जितनी जमीन के लिए उन्हें कहा गया था उतनी नहीं मिली। इसलिए वे कहते थे कि हमारी दीन दशा का कारण मुख्य तो यह है कि हमारे पास बहुत कम जमीन है। यह स्थिति इसलिए भी बिगड़ गई थी कि रूस के किसान अपनी जमीन का अच्छे से अच्छा उपयोग भी करना नहीं जानते थे। उनके खेती करने का ढंग बहुत पिछड़ा हुआ था। न उनके पास रुपया था और न ज्ञान, जिसके द्वारा वे कृषि के उत्तम साधनों का उपयोग करके उपज बढ़ा सकते। इसके अतिरिक्त इसके कारण कोई व्यक्तिगत उन्नति भी नहीं हो सकती थी, क्योंकि सारी जमीन गाँव कम्युनिटी की मानी जाती थी जो मीर कहलाती थी, सब जमीन को मिलाकर उसकी धारियाँ-सी बना दी थीं जो घुली-मिली थीं। कृषक परिवार के मुखिया को सम्पत्ति की दृष्टि से अपने परिवार का मुखिया नहीं माना जाता था।[1] परन्तु किसानों की दृष्टि में उनकी कठिनाइयों का मुख्य कारण यह था कि उनके पास भूमि बहुत कम थी। इसलिए जिन लोगों के पास अधिक भूमि थी उनको वे लोग लोलुप दृष्टि से देखा करते थे। वे ऐसा समझते थे कि वृक्ष पर फल पक गए हैं और वे हाथ फैलाए उनके

1. अधिकांश कृषक साम्यवादी व्यवस्था के अधीन थे। इमेन्सीपेशन एक्ट के अनुसार जमीन के हिस्से पर कुटुम्ब का अधिकार था। कोई भी पुरुष सदस्य निजी सामान को अपना नहीं कह सकता था।—एन० टी० फ्लोरिन्स की 'दी एण्ड ऑफ दी रशियन एम्पायर'।

नीचे बैठे है। बस फल गिरा कि उन्होंने खाया। क्रान्ति के पहले ही उनकी माँग थी कि जमीन की दूसरी तकसीम होनी चाहिए। यह माँग भी एक प्रकार का सुषुप्त सोशलिज्म था। अभी इसके पक्ष में कोई सिद्धान्त नहीं बना था। कुछ महत्त्वाकांक्षी किसानों की अभिलाषाओं को पूरा करने के लिए स्टोलिपिन ने 1906 में यह सुधार किया कि किसान लोगों का अल्पमत हो तो भी किसी गाँव में वे अपनी जमीन अलग कर सकते हैं और फिर व्यक्तिशः उनको आपस में विभक्त कर सकते हैं। इस कानून का उद्देश्य यह था कि कुछ पूँजीपति किसानों (कुलक) का भी विकास हो। ये लोग भी किसान ही थे, परन्तु इनकी स्थिति ऐसी थी, जो बड़े-बड़े भूमिपतियों से जमीन खरीद सकते थे। परन्तु इसका यह परिणाम हुआ कि गाँवों में भी ऐसे भूमिहीन निर्धन किसानों का वर्ग उत्पन्न हो गया जो एक प्रकार के श्रमजीवी ही थे। यह असन्तुष्ट वर्ग था जब राजतन्त्र नष्ट हो गया जो मालदारों का सम्पोषक था, तब ऐसे भूमिहीन निर्धन किसानों का अवसर आया।

किसानों का आतंक—क्रान्ति के आन्दोलन में जो तत्त्व भड़क उठते हैं वे घटनाओं का अर्थ अपनी-अपनी महत्त्वाकांक्षाओं और अभिलाषाओं के अनुसार लगाया करते हैं। सिपाही समझते थे कि रूसी राज्य-क्रान्ति से शान्ति मिलेगी। शहरों के मजदूर समझते थे कि अगर पूँजीवाद खत्म न हुआ तो कम से कम उसका नियंत्रण तो उनके हाथ में आ जायगा और कृषक लोगों की आशा थी कि उनको अधिक भूमि मिलेगी। लेकिन पूँजीपति सरकार के कारण इन तमाम आशाओं पर पानी फिर गया। शान्ति के बजाय इसने हुक्म दिया कि युद्ध फिर जारी किया जाय। सोशलिज्म स्थापित करने के बजाय इसने पूँजीपतियों को सहयोग दिया और किसानों को जमीन देने के बजाय इसने टालटूल की नीति जारी की। तब किसान लोगों में धीरे-धीरे साहस जागृत होने लगा और उन्होंने मामला अपने हाथों में ले लिया। वे लोग भूस्वामियों की जायदाद छीन लेते थे, उनकी कोठियों को जला देते थे और कभी जमीन के मालिकों को मार भी डालते थे। एक बोलशेविक नेता ने यह बात स्वीकार की है कि क्रान्ति में इतना जंगलीपन था कि मध्य युग का जंगलीपन अब विस्तृत होता जाता था। किसानों के कार्यों से इतना आतंक फैला कि समस्त रूस में अस्थिरता आ गई। इसमें कुछ अन्य कारण भी मिल गए और अब आम तौर पर लोगों का सरकार में बिल्कुल विश्वास नहीं रहा था। जब किसानों को यह विश्वास नहीं रहा कि मार्च की क्रान्ति से जो सरकार कायम हुई है वह उनकी इच्छानुसार उसकी समस्या को हल कर देगी, तब बोलशेविक क्रान्ति के लिए भूमि तैयार होने लगी। अब किसान और मजदूर एक हो गए। किसान जमीन चाहते थे। दोनों दलों ने मिलकर अब यह मान लिया कि पूँजीपतियों का अन्त होना चाहिए।

मजदूरों की समस्या—सन् 1905 की हड़ताल के समय प्रकट हो गया था

कि शहर में काम करने वालों के स्वभाव में कितनी क्रान्ति है। यह उद्योग-धन्धों के स्थापित होने से उत्पन्न हुई थी। इसी प्रकार श्रमजीवियों के वर्ग का उदय हुआ है। इस वर्ग का धीरे-धीरे विकास नहीं होता। जब रूस में बाहर की पूँजी लगने लगी और जल्दी-जल्दी कल-कारखाने बनने लगे तो इनमें काम करने के लिए गावों से मजदूर आए। कारखानों में काम करके लोग अपने घर जाया करते थे और फिर वापस आकर काम करते थे। इस प्रकार उनके बार-बार आने-जाने से किसानों में और कारखाने के मजदूरों में खूब सम्पर्क रहता था। इस प्रकार रूस के श्रमजीवियों में वह सामाजिक अनुशासन नहीं था जो इंगलैण्ड के मजदूरों में था। मध्य युग में स्थान-स्थान पर श्रेणियाँ बनी हुई थीं। इन श्रेणियों में उम्मीदवारों की हैसियत से लोग काम सीखते थे। फिर ये ही लोग कारखानों में मशीनों से काम करने लगे। इसके पीछे बहुत लम्बी परम्परा थी। रूस में यह बात नहीं थी। यहाँ तो किसानों से हल छुड़वा कर मशीनें उनके सुपुर्द कर दी गई थीं। भूमि से वे बिछुड़ गये थे और शिक्षित वर्ग से वे पहले ही अलग थे। इसलिए क्रान्ति का उन्होंने बड़े जोश के साथ स्वागत किया। उनमें क्रान्ति की ताजगी थी और मजदूरों का जनतन्त्र स्थापित करने की योग्यता। लेकिन उनकी निरक्षता, पिछड़ापन, संगठन-शक्ति का अभाव, व्यवसाय में व्यवस्था की कमी और इसी प्रकार सांस्कृतिक और शिक्षा के अभाव के कारण उनके उपरोक्त गुण कुछ फीके थे। यह ध्यान देने योग्य है कि इसी प्रकार उत्पन्न होने वाला और ऐसे ही दृष्टिकोण वाला एक वर्ग इंगलैण्ड के उत्तर में लगभग सौ वर्ष पूर्व निवास करता था। वहाँ पर जो सैनिक ढंग का चार्टिस्ट आन्दोलन हुआ उसमें सबसे आगे यही वर्ग था। इसके अतिरिक्त रूस के उद्योग-धन्धे भी हुनर और पूँजी-व्यवस्था की दृष्टि से उन्नत देशों की अपेक्षा बहुत नीचे थे और कुछ विषयों में उनसे बहुत आगे भी थे। छोटे-छोटे कारखाने, जिनमें सौ से भी कम मजदूर काम करते थे उनमें सन् 1914 में अमेरिका में 35 प्रतिशत औद्योगिक मजदूर थे, परन्तु रूस में केवल 17·8 प्रतिशत ही थे। जिन कारखानों में एक सौ से एक हजार तक मजदूर काम करते थे वहाँ का प्रतिशत रूस और अमरीका के प्रायः बराबर-सा था। लेकिन विशाल कारख़ानों में, जहाँ एक हजार से अधिक लोग काम करते थे, ऐसे लोगों का प्रतिशत अमरीका में 17·8 प्रतिशत था और रूस में 41·4। इस प्रकार कारखानों के एक स्थान पर इकट्ठे हो जाने का यह मतलब था कि पूँजीपतियों और मजदूरों के परस्पर सम्बन्ध का धीरे-धीरे विकास नहीं हुआ बल्कि यह सम्बन्ध एकदम उत्पन्न हो गया।

बोलशेविक—रूस के समाज के उपरोक्त वर्णन से यह स्पष्ट हो गया होगा कि उसमें ऐसे सब भभकनेवाले तत्त्व मौजूद थे जिनकी सामाजिक उथल-पुथल के लिए आवश्यकता होती है। उसमें युद्ध से थके हुए सैनिक थे, शोर मचाने वाले कृषक थे और ऐसे मजदूर थे जिनके पास दासता की जंजीरों के सिवाय और कोई ऐसी

चीज नहीं थी जो खोई जा सके। बोलशेविक दल ने अपने ऊपर यह दायित्व लिया था कि ऐसे तत्त्वों को परस्पर मिलाया जाय और फिर अपनी कट्टरता की भट्टी में उनको गलाकर मजदूरों के जनतंत्र के लिए तैयार किया जाय। बोलशेविक लोग मेन्शेविकों से अलग हो चुके थे। मेन्शेविक लोग नरम सोशलिस्ट थे। इन लोगों का यह सिद्धान्त था कि मजदूर और मध्यम-वर्ग के लोग मिलकर जनतंत्र की स्थापना करें। निरंकुशता के अन्त के बाद जो पूँजीपतियों की सरकार बनी थी, उसका इन लोगों ने समर्थन किया था। बोलशेविक लोग मध्यम वर्ग के साथ किसी प्रकार का समझौता नहीं करना चाहते थे। वे इस दल की आर्थिक या सामाजिक व्यवस्था को बिलकुल नहीं मानते थे। इसलिए वे चाहते थे कि मजदूर और किसान मिलकर मजदूरों का जनतंत्र स्थापित करें जिसमें मजदूर और कृषक लोग जो चाहें सो कर सकें। जब मार्च की क्रान्ति हुई तो बोलशेविक पार्टी का नायक ब्लाडिमीर लेनिन स्विट्जरलैण्ड में था। उसकी अनुपस्थिति में बोलशेविक नेताओं ने ऐसे विचार प्रकट किए जो कम उग्र थे। उनके मुख पत्र ने लिखा था कि 'हम पूँजीपतियों की सरकार का पतन नहीं चाहते। यह तो हमारे सामने प्रश्न ही नहीं है, हम तो निरंकुशता और सामंतशाही का पतन चाहते हैं, अर्थात् जार और सामन्त वर्ग की शक्ति का। अप्रैल 1917 में एक बन्द रेलगाड़ी में जर्मनी में होकर लेनिन रूस पहुँचा। उसके आने पर तत्काल ही स्थिति बदल गई। जार के शासनकाल से जो समस्याएँ चल रही थीं उनका हल शान्त साधनों से करना अब असम्भव हो गया। राजधानी का वायुमंडल तेज हो गया। आने वाले तूफान के अपशकुनों से क्षितिज में अँधेरा छा गया। लेनिन के विषय में ट्राटस्की ने कहा है कि "संसार के इतिहास में सबसे बड़ी क्रान्तिकारी पार्टी का लेनिन अब माना हुआ नेता बन गया। उसके विचार और शक्ति वास्तव में किसी देश और युग की महाक्रान्ति के अनुकूल थे।" ट्राटस्की आगे लिखता है कि व्यक्तित्व का कार्य हमारे सामने यहाँ बड़े पैमाने पर खड़ा हो जाता है। बस इस कार्य को ठीक-ठीक समझने की आवश्यकता है। इस ऐतिहासिक जंजीर में व्यक्तित्व को एक कड़ी समझना चाहिए। दूसरे शब्दों में, यों कहना चाहिए कि लेनिन के बिना बोलशेविक पार्टी के हाथ से क्रान्ति का यह अवसर बहुत सालों के लिए निकल जाता। यह रूस के भाग्य की बात थी कि पुरुष और अवसर दोनों उसको साथ-साथ मिल गये।

लेनिन के विचार—आते ही लेनिन ने अचल दृढ़ता के साथ अपने विचार प्रकट किए। उसने कहा कि 'हमको कोई पार्लियामेन्ट्री जनतंत्र नहीं चाहिये, हमको पूँजीपतियों का जनतंत्र भी नहीं चाहिए, हमको कोई ऐसी सरकार भी नहीं चाहिए जो मजदूरों के, सिपाहियों के और किसानों के सोवियत की न हो।' क्रान्ति के प्रथम पक्ष से मध्यम वर्ग को शक्ति प्राप्त हुई। अब दूसरे पक्ष के लिए फौरन तैयारी करने की आवश्यकता थी 'जिससे मजदूरों और गरीब किसानों को शक्ति प्राप्त हो सके।

पूँजीपतियों की क्रान्ति का स्वरूप बदलकर अब उसको सोशलिस्ट क्रान्ति का रूप देना चाहिए। इस क्रान्ति में जमींदारों और पूँजीपतियों को स्थान नहीं है। एक तत्कालीन लेखक ने लिखा है कि लेनिन का कार्यक्रम सब लोगों को बेहूदा पागलपन प्रतीत होता था। उसकी पार्टी के दूसरे नेता भी इसके समर्थक नहीं थे। उनका दिमाग मार्क्स के ऐतिहासिक भाष्य से भरा हुआ था। इसलिए वे कल्पना करते थे कि क्रान्ति में पहली सीढ़ी आर्थिक होगी और दूसरी राजनीतिक। लेकिन लेनिन का प्रस्ताव था कि सामन्ती समाज से एकदम सोशलिस्ट समाज बनना चाहिए और निरंकुशता के स्थान में मजदूरों का मनमाना राज्य स्थापित होना चाहिए। इससे इतिहास की दो सीढ़ियाँ अर्थात् पूँजीवाद और जनतन्त्रवाद अलग हो गईं और लेनिन के अनुयायियों को ऐसा मालूम हुआ कि वह बिना हिसाब-किताब लगाये अन्धकार में कूद रहा है। फिर भी घटनाओं का प्रवाह अप्रतिहत गति से ऐसी दिशाओं की ओर जा रहा था जो इसके लिए पहले से ही तैयार थीं और बोलशेविक लोग भी इसी प्रवाह में बहते चले जा रहे थे। केवल दो बातों के बारे में अर्थात् जमीन और शान्ति के विषय में उन्होंने अपनी नीति की व्याख्या साफ और निश्चित तरीके से की थी। लेनिन ने कहा था कि हम चाहते हैं कि जमीन फौरन किसानों को मिल जाय और इसी के साथ यह भी दायित्व लिया था कि लड़ाई का अन्त होना चाहिए। कृषि-प्रधान देश में किसानों के ऊपर ही निर्भर था कि क्रान्ति के भाग्य का क्या फैसला होने वाला है। बोलशेविक लोगों को जो सफलता प्राप्त हुई उसका कारण यही था कि उन्होंने इस बात को ठीक-ठीक समझा था कि क्रान्ति में असली बात किसानों का प्रश्न है। उनके एक नेता ने इस बात पर जोर दिया है कि 1917 में अगर पूँजी-पति लोग जमीन के प्रश्न का सफलतापूर्वक हल कर देते तो मजदूरों के हाथ में शक्ति नहीं आ सकती थी, लेकिन साथ ही इस बात में भी इतना ही सत्य है कि अकेले किसान ही पूँजीपतियों का मुकाबला नहीं कर सकते थे। बोलशेविक लोगों ने किसानों और मजदूरों को मिलाकर मध्यम वर्ग के सामने खड़ा किया और उनके इस क्षणिक संयोग से, जो समान हितों के आधार पर खड़ा हुआ था, दोहरे ध्येय की सिद्धि हो गई अर्थात् किसानों को जमीन देना और शहर के मजदूरों के हाथ में राजनीतिक शक्ति सौंपना। इससे मालूम पड़ता है कि रूस और फ्रांस की राज्य-क्रान्तियों में क्या भेद था। फ्रांस में मध्यम वर्ग ने किसानों की माँगों को पूरा करके अपना जीवन लम्बा कर लिया। किसान लोग बदलकर सामाजिक और राजनीतिक स्थिति की रक्षा करने के लिए एक रूढ़िवादी दुर्ग बन गये। रूस में जमींदारों का प्रभाव इतना जोरदार था कि ऐसी रियायतों को रोक रखा जो यदि यथा-समय दे दी जातीं तो पुरानी व्यवस्था का पूर्ण विनाश नहीं होता। रूस में मजदूरों की ताना-शाही सरकार इसलिए कायम हुई कि रूस के मध्यम वर्ग ने क्रान्ति के आधार को फैलने नहीं दिया और जब किसान मजदूरों के साथ संघर्ष करना चाहते थे तो उनको

सहायता नहीं दी। राजनीति का अनुभव न होने के कारण लोगों की आँखें बन्द रहीं और उन्होंने शासन-संचालन के पुराने सिद्धान्त को नहीं पहचाना कि 'फूट डालो और राज्य करो।'

बोलशेविक आन्दोलन—पूँजीपति शासन बहुत आसानी से अपने शत्रुओं के सामने घुटने टिकाकर बैठ गया। इससे इन लोगों को बड़ा अचम्भा हुआ जो लोग बोलशेविक पार्टी की शक्ति का इस आधार पर अनुमान करते थे कि उसके साधन यों ही जल्दी से जुटाये हुए हैं। इनके मुखपत्र के बहुत थोड़े-से ग्राहक थे। इनके पास रुपया भी बहुत कम था। शिक्षित लोग इनमें शामिल नहीं हुए थे। लेकिन बोलशेविक लोगों ने आन्दोलन ऐसी चतुरता से किया कि ये सब कमियाँ पूरी हो गईं। इन लोगों का नारा था—शान्ति, भूमि, रोटी। इन तीन शब्दों में जनता की माँगों का निचोड़ था। अपने राजनीतिक विचारों का प्रचार करने में बोलशेविक लोगों ने अथक परिश्रम किया। उनके एक मेन्शेविक-विरोधी ने लिखा था कि उन्होंने निरन्तर जोश के साथ काम लिया। वे जनता में, कारखानों में प्रतिदिन सुबह से शाम तक प्रचार करते थे और बोलशेविक लोगों को यह भी स्पष्ट पता था कि वे क्या चाहते हैं। मिलियोको ने कहा था कि 'वे जानते थे कि वे किधर जा रहे हैं। उन्होंने अपना मार्ग एक बार निश्चित कर लिया। फिर वे उधर बढ़ते गये। बोलशेविक लोग दृढ़ता से अपने मार्ग पर बढ़ते जा रहे थे लेकिन सरकार पीछे हटती जाती थी। वास्तव में मंत्रिमंडल बड़ा सुस्त था। वे राज्य नहीं करते थे। वे यों ही इधर-उधर की बातें करते थे। मिलियोकोव ने लिखा था कि 'पूँजीपति सरकार के समर्थक केवल सोशलिस्ट थे। जब इसको जनता का समर्थन नहीं मिला तो वह नहीं टिक सकी।' इसी अर्से में अन्न की स्थिति, औद्योगिक उत्पत्ति और आने-जाने के साधन क्षीण होते गये। भूखे लोग आन्दोलन का स्वागत करते थे। उद्योग-धन्धे कच्चे माल की कमी के कारण बन्द पड़े थे और माल के वाहन का प्रबन्ध बहुत ही कम था। इस आर्थिक विनाश में बोलशेविक लोगों ने देखा कि यह शासन के सिंहासन पर जम जाने का मौका है। उन्होंने दो बार बलवा करने का प्रयत्न किया। पहला प्रयत्न तो यों ही गया। फिर जुलाई में एक सशस्त्र प्रदर्शन किया गया, वह भी बेकार साबित हुआ और अब लोगों को यह खयाल हुआ कि बोलशेविक खतरे के विषय में बहुत अत्युक्ति हो रही थी। अब सरकार को दमन-नीति के लिए प्रोत्साहन मिला। बोलशेविक प्रगति गैर-कानूनी घोषित की गई। इसके नेता लोग या तो छिप गये या गिरफ्तार हो गये। लेनिन छिप गया था और ट्राटस्की गिरफ्तार हुआ था। जब बोलशेविक खतरे को इस प्रकार हटा दिया गया तो सितम्बर के महीने में एक दूसरे बलवे का अवसर आया। इसमें सैनिक नेताओं ने संचालन अपने हाथ में लेना चाहा। जनरल कोर्निलो, जो उस समय कमांडर-इन-चीफ था, उसकी कार्यवाही को बिना रक्तपात के रोक दिया गया, परन्तु इससे बड़ी सनसनी फैली और इसका यह अर्थ लगाया गया कि यह प्रतिक्रांति के लिए कोशिश थी। सेना

का षड्यंत्र समाप्त हो गया। सेना मंत्रिमंडल को सहायता देना चाहती थी। पर मंत्रिमंडल भी कभी इधर और कभी उधर झुकता था। सेना सहायता तो न दे सकी, परन्तु उसकी कार्यवाही से लोगों में अविश्वास बहुत बढ़ गया और अब वे वामपक्ष की ओर चल दिये। अब कोर्निलो की कार्यवाहियों के नतीजे सामने आने लगे। ल्योन ट्राटस्की क्रांन्ति के दो महीने पहले अमेरिका से वापस आया था और बोलशेविक पार्टी में सम्मिलित हो गया था। अब सरकार ने उसको जेल से मुक्त कर दिया। शायद वामपक्ष को खुश करने की आवश्यकता का अनुभव हुआ होगा। इसलिए यह स्नेह संकेत किया गया। कुछ भी हो, सोवियत के शब्दों में ट्राटस्की ने ही नवम्बर के बलवे का संगठन और संचालन किया था और यह काम उसने पैंट्रोग्राड की सोवियत के अध्यक्ष की हैसियत से किया था। पैंट्रोग्राड और मास्को के सोवियतों में अब बोलशेविक लोगों का बहुमत हो गया। यह उनकी महत्त्वपूर्ण जीत थी। जनता सरकार से अलग हो गई थी। यह इस बात का स्थूल चिह्न था कि वर्तमान शासन को लोग नहीं चाहते थे। इस घटना के बल पर लेनिन ने कहा था कि यह स्थिति इस बात की सूचक है कि अब हमारा समय आ गया है। उसने बोलशेविक लोगों को प्रेरित किया कि रियासत की शक्ति को छीनकर अपने हाथ में ले ले। जब उसने कहा कि एकदम कार्यवाही करनी चाहिए तो उसी के अनुयायियों ने बड़ा विरोध किया। उसके आलोचक इतना तो मानते थे कि बोलशेविक पार्टी शायद दोनों राजधानियों में तो रियासत की शक्ति को छीन सकती है, परन्तु उनका विश्वास था कि यह बात प्रान्तों में नहीं चलेगी। उनकी दलील पर लेनिन ने ताना मारा और कहा 'हाँ, जब तानाशाही किसानों को जमीनें देगी तो आप लोगों को इसमें सन्देह कैसे हो सकता है कि किसान तानाशाही का समर्थन करेंगे। आखिरकार लेनिन के ही विचार चले। उसके विरोधी डरते थे कि कहीं दूसरा बलवा भी वैसा ही बेकार साबित न हो जैसा पहला। लेकिन उनके भय को लेनिन ने दबा दिया।

नवम्बर की क्रांति—इतना समय बीत जाने पर जब हम विचार करते हैं कि अल्प और नाम मात्र के साधनों से ऐसी क्रान्ति हो गई जिसका बीस करोड़ जनता पर बेहद प्रभाव पड़ा तो आश्चर्य होता है। उस समय बोलशेविक नेताओं के पास केवल 'रेडगार्ड' थे जो लगभग पचीस हजार सशस्त्र मजदूर थे। ऐसी अधसधी सेना अच्छी सधी हुई सेना के आगे नहीं ठहर सकती थी। इस स्थिति में पैंट्रोग्राड की सेना पर सब-कुछ निर्भर था। यह सेना डरती थी कि कहीं इसको मोर्चे पर न भेज दिया जाय। इसलिए बोलशेविकों के प्रचार से यह उनके पक्ष में हो गई। पूँजीपति सरकार ने देखा कि उसका समर्थन करनेवाला कोई नहीं है, इसलिए उसने कुछ भी मुकाबला नहीं किया। इसके बैठ जाने का कारण यह नहीं था कि इसके शत्रु साधन-सम्पन्न थे, बल्कि यह था कि यह अकेली रह गई थी। 7 नवम्बर 1917 के प्रातः दो बजे बोलशेविकों ने क्रान्ति के पहियों को चलाना शुरू किया। छोटी-छोटी सशस्त्र सैनिक

टुकड़ियों ने रेलवे स्टेशन, स्टेट बैंक, टेलीफोन एक्सचेंज, डाकघर और अन्य सरकारी इमारतों पर अधिकार कर लिया। बलवा मुख्यतः व्यवस्थित विधि से हुआ। बलवे के परम्परागत चिह्न तो देखने को भी नहीं मिलते थे, यथा सड़कों पर प्रदर्शन और गड़बड़। इसका कारण शायद यह होगा कि जब सरकारी दफ्तरों पर कब्जा किया जाने लगा तो कोई रोक-थाम ही नहीं की गई। पैट्रोग्राड की सोवियत को जो रिपोर्ट भेजी गई उसमें ट्राटस्की ने कहा था कि 'लोग कहते थे कि जब बलवा होगा तो क्रान्ति रक्त की नदियों में डूब जायेगी। परन्तु हमने एक भी व्यक्ति की मृत्यु की खबर नहीं सुनी। इतिहास में कोई उदाहरण नहीं है कि किसी क्रान्ति में इतने लोग सम्मिलित हों और वह रक्तहीन हो।' जीत के समय ये वचन क्रान्ति के नायक के मुख से निकले थे। परन्तु क्रांति की कीमत उस वक्त तक नहीं आँकी जाती जब तक कि वह पूरी मंजिल तय नहीं कर ले, क्योंकि इसके बाद ही आन्तरिक युद्ध शुरू हुआ करता है। बहुत वर्षों के बाद रूसी क्रांति के इतिहासकार की हैसियत से ट्राटस्की ने बोलशेविक विजय की कीमत इन शब्दों में बतलाई है, 'लाखों आदमी दफन हो गये, पूर्वी और दक्षिणी रूस को रौंदकर नष्ट कर डाला, देश का उद्योग लगभग सर्वथा नष्ट हो गया, और लोगों पर 'रेड टेरर' (लाल आतंक) का आतंक बिठा दिया।

बोलशेविक सरकार का कार्यक्रम—लेनिन ने कई आदेश जारी करके नवनिर्मित सरकार के कार्यक्रम की घोषणा की। इनमें से एक उसका प्रस्ताव था जो उसने 8 नवम्बर 1917 को प्रकाशित किया। यह प्रस्ताव युद्ध-निरत जनता और उसके शासकों के प्रति था कि वे तत्काल ऐसी बातचीत शुरू कर दें जिससे न्यायसंगत और जनतंत्रीय शान्ति स्थापित हो सके और किसी के प्रदेश दूसरे राज्यों में न मिलाये जाएँ, न युद्ध-दंड लिया जाय। इस प्रस्ताव के अस्वीकृत होने पर रूस राष्ट्र-संघ से अलग हो गया, और जर्मनी से हार जाने पर ब्रेस्ट लिटोवस्क (1918) में उस पर जो भी शर्तें लादी गईं वे उसको मंजूर करनी पड़ीं। दूसरे आदेश में प्रकट किया कि जमींदारों का जो जमीन पर हक है वह इसी क्षण मन्सूख किया जाता है और इसके लिए कोई क्षतिपूर्ति नहीं की जायगी। बड़ी-बड़ी जायदादों के जब्त हो जाने से किसान लोग बोलशेविकों के पक्ष में हो गए और उनसे प्रतिक्रांति के विरुद्ध गारन्टी मिल गई। इस प्रकार प्राचीन व्यवस्था के अन्त के लिए सब तैयारियाँ हो गईं। बोलशेविक लोगों ने कार्ल मार्क्स से एक सबक सीखा। उसने बतलाया था कि 1848 में जर्मनी का बलवा क्यों बेकार हुआ अर्थात् उसने केवल राजमंत्रियों को ही हटाया, लेकिन शासन-प्रबन्ध उन नौकरशाही जजों और सैनिक अधिकारियों के ही हाथ में रहने दिया जो पुरानी परम्पराओं में सधे हुए थे। इसलिए उन्होंने जार के शासन-यन्त्र को जड़ से नष्ट करना शुरू किया और इसके स्थान पर एक बिलकुल भिन्न व्यवस्था स्थापित करने लगे जो सोवियत की कौंसिलों के आधार पर खड़ी थी। इस प्रकार किसान-

मजदूर राज्य स्थापित हुआ और प्रबन्ध का संचालन करने के लिए नए कर्मचारी लोग नियुक्त हुए।

घरेलू युद्ध—अपने जीवन के प्रथम तीन वर्ष तक सोवियत सरकार को अपने अस्तित्व के लिए युद्ध करते रहना पड़ा। बोलशेविकों की विजय बड़ी आसानी से हो गई थी। उन्होंने अपने विरोधियों के निर्बल हाथों से सत्ता छीन ली थी। परन्तु इसके बाद ही ऐसा संघर्ष हुआ जिससे राष्ट्र घरेलू युद्ध के आतंक में फँस गया। जिन वर्गों का सर्वस्व छिन गया था वे नवम्बर की क्रांति के निर्णय को निष्क्रिय रूप से स्वीकार नहीं कर सकते थे। मित्र राष्ट्रों की सहायता से उन लोगों ने जनरल डेनिकिन के नायकत्व में दक्षिण में और एडमिरल कोलचक के नायकत्व में साइबेरिया में सशस्त्र मुकाबले का संगठन किया। रूस गृह-युद्ध की कटुता को झेल ही रहा था कि अब वह एक तरफ क्रांति के 'रेड टेरर' (रक्त आतंक) का और दूसरी तरफ प्रतिक्रांति के 'ह्वाइट टेटर' (श्वेत आतंक) का शिकार हो गया। इसमें पाशविक लड़ाइयाँ और नृशंसताएँ हुईं और दुर्भिक्ष के कारण जनता का दुःख और भी बढ़ गया। सोवियत सरकार की कई बार हार हुई, परन्तु अन्त में उसकी जीत हुई। इसके कई कारण थे—(1) किसानों ने इसको सहायता दी, क्योंकि उनको यह भय था कि कहीं भूस्वामी पुनः शक्तिशाली न बन जाएँ। (2) देश का क्षेत्रफल बहुत बड़ा है। इससे बोलशेविकों को युद्ध लम्बा करने में सहायता मिली और इस अर्से में उन्होंने शक्ति संचय कर ली। ट्राटस्की के नेतृत्व में 'लाल सेना' का संगठन किया गया। इस युद्ध-यंत्र को तैयार करने में बड़ी ही जल्दी की गई। इस विषय में इसकी तुलना क्रामवेल की 'आइरन साइड्स' सेना से या फ्रेंच क्रांति की सेनाओं से की जा सकती है। (3) श्वेत सेनाओं ने बड़ी नृशंसताएँ और क्रूरताएँ कीं जिससे लोगों को लूटमार, हत्याएँ और निरंकुशता की यातनाएँ भोगनी पड़ीं। (4) विदेशी सेनाएँ रूस की भूमि पर युद्ध करती थीं जिससे रूस की देशभक्त जनता सरकार के पक्ष में हो गई। अन्तिम कारण यह था कि दूसरे देशों के मजदूर जोर डाल रहे थे कि विदेशी सरकारों को रूस के मामले में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। रूस की आन्तरिक कठिनाइयों का लाभ उठाकर पोलैण्ड ने अपने पुराने उत्पीड़क पर आक्रमण कर दिया, परन्तु उसकी भीरुता के कारण वह स्वयं विनाश के निकट पहुँच गया। ज्यों ही गृह-युद्ध समाप्त हुआ कि रूसी सेनाओं ने पोलैण्ड पर धावा बोल दिया और वे पोलैण्ड की राजधानी वारसा तक जा पहुँचीं। यहाँ उनको पीछे हटना पड़ा और 1920 में दोनों देशों में संधि हुई, जिसके अनुसार पोलैण्ड की पूर्वी सीमाओं के विषय में रूस के साथ अच्छी शर्तें तय हो गईं। ऐसी अच्छी शर्तें तो पेरिस की सन्धि में भी उसके लिए निश्चित नहीं हुई थीं। स्वशासन के सिद्धान्त पर रूस के लोगों का विश्वास था। वे इस बात पर सहमत थे कि अधीन जातियाँ रूस से अलग हो सकती हैं। उन्होंने रूसी पोलैण्ड, नवनिर्मित पोलिश जनतन्त्र

को दे दिया और सीमान्त प्रदेशों में स्वतन्त्र बाल्टिक रियासतें बना दी गईं, यथा फ़िनलैण्ड, लिथुआनिया, एस्टोनिया और लेटविया।

विश्व-क्रान्ति—बोलशेविक नेताओं की दृष्टि में रूस की क्रान्ति तो प्रारंभिक मात्र थी। इसके बाद निरंतर रूस में कितनी ही राष्ट्रीय क्रान्तियाँ होने को थीं। लेनिन को पूरा विश्वास था कि 1914-18 के विश्व-युद्ध के कारण पश्चिमी देशों का पूँजीपति वर्ग बिल्कुल नष्ट हो जायगा। 1918 में उसने कहा था कि यह कहना वैज्ञानिक भविष्यवाणी है कि यूरोप में सोशलिस्ट क्रान्ति होगी। उसने अपने विश्वास की घोषणा करते हुए कहा कि हम विश्वव्यापी मजदूर क्रान्ति के द्वार पर खड़े हुए हैं। विश्व-क्रान्ति की तैयारी करने के लिए 1919 में थर्ड इन्टरनेशनल की सृष्टि की गई। इसमें समस्त देशों की कम्यूनिस्ट पार्टी के लोग शामिल थे। इसके नियमों की पहली धारा में कहा गया था कि मजदूरों का नया अन्तरराष्ट्रीय भ्रातृ-मंडल इसलिए स्थापित किया गया है कि विभिन्न देशों के मजदूर मिलकर काम कर सकें। इनका समान ध्येय है—पूँजीवाद को खत्म करना, मजदूरों की तानाशाही को कायम करना, और सामाजिक वर्गों को नष्ट करने के लिए अन्तरराष्ट्रीय सोवियत जनतंत्र की स्थापना करना तथा सोशलिज्म जारी करना। यह कम्यूनिस्ट सोसाइटी की पहली मंजिल है। इसके अध्यक्ष जिनोवीव ने सन् 1919 में घोषित किया कि एक वर्ष में समस्त यूरोप कम्यूनिस्ट बन जायेगा। अन्तरराष्ट्रीय क्रांति की यह आशा पूरी नहीं हुई, क्योंकि उन देशों में भी, जिनकी 1914-18 के विश्व-युद्ध में हार हुई थी, समाज-संगठन की जड़ें इतनी गहरी गई हुई थीं कि क्रांति से वे नष्ट नहीं हो सकते थे। रूस के मजदूरों ने आसानी के साथ रियासत की शक्ति छीनकर अपने हाथ में ले ली थी। वास्तव में इसके कई कारण थे और ये कारण स्थानीय थे। प्रथम तो पूँजीपतियों की कमजोरी, जिन्होंने कुछ भी मुकाबला नहीं किया। द्वितीय किसानों की एकता, जो मजदूरों से इसलिये मिल गये कि वे भूमि प्राप्त करना चाहते थे। तृतीय वर्ग-भावना की कटुता, जिसका कारण यह था कि समाज के विभिन्न वर्गों के बीच गहरी खाई थी। रूस का विस्तृत क्षेत्रफल, जिसके कारण क्रांतिकारी सरकार विदेशियों के हस्तक्षेप और स्थानीय दलों का सामना कर सकी। परन्तु इस समय तो बोलशेविक नेताओं के उद्देश्यों ने, जो तृतीय इन्टरनेशनल के ध्येयों में सम्मिलित थे, दूसरे राष्ट्रों में आतंक उत्पन्न कर दिया। बोलशेविक सरकार ने साफ शब्दों में यह प्रकट कर दिया कि उसका उद्देश्य एक विश्व-क्रांति की ज्वाला धधकाना है। लोगों को यह चिन्ता हुई कि मजदूरों का जनतन्त्र शायद अन्य देशों की समाज-व्यवस्था को उथल-पुथल कर डाले। इसलिए कितने ही देश भयभीत हो गये। इस डर में बड़ी अत्युक्ति थी। वास्तव में रूस के अन्दर ही इतनी झंझटें थीं कि सोवियत सरकार की सम्पूर्ण शक्ति उनको ठीक करने में लगी हुई थी। फिर दुर्भिक्ष और प्रतिक्रांति का डर था। इसलिए सरकार

की स्थिति बहुत नाजुक थी और दूसरे देशों में आग भड़काने का काम अभी हाथ में नहीं लिया जा सकता था।

ट्राट्स्की के विचार—विश्व-क्रान्ति की योजना सफल नहीं हुई। तब बोलशेविक नेताओं के सामने ऐसा प्रश्न उपस्थित हो गया जिसके कारण उसके दल की एकता भंग हो गई। यह फूट तब उत्पन्न हुई जब 1924 में लेनिन की मृत्यु हो गई और बोलशेविक प्रगति का माना हुआ नेता चल बसा। इस मतभेद का असली कारण तो था व्यक्तिगत द्वेष और ईर्ष्या। इसके अनुयायियों के भी दो दल बन गये थे, परन्तु फिर इस मतभेद ने आदर्श और सिद्धान्तों के भेद का रूप धारण कर लिया। इनमें एक वर्ग का नेता जोजफ स्टेलिन था। यह बहुमत वालों का दल था। दूसरे पक्ष अर्थात् वाम-विरोध का प्रेरक ट्राट्स्की था। यह अल्पमत वालों का दल था। प्रश्न यह उपस्थित हुआ कि सोवियत संघ दूसरे देशों में क्रान्ति उत्पन्न करने का प्रयत्न करता रहे या अपने ही देश में राष्ट्रीय सोशलिस्ट सोसाइटी को संगठित करने के प्रयत्न में लग जाय। ट्राट्स्की विश्व-क्रान्ति के पक्ष में था। वह इसके तीन कारण बतलाता था। पहला कारण यह था कि अकेली सोशलिस्ट रियासत पूँजीवाद से घिरी हुई सदैव जीवित नहीं रह सकती, क्योंकि दूसरे देशों के सैनिक हस्तक्षेप और आर्थिक बहिष्कार का इसमें खतरा है। दूसरा कारण यह बतलाया गया था कि अभी रूस सोशलिज्म के लिए तैयार नहीं है, क्योंकि आर्थिक दृष्टि से वह बहुत पिछड़ा हुआ है। उसका सांस्कृतिक धरातल बहुत नीचा है और पूँजीपति किसानों के हितों का जाल बड़ा जटिल है। तीसरा कारण यह था कि सोशलिस्ट क्रान्ति तत्वतः अन्तरराष्ट्रीय है, क्योंकि संसार के राष्ट्र एक दूसरे पर निर्भर हैं, जिसका मतलब यह है कि खरीद-फरोख्त के लिए सारे संसार का व्यापार मिलना चाहिए और विश्वव्यापी श्रम विभाग स्थापित होना चाहिए। इसलिए ऐसी सोशलिस्ट सोसाइटी कायम नहीं की जा सकती जो अपने देश में ही बन्द पड़ी रहे और दूसरे देशों की राष्ट्रीय व्यवस्था से बिल्कुल जुदी हो। इस सम्बन्ध में ट्राटस्की ने स्थायी क्रान्ति का सिद्धान्त सबके सामने रखा। उसका कहना था कि रूस की क्रान्ति राष्ट्रीय क्रान्तियों की प्रारम्भिक कड़ी है। उसका यह सिद्धान्त इतिहास के आर्थिक भाष्य का परिणाम था। उसका विश्वास था कि पूँजीपतियों की क्रान्ति का उद्देश्य भी सामन्तों के विशेष अधिकारों का अन्त करना और प्रान्तीय बाजारों के स्थान में राष्ट्रीय बाजार स्थापित करना है जिसमें सारे राष्ट्र का माल बिक्री के लिए पहुँच सके। मजदूर क्रान्ति का ध्येय इससे भिन्न होगा। यह उत्पानन के साधनों के प्राइवेट स्वामित्व का अन्त कर देगी और राष्ट्रीय अर्थतन्त्र के स्थान पर विश्व-अर्थतन्त्र स्थापित कर देगी और इसका आधार होगा अन्तरराष्ट्रीय श्रम विभाग, जिसमें मनुष्य जाति की सम्पूर्ण उत्पादन-शक्तियों की पहुँच होगी।

स्टालिन के विचार—इस स्थायी क्रान्ति के सिद्धान्त के प्रतिकूल स्टालिन कहता था कि एक देश में सोशियलिज्म स्थापित करने का सिद्धान्त ठीक है। उसका मतलब था कि जब विश्वव्यापी क्रान्ति नहीं हो सकी तो सोवियत रूस एक सोशियलिज्म वैल्थ स्थापित करे जिससे संसार के सामने एक उदाहरण हो कि व्यवहार में सोशियलिज्म का क्या स्वरूप होता है। जब एक देश में सोशियलिज्म हो जायगा तो वह इस बात की गारन्टी होगी कि दूसरे देश इसका अनुकरण करेंगे। इसका दावा था कि सोवियत संघ अपने ही प्रयास से राष्ट्रीय अर्थतन्त्र का पुनर्निर्माण कर सकता है और एक स्वतन्त्र सोशियलिस्ट समाज, दूसरे देशों में क्रान्तियाँ न हों तो भी, जीवित रह सकता है। इस प्रकार नीति में परिवर्तन होने का मतलब यह था कि कोमिन्टर्न (Comintern) अर्थात् तृतीय इन्टरनेशनल का परित्याग किया जाय, क्योंकि नई नीति सरकार को प्रेरित करती थी कि पूंजीवादी देशों के साथ शान्ति-सम्बन्ध स्थापित किये जाएँ, ताकि मजदूरों के जनतन्त्र को उन लोगों से मशीनें, कच्चा माल और नाना विषयों के विशेषज्ञ मिल सकें। इस सिद्धान्त-भेद के कारण दोनों पक्षों में संघर्ष पैदा हो गया जिसमें स्टेलिन की जीत हुई। अपने दल के यन्त्र पर उसका बहुत काबू था, जिसके कारण सम्पूर्ण शक्ति उसके हाथ में आ गई। ट्राट्स्की 1926 में देश मे निर्वासित कर दिया गया। जो लोग उसके सिद्धान्तों को मानते थे उनको कानूनी रक्षा से वंचित कर दिया गया। निर्दयता के साथ उनका वध किया गया और सरकार की ओर से कहा गया कि ट्राट्स्की के सिद्धान्त बोलशेविक सिद्धान्तों के प्रतिकूल हैं। इस बात को भविष्य प्रकट करेगा कि इस प्रकार के आतंकवाद से वर्तमान सरकार स्थायी होगी या नहीं और विरोध की चिनगारियाँ शान्त हो जाएँगी या नहीं। लेकिन अशान्ति की भावना सोवियत रूस पर छाई है जो वहाँ राजनीतिक क्रान्ति स्थापित नहीं होने देती। रूसी क्रान्ति अब भी चल रही है और बढ़ती हुई कटुता के साथ अपने ही बच्चों को निगलती जाती है। राजनीतिक पुलिस की गर्हित कार्यवाहियाँ, उसके भेदियों का जाल, उसकी गुप्त अदालतें और तात्कालिक वध—इनके कारण आतंकवाद का शासन चल रहा है और इसको रोज नया शिकार चाहिए। बार-बार कांट-छाँट होती रहती है अर्थात् उच्च राज-कर्मचारी, सेनानायक और राजदूतों का वध आहु करता है। इसके कारण संसार उन नृशंसताओं को नहीं भूल सकता जिन्होंने रूसी क्रान्ति के मार्ग को कलंकित कर रखा है।

नवीन आर्थिक नीति—सोवियत रियासत का आर्थिक ढाँचा, जिसका युद्ध-कम्यूनिज्म के प्रयोग से उदय हुआ और अगले सालों में जिसका रूपान्तर हुआ, उसको अब इतिहास की दृष्टि से देखा जा सकता है। जब सोशियलिस्ट आधार पर राष्ट्रीय अर्थ-स्थिति का पुनर्निर्माण होना शुरू हुआ तब उस पर अन्तरिक युद्ध का बड़ा प्रभाव पड़ा। इसलिए अब युद्ध-कम्यूनिज्म 1918-21 का युग जारी हो गया।

इसी प्रकार पश्चिमी यूरोप में युद्ध सोशियलिज्म जारी हुआ था। औद्योगिक उत्पादन के साधन और यंत्र रियासत ने अपने हाथ में ले लिए और इसी प्रकार उसका अदल-बदल भी अपने अधीन कर लिया। कारखानों का राष्ट्रीयकरण करके और व्यक्तिगत फुटकर तिजारत को बन्द करके स्वतन्त्र प्रयास खत्म कर दिया गया। अब बैंक विलीन हो गए। मजदूरी अब रुपयों में नहीं चुकाई जाती थी। उसके बदले अब जीवन की आवश्यकताओं के लिए कार्ड्स दे दिये गये थे। इनके द्वारा बिना किराए के मकान मिलता था और बिना टिकट के यात्रा की जा सकती थी। कृषि-कार्य पर अभी सोशियलिस्ट नियंत्रण शुरू नहीं हुआ था, लेकिन किसानों का सारा अन्न सरकार ले लिया करती थी। इसका परिणाम यह हुआ कि उत्पादन में भयानक कमी हो गई। उसके साथ ही किसानों के विप्लव होने लगे। सोवियत नौ-सेना के नाविकों ने बलवा कर दिया। इससे विवश होकर लेनिन ने सन् 1921 में नई आर्थिक नीति ग्रहण की। यह पीछे हटकर पूँजीवाद की शरण में जाने के बराबर थी ताकि लोग सेनाओं की पुनःव्यवस्था कर लें और फिर लड़ाई कर दें। अब किसानों को खुले बाजार में अपना माल बेचने की इजाजत मिल गई। खुर्दाफरोश व्यापारी फायदा उठाकर खरीद-फरोख्त करने लगे। छोटे पैमाने पर जो माल तैयार किया जाता था उसमें व्यक्तिगत मजदूरी, किराया, रेलभाड़ा आदि देने के लिए फिर रुपये का प्रयोग होने लगा। रियासत के उद्योग-धन्धों को अपने-अपने काम में स्वतन्त्रता दे दी गई। अब सिक्के के आधार पर लोग अपने व्यापार का संचालन करने लगे और पहले की भाँति सब हिसाब-किताब रहने लगा। रियासत ने विदेशी व्यापार, बैंक, खाते, जंगल, रेलवे और बड़े-बड़े कारखाने अपने हाथ में रखे। सारा शासन अब मजदूरों के हाथ में था। इसलिए इस बात की गारण्टी थी कि अगर छोटे-छोटे पैमाने पर व्यक्तिगत व्यापार होने लगा तो इससे किसी वर्ग का शोषण नहीं होगा। व्यक्तिगत प्रयास के लिए जो रियायतें दी गई थीं वे थोड़े अर्से के लिए थीं। 1921 और 1931 के बीच रियासत के उत्पादन-साधन और अदल-बदल के साथ विकसित होने लगे, जिससे यह संभव हो गया कि खुर्दाफरोश छोटे उत्पादक और मालदार किसान को खत्म किया जाय। पूँजीपतियों और भूस्वामियों को पहले ही खत्म कर दिया कर दिया गया था। अब हम इस ऐतिहासिक विधि का विश्लेषण करेंगे।

प्रथम कृषक क्रांति—बोलशेविक लोगों के हाथ में राजशक्ति आने के बाद बहुत बड़ा परिवर्तन कृषि के क्षेत्र में हुआ, क्योंकि इसका प्रभाव वहाँ की आबादी के सबसे बड़े हिस्से पर पड़ा था। किसानों की दो क्रांतियाँ हुई थीं, पहली क्रान्ति से भूस्वामी खत्म हुए और दूसरे में व्यक्तिगत खेती के स्थान में सामूहिक खेती स्थापित की। पहला परिवर्तन तो कलम चलाने से ही हो गया (सरकार ने एक आदेश जारी करके जमीन का राष्ट्रीयकरण कर दिया और यह सिद्धांत निश्चित कर दिया कि

इसको कृषकों में विभक्त कर दिया जाय । इस आदेश का अभिप्राय यह था कि अब जमीन पर किसी का व्यक्तिगत स्वामित्व नहीं रहा, परन्तु फिर भी जमीन रही व्यक्तिगत कब्जे में ही । भूस्वामियों को बेदखल करने का यह मतलब नहीं हुआ कि सारी जायदाद किसानों में बाँटने के लिए मिल गई, क्योंकि इसमें से कुछ जमीन पहले ही किराए पर किसानों के कब्जे में थी, जैसे फ्रांस मे 1789 की क्रांति से पहले थी और इसका कुछ हिस्सा कभी-कभी रियासत के खेत के रूप में काम आता था । भूस्वामियों की जमीन को किसानों में विभक्त कर देने का केवल इतना प्रभाव पड़ा कि किसानों के हाथ में जो जमीन पहले ही थी उसमें अब एक-तिहाई की वृद्धि हुई, लेकिन उनकी स्थिति में कोई खास तरक्की नहीं हुई । आबादी के बढ़ जाने और भूमिहीन किसानों के शामिल हो जाने से खेतों की संख्या 1,60,00,000 से बढ़कर 2,50,00,000 हो गई । इसलिए चाहे ज्यादा जमीन मिल गई तो भी व्यक्तिगत खाते बहुत छोटे-छोटे ही रहे । ऐसा अनुमान लगाया गया था कि व्यक्तिगत हकत जमीन औसतन 11 एकड़ के करीब थी । यद्यपि कोई-कोई खाते तीस से चालीस एकड़ तक थे । इस प्रकार प्रथम कृषि-क्रांति ने व्यक्तिगत बड़ी-बड़ी जायदादें खत्म कर दीं । किसान अब भूस्वामियों को लगान नहीं देते थे, क्योंकि उनकी जमीन छिनकर किसानों को मिल गई थी । लेकिन तो भी उन लोगों की भूख तो शान्त नहीं हुई जो बड़े-बड़े खेत दबाना चाहते थे ।

किसानों की दशा—दूसरी बातों में बोलशेविक क्रांति के बाद किसानों की दशा बहुत हीन हो गई । आन्तरिक युद्ध के समय उनका अन्न छीन लिया जाता था और दोनों पक्षों की सेनाओं को खिला दिया जाता था । तब किसानों में बदले की भावना जाग्रत हुई । अब वे लोग उतनी जमीन में बीज नहीं बोते थे जितनी में पहले । अब उन्होंने इसका क्षेत्रफल कम कर दिया । इसका फल यह हुआ कि 1921 में फसल पहले की अपेक्षा केवल दो-तिहाई रह गई । फिर दुर्भिक्ष हो गया । तब सरकार ने वह तरीका बन्द किया (1921) जिसके अनुसार किसानों से सारा अन्न अपनी निश्चित की हुई कीमत पर ले लिया जाता था और प्रायः आवश्यकता से अधिक भी ले लिया जाता था । यह वास्तव में एक प्रकार की ज्यादती थी । अब यह नियम हो गया कि किसान लगान अन्न के द्वारा चुकाने लगे और जो उसके पास बचता था उसको वे खुले बाजार में बेचने लगे । इस प्रकार किसानों के रूढ़िवाद की बोलशेविक के सामाजिक सिद्धान्तों पर विजय हुई और लगभग दस वर्ष तक रूस में व्यक्तिगत रूप से उसी प्रकार खेती होती रही जैसी पूँजीवादी देशों में हुआ करती थी । लेनिन ने कहा था कि किसान अपनी समस्याओं को स्वयं हल करे और स्वयं ही अपने जीवन का निर्माण करे । दस वर्ष के अन्दर किसानों को यह स्वतन्त्रता नहीं रही । लेनिन के उत्तराधिकारी ने फिर अनिवार्य रूप से सामूहिक खेती शुरू करवा दी । अभी तो प्राचीन ढंग की आर्थिक विधि से स्थिति सुधर गई थी, लेकिन

इससे किसानों की एक दूसरी शिकायत तो नहीं हटी। शिकायत यह थी कि उनकी खरीदने की शक्ति घटती जाती थी और उसका कारण यह था कि कृषि-पदार्थों की कीमत तो बहुत ही न्यून थी और मशीनों से बने पदार्थों की कीमत बहुत अधिक। यह तो विश्व-व्यापी स्थिति थी, परन्तु रूस में अन्न की कमी के कारण यह स्थिति उग्र हो गई थी। इसका कारण यह था कि सब राष्ट्रीय साधन बड़े निर्माण-कार्य के लिए काम आते थे। कृषि-पदार्थों की कीमत और पक्के माल की कीमत में जो भेद था उसको लोग कैंची कहते थे। इसका मतलब यह था कि किसानों को अपने पदार्थों के बदले में बहुत ही कम पक्की चीजें मिलती थीं। एक किसान का वाक्य उद्धृत किया गया है कि सोवियत लोगों ने मुझको जमीन दी है, परन्तु मैं इसका क्या करूँ। क्या मैं जमीन खा सकता हूँ? मेरे पास घोड़ा नहीं है और बिना घोड़े के मैं जमीन पर क्या कर सकता हूँ। पुराने जमाने में हमारे ऊपर जार था, जमींदार थे और शोषक थे, फिर भी यदि मेरा घोड़ा मर जाता तो मैं फौरन दूसरा घोड़ा खरीद सकता था और यही बात मेरे जूते के विषय में थी और यही बात केलिको के विषय में। अब न जार है, न जमींदार है, न शोषक हैं, और फिर भी न घोड़ा है, न जूते हैं, न कपड़ा है और न कुछ और है। किसानों ने इस स्थिति का सामना करने के लिए अपनी पैदावार कम कर दी, जिसका मतलब यह था कि यदि पानी नहीं बरसता तो दुर्भिक्ष हो जाता है।

दूसरी कृषक क्रांति—प्रथम कृषक क्रांति से भूमि पर किसानों का अधिकार हो गया, परन्तु इसका नतीजा यह हुआ कि गाँवों और कस्बों के बीच में गत्यवरोध हो गया, अर्थात् गाँव एक तरफ हो गए और कस्बे या नगर दूसरी तरफ। किसानों के हित और उद्योग-सम्पन्न सोवियत राष्ट्र के हित अलग अलग हो गए। इसके दस वर्ष बाद दूसरी कृषक क्रांति हुई जिसने व्यक्तिगत किसानों से भूमि लेकर समूह के सुपुर्द कर दी और इस प्रकार गत्यवरोध का अन्त कर दिया। इस प्रकार नीति बदलने में दो उद्देश्य थे। बहुत-से कम्युनिस्ट नेताओं को डर था कि कहीं मालदार कृषकों का एक नया पूँजीपति समुदाय खड़ा हो जाय जो पूँजीवादी सोसाइटी का नया आदर्श खड़ा कर दे, और ऐसे दल के होते हुए फिर कृषि-प्रधान देश रूस सोशियलिस्ट कामनवेल्थ न माना जाय। जो किसान अपने पड़ोसियों से अपेक्षाकृत अधिक सम्पन्न थे उनको शोषक कहा जाता था। इनको दबाने के लिए एक बहुत बुरा वर्ग-संघर्ष शुरू हुआ। ऐसे किसानों को गाँव का पूँजीवादी तत्त्व माना जाता था। स्टेलिन और ट्राटस्की के आपसी झगड़े का एक कारण यह था कि ट्राटस्की व्यक्तिगत खेती का अन्त करना चाहता था। आरम्भ में लेनिन ने इसका विरोध किया था। उसका खयाल था कि इससे पैदावार कम हो जायेगी। ट्राटस्की की हार के बाद उसके विचार बदल गये। कारण यह था कि 1928 में अन्न की बड़ी कमी

आ गई थी और सरकार को विदेशों से गेहूँ मँगवाने पड़े थे और राशनिंग जारी किया गया था। पैदावार की कमी का यह मतलब लिया गया था कि रूसी किसानों की खेती से सोवियत रूस के नगरों के लोगों के पेट नहीं भर सकते और न इनसे ऐसे साधन उत्पन्न हो सकते थे कि अन्न देकर उसके बदले में मशीनें और कच्चा माल मँगवाया जा सके। पहले सरदारों की जागीरों में इतना अन्न पैदा होता था कि खाने के बाद उसका काफी हिस्सा बाजार में बिकने के लिए आया करता था। इसलिए रूस संसार का अन्न-भंडार कहलाता था। जब भूस्वामियों की जमीनें किसानों में विभक्त कर दी गईं तो यह बात नहीं रही और अब आवश्यक हो गया कि बड़े पैमाने पर खेती करने का ढंग पुनः जारी किया जाये और इसके लिए मशीन और वैज्ञानिक खाद का उपयोग किया जाए। लेकिन यह सब-कुछ उन लोगों के बूते से बाहर था जिनके पास थोड़ी-थोड़ी जमीनें थीं। इसके अलावा एक किसान की जमीन सब एक साथ नहीं थी। कुछ यहाँ, कुछ वहाँ, इस प्रकार बिखरी और फैली हुई थी। इससे अच्छी खेती करने में बाधा हुआ करती थी। एक-तिहाई कृषकों के पास तो लोहे का हल भी नहीं था। वे लोग प्राचीन लकड़ी के हल से ही काम चलाते थे और एक-चौथाई के पास धरती जोतने के लिए न घोड़ा था न बैल। इस-लिए पैदावार बढ़ाने के हेतु सरकार ने बड़े पैमाने पर खेती करने की नीति ग्रहण की और इसके लिए प्रत्येक जमीन को एकत्र करने का आयोजन किया गया, ताकि उसकी सब खेती एक ही जगह हो और उसको इधर-उधर दौड़-धूप न करनी पड़े। यह पैदावार को बढ़ाने का तरीका तो था ही परन्तु इसके पक्ष में एक बात और कही जाती थी। वह यह थी कि व्यक्तिगत प्रयास बन्द हो जाने पर गाँवों का अर्थ-तन्त्र समाजवाद के अनुकूल हो जायेगा। सारांशतः सामूहिक खेती जारी करने में दो उद्देश्य थे। पहला यह था कि पिछड़े हुए किसानों को वैज्ञानिक खेती सिखाई जाये और दूसरा यह था कि नये आर्थिक सम्बन्ध स्थापित करके समाज के ढाँचे को ही बदल दिया जाये।

सामूहिकता की प्रगति—ज्यों ही 1929 में यह निश्चय हो गया कि सामूहिक खेती जारी की जाये तो बड़ी तेजी और सख्ती के साथ इसको कार्यान्वित करने का काम शुरू हुआ। छोटे-छोटे खेतों को एकत्र करके पैदावार बढ़ाने के पक्ष में कुछ भी कहा जाये, किन्तु जिस विधि से यह परिवर्तन किया गया वह उचित नहीं था। बेचारे कृषकों पर बड़े अत्याचार हुए और उनको निर्दयता का शिकार होना पड़ा। सम्पन्न कृषकों के खेत, मकान, जानवर, खेती करने के औजार और उनकी निजी चीजें तक छीन ली गईं। कितनों ही को गोली से मार दिया और कितनों ही को अपने गाँवों से निकाल दिया। हजारों-लाखों को इस प्रकार बेघरबार कर दिया और उनकी जीविका छीन ली गई। इसके आँकड़े तो नहीं मिलते, परन्तु इससे लोगों की जो क्षति हुई उसका कोई हद व हिसाब नहीं है। शेष किसानों पर बड़ा जोर डाला गया कि वे सामूहिक

खेती करने लग जाएँ और इस काम में इतनी जल्दी की गई कि एक वर्ष के भीतर लगभग आधे किसानों की जमीनों का एकीकरण हो गया। इस आयोजन को पूरा करनेवालों में इतना जोश था कि उन्होंने कुछ आगा-पीछा नहीं सोचा और विवेक से काम नहीं लिया। खेतों का एकीकरण हो गया, परन्तु सामूहिक खेती के लिए काफी मशीनें उपलब्ध नहीं थीं, इसलिए किसानों ने क्रुद्ध होकर बलवे करने शुरू किए। तब एकीकरण या सामूहीकरण का कार्य शिथिल हुआ। तो भी 1937 तक 92 प्रतिशत खेतों का, जिन पर दो करोड़ और बीस लाख किसानों का कब्जा था, एकीकरण करके इनके ढाई लाख खेत बना दिये गए। केवल बीस लाख किसानों के पास अपने-अपने खेत रह गए।

सामूहिक खेतों के प्रकार—सामूहिक फार्म (कोल्खोमी) तीन प्रकार के होते हैं जो सामूहिक अर्थ-तन्त्र के तीन दर्जों को प्रकट करते हैं—(1) सदस्यों का एक संघ बनाया जाता है जो मिलकर अन्न उत्पादन करते हैं, लेकिन जानवर उनके अपने-अपने होते हैं। (2) दूसरे प्रकार का फार्म अर्टेल कहलाता है इसके सदस्य मिलकर काम ही नहीं करते, लेकिन उनकी पूँजी अर्थात् पशु, खेती का सामान और खेत पर बने हुए मकान भी सबके सामूहिक होते हैं। इस प्रकार जमीन, मेहनत और पूँजी सबका सामूहीकरण (Collectivization) हो जाता है, परन्तु रहने के मकान, बाग, दूध देने वाली गायें और छोटे जानवर तथा मुर्गे-मुर्गी व्यक्तिगत सम्पत्ति माने जाते हैं। (3) तीसरे प्रकार का फार्म कोम्यून कहलाता है। इसमें गाँव के समस्त आर्थिक जीवन का सामूहीकरण होता है, केवल अन्न-उत्पादन का ही नहीं, यहाँ तक कि रहने के मकान भी कोम्यून के ही माने जाते हैं। यह सबसे उन्नत सामूहीकरण माना जाता है। इनमें उत्पादन और विभाजन दोनों ही सोशलिस्ट ढंग पर होते हैं। अर्टेल दोनों छोर के बीच में है और यही सबसे अधिक प्रचलित ढंग है। इसका प्रबन्ध सब सदस्यों की एक साधारण सभा तथा एक कार्यकारिणी करती है। सामूहिक फार्म नियमानुसार उत्पत्ति का एक निश्चित भाग सरकार को देता है। यह भाग पहले ही निश्चित कर दिया जाता है। इसके बाद जो कुछ बचता है वह खुले बाजार में बेचा जा सकता है। इस प्रकार जो प्राप्ति होती है वह भी सदस्यों में बराबर-बराबर विभाजित नहीं होती। उनकी कमाई व्यक्तिगत काम को देखकर निश्चित की जाती है। सामूहिक फार्म से क्या लाभ सम्भव है, यह विवाद का विषय नहीं है। इसके अनुसार समस्त देश में खेती की पैदावार का आयोजन किया जा सकता है। इसको व्यक्ति-विशेष पर छोड़ने की आवश्यकता नहीं है। हर फार्म का एक कार्यक्रम बनाया जा सकता है और देश की आबादी को कितने अन्न की जरूरत है, इसका हिसाब लगाया जा सकता है। जब खेत बड़े-बड़े होते हैं तो मशीनों से काम लिया जा सकता है। ट्रेक्टर से जुताई गहरी हो सकती है और काटने की मशीन से समय कम लगता है और परिश्रम कम

होता है और इसके अतिरिक्त विशेषज्ञों से सलाह ली जा सकती है। कार्य-विशेष को जानने वाले मजदूर मिल सकते हैं। आधुनिक खाद और विज्ञान के दूसरे तरीकों का उपयोग किया जा सकता है। इसलिए जल और वायु के प्रभाव की तो दूसरी बात है लेकिन खेती भी उद्योग के ढंग पर की जा सकती है जिसमें पैदावार अधिक हो और श्रम कम करना पड़े। लेकिन व्यवहार और अनुभव से सिद्ध होता है कि सामूहिक खेती से जो आशा की गई थी वह पूरी नहीं हुई। यद्यपि यह दावा किया जाता है कि छोटे-छोटे खेतों में जो पैदावार होती थी उसकी अपेक्षा सामूहिक खेतों की पैदाबार आर्थिक दृष्टि से ज्यादा अच्छी है, लेकिन सामूहिक फार्म सोशियलिस्ट संस्थाएँ नहीं हैं। यह रियासत का काम नहीं है बल्कि सहकारिता का काम है। जमीन कानून की दृष्टि से तो राज्य की मानी जाती है, परन्तु वैसे वह सहकारी किसानों के समूह की है और इससे जो कुछ लाभ होता है उसको ये आपस में बाँट लेते हैं। रूस में ऐसे भी फार्म हैं (सवखोसी) जिन पर पैसा देकर मजदूर लगाए जा सकते हैं, लेकिन कृषि का अभी समाजीकरण नहीं हुआ है और जो कुछ हुआ है वह सफल नहीं हुआ है। इसमें केवल दस प्रतिशत जमीन ली गई है। इन फार्मों को कम्यूनिस्ट संस्थाएँ भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि मजदूरी किए हुए काम पर मिलती है न कि मजदूर की आवश्यकताओं के अनुसार। सामूहिक फार्म की व्यवस्था से अभी तो आर्थिक किराया (Economic Rent) भी (अर्थात् जलवायु, जमीन, शहर की दूरी और अन्य बातें जिनके कारण सामूहिक फार्मों को अधिक या कम लाभ होता है) खत्म नहीं हुआ है। फलस्वरूप इन फार्मों में बड़ी भिन्नता है। इनमें कोई अधिक सम्पन्न है और कोई निर्धन। इस स्थिति के कारण ही एक वर्ग बन गया है जिसको सम्पन्न 'कोलखोर्सी' कहते हैं। यह स्पष्ट है कि सोवियत रूस के कृषक समाज में भी सम्पत्ति और सामाजिक स्थिति के कारण भिन्नताएँ हैं। कुलक अर्थात् भूस्वामियों को नष्ट कर दिया गया है और कुछ स्वतन्त्र किसान भी नष्ट हो गये हैं, तो भी कृषक वर्ग में ये विषमताएँ बनी हुई हैं।

उद्योग का राष्ट्रीयकरण—उद्योग, खानें, जंगल और रेलवे के क्षेत्र में व्यक्तिगत प्रयास का स्थान सोशियलिज्म ने ले लिया है। इन क्षेत्रों में अब राज्य के लोग काम करते हैं। बोलशेविक क्रान्ति के बाद ही मजदूरों ने यह मान लिया था कि कारखानों को पिछले मालिकों से छीनकर वे अपने हाथ में ले लेंगे। नवम्बर 1917 में एक आदेश जारी हुआ कि जिन कारखानों में मजदूरी देकर काम करवाया जाता है उनका नियन्त्रण और प्रबन्ध आयन्दा मजदूरों के हाथ में रहेगा। उनका उत्पादन, पक्के व कच्चे माल और मशीनों की खरीद-फरोख्त और रुपये-पैसे का प्रबन्ध सब मजदूरों के हाथ में रहेगा। इनके लिए कमेटियाँ निर्वाचित होंगी जिन पर क्लार्क लोगों और विशेषज्ञों के प्रतिनिधि होंगे। यह भी प्रयोग किया गया था कि वर्कशाप का प्रबन्ध वहीं काम करने वालों के हाथ में रहे, परन्तु यह सफल नहीं हुआ। कुछ

महीने बाद एक दूसरा हुक्म जारी हुआ, जिसके अनुसार प्रत्येक कारखाने को ऐसे मैनेजर के अधीन कर दिया जिसकी नियुक्ति सरकार करती थी। साथ ही जिन कारखानों की पूँजी एक विशेष सीमा से ऊपर थी उनको औपचारिक रूप से जब्त करके सोवियत रियासत की सम्पत्ति घोषित कर दिया गया। इस व्यवस्था में पूँजीपति के लिए कोई स्थान नहीं था। इसलिए जिन कारखानों का राष्ट्रीयकरण हो गया था उनके लिए नई व्यवस्था की आवश्यकता हुई। इनका संगठन ट्रस्ट के आधार पर किया गया, अर्थात् कई कारखानों को मिलाकर संघ बनाए गए। ऐसे ट्रस्ट अपने व्यापारिक और आर्थिक क्षेत्र में काम करने के लिए स्वतन्त्र हैं, लेकिन सबके ऊपर रियासत की सर्वोच्च आर्थिक कौंसिल का नियन्त्रण है। इनमें बहुत-से कारखाने तो इसलिये मिले थे कि अपना माल बेचने के लिए सबका एक संगठन हो। ये संगठन सिन्डीकेट कहलाते थे और अपने सदस्यों का माल बेचने का दायित्व इनके ऊपर था। आगे चलकर इन सिन्डीकेटों को उत्पादन का काम भी दिया गया। ये रियासत के कार्यक्रम के अनुसार काम करते थे और कोम्बीनेशन (मिश्रित संस्थायें) कहलाते थे। इस कार्यक्रम को पूरा करने का उत्तरदायित्व उन कारखानों पर पड़ता है जो ट्रस्ट की देख-रेख में काम करते हैं। हर कारखाने को हिदायत कर दी जाती है कि उसको किस प्रकार का कच्चा माल मिलेगा और उसकी कीमत क्या है। यह भी बतला दिया जाता है कि उसको क्या मजदूरी देनी चाहिए। इंडस्ट्री के लिए तीन साधनों से पूँजी मिलती है—(1) ट्रस्ट ने अपने लाभ के आधार पर जो रिजर्व बनाया हो उससे, (2) बैंक ने जो पेशगी रुपया दिया हो उससे और (3) रियासत की तरफ से जो रुपया मिला हो। लाभ का एक अंश रियासतें ले लेती हैं। शेष ट्रस्ट के रिजर्व फंड में चला जाता है या शिक्षा या अन्य हित-कार्यों में खर्च होता है। इस प्रकार रियासत एक कारखाने से जो लाभ होता है उसको दूसरे कारखाने की मदद देने में लगा सकती है। इसलिए कभी ऐसा होता है कि कारखाना जो राज को टैक्स देता है उससे अधिक उसको राज से मदद मिल जाती है। कीमत सरकार द्वारा निश्चित होती है। लागत से भी कम कीमत पर चीजें बेची जा सकती हैं, अगर इससे सबका हित-साधन होता हो तो। मुख्य दृष्टि लाभ पर नहीं है। कुशलता का नाप लाभ नहीं है। यह देखा जाता है कि उत्पादन में क्या खर्च हुआ और कितनी उत्पत्ति हुई और किस किस्म की हुई।

व्यवस्थित अर्थतन्त्र—राष्ट्र के उत्पादन-कार्यक्रम का उल्लेख पिछले पृष्ठों में किया जा चुका है। व्यवस्थित अर्थतन्त्र को ग्रहण करने की इसलिए आवश्यकता हुई कि अब कितने ही हजार पूँजीपतियों को अलग कर दिया गया था। पहले ये लोग लाभ के उद्देश्य से व्यापार करते थे। जहाँ महँगा बिकता था वहाँ अपना माल बेचते थे और आवश्यकता के अनुसार कीमत में घटा-बढ़ी किया करते थे। इनके काम से उपज और खपत में संतुलन

बना रहता था और इस प्रकार आर्थिक सामंजस्य हो जाता था। अब इन लोगों का काम राष्ट्रीय योजना कमीशन (State Planning Commission) ने करना शुरू कर दिया जिसको रूस में गौस प्लान कहते हैं। यह समस्त राष्ट्र के आर्थिक कार्यों का संचालन करता है और निश्चय करता है कि उत्पादन-विधि कैसी हो और कितना काम किया जाय। राष्ट्रीय अर्थतन्त्र की योजना State Plan of National Economy) के उद्देश्य रूस के विधान में बतलाये गए हैं। पहला उद्देश्य यह है कि उद्योगीकरण की रफ्तार को खूब बढ़ाया जाय और इस प्रकार राष्ट्र की स्वतन्त्रता को दृढ़ किया जाय। देखा जाय तो सोवियत संघ दूसरी इसी प्रकार की रियासतों के ढंग पर चल रहा है। उनका उद्देश्य भी यही है कि आर्थिक दृष्टि से देश स्वतन्त्र हो, अर्थात् अपनी आवश्यकताएँ देश में ही पूरी हो जाएँ। दूसरा उद्देश्य है मजदूरों के आर्थिक और सांस्कृतिक धरातल को ऊँचा करना। इस हेतु खेतों, खानों और फैक्ट्रियों में उत्पादन के लिए बड़े ज़ोर से काम किया जा रहा है, क्योंकि जीवन की आवश्यकताओं को पूरा करने वाले सामान जब सुलभ होंगे तभी जीवन सुखी होता है। इसलिए कई पंचवर्षीय योजनाएँ बनाई गई हैं और इसी इरादे से बनी हैं कि फैक्ट्रियाँ बनाई जाएँ, बड़ी-बड़ी मशीनें तैयार हों और पावर प्लान्ट्स (Power Plants) खड़े किए जाएँ। ऐसे सामान तैयार हो जाने पर खपत का सामान अर्थात् जो लोगों के निजी काम में आता है तैयार किया जाय। स्टालिन ने अपनी एक रिपोर्ट में लिखा था कि हमारे लोगों में कमजोरी यह है कि वे सामान बनाने की विधि में बहुत पिछड़े हुए हैं और कठिनाई को पार करने के लिए हमने यह नारा ज़ारी किया था कि 'विधि पर अधिकार करो।' इस नारे से पुराना नारा पीछे चला गया। वह था 'संसार में क्रान्ति करो।' यह ठीक कहा गया है कि पुराने सैनिकों ने तलवारें डालकर हथौड़े हाथ में ले लिए। सोवियत सरकार का उद्देश्य तो अब यह हो गया है कि राष्ट्रीय अर्थतन्त्र का उद्योग के आधार पर पुनर्निर्माण किया जाय जिससे दो उद्देश्यों की सिद्धि हो, अर्थात् आर्थिक स्वतन्त्रता हो तथा सम्पत्ति का अधिक उत्पादन हो। इन पंचवर्षीय योजनाओं के द्वारा पहले ही उद्योग का बहुत विकास हो चुका है।

मजदूरों की स्थिति—सोशियलिस्ट उद्योग-व्यवस्था में मजदूर का क्या स्थान है, यह कारखानों के त्रिकोण प्रबन्ध से स्पष्ट हो जाता है। त्रिकोण प्रबन्ध की व्यवस्था यह है—(1) हर कारखाने में एक प्रबन्धक होता है जो उसके काम का संचालन करता है। (2) एक पार्टी की समिति होती है जिसमें कम्यूनिस्ट दल के सदस्य हुआ करते हैं। (3) एक फैक्ट्री कमेटी होती है जो ट्रेड यूनियन का प्रतिनिधित्व करती है। प्रबन्ध पर ट्रेड यूनियन (व्यापार संघ) का कोई नियन्त्रण नहीं होता। इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि सोवियत फैक्ट्री औद्योगिक जनतन्त्र है। हाँ, यह दावा जरूर किया जाता है कि कारखाने पर चाहे मजदूरों का नियंत्रण न हो, लेकिन इसका

नियंत्रण उनके हित को ध्यान में रखकर किया जाता है। पूंजीवादी राष्ट्रों में तो व्यापार संघ मजदूरों के हितों की रक्षा करते हैं और उनकी स्थिति को सुधारने का यत्न करते हैं। लेकिन रूस में ऐसा नहीं है। यहाँ तो उनका काम विशेषकर यह है कि उत्पादन को बढ़ाने के लिए पार्टियाँ तैयार करें और एक सनसनी-सी पैदा करके पैदावार में वृद्धि करें। कम्यूनिस्ट पार्टी का अनुशासन बड़ा कठोर है और यह इस बात की गारन्टी है कि कारखानों में भी अनुशासन रहे जिससे उत्पादन को प्रोत्साहन मिले। यह बार-बार कहा जाता है कि रूसी लोगों के रहन-सहन का ढंग तभी ऊँचा होगा जब उत्पत्ति अधिक होगी। पहले कम्यूनिस्ट लोगों का सिद्धान्त था—'हर व्यक्ति को उसकी आवश्यकता के अनुसार प्राप्ति होनी चाहिए'। अब इस सिद्धान्त के स्थान पर सोशियलिज्म का सिद्धान्त स्थापित कर दिया गया है। वह यह है कि हर व्यक्ति को उसके काम के अनुसार प्राप्ति होनी चाहिए।

व्यक्तिगत प्रयास चलता रहा—कारखानों में काम करने वाले सभी मजदूर ऐसे ही बड़े-बड़े कारखानों में काम नहीं करते थे जिनका संचालन ट्रस्ट, म्यूनिसिपैलिटियाँ या सरकारी संस्थाएँ ही करती थीं। सोशियलिस्ट अर्थ-व्यवस्था के साथ-साथ ही विधान इस बात की भी इजाजत देता है कि प्राइवेट तौर पर भी कारीगर लोग अपने व्यक्तिगत श्रम से काम कर सकते हैं, लेकिन दूसरों के श्रम का अनुचित लाभ नहीं उठा सकते। इस प्रकार काम करने वालों की संख्या कितने ही लाख हैं। ये लोग घरों में खपत होने वाला सामान तैयार करते हैं और वह उनकी सम्पत्ति समझी जाती है। ऐसे लोगों ने अपनी-अपनी सभाएँ भी बना रखी हैं (आर्टेल)। जिन उद्योगों को राष्ट्र ने अपने हाथ में नहीं लिया है उनमें छोटे पैमाने पर व्यक्तिगत रूप से लोग इस समय भी काम कर रहे हैं। इस प्रकार सोवियत रूस का श्रम-संचार कई प्रकार का है। एक वर्ग फैक्ट्रियों, रेलों, खानों, जंगलों और राज्य के खेतों पर लगा हुआ है। दूसरे वर्ग के लोगों ने कृषि तथा औद्योगिक सभाएँ बना रखी हैं और इनमें मिलकर काम करते हैं। तीसरा वर्ग स्वतन्त्र काम करने वालों का है। इनमें कृषक, मछुए, ड्राइवर, दर्जी और सम्पादक लोग हैं। यह बात मानी हुई है कि उत्पादन के औजार केवल रियासत की ही सम्पत्ति नहीं। इसलिये यह जरूरी नहीं है कि मजदूर राष्ट्र द्वारा संगठित कारखानों या सभाओं में ही काम करें और केवल अपनी मजदूरी लेकर ही घर आएँ। वे अपने तौर पर भी काम कर सकते हैं। और वे जो कुछ तैयार करते हैं उसको बेचकर भी जीवन-निर्वाह कर सकते हैं फिर राज्य के कारखाने भी कई प्रकार के हैं। इसलिए जो लोग केवल मजदूरी के लिए काम करते हैं उनके लिए गुंजाइश है कि वे अपनी इच्छानुकूल अपना मालिक तलाश कर लें। सोवियत रूस में उत्पादक एजेन्सियाँ सोशियलिस्ट ढंग की हैं, परन्तु सब एक ही प्रकार की नहीं। ट्रस्ट, म्यूनिसिपैलिटियाँ, ग्रामीण कारखाने, सहकारी सभाएँ, सब माल तैयार

करवाती हैं, लेकिन सबका संगठन एकसा नहीं है। किसी का संचालन किसी तरीके से होता है और किसी का किसी तरीके से। इसलिए काम ढूँढने के लिए कई क्षेत्र हैं। यह बहुमुखी आयोजन (Multiformity) आन्तरिक व्यापार में भी चलता है, क्योंकि माल को बेचने के अनेक साधन हैं, यथा सरकार के द्वारा, सहकारी सभा के द्वारा, सामूहिक फार्म के द्वारा और बाजार के द्वारा। इन स्थानों पर माल पैदा करने वाले लोग अर्थात् किसान, कारीगर, मछुए, अपना-अपना माल ला सकते हैं और खुले बाजार में बेच सकते हैं। पहले खुदरा तिजारत सहकारी सभाओं के हाथ में थी। उनके एकाधिकार को समाप्त करने के लिए और पारस्परिक होड़ से उनके तरीकों को सुधारने के लिए अब ऐसी तिजारत केन्द्रीय सरकार और म्यूनिसिपैलिटियों ने अपने हाथ में ले ली। इसलिए अब सहकारी भंडारों के स्थानों पर सरकारी दुकानें कायम हो गईं। पहले नई अर्थनीति के अनुसार पूँजीपतियों की तिजारत के लिए इजाजत थी, अर्थात् लोग माल खरीदकर अधिक कीमत पर अर्थात् लाभ उठाकर बेच सकते थे। अब यह तरीका खत्म कर दिया गया है और खुदरा व्यापारी का स्थान अब एक दूसरे संगठन ने ले लिया है। सोवियत अर्थतन्त्र की दूसरी शाखाएँ अर्थात् बैंकिग और विदेशी व्यापार ये दोनों रियासत के एकाधिकार हैं।

सोवियत विधान—अब हमको रूस के अर्थतंत्र को छोड़कर वहाँ के राजतंत्र का वर्णन करना चाहिए। 1936 में रूस का नया विधान जारी किया गया था। उसमें Union of Soviet Republics के बारे में लिखा था कि यह किसान और मजदूर का 'सोशियलिस्ट' राष्ट्र है। मजदूरों की सोवियत इसका आधार है। इसी प्रकार इसका आर्थिक आधार है सोशियलिस्ट अर्थतंत्र। विधान में यह स्पष्ट दर्ज किया गया है कि भूमि, खनिज पदार्थ, पानी, जंगल, कारखाने, फैक्ट्रियाँ, खानें, रेलें, समुद्र, वायु, यातायात के साधन, बैंक, सरकार द्वारा संगठित किए हुए कृषिकार, डाकतार आदि, रहने के मकान, ये सब राष्ट्र की सम्पत्ति हैं, अर्थात् इन पर सबका समान अधिकार है। साथ ही विधान में यह भी कहा गया है कि स्वयं काम करने से जो आय हुई है वह व्यक्तिगत सम्पत्ति है। इसी प्रकार खर्च करने से जो रुपया बचाया है वह भी निजी सम्पत्ति है। रहने के मकान और व्यक्तिगत उपयोग व आराम की वस्तुएँ—ये चीजें भी निजी सम्पत्ति मानी गई हैं। निजी सम्पत्ति उत्तराधिकार में भी मिल सकती है। इस प्रकार की सम्पत्ति कानून के द्वारा सुरक्षित की गई है। सोवियत संघ—संघ राष्ट्र है। यह ग्यारह सोवियत सोशियलिस्ट जनतन्त्र राज्यों से मिलकर बना है। सब राज्य अपनी मरजी से मिले हैं और सबके समान अधिकार हैं। यही इस संघ का आधार है कि ऐसे हर राज्य को अधिकार है कि वह चाहे तो U.S.S.R से अलग हो सकता है। राष्ट्र-शक्ति की सबसे बड़ी संस्था सुप्रीम सोवियत कहलाती है। कानून बनाने का अधिकार केवल इसी संस्था को है। इस संघ की पार्लियामेन्ट में दो सदन

हैं और हर एक को समान अधिकार हैं। जब इसका अधिवेशन नहीं हो रहा है तो नियंत्रण करने वाली संस्था प्रेसीडियम है। इसके सदस्यों का निर्वाचन सुप्रीम सोवियत द्वारा होता है। सबसे ऊँची कार्यकारिणी संस्था जनता की कमीसर्स (Commissars) कौंसिल है जो अपने सदस्यों के काम का संचालन करती है, उनको निर्देश देती है और ये लोग अपनी व्यक्तिगत हैसियत से विभिन्न महकमों की अध्यक्षता करते हैं। नागरिकों के मौलिक अधिकार हैं—काम करने का अधिकार, फुर्सत का अधिकार, निःशुल्क चिकित्सा का अधिकार और वृद्धावस्था में जीवन-निर्वाह का अधिकार, शिक्षा का अधिकार, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में समानता का अधिकार। चाहे कोई जाति हो, या पुरुष हो या स्त्री, अपने धर्म का अधिकार और धर्म के विरुद्ध आन्दोलन करने का अधिकार, बोलने की स्वतन्त्रता, प्रेस की स्वतन्त्रता, सभा और प्रदर्शन करने की स्वतन्त्रता, संघों की स्वतन्त्रता, इसके अतिरिक्त शरीर और घर की रक्षा की स्वतन्त्रता। नागरिकों के मूल कर्तव्य हैं—काम अरना, सोशियलिस्ट मानवीय सम्पर्क के नियमों का पालन करना और सैनिक सेवा करना।

मजदूर वर्ग की तानाशाही—कागज पर तो ऐसा प्रतीत होता है कि नए सोवियत विधान के अनुसार मजदूर वर्ग की तानाशाही का अन्त हो गया है और जन-तन्त्र अपना लिया गया है, क्योंकि किसी वर्ग-विशेष के आधार पर निर्वाचन नहीं होता। इसके स्थान पर अब मत देने का अधिकार सबको समान है और प्रत्येक व्यक्ति अपना वोट सीधे तरीके से दे सकता है। लेनिन ने मजदूरों की तानाशाही के विषय में कहा था कि यह उनका वर्ग-संघर्ष है। यह राजनीतिक शक्ति को हथियाने के बाद शुरू होता है और चाहता है कि सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था को वदल दे। अब यह उद्देश्य लगभग पूरा हो चुका है, इसलिए सोवियत राजनीतिक ढंग का विस्तृत आधार पर पुनर्निर्माण किया गया है। अब ऐसे वर्ग भी शामिल कर लिए गए हैं जिनको पहले मान्यता नहीं दी गई थी। स्टालिन[1] ने इस बात को स्वीकार किया है कि मजदूरों की तानाशाही वास्तव में कम्यूनिस्ट पार्टी की तानाशाही है, क्योंकि कम्यूनिस्ट पार्टी ही मजदूरों का पथ-प्रदर्शन करती है और इसमें भी कोई प्रश्न की बात नहीं है कि वर्तमान विधान के अनुसार भी कम्यूनिस्ट पार्टी का स्थान ज्यों का त्यों बना हुआ है। यह मजदूर दल का नेतृत्व करती है और उनके सारे संगठन का केन्द्र स्थान है। सोवियत संघ स्वच्छंद (Totalitarian) राष्ट्र है जो चाहता है कि राज-नीतिक दल केवल एक ही होना चाहिए। कम्यूनिस्ट पार्टी शासन की मशीन पर अपना नियन्त्रण रखती है और इसी प्रकार अर्थतंत्र और संस्कृति के साधनों पर भी निग-रानी रखती है। स्टालिन ने लिखा था कि हमारी पार्टी के आदेश के बिना सोवियत

1. जे० स्टालिन, लेनिनिज्म, जिल्द 1।

या दूसरे संगठन किसी महत्वपूर्ण राजनीतिक या संगठन-सम्बन्धी समस्या का हल नहीं कर सकते। इस पार्टी के नियम के अनुसार इसके समस्त सदस्यों को सिद्धान्त और व्यवहार दोनों में उसकी नीति के अनुसार चलना पड़ता है और एक निश्चय हो जाने के बाद फिर कोई विरोध या टीका-टिप्पणी नहीं हो सकती, क्योंकि मजदूरों का अनुशासन इतना कड़ा है कि पार्टी की हुकूमत के आगे सबको झुकना पड़ता है। इसके सदस्य इसके मगज हैं और स्थानीय सोवियत्स की मीटिंग में या ट्रेड यूनियन और सहकारी सभा या आर्टेल और दूसरे संगठनों की सभाओं में ये सदस्य ही सबसे आगे रहते हैं और प्रवन्ध-विषयक तथा आर्थिक संगठनों में इन्हीं को ऊँचे-ऊँचे स्थान मिलते हैं। ये लोग सोवियत के कार्यों की नीति का निर्माण करते हैं और उस नीति को कार्यान्वित करने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेते हैं।

सोवियत अर्थतन्त्र की आलोचना—पिछले वर्णन से स्पष्ट हो गया होगा कि रूस की क्रांति इतिहास में अमरीकन और फ्रेंच क्रांतियों की समकक्ष है। संसार में पहले कभी भी ऐसे बड़े पैमाने पर कोई प्रयास नहीं किया गया था जो कुछ सामाजिक चिन्तकों के सिद्धांत के अनुसार सम्पूर्ण समाज के राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक ढंग को बिल्कुल वदल दे। इस प्रयोग के प्रमुख स्वरूप हैं इसका क्षेत्र, इसके साधन और इसका विस्तार। इसका क्षेत्र है बीस करोड़ जनता जो संसार के लगभग षडांश क्षेत्रफल पर वसी हुई है। इसका विस्तार है कम्यूनिस्ट समाज की सृष्टि करना और इसके साधन हैं सरकार की पूरी मशीन। बीस साल के अरसे में भूस्वामी और पूँजीपति दोनों विलीन हो गये हैं और व्यक्तिगत प्रयास तथा किसान और कारीगर लोगों के व्यक्तिगत परिश्रम को संकुचित कर दिया गया है। इससे वे छोटे पैमाने पर कुछ काम कर सकते हैं। व्यक्तिगत लाभ कोई नहीं उठा सकता था अर्थात् किसी माल का व्यापार नहीं किया जा सकता, और किसी की मेहनत को किराए पर नहीं लिया जा सकता। यह सोवियत अर्थतंत्र का मूल आधार है और पूंजीवाद के अर्थतंत्र से इसी बात में यह भिन्न है। यह स्वाभाविक बात है कि इस प्रकार का समाज और अर्थतंत्र उन तन्त्रों से भिन्न हो जो पश्चिमी देशों में प्रचलित हैं। इसको वास्तव में माइक्रोस्कोप से देखना चाहिए और काट-छाँटकर इसकी जाँच करनी चाहिए। तत्कालीन लेखक सोवियत राष्ट्र के विषय में जुदी-जुदी राय प्रकट करते हैं, लेकिन ये सारी आलोचनाएँ पूँजीवाद के समर्थकों की नहीं हैं बल्कि बोलशेविक क्रांति के मुख्य नेताओं ने भी इससे मिलती-जुलती आलोचना की है। इस आलोचना से सोवियत सिक्के का दूसरा पक्ष भी नजर आता है। इसमें यह विचार करने की बात है कि एक व्यवस्था के बदले दूसरी व्यवस्था कायम की गई है इसलिए कठिनाई स्वाभाविक है। ऐसा मालूम होता है कि संस्थाओं के स्वरूप में परिवर्तन हो जाने से लोक-व्यवहार में कोई संशोधन नहीं होता है।

वर्गहीन समाज नहीं — पहले तो यह नहीं माना जा सकता कि सोवियत संघ वर्गहीन राष्ट्र है। यह सत्य है कि पूँजीपति और भूस्वामियों का अन्त हो जाने के कारण समाज के प्राचीन विभाग अर्थात् शोषक और शोषित अब नहीं हैं। इनका आधार था उत्पादन के साधनों का स्वामित्व। इसका अब अन्त हो गया है। लेकिन यह मान लेना कि रूस में केवल एक ही सामाजिक श्रेणी है, सत्य नहीं है, क्योंकि अब वहाँ नई सामाजिक श्रेणियाँ उत्पन्न हो गई हैं—प्रबन्धक वर्ग अर्थात् नौकरशाही, विशेषज्ञों का वर्ग, कुशल श्रमकारों का वर्ग और सम्पन्न सामूहिक किसानों का वर्ग। इन तत्वों की संख्या कितने ही लाखों पर पहुँची हुई है। यह नया शासक वर्ग है। साधारण लोगों की अपेक्षा इनकी आय भी अधिक है। फलस्वरूप धन के विभाजन और रहन-सहन के ढंग में बड़ा भेद हो गया है। इस नए सम्पन्न वर्ग को देखते हुए अब कहा जाता है कि सोशलिस्ट सिद्धांत से हटकर अब रूस पूँजीवाद के सिद्धांत की ओर चल पड़ा है, क्योंकि जहाँ आर्थिक और सांस्कृतिक विषमता है वहाँ वर्गहीन समाज नहीं हो सकता। वर्गहीन समाज का आधार तो यह है कि सबकी आवश्यकताओं की पूर्ति होनी चाहिए। तभी आधार दृढ़ होता है और तभी समाज में सामंजस्य होता है। सरकारी शब्दजाल का चाहे जितना पर्दा डाला जाय, लेकिन इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि सामाजिक भेद या विषमता के कारण गरीब लोगों की स्थिति पुनः नीची हो गई है। बोलशेविक क्रांति का तो यह उद्देश्य था कि इन लोगों की स्थिति इतनी ऊँची कर दी जाय जितनी ऊँची पहले कभी नहीं थी। अगर स्थिति को केवल ऊपर ही ऊपर देखा जाय तो यह सत्य मालूम होता है कि "हमारे देश में मजदूर मजदूरी का दास नहीं है; वह काम करने में स्वतन्त्र है।" परन्तु वास्तव में यह भी कहा जाता है कि "कारखाने सरकार के हाथ में चले जाने से मजदूर की हालत में केवल कानूनी फर्क आया है, वास्तव में उसकी जरूरतें पूरी नहीं होतीं और एक निश्चित मजदूरी के लिए उसे निश्चित घंटे तक काम करना पड़ता है।" रियासत के उद्योगों का अन्दरूनी ढाँचा पूँजीवादी ढाँचे से मिलता-जुलता ही है, बल्कि एक मनुष्य दूसरे का शोषण भी करता है। ऊँचे दर्जे के लोगों का काम छोटे लोग करते ही हैं।

आर्थिक व्यक्तिवाद—दूसरी बात यह है कि फायदा कमाने का ध्येय तो अब मुख्य नहीं रहा है, लेकिन विभाजन करने में लाभ की भावना जरूर बनी हुई है। अब पूँजीपति माल तैयार नहीं करते और प्राइवेट तौर पर उसको वेचा भी नहीं जाता, लेकिन फिर भी आर्थिक लाभ की भावना निषिद्ध नहीं हुई है। मजदूर को प्रोत्साहित किया जाता है कि वह अलग अपना काम दिखाकर जितना वह कमा सकता है कमाए।

उसकी कुशलता के लिए उसको विशेष मजदूरी भी दी जाती है।[1] इससे आर्थिक व्यक्तिवाद को प्रोत्साहन प्राप्त होता है। 'वास्तव में यूरोपियन और अमरीकन स्तर तक पहुँचने के लिए संघर्ष चल रहा है। इसलिए शोषण विधि से भी काम लिया जाता है। इसका एक तरीका यह है कि मजदूर जितना काम करता है उतना उसको पैसा मिल जाता है। उत्पादन पर रियासत का नियन्त्रण है, लेकिन इससे श्रमजीवी की पसीने की बूँदें तो पवित्र नहीं होतीं। उसका शरीर तो घिसता ही रहता है। वह चाहता है कि उसको अधिक मजदूरी मिले, इसलिए वह अपने को थका-थका-कर क्षीण कर डालता है। जब आमदनी एकसी नहीं है और विशेष अधिकार भी बने हुए हैं, तो गरीब मजदूरों में रोष और अशान्ति रहती है, जो वर्ग-संघर्ष को जन्म देती है। लेकिन सरकारी तौर पर कहा जाता है कि इस नई औद्योगिक व्यवस्था से वर्ग निर्मूल हो गया है। आम लोगों के रहन-सहन का स्त: पश्चिमी स्तर की अपेक्षा अभी बहुत नीचा है। परन्तु अभी रूस का प्रयोग शुरू ही हुआ है और 30-4 वर्ष में एक पिछड़ा हुआ देश उन्नत देशों का समकक्ष नहीं बन सकता। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि इसी अरसे में रूस में घरेलू युद्ध भी हुआ है। इसके अतिरिक्त आर्थिक साधन बड़े-बड़े कामों में लगा दिए गए हैं, जिससे औद्योगिक राष्ट्र का निर्माण हो सके। इसका नतीजा यह हुआ है कि व्यक्तिगत उपयोग के लिए चीजों की कमी हो गई है। इससे भी बड़ा कारण यह है कि प्रति मजदूर उत्पादन भी बहुत कम होता है। इसके लिए कहा जाता है कि लोगों में औद्योगिक क्षमता नहीं है या प्रबन्धक लोग अयोग्य हैं। उद्योग-धन्धों की कला और क्षमता तो पश्चिम के पूँजीवादी देशों से ही सीखी गई है। परन्तु लोग इस कला और क्षमता से पीछे हैं। कारण कुछ भी हो और दुनिया को चकाचौंध करने के लिये सरकार चाहे जो आँकड़े दे, परन्तु जो कुछ पैदावार होती है वह बीस करोड़ लोगों की जरूरत के लिए काफी नहीं है और इस बात को सर्वत्र स्वीकार किया जाता है कि जो माल तैयार होता है वह बहुत घटिया और नीचे दरजे का है। इन दोषों का निवारण होने पर यह निश्चय करना संभव होगा कि सोवियत अर्थतंत्र उत्तम है या पूँजीवादी अर्थतंत्र और दोनों में से लोगों की आर्थिक और सांस्कृतिक आवश्यकताओं की पूर्ति किससे अधिक होती है और मजदूरों को निरन्तर रूपेण काम किस विधि से मिलता है।

मनुष्य के अधिकार—सोवियत सभ्यता का नाम है नई सभ्यता। इस सभ्यता की कई प्रकार से आलोचना होती है। परन्तु एक मुख्य आलोचना यह है कि इसमें मनुष्य के मौलिक अधिकार क्या हैं। यद्यपि आर्थिक दृष्टि से वह सुरक्षित है, तो भी

---

1. स्टैलिन ने अपने एक भाषण में (1934) सोशलिस्ट और कम्यूनिस्ट समाज में अन्तर बतलाया है। सोशलिस्ट समाज में जितना काम उतनी मजदूरी और कम्यूनिस्ट समाज में जितनी जरूरत उतनी मजदूरी।

अधिकारों के बिना यह व्यवस्था गुलामी के तमगे के सिवाय और कुछ नहीं है। हम देख चुके हैं कि नये विधान में मनुष्यों के अधिकारों की घोषणा की गई है, परन्तु इस गारन्टी का अर्थ स्पष्ट नहीं है। यह कुछ धुँधला-सा है। अपना मत देने की स्वतन्त्रता सबको है, लेकिन किसको मत दिया जाय, इसकी सूची सरकार तैयार करती है और इसमें से विरोधी उम्मीदवारों के नाम निकाल दिये जाते हैं। लोगों को बोलने की स्वतन्त्रता है, परन्तु सोवियत ढाँचे के मौलिक सिद्धान्तों के विषय में कोई प्रश्न नहीं किया जा सकता। प्रशासन के दोष हटाने के हेतु सरकार आलोचना को प्रोत्साहन देती है। जिन मामलों में सरकार की अभी कोई राय नहीं बनी है उनके विषय में लोगों को बहस करने की छुट्टी है, परन्तु जब सरकार अपनी नीति निश्चित कर लेती है तब उसकी आलोचना करने में लोगों को डर लगता है। प्रायः यह आशंका रहती है कि कहीं आलोचना क्रांति-विरोधी न समझी जाय। प्रेस की स्वतन्त्रता है लेकिन किसी को यह अधिकार नहीं है कि किसी अन्य प्रकार की राजनीतिक या सामाजिक संस्थाओं का प्रचार कर सके। एक लेखक ने, जिसकी सोवियत विधि में बड़ी सहानुभूति है, चेतावनी देते हुए कहा कि मौलिक सामाजिक प्रश्नों पर स्वतन्त्र विचार सम्भव नहीं है। इसका दमन किया जाता है। उससे लोग जहाँ के तहाँ बने हुए हैं। इससे रूढ़िवाद का महा रोग उत्पन्न हो रहा है। फिर राजनीतिक पुलिस का जाल संगठित रूप से समस्त देश में फैला हुआ है। इसकी कार्यवाहियों के कारण आजादी को ही नहीं, लोगों की जान को भी खतरा रहता है और व्यक्तिगत स्वातंत्र्य केवल कहने की बात है। पुलिस के कारण यह खत्म हो गया है। लेकिन अगर स्वतंत्रता की परिभाषा यह नहीं की जाय कि किसी प्रकार का प्रतिबंध नहीं होना चाहिए बल्कि यह की जाए कि लोगों को मौका मिलना चाहिए, तो फिर यह दावा किया जाता है कि सोवियत संघ में आम लोगों को और देशों की अपेक्षा अधिक मौका मिलता है।

रूसी क्रान्ति का विवेचन—रूसी क्रान्ति के उदय और श्रमजीवियों के प्रथम राजतंत्र की स्थापना को कितने ही वर्ष हो चुके हैं। अभी इसके ठीक महत्व का विवेचन करना या इस बात का अनुमान लगाना कि इसके चलते रहने का क्या मौका है, बहुत जल्दी की बात है। राजनीतिक क्षेत्र में यह अद्वितीय प्रयोग है और सामाजिक क्षेत्र तथा आर्थिक क्षेत्र के बारे में भी यही बात कही जा सकती है। लेकिन पश्चिमी संस्थाओं के प्रति एक हिंसात्मक प्रतिक्रिया-सी है। इससे यह संभव प्रतीत होता है कि समय का प्रवाह शायद पीछे मुड़ जाय। नया विधान लिखित विधान है। लेकिन इससे प्रकट होता है कि झुकाव जनतंत्रात्मक विचारों की ओर है। लेकिन सोवियत राष्ट्र के निर्माताओं ने तो जल्दबाजी में जनतंत्र को बुरा बतलाया था। इसमें सन्देह नहीं है कि अब सामाजिक और आर्थिक संशोधन भी जारी किए जाएँगे, जिससे सोवियत अर्थतंत्र और इसके विरोधी अर्थतंत्रों की बीच की जो खाई है उस

पर पुल बन जायगा। ज्यों-ज्यों राष्ट्र की उन्नति का स्तर ऊँचा होता जायगा त्यों-त्यों समाज में नये वर्ग बनते जाएँगे। लोगों की आवश्यकताएँ बढ़ेगी और उनकी पूर्ति तभी होगी जब व्यक्तिगत प्रयास हो सकेगा। इस नवीन विकास से रूस की बढ़ती हुई संपदा का पता चलेगा और एक तरफ तो हम यह आशा कर सकते हैं कि सोवियत संघ सामूहिकता की कठोरता को कम करेगा और दूसरी ओर हम यह भी देख रहे हैं कि पूँजीवादी ढाँचे में कुछ हेर-फेर हो रहे हैं, जिसका इसके स्वरूप पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ेगा। कम से कम एक बात तो स्पष्ट है कि मजदूर राज्य स्थापित होने से रूस की जनता की आर्थिक दशा उन्नत होकर उस स्तर तक तो नहीं पहुँची है जहाँ पश्चिम के देश पहुँचे हुए हैं। रहन-सहन का स्तर इस बात पर निर्भर है कि उत्पादन कुशलता के साथ हो रहा है या नहीं और पैदावार का विभाजन उचित ढंग से किया जाता है या नहीं। समाज की व्यवस्था में हेर-फेर करने से ही श्रमजीवियों का हित-साधन नहीं होता। यह आवश्यक है कि साथ ही साथ धन-दौलत की भी उत्पत्ति होनी चाहिए। जब तक सोवियत संघ अपनी पिछड़ी हुई आर्थिक समस्या का हल नहीं करता, तब तक सोशलिज्म रूपी स्वर्ग नहीं बन सकता। लेकिन सोवियत अर्थतन्त्र में न तो इस बात का खयाल है कि इस पृथ्वीतल पर स्वर्ग बन जाय और न इस बात की चिन्ता है कि सोशलिस्ट तरीकों में जो जादू है उसकी खूब पूजा की जाय। रूसी लोग तो सिर्फ तुलनात्मक दृष्टि से यह देखते हैं कि जार के शासन में जनता की क्या दशा थी और अब बोलशेविक शासन में उनकी क्या दशा है। अभी तो हेर-फेर का युग है, अभी उचित तुलना नहीं हो सकती। लेकिन यह स्पष्ट है कि जनता के समस्त साधनों का उपयोग बड़ी शक्ति और तत्परता के साथ इसलिए किया जा रहा है कि लोगों का आर्थिक और सांस्कृतिक स्तर ऊँचा हो। यह प्रगति बहुत हद तक सफल हुई है। एक पिछड़े हुए और गरीब देश ने बड़ी व्यापक समाज-सेवा का प्रबन्ध किया है। वृद्धावस्था में, बीमारी में और अशक्तता में लोगों का निर्वाह किया जाता है और उनकी निःशुल्क चिकित्सा की जाती है। काम करने के घंटे कम कर दिये हैं। प्रति-वर्ष सवैतनिक रुखसत मिलती है। सबको काम मिलने की गारन्टी है। अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था से निरक्षरता समाप्त हो चुकी है। इन सब बातों से स्पष्ट है कि मानव-हित की ओर बड़ी तरक्की हुई है। आखिरी निर्णय तो अगली पुश्तें करेंगी। आने वाले लोग देखेंगे कि रूस में लोगों ने अपार दुःख भोगकर जो क्रान्ति की उससे स्थायी लाभ क्या हुआ। फिर भी सामयिक इतिहासकार एक विषय में अगली पुश्त के निर्णय का अनुमान कर सकता है। सोवियत प्रयोग की सफलता होने पर भी यह निश्चय नहीं होगा कि दूसरे देशों में भी ये तरीके सफल हो सकेंगे। सोवियत संघ की स्थिति में कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं जो अन्यत्र नहीं मिल सकतीं। पहले तो स्लेवोनिक जाति के स्वभाव में ही त्याग करने का सामर्थ्य है। उसको कष्ट भोगने की

आदत है। उसमें आदर्शवाद की क्षमता है। दूसरे रूस के गाँव का संगठन परम्परा से जातीय ढंग पर है, जमीन पर लोगों का सामूहिक अधिकार है और खेतीबाड़ी के काम में सबका नियंत्रण है। तीसरी बात यह है कि रूस के आर्थिक साधन विपुल हैं। इसलिए यह देश स्वावलम्बित हो सकता है और संसार की आर्थिक स्थिति में उथल-पुथल होने पर इसके स्वतंत्र जीवन पर प्रभाव नहीं पड़ता।

(v)

नेशनल सोशलिस्ट जर्मनी

जर्मन क्रान्ति—1918 की गर्मी में सैनिक हार हो जाने के बाद जर्मनी में राजनीतिक क्रान्ति हुई। चार वर्ष तक जर्मन लोग पूरी विजय की आशा में बड़ी मजबूती के साथ उन कठिनाइयों को सहते रहे जो नौका-घेरे के कारण उपस्थित हुई थी। जब अमरीका ने युद्ध में प्रवेश किया तो यह आशा मन्द होने लगी, और फिर बिल्कुल धूल में मिल गई। कम और हीन भोजन के कारण जर्मन लोगों का शरीर और मन दोनों बहुत क्षीण हो गये थे और अब वे मुकाबला करने के योग्य नहीं थे। इससे उनकी निराशा और भी दारुण हो गई थी। जब पूर्वी वायु के साथ नये विचार आये तो जर्मन लोगों ने उनका स्वागत किया। रूसी जेलों से छूटकर जो जर्मनी कैदी वापस आये थे वे अपने साथ राजनीतिक संक्रमण लाये थे। वह उन्होंने अपने देशभाइयों के हित लगाया। जनरल लूडनडौर्फ, जिसने लेनिन को जर्मनी में होकर जाने की इजाजत दी थी, कहता था कि, 'मुझे यह कभी खयाल भी नहीं आया था कि रूसी क्रांति हमारी जड़ काटेगी। हमारी क्रान्ति हमारे शत्रुओं की देन है। यह बात तो नहीं है कि जर्मनी के शत्रुओं ने ही वहाँ क्रान्ति करवाई हो, परन्तु रशिया की क्रान्ति से पास के देशों में बड़ी हलचल शुरू हो गई थी। इन सब कारणों से, जर्मन युद्ध-तन्त्र के टूटने से, जनता की यातनाओं से और रूसी विप्लव के मदकारी प्रभाव से जर्मन लोग अपने शासक के विरोधी बन गये थे। उन्होंने सोचा कि उसने ही समस्त देश को अनावश्यक और नाशकारी युद्ध में धकेला था। अक्तूबर 1918 में कील बन्दरगाह में नौ-सेना ने बगावत कर दी। यह विप्लव की सूचना थी। इसके बाद बवेरिया में बलवा हुआ और फिर बर्लिन की फैक्ट्रियों में हड़तालें हुईं। नवम्बर में सम्राट विलियम द्वितीय ने राजसिंहासन छोड़ दिया और लगभग बीस अन्य जर्मन शासकों ने उसका अनुसरण किया। फिर जर्मन जनतंत्र की घोषणा हुई। सोशलिस्ट जनतंत्र पार्टी का नेता हर एबर्ट प्रथम चांसलर और फिर प्रेसीडेन्ट बना। शुरू में कई सप्ताह तक तो जनतंत्र का भाग्य डाँवाडोल रहा। इसके अस्तित्व को उन राजनीतिक शक्तियों से ही खतरा था जिन्होंने रूस में बोलशेविक क्रान्ति करवाई थी। जगह-जगह सैनिक और मजदूरों की कौंसिलें बन गईं और कम्यूनिस्ट दल ने बाजार में लड़ाई करवाने का आयोजन

करवाया। एक प्रगति ऐसी जारी हुई कि सरकार का अन्त करके उसके स्थान पर मजदूरों का राज्य स्थापित किया जाय, परन्तु यह थोड़े ही दिन चली। यह जनवरी के मध्य में खत्म हो गई। इसके नेता रोसा लेक्समबर्ग और कार्ल लेबनेट की हत्या हो गई। वेमर नगर में नेशनल असेम्बली करवाई गई ताकि जर्मनी के लिए विधान तैयार किया जा सके। सोशलिस्ट लोगों का बहुमत नहीं बना। इसलिए सोशल डेमोक्रेटस और पूंजीवादी पार्टी ने मिलकर मंत्रि-मंडल बनाया। अगले साल प्रति-क्रान्ति करवाने का प्रयत्न हुआ। केप नामक एक व्यक्ति ने बर्लिन में जल्दी से बखेड़ा कर दिया। सरकार वहाँ से हट गई और मजदूरों को उत्साहित किया कि हड़तालें करके केप के प्रबन्ध को शून्य कर दें। हड़ताल सफल हुई और केप देश छोड़-कर भाग गया।

वेमर रिपब्लिक—वेमर नगर में जर्मनी का नया विधान बना था। इसके अनुसार जो रिपब्लिक स्थापित हुई वह वेमर रिपब्लिक कहलाती थी। इसमें प्रारंभिक साल बड़े अपमान और आर्थिक संकट में व्यतीत हुए। जर्मनी पर रक्तपात का कलंक लगाया गया था। इससे जर्मन लोग बहुत दब गये थे। उनके देश के टुकड़े-टुकड़े कर दिये गये थे और युद्ध-दंड का भारी भार उन पर लाद दिया गया था। लोग समझते थे कि जर्मनी चाहता तो महायुद्ध रुक सकता था, परन्तु वह रक्तपात करता रहा। अब जर्मनी उसका प्रायश्चित्त कर रहा है। जर्मनी को ऐसा प्रतीत होता था कि उसको जाति-बहिष्कृत कर दिया है। चरित्र की दृष्टि से मानो वह संसार के राष्ट्रों में कोढ़ी है। जिन कॉन्फ्रेंसों में उसके भाग्य का निर्णय हुआ था उनमें उसके प्रतिनिधि शामिल नहीं थे। वे पास के कमरों में बैठे हुए निर्णय की प्रतीक्षा किया करते थे। जेनेवा की असेम्बली में उसको स्थान नहीं दिया गया था। उसकी भूमि पर विदेशी सेनाएँ पड़ी हुई थीं। विदेशों के कमीशन वहाँ शासन कर रहे थे। वरसाइल की संधि के अनुसार जो जर्मनी पर दायित्व रखे गये थे उनके पालन की निगरानी के लिए ये कमीशन भी जर्मनी की सरकार के साथ-साथ वहाँ शासन करते थे। इसलिए समस्त देश में दुःख का वातावरण था और प्रतिकूल आर्थिक परिस्थिति के कारण यह वाता-वरण और गहरा हो गया था। यह आर्थिक परिस्थिति भी दिन-प्रतिदिन तेजी के साथ बिगड़ती जाती थी। कुछ हद तक इसका कारण था रण-दण्ड की अदायगी। लेकिन केवल कुछ हद तक ही, क्योंकि जर्मनी ने अपना भार बहुत कुछ अन्य देशों के कंधों पर भी डाल दिया था और अपने बेकार सिक्के उनके मत्थे पटक दिये थे। जर्मनी में आर्थिक कठिनाइयाँ मुख्यतः इसलिए उत्पन्न हुई थीं कि जर्मनी की बहुत-सी पूंजी देश से निकल भागी थी और उसके बजट में बड़ी कमी थी। इस बजट की कमी का कारण यह था कि रूहर क्षेत्र में, जिस पर फ्रांस ने अधिकार कर रखा था, जर्मनी ने सत्याग्रह संगठित किया था और इसमें उसका बड़ा खर्च हो

रहा था। सरकार ने इस स्थिति का सीधा-सा इलाज यह सोचा कि खूब कागज के नोट बनाना शुरू किया। इससे वह और भी गिरावट की ओर गई और राष्ट्रीय दिवाला दिखाई देने लगा। जर्मन मार्क का मूल्य कितना घट गया था, इसका अनुमान इससे किया जा सकता है कि पहले अँग्रेजी पौंड बीस मार्क के बराबर माना जाता था। परन्तु दिसम्बर 1921 में उसका मूल्य 770 मार्क हो गया था। अगस्त 1922 में उसका मूल्य 3,000 मार्क था और दिसम्बर 1922 में 34,000 मार्क। 1923 के अन्त में मार्क का कोई मूल्य ही नहीं था। एक पौंड की कीमत करोड़ों और अरबों पौण्ड में आँकी जाती थी। जर्मनी में भी वही हालत पैदा हो गई जो गृहयुद्ध के समय अमरीका की दक्षिणी रियासतों में थी। 'युद्ध से पहले मैं अपनी जेब में मार्क ले गया था और एक टोकरी में भरकर चीजें लाया था, अब मैं टोकरी में भरकर मार्क ले जाता हूँ और चीजें जेब में रखकर ले आता हूँ।' मार्क का मूल्य घट जाने के दो कारण थे—प्रथम तो चीजों की कीमत बढ़ती जाती थी, इसलिए सिक्के का मूल्य कम होता जाता था। ज्यों-ज्यों सिक्के का मूल्य घटता था त्यों-त्यों लोगों को डर लगता था कि कहीं इसका मूल्य और भी अधिक न घट जाय। इस प्रकार एक खराबी से दूसरी और दूसरी खराबी से पहली पैदा होने लगी। मार्क के घटते हुए मूल्य के कारण लोगों को इसके भविष्य में विश्वास नहीं रहा। इसकी कीमत नष्ट हो गई। इसके कारण सरकारी प्रेस धड़ाधड़ नोट बनाने लगे। अन्त में 1923 में जर्मनी ने नया सिक्का जारी किया, तब मार्क की पिछली कीमत स्थिर हुई और सिक्के के इतिहास में जो एक अत्यन्त आश्चर्यकारी घटना घट रही थी उसका अन्त हुआ। परन्तु इससे पहले ही उन लोगों को अपार हानि और विपत्ति उठानी पड़ी थी, विशेषकर उनको जिनकी आय निश्चित थी। अब जर्मनी की जनतन्त्र सरकार ने अपनी आर्थिक स्थिति को सँभालने का यत्न शुरू किया। धीरे-धीरे उसने युद्ध-दंड की मात्रा कम करवाई। इससे उसका दायित्व कम होता गया। इसका विवेचन दूसरे प्रसंग में किया जायगा। इस प्रकार विपत्ति के बादल हटने लगे और यूरोप के अन्य देशों में नवीन भावना जागृत होने लगी। अब यह संभव हुआ कि भविष्य में युद्ध न हो, इसका प्रयत्न किया जाए।

लोकार्नो की सन्धि—जर्मनी और उसके शत्रुओं में समझौता करवाने के लिए सबसे पहला कदम ग्रेट ब्रिटेन ने उठाया था। शुरू से ही ग्रेट ब्रिटेन का रुख उसकी तरफ अच्छा था। वह चाहता था कि पराजित शत्रु को भी सन्तुष्ट करना चाहिए। 1923 में जर्मनी के रूहर प्रदेश पर, जहाँ लोहे और कोयले की खानें हैं, कब्जा करने के लिए जब फ्रांस और बेलजियम की सेनाएँ प्रवेश करने लगीं तो ग्रेट ब्रिटेन ने उनके साथ सहयोग नहीं किया। यह प्रवेश इसलिए किया गया था कि जर्मनी अपने दायित्व को पूरा करे। इस प्रकार गत्यवरोध शुरू हो गया। जब फ्रांस का मंत्रिमंडल बदला और रूहर प्रदेश से उसने सेना हटा ली, तब उस गत्यवरोध का अन्त हुआ। रूहर प्रांत

को खाली कर देने से वातावरण का सुधार हुआ और नीति-परिवर्तन के लिए अवसर तैयार हो गया। इस कार्य में फ्रांस की ओर से मोनशियर ब्रियंड ने और जर्मनी की तरफ से हर स्ट्रेसमेन ने परस्पर सहयोग किया। हर स्ट्रेसमेन चाहता था कि अब जर्मनी के एकान्तवास का अन्त हो जाय और संसार के राष्ट्रों में उसको बराबर माना जाय। वह चाहता था कि यह काम धमकी देकर नहीं बल्कि सद्भावना उत्पन्न करके करना चाहिए और इसके लिए जरूरी है कि फ्रांस के साथ सद्भावना स्थापित की जाय। अतः 1925 में लोकार्नो की सन्धि हुई। इस पर जर्मनी, बेलजियम, फ्रांस, ग्रेट ब्रिटेन और इटली ने हस्ताक्षर किये। सन् 1918 और 1939 के बीच जितनी सन्धियाँ हुईं उनमें यह सर्वोत्तम थी और राजनीति की बहुत बड़ी कारगुजारी थी। इसके अनुसार जर्मनी ने मन्जूर कर लिया कि वरसाइल की सन्धि में जो उसकी पश्चिमी सीमा निश्चित की गई है, वह ठीक है, अर्थात् जर्मनी ने एलसिस लोरेन पर से अपना अधिकार छोड़ दिया। उसने यह भी स्वीकार कर लिया कि राइनलैंड में कोई सेना नहीं रखी जायगी। जर्मनी और फ्रांस ने यह भी अहद किया कि उनमें से एक पक्ष दूसरे के साथ युद्ध नहीं करेगा और यदि दोनों में किसी एक पर किसी तीसरी पार्टी ने अनुत्तेजित युद्ध किया तो दूसरा पक्ष उसकी सहायता करेगा। अब ऐसा मालूम होता था कि यूरोप में पूर्ण शान्ति स्थापित हो गई। लोकार्नो की सन्धि से फ्रांस सुरक्षित हो गया। यही उसकी नीति का ध्येय था और जर्मनी को भी संसार के राष्ट्रों में प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त हो गया। अगले वर्ष अर्थात् 1926 में जर्मनी राष्ट्र-संघ में शामिल कर लिया गया और कौंसिल में उसको स्थायी स्थान मिल गया। जर्मनी के कई नगरों से विदेशी सेनाएँ हटा ली गईं और फिर 1930 में सब अधिकृत प्रदेशों को खाली कर दिया। वरसाइल की सन्धि में जो समय दर्ज किया गया था उससे पाँच वर्ष पहले यह काम हो गया। साथ ही युद्ध-दंड के विषय में भी समझौते की बात चल रही थी जिसके परिणामस्वरूप 1932 में लोसान में समझौता हुआ। अब केवल एक बड़ा प्रश्न रह गया था अर्थात् यूरोप का निःशस्त्रीकरण। अभी कुछ समय पूर्व ही एक गारन्टी सन्धि हुई थी, और सब मित्रों ने जर्मनी की निगरानी के लिए जो सैनिक कमीशन नियत किया था वह भी हटा लिया गया था। कारण यह था कि जर्मनी ने वरसाइल की सन्धि के अनुसार निःशस्त्रीकरण कर दिया था। हम देख चुके हैं कि राष्ट्र-संघ ने निःशस्त्रीकरण कांफ्रेंस करवाई थी। इसमें कोई समझौता तो नहीं हुआ परन्तु जर्मनी को बराबर का देश मानकर बातचीत की गई थी। इसका यह मतलब था कि जर्मनी को पुनः शस्त्र-धारण का अधिकार है। इसी समय यूरोपीय रंगमंच पर एक नाटकीय परिवर्तन हुआ।

यूरोप का दुखान्त दृश्य—यह यूरोप का बड़ा दुखान्त दृश्य था कि 1939 में फिर संसार में युद्ध की ज्वाला धधकी। यूरोप के बड़े-बड़े राष्ट्र प्रायः साथ-साथ कदम नहीं उठाते।

ज्यों-ज्यों ब्रिटिश और फ्रेंच सरकारों का रुख समझौते की ओर जाने लगा, त्यों-त्यों जर्मन सरकार ज्यादा सख्त होने लगी। इसका कारण था कि इन तीनों सरकारों की आन्तरिक अवस्था में बड़े हेर-फेर हो रहे थे। तीनों ही राष्ट्रों में ऐसे मंत्रिमंडल थे, जिनका ढंग एक-दूसरे से जुदा था। जब एक सरकार का रुख कुछ कड़ा होता था तो स्वाभाविक वात थी कि दूसरी सरकारों के शान्ति के प्रयत्न शिथिल हो जाते थे। जर्मनी की वेमर रिपब्लिक ने समझौते की नीति ग्रहण की थी, परन्तु वह नीति चली नहीं, और युद्ध के वाद जर्मनी में आर्थिक उन्नति हुई। उसकी भी अगली सरकार ने कोई कद्र नहीं की और इस तमाम अर्से में राजनीतिक स्थिति लगातार बिगड़ती गई। अब एक नया राजनीतिक संप्रदाय बलवान होता जाता था। यह इस वात का अपशकुन था कि जर्मन पार्लियामेन्ट की भावी नीति किस दिशा को ग्रहण करने वाली है। जिस राजनीतिक सम्प्रदाय के हाथ में सात करोड़ जनता के भाग्य की बागडोर जाने वाली थी, उसका नाम था नेशनल सोशलिस्ट जर्मन वर्कर्स पार्टी, अर्थात् राष्ट्रीय सोशलिस्ट जर्मन मजदूरों का दल।

एडोल्फ हिटलर—भविष्य में इतिहासकारों को यह समझाने में परेशानी होगी कि जर्मनी की जनता ने अपनी आजादी और अधिकार, जो वेमर के विधान में निहित थे, इतनी आसानी से क्यों छोड़ दिए और इसमें चित्रित बात यह है कि जिस क्षण सोशलिस्ट प्रगति कमजोर होने लगी उसी क्षण उसमें शक्ति आ गई। इस प्रगति का नेता था एडोल्फ हिटलर। यह जन्म से आस्ट्रियन था और इसका पेशा था मकान बनाना अर्थात् कारीगरी। उसने इतनी कम शिक्षा पाई थी कि वह व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध जर्मन भाषा नहीं लिख सकता था। उसने प्रथम महायुद्ध के बाद अपना राजनीतिक जीवन आरम्भ किया। उसने अपनी पुस्तक मेन केम्फ में लिखा है कि पतन के युग में बुरे से बुरे तत्व ऊपर आते हैं। बस यही सारगर्भित उक्ति हिटलर के जीवन पर लागू होती है। 1923 में उसने बखेड़ा करने की कोशिश की थी, लेकिन उस समय के अधिकारियों ने उसको पकड़कर एक किले में कैद कर दिया। वहाँ पर उसने मेन केम्फ नामक पुस्तक लिखी जो 1925 में प्रकाशित हुई। इस पुस्तक में उसने बहुमत वाली पार्लियामेन्ट्री सरकार को बुरा बतलाया है। हिटलर में घोर कट्टरता थी। उसका दिमाग शक्तिशाली था, लेकिन डाँवाडोल रहता था। पार्लियामेन्ट की सरकार के वजाय उसने एक नई सरकार अच्छी बतलाई। उसका मत था कि सच्चा जर्मन जनतन्त्र तो वह होगा जिसमें सब लोग मिलकर अपना एक नेता निर्वाचित कर लें। फिर इसमें बहुमत का कोई प्रश्न नहीं है। एक व्यक्ति का शासन स्थापित हो जायगा। प्रदेशों के विषय में जर्मनी का क्या भावी कार्यक्रम होगा, इसके विषय में उसने लिखा कि आत्म-निर्णय (Self-determination) का सिद्धान्त ठीक है। इसलिए जर्मन पार्लियामेन्ट अर्थात् जर्मन सरकार में सारे जर्मन लोग सम्मिलित होने चाहिए परन्तु जब ऐसे प्रदेशों को जर्मन राज्य में शामिल करने का प्रश्न उठा जहाँ गैर-जर्मन लोग

निवास करते थे तब उसने अपना यह सिद्धान्त छोड़ दिया और कहा कि राजनीतिक सीमाओं से शाश्वत न्याय के आधार पर निश्चित की हुई सीमाएँ अधिक अच्छी हैं। शाश्वत न्याय की सीमाएँ क्या हैं, इसके विषय में उसने कहा कि राष्ट्रीय सोशलिज्म का उद्देश्य यह होना चाहिए कि हमारे देश की सीमा इतनी बढ़ाई जाय कि उसमें सब जर्मन लोग निवास कर सकें और जर्मनी को बढ़ने के लिए पूर्व की ओर ही स्थान है और यहीं उसका हल हो सकता है। उसने कहा कि आज यूरोप में जब हम नए प्रदेश का उल्लेख करते हैं तो हमको सबसे पहले रशिया और उसकी सीमावर्ती रियासतों का खयाल करना चाहिए। हिटलर को विश्वास था कि अब रशिया टिकने वाला नहीं है और उसकी गिरावट बिलकुल निकट है और इसके बाद ऐसी बातें सम्भव होंगी जो लोगों को चकाचौंध कर देंगी। 1936 में उसने न्यूरेम्बर्ग में एक भाषण दिया जिसमें उसने कहा कि अगर यूराल पर्वत, जिसमें कच्चे माल की अपार सम्पत्ति है और साइबेरिया, जिसमें मूल्यवान जंगल है, और यूक्रेन, जिसमें अनन्त अन्न-क्षेत्र हैं—ये सब जर्मनी में होते तो जर्मनी का राष्ट्रीय सोशलिस्ट नेता संपदा में कल्लोल करता। उस अवस्था में हम इतना उत्पादन करते कि प्रत्येक जर्मन को निर्वाह के लिए आवश्यकता से अधिक चीजें मिलतीं। फ्रांस के प्रति मेन केम्फ में गहन द्वेष प्रकट किया गया है। उसमें बतलाया है कि फ्रांस जर्मन राष्ट्र का शाश्वत और घातक शत्रु है।

राष्ट्रीय सोशलिस्ट प्रचार—हिटलर की राजनीतिक पार्टी ने खुल्लमखुल्ला बल-प्रयोग का प्रचार किया और हत्याएँ करने में भी कभी आगा-पीछा नहीं किया। यह समझ में नहीं आता कि जर्मन जाति क्यों अंधी हो गई थी और क्यों इस पार्टी की ओर वह इतनी उदासीन रही। वास्तव में जर्मन जनता का यह एक अपराध था। प्रचार के द्वारा तमाम जर्मनी में एक घोर हलचल-सी पैदा हो गई। प्रचार का उद्देश्य था शत्रु को उत्तेजित करना और एक छोटा-सा गृह-युद्ध करना। राष्ट्रीय सोशलिस्ट लोगों ने प्रचार करते हुए जनता को बड़े-बड़े वचन दिए और कहा कि लोग जो चाहेंगे वह उनको मिलेगा। सभाओं में इतना दिखावा किया जाता था कि लोग मंत्र-मुग्ध-से हो जाते और उन्मत्त होकर हिटलर के भाषणों का स्वागत करते थे और उसकी टीका-टिप्पणी कोई नहीं करता था। शुरू-शुरू में राष्ट्रीय सोशलिस्ट लोग कुछ आगे नहीं बढ़ सके। दूसरे राजनीतिक दलों की सभाओं को ये लोग भंग किया करते थे और टोलियाँ बनाकर रात में बाजारों में घूमा करते थे। जहाँ कहीं इनको कोई ऐसा राहगीर मिलता जो शक्ल से जर्मन नहीं मालूम पड़ता था, उसको ये लोग सताते थे और तंग करते थे। हिटलर ने स्वयं मेन केम्फ में लिखा है कि ज्यों ही वरसाइल सन्धि की टीका शुरू होती थी त्यों ही उपस्थित लोग बार-बार चिल्लाते थे और कहते थे 'ब्रेस्टलिटोवस्क'। लोग समझते थे कि यह सन्धि जनतन्त्र की विजय सूचित करती है और बतलाती है किस प्रकार बदला लिया गया था। इसलिए यह जरूरी था कि

उनके दिमाग में यह बिठाया जाता कि यह सन्धि अच्छी नहीं थी और इसका विरोध करने वाला उनका मित्र है। "मैं इन दोनों सन्धियों की तुलना किया करता था और बतलाता था कि एक में अपार दया है और दूसरी में घोर निर्दयता है।"

इस प्रकार के भाषणों के प्रचार से भी इस पार्टी के सदस्यों की संख्या बहुत ज्यादा नहीं बढ़ी। इसमें प्रधानतः सैनिक राजनीतिज्ञ थे, जिनके हृदयों में जर्मनी की हार के कारण घोर कड़वापन था। कुछ वर्ष तक धीरे-धीरे सदस्यों की वृद्धि हुई, परन्तु जब इसका कोई कार्यक्रम होता था तो लोग आकर्षित नहीं हुआ करते थे। इसके कार्यक्रम में 25 पाइन्ट हुआ करते थे। पहली बात थी कि आत्म-निर्णय के सिद्धान्त के आधार पर समस्त जर्मन जाति को एक जर्मन राष्ट्र में सम्मिलित किया जाय। दूसरा पाइन्ट यह था कि वरसाइल और सेन्ट जर्मन की संधियों को रद्द किया जाय। तीसरा पाइन्ट था कि हमारी बढ़ती हुई और फालतू आबादी को बसाने और निर्वाह के लिए नये उपनिवेश मिलने चाहिये। इसके अलावा यह भी चाहा जाता था कि पेशेवर सेना के स्थान पर राष्ट्रीय सेना हो। राज्य में शक्तिशाली केन्द्रीय सत्ता हो। बिना कमाई की आय बन्द हो। इसके अतिरिक्त कितने ही ऐसे प्रस्ताव थे जो आगे चलकर समझ-बूझकर छोड़ दिए गए। हिटलर के कार्यक्रम में सबसे मुख्य बात थी यहूदियों का विरोध। यह इस बात का सूचक था कि यहूदियों को जर्मनी में अपने अधिकारों और निर्वाह के साधनों से वंचित कर दिया जाएगा।

राष्ट्रीय सोशलिज्म की वृद्धि—1930 में आम निर्वाचन हुए। उस समय जर्मन रेशटाग में 576 सदस्य थे। इनमें पहले 12 राष्ट्रीय सोशलिस्ट थे, परन्तु अब उनकी संख्या बढ़कर 107 हो गई, अर्थात् उनको 95 स्थान अधिक मिल गए। ये स्थान उन्होंने नेशनलिस्ट लोगों से छीने थे। इन निर्वाचनों से संसार को पता लगा कि राष्ट्रीय सोशलिस्टों की शक्ति कितनी है। इस निर्वाचन में कम्यूनिस्ट लोगों को 23 स्थान प्राप्त हुए। इस प्रकार उनकी संख्या भी 77 हो गई। सोशल डेमोक्रेट लोगों के पास 143 स्थान थे। इसलिए उनकी पार्टी सबसे बड़ी थी। लेकिन जर्मन पार्लियामेंट में अब राष्ट्रीय सोशलिस्ट लोगों का दल सबसे बड़ा था। हिटलर ने अपनी विजय का अभिनन्दन इस प्रकार किया। 'अब इस संघर्ष में खोपड़ियाँ लुढ़केंगी।' यह एक भविष्यवाणी थी जो सच्ची साबित हुई। हिटलर ने अपने विरोधियों का वध इस प्रकार किया जैसे कसाईखानों में जानवरों का वध किया जाता है। हिटलर ने जो कहा था वह केवल दर्पोक्ति नहीं थी। फिर 1932 में इस पार्टी की शक्ति की दूसरी परीक्षा हुई। मार्शल वान हिन्डनबर्ग 77 वर्ष की अवस्था में हर एबर्ट की मृत्यु के बाद जर्मनी का प्रेसीडेन्ट निर्वाचित हुआ था। अब वह फिर निर्वाचन के लिए खड़ा हुआ। प्रेसीडेन्ट की कार्य-अवधि सात साल थी। उसके विरोध में हिटलर भी खड़ा हुआ और एक कम्यूनिस्ट नेता भी। मार्शल वान हिन्डनबर्ग को 53 मत, हिटलर को

37 मत और कम्यूनिस्टों के उम्मीदवार को 10 मत प्राप्त हुए। इसी वर्ष दूसरा आम निर्वाचन हुआ। इसमें रेशटाग के सदस्यों की कुल संख्या 608 थी। इनमें राष्ट्रीय सोशलिस्ट को 230 स्थान, सोशलिस्ट डेमोक्रेट्स को 133 स्थान और कम्यूनिस्टों को 79 स्थान मिले। सरकार ने हुक्म दिया कि दुबारा निर्वाचन करवाया जाय। तब 584 सदस्यों के रेशटाग में राष्ट्रीय सोशलिस्टों को 196 स्थान मिले। इनके पक्ष में 11,750,000 वोट पड़े। सोशल डेमोक्रेट्स को 121 स्थान मिले और उनके पक्ष में 72,50,000 वोट पड़े। कम्यूनिस्टों को 100 स्थान मिले और उनके पक्ष में 60,00,000 वोट मिले। इस निर्वाचन में राष्ट्रीय सोशलिस्ट पार्टी को 20 लाख वोट कम मिले थे। यह पहला ही मौका था कि यह पार्टी कुछ पिछड़ी और कम्यूनिस्ट लोग आगे बढ़े। इस ठेस के लगने पर भी राष्ट्रीय सोशलिस्ट पार्टी रेशटाग में सबसे बड़ी थी। इसलिए प्रेसीडेन्ट ने इसके नेता को चांसलर बनने के लिए निमंत्रित किया। उसने अनियन्त्रित सत्ता की माँग की। वह रेशटाग की सहायता के बिना शासन करना चाहता था। कारण यह था कि पार्लियामेन्ट में उसका बहुमत नहीं था। प्रेसीडेन्ट इस समय पच्चासी वर्ष का वृद्ध था। उसने शपथ ली थी कि जर्मन विधान की रक्षा की जायगी, अतः उसने उत्तर दिया, 'यदि उसने प्रेसीडेन्ट के अधिकार ऐसी पार्टी के नेता को दे दिए जो किसी के साथ मिलकर काम नहीं करना चाहती, तो इसका यह मतलब होगा कि वह जर्मन जनता के प्रति अपना कर्त्तव्य पालन नहीं कर रहा है। इससे अनिवार्यरूपेण एक पार्टी का अनियंत्रित शासन स्थापित हो जाएगा और जर्म[illegible] के ये भेद और पारस्परिक द्वेष और उग्र रूप धारण कर लेंगे।'

रेशटाग में आग—हिटलर की शक्ति-लोलुपता उसके विश्वासों से अधिक प्रबल थी। जनवरी 1933 में उसने चांसलर का स्थान ग्रहण कर लिया और संयुक्त मत्रि-मंडल बना लिया, जिसमें नेशनलिस्ट और नेशनलिस्ट सोशनलिस्ट थे। नेशनलिस्ट लोग कन्जरवेटिव अर्थात् रूढ़िपन्थी माने जाते थे। प्रेसीडेन्ट के सलाहकारों की आशा थी कि पद के उत्तरदायित्व के कारण राष्ट्रीय सोशलिस्ट नेता गम्भीर हो जाएँगे या अपनी अनुभवहीनता के कारण मंत्रिमंडल के कुशल और योग्य साथियों से दब जाएँगे। ये अन्दाजे गलत थे, क्योंकि घटनाओं की गति और ही ढंग पर हुई। रेशटाग के नये निर्वाचन का आदेश हुआ। जब निर्वाचन होने ही वाले थे तब रेशटाग में आग लगा दी गई। राष्ट्रीय सोशलिस्ट लोगों ने कहा कि यह सोशलिस्ट लोगों का काम है। वे लोग विप्लव करना चाहते हैं और यह उसकी शुरुआत है। प्रेसीडेन्ट ने स्वीकार कर लिया कि स्थिति असाधारण है, इसलिए उसने आदेश जारी करके जर्मन आजादी की वैध गारन्टी स्थगित कर दी। इस आदेश में घोषणा की गई कि 'इसकी इजाजत दी जाती है कि व्यक्तिगत आजादी पर प्रतिबन्ध लगा दिए जाएँ, बाकी स्वातंत्र्य सीमित कर दिया जाय और सभा आदि पर पाबन्दियाँ लगा दी जाएँ, इसके सिवाय सम्पत्ति

जब्त की जा सकती है और मकानों की तलाशी ली जा सकती है।' उस दिन से वैध गारन्टियाँ स्थगित ही रहीं। प्रेसीडेन्ट के आदेश से मनमानी सत्ता प्राप्त करके सरकार ने कम्यूनिस्ट पार्टी को ग़ैरकानूनी घोषित कर दिया और प्रशिया में तो सोशल डेमोक्रेट लोगों को भी अपने पत्र प्रकाशित करने से रोक दिया और उनको निर्वाचन आन्दोलन भी नहीं करने दिया। प्रसिद्ध कम्यूनिस्ट लोगों पर यह आरोप लगाया कि रेशटाग को जलाने में इनका हाथ है, परन्तु जब उन पर मुकदमा चला तो वे बरी हो गए। कम्यूनिस्ट पार्टी के विरुद्ध यह भी साबित नहीं हुआ। साथ ही यह भी प्रकट हुआ कि अग्नि-कांड का उत्तरदायित्व राष्ट्रीय सोशलिस्ट लोगों पर था। अग्नि-कांड एक प्रकार का निर्वाचन बम था, जिसके द्वारा राजनीतिक विरोधियों को दबाया गया था। देशव्यापी आतंक का ऐसा प्रभाव हुआ कि राष्ट्रीय सोशलिस्ट लोगों को एक करोड़ सत्तर लाख वोट मिले जो लगभग 44 प्रतिशत थे और नेशनलिस्ट पार्टी को केवल आठ प्रतिशत ही वोट प्राप्त हुए। इस प्रकार संयुक्त मंत्रिमंडल में राष्ट्रीय सोशलिस्ट लोगों का बहुमत हो गया। जुलाई 1933 में संयुक्त मंत्रिमंडल खत्म कर दिया गया और शासन-सूत्र राष्ट्रीय सोशलिस्टों ने अपने हाथ में ले लिया। अब उन्होंने अपने सिवाय अन्य राजनीतिक दलों का दमन करना शुरू किया। नये निर्वाचन करवाये गये। इनमें वे ही उम्मीदवार खड़े हो सकते थे जिनको राष्ट्रीय सोशलिस्ट पार्टी ने पसन्द किया था। इस प्रकार जर्मनी ने इटली के उदाहरण का अनुसरण किया और वह ऐसा देश बन गया जहाँ केवल एक ही दल का राज्य हो, अर्थात् वह 'टोटलिटेरियन' देश बन गया। अगस्त 1934 में प्रेसीडेन्ट वोन हिन्डनवर्ग की मृत्यु हो गई। तब प्रेसीडेन्ट और चांसलर के पद मिलाकर एक कर दिए गए और हर हिटलर नेता और चांसलर दोनों बन गया।

राष्ट्रीय सोशलिज्म के उदय के कारण—वरसाइल की सन्धि—प्रायः यह कहा जाता है कि वरसाइल की सन्धि में जर्मनी पर बड़ी शर्तें थोपी गई थीं। इसी से जर्मनी में राष्ट्रीय सोशलिज्म का उदय हुआ। यह माना गया है कि सन्धि की अपमानजनक शर्तों के कारण जर्मनी का आत्म-सम्मान नष्ट हो गया था। अपने राष्ट्र के अपमान को वे लोग जहाँ तक सह सकते थे वहाँ तक उन्होंने सहा। फिर अपने शत्रुओं के प्रति उनके हृदयों में घोर कटुता उत्पन्न हो गई। निराश होकर वे उस नेता के ही अंधे होकर अनुयायी बन गए जिसने विप्लव का ध्वज ऊँचा किया और अपने विवेकहीन स्वामियों का विरोध करना शुरू किया। यह दलील खास है, परन्तु इसमें गहराई नहीं है। इसमें घटनाओं की उपेक्षा की गई है। पहली बात यह है कि वरसाइल की सन्धि के चौदह वर्ष बाद राष्ट्रीय सोशलिस्ट लोगों के हाथ में शासन-शक्ति आई थी। दूसरी बात यह है कि युद्ध के कुछ अर्से बाद जब जर्मनी की प्रतिष्ठा बहुत ही कम थी तो इन लोगों की प्रवृत्ति जहाँ

की तहाँ ही रुकी हुई थी। तीसरी बात यह है कि जब जर्मनी को अपना सम्मान-स्थान प्राप्त हो गया, और लोकार्नो की सन्धि के बाद उसको राष्ट्र-संघ में भी स्थान मिल गया, उसके लगभग दस वर्ष बाद इन लोगों के हाथ में शक्ति आई। अन्तिम बात यह है कि जिस प्रदेश पर विदेशियों का अधिकार था वह 1930 में खाली कर दिया गया था और 1931 में जर्मनी ने युद्ध-दंड देना भी बंद कर दिया था। 1932 में यह स्वीकार कर लिया गया था कि शस्त्रों के विषय में जर्मनी अन्य राष्ट्रों के समान है। जब जर्मन इतिहास में ऐसी घड़ी आ गई थी कि उसकी अन्तिम बेड़ी भी झड़ने ही वाली थी, तो राष्ट्रीय सोशलिस्ट लोगों को शासन-शक्ति प्राप्त हुई। वे लोग कितने ही वर्षों से आतंक और युक्तियों से इसके लिए प्रयास कर रहे थे। ज्यादा से ज्यादा यह माना जा सकता है कि वरसाइल की सन्धि राष्ट्रीय सोशलिस्ट पार्टी की सफलता का मुख्य नहीं गौण कारण था। इससे उनको यह दावा करने का मौका मिला कि वे बड़े देशभक्त हैं और जो जर्मन सरकार पश्चिमी शक्तियों के हाथ जोड़कर अपने दु:खों का निवारण करवाना चाहती है वह देश-घातक है। विशेष बात यह हुई कि राष्ट्रीय सोशलिस्ट पार्टी ने साफ शब्दों में कह दिया कि हम युद्ध-दंड नहीं देंगे। लेकिन 1932 में ही जर्मन चांसलर ने सूचना दे दी थी कि युद्ध-दंड देना कभी भी शुरू नहीं किया जाएगा। यह अवश्य है कि इस दृढ़ रुख से भी उसका मंत्रिमंडल नहीं टिक सका था।

कम्यूनिज्म का उदय—इस जटिल परिस्थिति में कम्यूनिज्म का उदय हुआ। उनकी वृद्धि प्रायः दृष्टि में तो नहीं आती थी लेकिन दोनों पक्ष के उग्र तत्त्व कदम-ब-कदम आगे बढ़ते जाते थे। 1930 में कम्यूनिस्टों की संख्या रेशटाग में 77 थी, लेकिन 1932 के प्रथम निर्वाचन में यह बढ़कर 89 हो गई। उसी साल दूसरा निर्वाचन हुआ। उसमें नेशनलिस्ट डेमोक्रेट लोग पीछे रह गए और कम्यूनिस्टों ने 100 स्थान प्राप्त कर लिए। कम्यूनिस्ट लोग सोशल डेमोक्रेट को पीछे धकेल कर आगे बढ़े थे। जब उग्र दल का बोलबाला होता है, नरम दल वालों को कोई नहीं पूछता। कम्यूनिस्ट लोगों की संख्या-वृद्धि से यह समझ लेना ठीक नहीं है कि जर्मनी बोलशेविक बनने वाला था। यह संभव है कि बहुत-से लोग कम्यूनिस्ट पार्टी का दूसरे राजनीतिक वर्गों की अपेक्षा इसलिए समर्थन करते होंगे कि यह नेशनल सोशलिस्ट्स का जोरदार मुकाबला कर रही थी। यदि जर्मन जनता ने बोलशेविज्म की उन नाजुक दिनों में चिन्ता नहीं की जब उनका सैनिक यंत्र ठप्प हो गया था और उनके शासक देश छोड़कर भाग गए थे, तो अब वे लोग हमको क्यों ग्रहण करते। अब तो रूसी क्रांति का जादू समाप्त हो गया था। फिर भी कम्यूनिस्ट क्रांति का उस समय भय फैला हुआ था। इसलिए नेशनल सोशलिस्ट लोगों ने यह प्रचार किया कि अगर 'हमारी पार्टी बैठ गई तो जर्मनी में एक करोड़ कम्यूनिस्ट दिखाई देने लगेंगे।' इस प्रचार से

नेशनल सोशलिस्टों को आर्थिक साधन भी प्राप्त हो गए। इसके बिना वे खर्चीला प्रचार नहीं कर सकते थे। प्रत्यक्ष में उनका दल मजदूर दल था ही और इसका कार्यक्रम भी सोशलिस्ट था। ऐसे दल के साथ बड़े-बड़े उद्योगपतियों की सहानुभूति होना स्वाभाविक बात थी। इसलिए नेशनल सोशलिस्ट्स को उस समय की प्रसिद्ध फिल्म और प्रेस मालिकों की सहायता से प्रचार के असीम साधन मिल गए। शासन-शक्ति अपने हाथ में आ जाने पर भी नेशनल सोशलिस्ट्स लोगों में फैले हुए कम्यूनिस्ट लोगों के प्रति डर का खूब लाभ उठाते रहे और इस बात का प्रचार करते रहे कि नेशनल सोशलिज्म विश्व-क्रांति के विरुद्ध एक दुर्ग है। अब नेशनल सोशलिस्ट प्रेस और भाषण द्वारा रूस का विरोध करने लगे। वास्तव में ट्यूटोनिक और स्लैवोनिक जातियों में परस्पर विरोध युगों से चला आया था। अब ऐसा मालूम होता था कि यह पुरातन जातीय विरोध पुनः जागृत हो गया है। अब जर्मनी की इच्छा थी यूक्रेन के प्राकृतिक साधनों को हथियाने की, परन्तु इस अभिलाषा पर उसके आदर्शवाद का पर्दा पड़ा हुआ था। 1936 में जर्मनी और जापान के बीच कम्यूनिस्ट-विरोधी (Anti-Comintern) अहदनामा हुआ। फिर उसमें इटली और दूसरे देश भी शामिल हो गए। इस अहदनामे का उद्देश्य था उन समस्त देशों का समर्थन प्राप्त करना जो कम्यूनिस्ट मत को नहीं मानते थे ताकि सर्वसत्तात्मक (Totalitarian) राज्यों की स्थिति दृढ़ हो जाय। ये लोग इस बात को मानकर चलते थे कि मानो राजनीतिक समझ के लोगों के सामने दो ही पक्ष थे—एक कम्यूनिज्म और दूसरा नेशनल सोशलिज्म। इस प्रचार से उन लाखों लोगों को, जो पहले उदासीन थे, यह विश्वास हो गया कि नेशनल सोशलिस्ट लोगों ने कम्यूनिज्म से जर्मनी की रक्षा की है और ये कम्यूनिज्म से यूरोप की भी रक्षा करेंगे। इसलिए लोगों में यह विश्वास था कि बस ये लोग ही शत्रु से लोहा ले सकते हैं। इसीलिए स्वच्छंद शासन-सत्ता बहुत अर्से तक उनके हाथ में रही।

आर्थिक असन्तोष—राष्ट्रीय सोशलिस्ट लोगों की सफलता के और भी कई कारण थे। युद्ध के बाद जो जर्मनी की दशा थी उसके लगभग सब पक्ष उनके आन्दोलन में शामिल थे और उन लोगों ने असन्तोष के समस्त तत्वों से लाभ उठाया। उस समय सारे देश में रोष और असन्तोष उमड़ा पड़ता था। निम्न श्रेणी का मध्यम वर्ग, जिसमें किसान और छोटे-छोटे व्यापारी सम्मिलित थे, पूँजीपतियों का बड़ा विरोधी था। उन लोगों से राष्ट्रीय सोशलिस्टों ने खूब बेशुमार वायदे किये। इस समय नगर-निवासियों की दशा भी अच्छी नहीं थी। वे लोग कृषि-पदार्थ काफी नहीं खरीद सकते थे। इसका प्रभाव किसानों पर पड़ता था और वे लोग असन्तुष्ट रहते थे। जब कीमतें ऊँची चढ़ गई थीं तो किसान कर्ज से लद गये थे। उन लोगों से कहा गया कि उनको राहत पहुँचाने के लिये बहुत रुपया दिया जायगा। छोटे व्यापारी बड़े स्टोर वालों के साथ मुकाबला कर सकते थे, इसलिये उनको बहुत हानि पहुँच रही थी। नेशनल सोशलिस्ट

लोगों के कार्यक्रम में यह भी शामिल था कि बड़े-बड़े स्टोरों पर जाति का अधिकार कर दिया जाएगा। नेशनल सोशलिस्टों ने उन लोगों को भी छाती से लगाया जिनकी आय मार्क की कीमत गिर जाने के कारण खत्म-सी हो गई थी। खासतौर पर उन्होंने बेकार सिपाहियों की पलटनों को, जिनकी संख्या 1930 में दुगुनी होकर लगभग पचास लाख हो गई थी, यह आश्वासन दिया कि उनके लिए सब-कुछ किया जाएगा। इस समय बेकारी बहुत बढ़ती जाती थी। वास्तव में सारे संसार में ही एक आर्थिक तूफान-सा आ गया था और इन्हीं दिनों में नेशनल सोशलिस्टों ने शक्ति अपने हाथ में ली। आर्थिक शिथिलता के कारण अमरीका में राजनीतिक उथल-पुथल हो गई थी जिसका ग्रेट ब्रिटेन की आर्थिक अवस्था पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता था। इसको ध्यान में रखा जाए तो कोई आश्चर्य नहीं होगा कि इसने जर्मन सरकार के खम्भों को हिला दिया और फिर जमीन पर गिरा दिया। इन आत्मविश्वास-सम्पन्न नवयुवकों ने प्राचीन राजनीतिक पार्टियों को पछाड़ दिया। ये लोग इस बात का दावा करते थे कि उनके पास समस्त आर्थिक रोगों का इलाज है। नेशनल सोशलिस्टों का यह सौभाग्य था कि उनके हाथ में शक्ति उस समय आई जब संसार आर्थिक संकट में से निकलने लग गया था। अगर शक्ति हथियाने में उनको कुछ महीने लग जाते तो उनके लिए बड़ी कठिनाई होती, क्योंकि 1932 के आम चुनाव में जनता का समर्थन कम होने लग गया था और यदि स्थिति में बहुत हेर-फेर नहीं होता तो शायद ये लोग बहुत गिर जाते।

दूसरे कारण—आर्थिक कार्यक्रम का प्रलोभन देने के अतिरिक्त नेशनल सोशलिस्टों ने यहूदी-विरोधी नीति का प्रचार करना शुरू किया। इससे जाँच हो सकती थी कि लोगों की नीतिमत्ता कैसी है। कितने ही लोग ऐसे थे जो समझते थे कि जर्मनी पर जब-जब भी संकट आये हैं उन सबके मूल कारण यहूदी लोग हैं। ऐसे लोगों ने यहूदी-विरोधी नीति का बड़ा समर्थन किया। इस नीति के कारण जर्मन नवयुवकों को, जो सैनिक काम करना चाहते थे, अच्छा मौका मिलेगा। सरकार ने एक नई सेना बना ली जो लोक-सेना कहलाती थी। ये पन्द्रहवीं शताब्दी के अंग्रेज घरानों के रक्षकों की भाँति अपनी पार्टी की वर्दी पहनते थे। वास्तव में इन लोगों ने एक राष्ट्र के अन्दर दूसरा राष्ट्र स्थापित कर दिया था। जर्मन सरकार ने वास्तव में अपनी सत्ता छोड़कर इस प्रकार की प्राइवेट सेना की वृद्धि होने दी और यह वृद्धि होती ही गई। आखिरकार यह हालत हो गई कि इटली की भाँति जर्मनी में भी गृह-युद्ध या आत्म-समर्पण के सिवाय कोई चारा नहीं रहा। फिर यह भी ध्यान रखना चाहिए कि जर्मन लोग एक व्यक्ति की सत्ता को मानने के आदी हैं। शायद उनकी सैनिक परम्पराओं का यही परिणाम है। उनके यहाँ वैधानिक सरकार बहुत ही थोड़े अरसे तक टिकी। इससे उसकी जड़ नहीं जम सकी। पार्लियामेन्ट में इतनी पार्टियाँ बन गई कि बात-बात पर गत्यवरोध होने लगा। इससे जनतंत्र की बहुत बदनामी हुई।

1930 के आम चुनाव में 24 पार्टियों ने अपने-अपने उम्मीदवार खड़े किए थे । नेशनल सोशलिस्टों की सफलता का एक और कारण यह भी था कि अपने राजनीतिक विरोधियों को चुप करने के लिए उन्होंने आतंकवाद का भी प्रयोग किया और ये लोग हत्या करने में भी कभी नहीं चूके । उनके अपराधों का उन्हें दंड नहीं मिलता था । सरकार उनकी ज्यादतियों को नहीं रोक सकती थी, इसलिए वे लोग समझते थे कि उनका कुछ नहीं हो सकता था । अतः उनका उत्साह बढ़ता जाता था । कानून और व्यवस्था के मान में कमी आती जाती थी । जनता से समर्थन प्राप्त करने के लिए उन लोगों ने बड़े जोरदार और सिद्धान्तहीन प्रचार किए । ये लोग समझ या दलील से काम नहीं लेते थे बल्कि लोगों की राग, द्वेष, रोष और पक्षपात आदि वृत्तियों को जागृत करते थे और दिखावे की बातें बहुत करते थे । इससे जनता पर जादू का-सा असर पड़ता था । हिटलर ने 'मेन केम्फ' में शत्रु के युद्ध-प्रचार का वर्णन किया है । यह वर्णन वास्तव में उसी के तरीकों पर लागू होता है । इसमें इतनी बढ़-बढ़कर बातें की जाती थीं कि शुरू में तो यह पागलपन मालूम होता था, फिर यह लोगों को बुरा लगने लगा और अन्त में लोग इसमें विश्वास करने लगे । नेशनल सोशलिस्ट प्रचार की विधि का विवेचन नेता ने स्वयं अपनी पुस्तक में इस प्रकार किया, 'प्रचार की व्यवस्था यह होनी चाहिए कि वह कम से कम समझदार लोगों के लिए हो । इसका प्रभाव आम जनता के भावों पर पड़ना चाहिए । जितना अधिक प्रभाव होगा उतनी ही इसकी सफलता होगी । सारा प्रचार कुछ ही पाइंटों पर केन्द्रीभूत होना चाहिए और फिर बड़े विश्वास और जोर के साथ उन्हीं को बार-बार दोहराना चाहिए ।' इस प्रचार में एक पड़ोसी रियासत के उदाहरण से भी सहायता मिली । उस राष्ट्र ने जनतंत्र की परम्पराओं का परित्याग कर दिया था । इटली में फासिस्ट क्रान्ति बहुत आसानी से हो चुकी थी । इससे उन लोगों का भय शान्त हो गया जो लोग यह समझते थे कि नेशनल सोशलिस्ट की विजय होने के बाद रक्तपात होगा । अन्तिम बात यह थी कि नेशनल सोशलिज्म के विरोधी अनेक वर्गों में विभक्त थे । अतः उनकी फूट से इसको बहुत सहायता मिली । जैसे वायु के सामने सूखे पत्ते तितर-बितर हो जाते हैं, उसी प्रकार इसके प्रबल प्रचार के सामने ये विविध पार्टियाँ छिन्न-भिन्न हो गईं । कम्यूनिस्ट लोगों को यह भ्रम था कि नेशनल सोशलिज्म की विजय से वे ही लाभ उठा सकेंगे । उनका ख्याल था कि जब वर्तमान राजनीतिक संगठन बैठ जायगा तो उनका शक्ति-प्राप्ति का मार्ग तैयार हो जायगा । सोशल डेमोक्रेट लोगों ने तो मुकाबले के लिए प्रयत्न भी नहीं किया और ऐसे ही घुटने टिका दिए । वेमर रिपब्लिक के निर्बल और उत्साहहीन दिलों को दबाकर यह राजनीतिक पार्टी अपने दम्भ और पाशविक बल के द्वारा आगे बढ़ती गई और तृतीय जर्मन रेश (Reich) के राज्य में जा पहुँची ।

जर्मनी की प्रतिक्रिया—जब युद्ध बहुत अर्से तक चलता है तो स्वतंत्रता और अन्तरराष्ट्रीयता के सिद्धान्तों को आघात पहुँचता है। युद्ध को चलाने के लिए सब काम राज के हाथों में केन्द्रीभूत हो जाते हैं। यह व्यक्तिगत आजादी के लिए अहितकर है। इस संघर्ष से जो द्वेष उत्पन्न होता है वह अन्तरराष्ट्रीय वातावरण को विषाक्त बना देता है। 1914-18 के विश्व-युद्ध के भी ये ही परिणाम हुए जो सौ वर्ष पूर्व नेपोलियन के युद्धों के हुए थे। यूरोप के अधिकांश हिस्से में प्रतिक्रिया हुई और राष्ट्रीय भावना सर्वत्र प्रबल हो गई। कुछ अर्से के लिए ऐसा प्रतीत हुआ कि इतिहास का चक्र नहीं घूमेगा, लेकिन लगभग दस वर्ष में ही जर्मनी विकृत राष्ट्रीयता की ज्याद-तियों से बच गया, लेकिन उसको एक बीमारी का सामना करना पड़ा। नई जर्मनी में उदारता की शक्तियों का दमन हुआ और राष्ट्रीयता का उग्र रूप सर्वत्र फैल गया। सर्व-सत्तात्मकता (Totalitarianism) और जातीय पार्थक्य—ये दोनों नेशनल सोशलिस्ट शासन के प्रधान स्तम्भ थे।

सर्वसत्तात्मक राज्य—अब हम पहले यह बतलाना चाहते हैं कि स्वतंत्रता का अन्त कैसे हुआ। फासिस्ट रियासत और सोवियत रियासत की भाँति नेशनल सोशलिस्ट-राज्य सर्व-सत्तात्मक रियासत थी। यह इतिहास में नई बात थी। सर्व-सत्तात्मक रियासत और जनतंत्रात्मक रियासत में यह भेद है कि यह केवल उसी दल को मान्यता देती है जो सरकार का समर्थन करता हो। हिटलर ने अपने एक आदेश में स्पष्ट लिखा था कि जर्मनी में केवल एक राजनीतिक दल है, अर्थात् नेशनल सोशलिस्ट जर्मन मजदूरों की पार्टी। इस पार्टी का प्रभाव जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में, चाहे वह राजनीतिक हो या आर्थिक हो या सांस्कृतिक हो, व्याप्त हो रहा था। तीसरा रेश इस बात की इजाजत नहीं देता था कि सरकार के प्रबन्ध की अखबारों या व्याख्यानों में स्वतंत्र आलोचना हो। इसने प्रेस और रेडियो की, यूनीवर्सिटियों और स्कूलों की, नाटक और सिनेमाओं की स्वतन्त्रता खत्म कर दी। लोगों के विचारों पर सख्त निगरानी रखी जाती थी और सामाजिक या आर्थिक क्रियाओं को बड़े ध्यान से देखा जाता था। यह दल किसी व्यक्ति के अधिकारों या उसके जान और माल की रक्षा को नहीं मानता था। किसी भी व्यक्ति को गिरफ्तार किया जा सकता था और मुकदमा चलाये बिना ही उसको जेल में रखा जा सकता था। स्वतंत्र ट्रेड यूनियन—व्यापारिक संघ—भी बरदाश्त नहीं किए जाते थे। शासन का समस्त अधिकार एक स्वच्छंद शासक के हाथ में था जो आदेश के द्वारा शासन करता था। कानून बनाने का अधिकार केवल एक दल के सदस्यों को था और इनका अधिवेशन भी कभी-कभी होता था। और जब वे लोग मिलते थे तब भी किसी विषय पर विचार करने के लिए नहीं, बल्कि अपने नेता फ्यूहरर का भाषण सुनने के लिए। भाषण के बाद अधिवेशन समाप्त हो जाया करता था। कभी-कभी नाम मात्र के लिए जर्मन जनता

को किसी विषय पर अपना मत प्रकट करने के लिए निमंत्रित किया जाता था। ऐसे अवसर पर ये लोग एकत्र होकर अपने शासकों के कार्यों का समर्थन करते थे। नेशनल सोशलिस्ट लोगों का शासन लोगों की मर्जी से नहीं लेकिन सरकार के दवाव से चलता था। जनता को दबाने के लिए सरकार ने कष्ट कैम्प्स—कंसेनट्रेशन कैम्प्स—जारी किए थे। यहाँ पर कैदियों को रखा जाता था और बिना किसी कानूनी कार्य-वाही के जितने अर्से तक जेलर चाहता उतने अर्से तक उनको रखा जा सकता था। इन कैम्प्स में रहने वाले कैदियों के साथ जो दुर्व्यवहार होता था उसके कारण नेशनल सोशलिज्म क्रूरता का पर्यायवाची शब्द बन गया था। लियोन फ्यूश्ट वागनर एक जर्मन लेखक ने 1933 में लिखा था कि तीस-वर्षीय युद्ध के बाद जर्मनी ने ऐसे जंगलीपन का कभी अनुभव नहीं किया था जैसा अब फैला हुआ है। उसने आगे चलकर कहा कि नेशनल सोशलिस्ट्स ने संसार के मापदंडों को तोड़कर टुकड़े-टुकड़े कर डाला है। इन लोगों के जुर्मों को बहुत छिपाया जाता था। लेकिन हिटलर ने अपने ही कैम्प में कितने ही लोगों की हत्याएँ करवाई थीं। यह कार्य जनता की दृष्टि से छिप नहीं सकता था। 1934 में यह प्रकट किया गया था कि अपने ही दल में जिन लोगों के विचार उग्र थे उनका वध करवा दिया गया है। ऐसे लोगों की संख्या 77 थी, लेकिन यह संख्या सरकार ने बताई थी, असली संख्या और अधिक होगी। जो लोग मारे गए उनमें एक भूतपूर्व चांसलर और उसकी पत्नी भी थी। इन दोनों को अपने घर में ही गोली का शिकार किया गया था। जो लोग नेशनल सोशलिस्ट लोगों से सहमत नहीं थे, उनकी जबान पर ताले लगा दिए गए थे। समाचार-प्रचार के प्रत्येक साधन पर कड़ा नियंत्रण था, जिससे जर्मन जनता का दिमाग भी बेड़ियों से जकड़ गया था। इन लोगों ने शिक्षा की ऐसी व्यवस्था की थी जिससे नई पुश्त के दिमाग में जातीय कट्टरता की भावना घुस गई थी।

जातीय कट्टरता—इंगलैण्ड शक्तिशाली इसलिए है कि समय-समय पर अनेक जातियाँ वहाँ जाकर बस गईं। इनके कारण अंग्रेज लोग दूसरे लोगों की भावनाओं और आवश्यकताओं को समझ सकते हैं और इसलिए उनमें साम्राज्य-संचालन की क्षमता है। इंगलैण्ड की दृष्टि विशाल है, क्योंकि वहाँ अनेक दृष्टियों का समन्वय है। उसमें सहन-शीलता है, क्योंकि वह विभिन्न मतों को समझता है। अंग्रेजी विधान से अँग्रेजी चरित्र का अनुमान होता है। वहाँ के विधान में कहीं अति नहीं है। इसमें मौलिक सिद्धान्तों के प्रति आदर है और समय और स्थिति के अनुसार इस विधान का भाष्य हो सकता है। इंगलिश चरित्र भी एक ऐसे रस्से के समान है जो अनेक तन्तुओं से बना है। नेशनल सोश-लिज्म ने किसी चिन्तक या विचारक को जन्म नहीं दिया। इसके सिद्धान्त अधकचरे थे, उनमें कोई स्पष्टता नहीं थी। बस यों ही ठोंक-पीटकर उनको कुछ आकार-सा दे दिया गया था। यह अवस्था अँगेज़ी परम्परा के बिल्कुल विरुद्ध थी। जातीय शुद्धता

को यह दल सबसे ऊँचा मानता था और इसी को राष्ट्रीयता का शुद्ध लक्षण समझता था। जर्मन लोग वही माने जाते थे जो आर्य नस्ल के हों। जो लोग जर्मन देश में पैदा हुए थे, जर्मन भाषा बोलते थे, जर्मन स्कूलों में जिनकी शिक्षा और दीक्षा हुई थी, जिनका जर्मन दृष्टिकोण था और जो जर्मन मातृभूमि के लिए लड़कर मरने को तैयार थे, लेकिन यदि उनकी नसों में आर्य-रक्त नहीं था तो वे जर्मनी के नागरिक नहीं माने जाते थे। इस जातीयवाद में एक भ्रान्ति थी। वास्तव में जाति और नस्ल का भेद नहीं समझा गया था। राजनीतिशास्त्र में जाति का मतलब है कि उसमें नागरिकता हो और उसके जीवन के ढंग में कोई विशेषता हो। नस्ल में केवल शारीरिक विशेषताएँ होती हैं और राजनीतिक समुदाय बनाने में ये केवल तत्व मात्र हैं। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि इस जातीय कट्टरता ने संसार के भ्रातृत्व भाव को भारी चुनौती दी। इसने ऐसी खाइयाँ तैयार कर दीं जिनका पार होना कठिन था। इसी-लिए इसका विश्वव्यापी विरोध हुआ। स्वयं जर्मनी में ही इस विषय में मतभेद था। कैथोलिक पादरियों ने एक फतवा जारी किया, जिसमें उन्होंने कहा कि केवल नस्ल और खून के आधार पर कौम की परिभाषा करना अन्याय की बात है।

अनार्यों का उत्पीड़न—इस जातीय पार्थक्य का सिद्धान्त उन्हीं लोगों पर लागू नहीं किया था जो यहूदी थे वल्कि इसको अनार्य ईसाइयों पर भी लागू किया गया था। कई कानून ऐसे बनाए गये जिनके अनुसार इन लोगों को नागरिकता के अधिकारों से वंचित कर दिया गया। इनमें मतदान का अधिकार भी था। उनको राज्य की नौकरियों से निकाल दिया गया। कानून, चिकित्सा, अध्यापन आदि पेशे भी उनके लिए बन्द हो गए। उनकी आर्थिक क्रियाएँ सब नष्ट कर दी गईं। वे सांस्कृतिक जीवन से बहिष्कृत हो गये। उनको अपनी सम्पत्ति से और जीवन-निर्वाह के साधनों से वंचित करके देश से निर्वासित करने का आयोजन किया गया। 1935 में शरणार्थियों के कमिश्नर ने लिखा था कि पाँच लाख से अधिक लोग ऐसे हैं जिनके विरुद्ध इस बात के सिवाय कोई जुर्म नहीं है कि नेशनल सोशलिस्ट लोग उनको नागरिक नस्ल के नहीं मानते। ऐसे लोगों को कुचला जा रहा है। यहूदियों का इतिहास दुःख और यातनाओं से भरा हुआ है और अब फिर उन्हें सम्पूर्ण राजनीतिक कठिनाइयों का कारण बतलाया जा रहा है। नेशनल सोशलिस्ट उन पर विचित्र और भयंकर आरोप लगाते हैं। वे इस बात की उपेक्षा करते हैं कि वे लोग निरन्तर-रूपेण जर्मनी के प्रति वफादार बने रहे हैं। उदाहरणार्थ साम्राज्य-काल में यहूदियों ने जर्मनी को एक किया और इसको मजबूत बनाया और 1914-18 के विश्व-युद्ध में कितने ही यहूदियों ने अपना जीवन बलिदान किया। यहूदी वैज्ञानिकों और लेखकों ने संघर्ष में जर्मनी को सहायता दी थी और अब जर्मनी में प्रजातंत्र राज्य स्थापित हो गया तो यहूदी लोगों ने जर्मनी को पराजय के प्रभावों से बचाने का प्रयास किया था। लेकिन प्रायः

नेशनल सोशलिस्ट बहुत आसानी के साथ जर्मनी के नैराश्य, संताप और दुःख का दायित्व यहूदियों पर थोपते हैं। यहूदियों की आबादी जर्मनी में शतांश से भी कम है, लेकिन उन्हीं लोगों को सम्पूर्ण विपत्तियों के लिए जिम्मेदार ठहराया जाता है जो जर्मनी को उठानी पड़ीं। मध्य-युग में यह भ्रान्ति फैल गई थी कि यहूदियों के कारण ही जर्मन रियासतों में प्लेग फैला है। इसलिए स्थान-स्थान पर उनका वध करवा दिया गया था। आज उनको जर्मनी के आर्थिक और सांस्कृतिक जीवन से बहिष्कृत किया जा रहा है और उनको गिराया जा रहा है और कारण यह बतलाया जाता है कि उन्हीं के कारण जर्मनी को अपमान सहना पड़ा। यह घृणा इस सीमा तक पहुँच गई है कि जो यहूदी लड़ाई में मारे गये उनके नाम भी यादगारों पर नहीं लिखे जाते। संसार-भर में जर्मनी की इन ज्यादतियों की निन्दा हुई और यह कहा गया कि यह सभ्यता के प्रति अन्याय है। मनुष्य जाति की अन्तरात्मा को चोट लगी कि एक सभ्य जाति जंगलीपन पर उतर आई है और जान-बूझकर ऐसा प्रयास किया जा रहा है कि कानून के अनुसार अपने जीवन को वहन करने वाली एक जाति को निर्मूल किया जा रहा है और इसका अपराध केवल इतना है कि उसमें विशेष जाति का खून है। इन कार्य-वाहियों से संसार की नैतिक व्यवस्था की जड़ कटने लगी और विश्व-शान्ति को खतरा पैदा हो गया। जब हम अन्याय के प्रति उदासीन हो जाते हैं तो हम सब खतरे में पड़ जाते हैं।

धर्म पर अत्याचार—अत्याचार से अत्याचार उत्पन्न होता है। जब आत्मा का दुर्ग टूट जाता है तो रोग और द्वेष उसमें प्रवेश करने लगते हैं। पहले यहूदियों और अनार्य ईसाइयों के साथ अत्याचार हुए और फिर रोमन कैथोलिक और प्रोटेस्टेंट लोगों की बारी आई, क्योंकि नेशनल सोशलिस्ट लोगों के राष्ट्रीय विचारों में उनका समावेश नहीं हो सकता था। नेशनल सोशलिज्म के जातीय और शिक्षा-सम्बन्धी सिद्धान्त रोमन कैथोलिक चर्च के सिद्धान्तों से नहीं मिलते थे। 1931 में जर्मनी के पादरियों ने नेशनल सोशलिज्म की निन्दा करते हुए कहा था कि 'किसी कैथोलिक क्रिश्चियन को नेशनल सोशलिस्ट पार्टी का सदस्य नहीं बनना चाहिए, कम से कम उस हद तक जब इस पार्टी की ओर से ऐसे राजनीतिक और शिक्षा-सम्बन्धी मत का प्रचार किया जाय जो कैथोलिक सिद्धान्तों के प्रतिकूल हो।' इसके साथ ही साथ यह भी कहा गया कि नेशनल सोशलिज्म, जिसको ईसाई धर्म कहता है, वह वास्तव में ईसा का धर्म नहीं है। जब नेशनल सोशलिस्ट लोगों ने चर्च पर हमले करने शुरू किये और कैथोलिक पादरियों की गिरफ्तारियाँ होने लगीं, तो पोप ने घोषित किया कि जर्मनी में कैथोलिक लोगों को सताया जा रहा है। प्रोटेस्टेंट चर्च ने भी देखा कि नेशनल सोशलिज्म के सिद्धान्त ईसाई धर्म के प्रतिकूल हैं। नेशनल सोशलिस्ट लोग कहते थे कि ईसाई धर्म विदेशी है। इवेंजलिकल पादरी लोग परम्परागत ईसाई धर्म को मानने वाले

थे और नेशनल सोशलिस्ट लोग जाति या नस्ल को देवता मानते थे। इसलिए इवेंजेलिकल लोगों ने यह घोषणा की कि 'हम बाइबल के पक्ष में हैं और नये कुफ्र के विरोधी हैं। इन पादरियों का कहना था कि नेशनल सोशलिस्ट लोगों का संप्रदाय इस बात का प्रचार करता है कि जीवन में जातीयता प्रधान है। यह प्रचार बड़े खतरे की बात है।' सरकार ने प्रोटेस्टेंट पादरियों को कष्ट-कैम्पों में भेजा, फिर भी कट्टर पादरियों की आत्मा दृढ़ रही। वे लोग दुःखों से विचलित नहीं हुए। राजनीतिक कार्यकर्ता तो तुरन्त आत्म-समर्पण कर देते थे, परन्तु पादरी लोग नहीं झुकते थे। नेशनल सोशलिज्म को अब पश्चिमी संसार में तीन धर्मों का सामना करना था। नये कुफ्र में उसने देखा कि जाति की उसी प्रकार पूजा की जाती है जिस प्रकार मूर्ति की। जैसे मूर्ति में भगवान् का अभाव है, उसी प्रकार जाति-पूजा में भी राष्ट्रीयता का अभाव था।

विदेश-नीति—विदेश-नीति के क्षेत्र में भी बड़ी सफलता के साथ नेशनल सोशलिस्ट लोगों ने उन्हीं साधनों का उपयोग किया जिनका देश के अन्दर अपना आधिपत्य स्थापित करने के लिए किया गया था। इन साधनों में गुरुमंत्र यह था कि समझौता नहीं किया जाय और शक्ति का प्रयोग किया जाय। नये शासन की नीति थी कि कोई चीज ली नहीं जाय बल्कि छीनी जाय। सन्धियों में परस्पर मिलकर और बातचीत करके संशोधन नहीं करवाया जाय, बल्कि उनको फाड़कर फेंक दिया जाय। किसी भी प्रकार की चेतावनी दिये बिना एकाएक ऐसा कार्य किया जाय कि संसार भौंचक्का रह जाय। तनाव का ऐसा वातावरण उत्पन्न किया जाय कि लोग हमेशा चिन्तित रहें। नेशनल सोशलिस्ट लोगों को विदेशों में वैसी ही सफलता प्राप्त हुई जैसी घर में हुई थी। दोनों ही अवस्थाओं में उनके विरोधी कुछ ढिलमिल-से रहे। जनतंत्र देशों में भिन्न प्रकार के विचार होते ही हैं और उनके निश्चय में कोई दृढ़ता नहीं होती, इसलिए नेशनल सोशलिस्ट लोगों को पता लग गया कि अमुक देश में कौन-सा दल उनके साथ सहानुभूति करेगा। इन लोगों ने बार-बार कहा कि किसी देश पर आक्रमण करने का उनका विचार नहीं है, लेकिन यह सब अपने आयोजनों पर पर्दा डालने के लिए था और इसलिए भी कि वे चुपचाप युद्ध की तैयारी करते रहें और कोई उनके साथ हस्तक्षेप न करे। जर्मनी पुनः यूरोप में शस्त्र धारण करके खड़ा हो गया और सारे यूरोप को उसने दबा लिया। उसका कारण यह नहीं था कि स्वयं उसमें कोई असाधारण शक्ति थी, बल्कि यह था कि विरोधियों ने समय पर उसको आगे बढ़ने से नहीं रोका। यदि वे चाहते तो उस समय उसको आसानी से रोका जा सकता था। यह दुर्भाग्य की बात है कि जर्मनी की बार-बार रियायतें की गईं और जो कुछ उसने बलपूर्वक किया वह मान लिया गया। लेकिन इससे तृतीय देश ने लाभ उठाया। जो उसको रियायत मिलती थी उसी को वह ऊपर उठने के लिए एक सीढ़ी समझता था।

वरसाइल की सन्धि से हटना—जर्मनी ने जल्दी-जल्दी कार्यवाहियाँ करके संसार को घोषित किया कि वरसाइल की सन्धि से जो उस पर दायित्व लादा गया था उसको नामन्जूर किया जाता है और उसका दृढ़ निश्चय है कि प्रदेशों के विषय में जो विजयी शत्रुओं ने फैसला किया था उसको बदला जायगा। वरसाइल की सन्धि पर दस्तखत करने वाले दूसरे राष्ट्र भी इस सन्धि से हटने लगे। जैसे कोई यात्री पीछे हटता जाता है और रास्ते के माइल के पत्थरों को गिनता जाता है, ठीक उसी तरह, ये लोग उपरोक्त सन्धि से हटते गए और समय-समय पर अपना विरोध भी प्रकट करते गए। 1933 में जर्मनी ने राष्ट्र-संघ की सदस्यता से त्याग-पत्र दे दिया ताकि वह स्वतंत्र रूप से काम कर सके और अहदनामे के प्रतिबन्धों की कोई अड़चन न रहे। मार्च 1935 में एक वक्तव्य में घोषणा की गई कि अनिवार्य सैनिक सेवा फिर जारी की जाती है। जर्मन सरकार अपनी जनता और समस्त देशवासियों को फिर विश्वास दिलाना चाहती है कि फिर शस्त्र-धारण करने में उसका इरादा किसी राष्ट्र पर आक्रमण करने का नहीं है। यह केवल आत्म-रक्षा और विश्व-शान्ति के लिए ही किया जा रहा है। अगले कुछ वर्षों में इस आश्वासन की जाँच हो गई। ये तैयारियाँ केवल आत्म-रक्षा के लिए ही हो रही थीं, परन्तु इनका उपयोग तीन पड़ोसी राष्ट्रों की स्वतन्त्रता को नष्ट करने के लिए किया गया। फ्रांस, ग्रेट ब्रिटेन और इटली ने इसका विरोध किया और इटली ने तो यहाँ तक कहा कि जो परिस्थितियाँ केवल जर्मनी के द्वारा पैदा की जा रही हैं और जो अन्तरराष्ट्रीय अहदनामों को नष्ट करती जा रही हैं, वे ऐसी घटनाएँ स्वीकार करने योग्य नहीं हैं। थोड़े ही समय में जर्मनी के सेक्रेटेरियट की दीवारों पर इस प्रकार के सैकड़ों पत्र चिपका दिये गए, लेकिन इनसे कोई मतलब सिद्ध नहीं हुआ, वल्कि इनसे उन लोगों का असामर्थ्य प्रकट हुआ जिन लोगों ने ये चिपकाये थे। एक साल बाद अर्थात् 1936 में जर्मनी ने इस अवसर से लाभ उठाया कि ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस की इटली के साथ अबीसीनिया के प्रश्न को लेकर अनवन हो गई है। अव जर्मनी ने लोकार्नो का अहदनामा नामंजूर कर दिया और कारण यह बतलाया कि फ्रांस और सोवियत रूस में पारस्परिक सहायता के लिए सन्धि हो चुकी है, इसलिए यह अहदनामा बेकार है। इसके बाद राइन के बाएँ किनारे पर जर्मन प्रदेश में सेनाएँ जमाई जाने लगीं। इस प्रदेश से सेनाएँ हटा ली गई थीं। यहाँ पर न जर्मनी की सेना रह सकती थी और न मित्र राष्ट्रों की। इसलिए दूसरे देशों ने इसका विरोध किया, लेकिन यह विरोध केवल शब्दों द्वारा ही हुआ। जर्मनी की नीति के विरुद्ध कोई ऐसा काम नहीं किया गया जिसका उस पर प्रभाव पड़ता। अभी नेशनल सोशलिस्ट शासन बहुत बलवान नहीं हो पाया था, इसलिये उसके खिलाफ सैनिक कार्यवाही करने का मौका था, परन्तु यह राष्ट्रों के हाथ से निकल गया।

शक्ति-संतुलन का फिर उदय—हम देख चुके हैं कि वेमर रिपब्लिक की अध्यक्षता में जर्मन सरकारों ने पश्चिमी राष्ट्रों के साथ सहयोग करने की नीति का अनुसरण किया था और उनके ठंडे रुख का यह अच्छा नतीजा हुआ था कि वरसाइल की सन्धि पर दस्तखत करने वाले राष्ट्रों ने जर्मनी को कितनी ही रियायतें दी थीं। इस प्रकार 1914-18 के विश्व-युद्ध के कारण जो अनेक समस्याएँ चलती आ रही थीं उनका हल होने लगा था और यह हल सामूहिक समझौतों से हुआ था। एक बड़े दूरदर्शी यूरोपीय राजनीतिज्ञ ने प्रस्ताव किया था कि एक यूरोपीय राष्ट्र-संघ बनाया जाए और यह प्रस्ताव कुछ स्थूल रूप भी लेने लगा था, लेकिन जब जर्मनी के नए शासक अपने स्थान पर अच्छी प्रकार से जम गए तो उन्होंने इस स्वप्न को छिन्न-भिन्न कर दिया और फिर जर्मनी के उग्र इरादों की बातें सम्पूर्ण महाद्वीप की सरकारों के दफ्तरों में सुनाई देने लगीं। ऐसी सरकार के साथ सहयोग करना असम्भव बात थी, जो किसी समझौते के लिए तैयार न हो; जो अपने गहरे इरादों को कभी प्रकट न करे और जो अपने शस्त्रों को तेजी के साथ बढ़ाता जाय। इस प्रकार एक नई खतरनाक स्थिति पैदा हो गई। इसका अनिवार्य और शोचनीय नतीजा यह हुआ कि फिर शक्ति-संतुलन के सिद्धान्त को ग्रहण करना पड़ा, जिसकी पहले बहुत निन्दा हो चुकी थी। जर्मनी के खतरे से बचने के लिए फ्रांस सहायकों के लिए इधर-उधर झाँकने लगा। नेशनल सोशलिस्ट रूस के विरुद्ध खासकर प्रेस में और भाषणों में विष उगला करता था और चाहता था कि संसार में उसका कोई सहायक न रहे। ऐसी स्थिति में रूस भी सहायकों की खोज करने लगा। तब मई 1935 में फ्रांस और रूस ने मिलकर पारस्परिक सहायता के लिये एक सन्धि की। इसमें यह शर्त ठहरी कि "रूस या फ्रांस में से किसी पर यदि किसी यूरोपीय राष्ट्र ने अन-उत्तेजित हमला किया तो फ्रांस और रूस एक-दूसरे की सहायता करेंगे।" पहले भी इन दोनों राष्ट्रों में एक प्रकार की सन्धि थी, अब उसी को पुनर्जीवित किया गया। तब जर्मनी शिकायत करने लगा कि उसको चारों ओर से घेरा जा रहा है। वास्तव में यूरोप में वही स्थिति फिर आ रही थी जो पहले थी। उसी वर्ष रूस और चेकोस्लोवेकिया में भी ऐसी ही पारस्परिक सहायता की सन्धि हुई और इसमें भी यही शर्त ठहरी कि यदि अन-उत्तेजित हमला हुआ तो एक देश दूसरे देश की सहायता करेगा। इसमें यह शर्त और रखी गई कि जिस देश पर हमला किया जाएगा उसको उसी हालत में सहायता दी जायगी जब उसकी फ्रांस भी सहायता करता हो।

निःशस्त्रीकरण के संकेत—अब जर्मनी को खतरा मालूम होने लगा कि कहीं वह अकेला न रह जाय। यह उसकी नीति का फल था जो किसी राष्ट्र के साथ समझौता करने के विरुद्ध थी। परन्तु जर्मनी इस एकान्तवास में से निकलना चाहता था। इसलिए उसने ग्रेट ब्रिटेन और पोलैण्ड से निःशस्त्रीकरण की बातचीत शुरू की। ग्रेट ब्रिटेन के साथ उसने सन् 1935 में नौ-सेना के विषय में समझौता किया, जिसके अनुसार

यह ठहरा कि ब्रिटिश नौ-सेना के मुकाबले जर्मनी की नौ-सेना 35 प्रतिशत होगी। इस सन्धि का उद्देश्य था कि अंग्रेजों को यह डर न रहे कि कहीं जर्मनी फिर अपनी नौ-सेना बढ़ाने की होड़ा-होड़ी करने लगें। हिटलर चाहता था कि इस टापू के निवासी वह जो कुछ महाद्वीप पर करना चाहे उसे करने दें। 1934 में जर्मनी ने पोलैण्ड के साथ सन्धि की। इसके अनुसार दोनों पक्ष इस बात पर राजी हो गये कि कम से कम दस वर्ष तक किसी विवाद का फैसला करने के लिए वे सेना का प्रयोग नहीं करेंगे। इस सन्धि की शर्तों में यह भी शामिल था कि दस वर्ष तक जर्मनी अपनी पूर्वी सीमाओं को संशोधित करवाने का यत्न नहीं करेगा, जिसमें पोलिश कोरीडोर भी शामिल था। इसके विरुद्ध जर्मनी पहले कई बार अपना मत प्रकट कर चुका था। जापान के साथ भी इसी प्रकार उसने एक रूस-विरोधी सन्धि की, परन्तु उसकी विदेश-नीति में सबसे बड़ा परिवर्तन था इटली के साथ गठ-बधन करना। ये दोनों ही रियासतें सर्वसत्तात्मक राष्ट्र थे और इनके आदर्श भी समान थे। वे समकालीन सभ्यता के सब ढंगों के विरोधी थे। उन दोनों में आस्ट्रिया के विषय में मतभेद था। इटली ने उसकी स्वतंत्रता का रक्षक बनना स्वीकार किया था, लेकिन जब इटली ने देखा कि जनतंत्र राष्ट्र एबीसीनिया को विजय करने के मामले में उसका विरोध करते हैं तो वह उनके विरुद्ध हो गया और जर्मनी से मित्रता कर ली। जर्मनी चाहता ही था कि कोई सहायक मिले। उसने इटली का स्वागत किया। बस अब वरसाइल की सन्धि पर हस्ताक्षर करने वाले राष्ट्रों के बीच फांगा ठुक गया। 1936 में मुसोलिनी ने घोषणा की कि रोम और बर्लिन की धुरी बन गई है। दो अनियंत्रित राष्ट्र इस प्रकार एक दूसरे के निकट आए।

जर्मनी के उद्देश्य—कूटनीति की इन सफलताओं के बाद जर्मन चांसलर (Fuhrer) को उस सौभाग्य की अनुभूति हुई जो प्राय: इस प्रकार राजनीतिज्ञों को आरम्भ में हुआ करती है। राष्ट्र-संघ की सत्ता एबीसीनिया की गड़बड़ के बाद नष्ट हो गई और इस महत्वपूर्ण घटना के बाद यूरोप के इतिहास में एक नया अध्याय शुरू हुआ। सामूहिक सुरक्षा के लिए जो लम्बा-चौड़ा आयोजन खड़ा किया गया था वह धराशायी हो गया। इसका कारण यह था कि इसके समर्थकों ने यह नहीं समझा कि शान्ति अविभाज्य है, उसके टुकड़े नहीं हो सकते और जब हमला होता है तो उसके बाद दूसरा हमला भी होता ही है। मध्य यूरोप में अब जर्मनी का कोई विरोधी नहीं था, इसलिए उसने मध्य और दक्षिण-पूर्व और यूरोप में अपना राजनीतिक और आर्थिक आधिपत्य स्थापित करने के लिए बहुत बड़ा कार्यक्रम शुरू किया। जर्मनी की पुरानी नीति थी पूर्व की ओर बढ़ो। उसके काम करने का ढंग बिस्मार्क के ढंग जैसा ही था, अर्थात् वह एक-एक शत्रु से निपटना चाहता था, लेकिन उसने बड़ी चतुराई के साथ यह बार-बार कहा कि दूसरे किसी देश पर हमला करने का उसका बिल्कुल इरादा

नहीं है। उसने आस्ट्रिया को विश्वास दिलाया कि उसकी स्वतन्त्रता पर कोई ज्यादती नहीं होगी। चेकोस्लोवेकिया से कहा कि उसकी भूमि ज्यों की त्यों बनी रहेगी। फ्रांस को वचन दिया कि इसकी सीमा में कोई हेर-फेर नहीं होगा। आस्ट्रिया और चेकोस्लोवेकिया की जो गति हुई उससे प्रकट हुआ की जर्मन राष्ट्र के आश्वासन की क्या कीमत हो सकती है और पोलैण्ड पर जर्मनी ने हमला किया उससे प्रकट हुआ कि उसकी महत्वाकांक्षा कभी पूरी नहीं हो सकती। जर्मनी के आक्रमण का प्रथम शिकार आस्ट्रिया था।

आस्ट्रियन रिपब्लिक—1914-18 के विश्व-युद्ध के बाद आस्ट्रिया के साम्राज्य के टुकड़े टुकड़े हो गए और वह एक छोटी-सी रिपब्लिक बन गया, जिसकी आबादी साठ लाख थी जिनमें से लगभग बीस लाख उसकी राजधानी वियना में रहते थे। सम्राट् कार्ल 1916 में फ्रेंसिस जोजफ का उत्तराधिकारी बना था। उसने नवम्बर 1918 में घोषणा की कि हम राष्ट्र के शासन-कार्य का परित्याग करते हैं। आस्ट्रिया-हंगरी ने बड़े दम्भ के साथ युद्ध शुरू किया है। यह आज समाप्त होता है। ये शब्द वियना के एक पत्र में प्रकाशित हुए थे और यह भी लिखा था कि यह सैनिक राजतंत्र का भी अन्त है। साथ ही साथ जर्मनी में भी सैनिक राजतंत्र का अन्त हो गया। जब दोनों देशों में जनतन्त्र शासन स्थापित हो गया तो उनका प्रेम-बंधन भी दृढ़ हुआ और दोनों देशों में माँग होने लगी कि उनका संघ बन जाय। जनवरी 1919 में आस्ट्रिया की नेशनल असेम्बली ने प्रस्ताव किया कि जर्मन आस्ट्रिया जर्मन देश का अंश है। जर्मन रेश के प्रेसीडेन्ट ने इस घोषणा का बड़ा स्वागत किया और कहा कि यह ऐतिहासिक ऐलान है। आस्ट्रियन लोग हमारे हैं और हम उनके हैं। फिर भी विजयी राष्ट्रों ने संघ की मंजूरी देने से इन्कार किया। उनका उद्देश्य तो अपने पराजित शत्रु को वास्तव में निर्बल करना था न कि सबल बनाना, इसलिए आस्ट्रिया लगभग बीस वर्ष तक स्वतन्त्र राज्य बना रहा। इन प्रारम्भिक सालों में इस रिपब्लिक की मुख्य समस्या यह थी कि बदली हुई परिस्थिति में अर्थतंत्र की क्या व्यवस्था होनी चाहिए। राष्ट्र संघ ने इसको आर्थिक सहायता दी जिससे इसकी अनेक कठिनाइयाँ दूर हो गईं। जब बेकारी और आर्थिक संकट के ज्वार-भाटे पर तैरते हुए नेशनल सोशलिस्ट लोग जर्मनी के शासक बने तो एक नई स्थिति उत्पन्न हुई। उनकी विजय का प्रभाव आस्ट्रिया पर भी पड़ा। वहाँ पर पहले से ही नेशनल सोशलिस्ट पार्टी मौजूद थी। अब उसको हिम्मत आई और वे आतंकवाद के साधनों को अर्थात् हत्या और बम को काम में लाने लगे। इस आन्दोलन का दमन करने के लिए सरकार ने इस पार्टी को गैर-कानूनी घोषित कर दिया। तब इसके बहुत-से सदस्य जर्मनी चले गए। वहाँ जाकर उन्होंने एक आस्ट्रियन सेना बनाई। यह सीमांत देशों को तंग करने लगी और आबादी में एक खलबली-सी पैदा कर दी।

आस्ट्रिया में आन्तरिक फूट—जर्मनी चाहता था कि आस्ट्रिया का राजतन्त्र नष्ट हो जाय। इसलिए उसने वहाँ फूट के बीज बोए। पहले तो आस्ट्रियन लोग जर्मनी में शामिल होना चाहते थे, परन्तु अब उनकी यह अभिलाषा शान्त होने लगी। अब तो वे कहने लगे कि यह सरकार का कर्त्तव्य है कि जितने भी तत्व जर्मनी के विरोधी हैं उन सबको संगठित करे। यह तो नहीं हुआ और डाक्टर डालफस ने इटली के प्रभाव से विधान को स्थगित कर दिया और बिना पार्लियामेंट की सहायता के चांसलर की हैसियत से निरंकुश सत्ताधारी बनकर राज्य करने लगा। उसने यह भी इरादा प्रकट किया कि वह तमाम राज्य को सहकारिता में परिणत करना चाहता है जिससे सब लोग मिलकर देश की आर्थिक उन्नति कर सकें। इसलिए यह निरंकुश सत्ता स्थापित करना चाहता था। अपने आयोजन को पूरा करने के लिए सोशल डेमोक्रेट्स को खत्म कर दिया। इन लोगों की पार्टी आस्ट्रिया में सबसे बड़ी थी और उनकी विद्यमानता में फासिस्ट राज्य के सिद्धान्त नहीं चल सकते थे। उस समय वियना की म्यूनिसिपैलिटी सोशल डेमोक्रेट्स के हाथ में थी जो दो-तिहाई बहुमत से निर्वाचित हुए थे। राजधानी का नियन्त्रण उनके हाथ में से छीनने के लिए सरकार ने म्यूनिसिपैलिटी के अध्यक्ष को गिरफ्तार कर लिया और मजदूरों के लिए जो सोशलिस्ट लोगों ने मकान बनवाए थे उनको निर्दयतापूर्वक तोपों से उड़ाना शुरू कर दिया। बहुत-से सोशल डेमोक्रेट्स को कैद करके कष्ट-कैम्पों में भेज दिया और सोशलिस्ट पार्टी को भंग कर दिया। वियना की म्यूनिसिपैलिटी से ही सोशल डेमोक्रेट्स को बड़ी सहायता मिलती थी। उनका दमन करने से पार्टी का बल क्षीण हो गया और देश की स्वतन्त्रता की रक्षा करना असम्भव-सा हो गया। जुलाई में आस्ट्रिया के नेशनल सोशलिस्ट्स ने जर्मनी के उकसाने से दंगा शुरू किया जिसमें उन्होंने चांसलर को अर्थात् डॉक्टर डालफस को मार डाला, लेकिन वे शासन-सत्ता अपने हाथ में नहीं ले सके। इटली अपने-आपको आस्ट्रिया की स्वतन्त्रता का रक्षक समझता था, इसलिए उसने अपनी सेना आस्ट्रिया की सीमा तक भेजी ताकि जर्मनी के हमले का खतरा टल सके। इटली नहीं चाहता था कि जर्मनी और आस्ट्रिया का संघ बन जाय, क्योंकि ऐसा होने पर जर्मनी की सीमा इटली से बैनर पास के निकट आ मिलती।

आस्ट्रिया की स्वतन्त्रता का अन्त—आस्ट्रिया के नए चांसलर डॉक्टर शुस्निग ने वही नीति रखी जो पिछले चांसलर की थी। इस समय आस्ट्रिया के शासन को लोग पसन्द नहीं करते थे। शुसनिग ने यह भी चाहा कि हेब्सबर्ग राजवंश को पुनः आस्ट्रिया में स्थापित कर दिया जाय, जिससे उसकी पृथक् सत्ता बनी रहे। 1914-18 के विश्व-युद्ध के बाद इटली और मित्रराष्ट्रों में परस्पर अनबन हो गई। इसलिए इटली को जर्मनी के साथ मित्रता करने की कीमत चुकानी पड़ी और जर्मनी आस्ट्रिया के संघ का जो पहले विरोध करता था, वह उसने छोड़ दिया। आस्ट्रिया अपनी घरेलू

फूट का शिकार बना हुआ था। नेशनल सोशलिस्ट चाहते थे कि जर्मनी से मिल जाएँ और दूसरे सोशलिस्ट्स इन लोगों के व्यवहार से इसके बहुत विरुद्ध थे। अब इटली भी उनकी सहायता नहीं करता था और पश्चिमी राष्ट्र किसी प्रकार का हस्तक्षेप करना नहीं चाहते थे। कहने को उन्होंने इतना अवश्य प्रकट किया था कि आस्ट्रिया की स्वतन्त्रता बनी रहनी चाहिए लेकिन इससे कुछ नहीं हो सकता था। अतः आस्ट्रिया का जनतन्त्र जीवित नहीं रह सका। जोर का धक्का लगाने से पहले हिटलर ने आस्ट्रिया को ऐसा आश्वासन दिया कि उसको विश्वास हो गया कि जर्मनी आस्ट्रिया की स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार करता है। उसने यह भी वचन दिया कि नेशनल सोशलिस्टों को किसी प्रकार का प्रोत्साहन नहीं दिया जायगा। लेकिन वास्तव में हुआ यह कि नेशनल सोशलिस्ट लोगों में नई चेतना आ गई और सन् 1938 में स्थिति नाजुक हो गई। जर्मन और आस्ट्रियन चांसलरों की एक मीटिंग हुई जिसमें हिटलर ने फिर अपनी प्रतिज्ञा को दोहराया कि आस्ट्रिया के आन्तरिक मामलों में जर्मनी कोई हस्तक्षेप नहीं करेगा। परन्तु उसने शर्त यह रखी कि आन्तरिक प्रबन्ध का कोई मन्त्री उसके द्वारा नियत होगा। थोड़े दिन बाद डॉक्टर शुसनिग ने यह घोषणा की कि वह जनमत लेकर आस्ट्रिया की स्वतन्त्रता के प्रश्न को हल करेगा। दो दिन बाद उसने भाषण दिया। उसमें उसने कहा कि जर्मन सरकार ने आज हमारे प्रेसीडेन्ट को यह अल्टीमेटम (चेतावनी) दी है कि जर्मन सरकार द्वारा मनोनीत चांसलर की नियुक्ति की जाय और आस्ट्रिया सरकार के मन्त्री भी जर्मन सरकार से आज्ञा लेकर नियुक्त किए जाएँ। यदि ऐसा नहीं होगा तो जर्मन सेना आस्ट्रिया पर आक्रमण करेगी। मैं संसार को यह बतला देना चाहता हूँ कि जर्मनी में हमारे विषय में जो ये खबरें फैलाई जा रही हैं कि मजदूर दंगा कर रहे हैं, रक्त की नदियाँ बह रही हैं और ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है जिस पर आस्ट्रियन सरकार का कोई काबू नहीं है, यह सारा प्रचार क से ज्ञ तक झूठा है। प्रेसीडेन्ट ने मुझसे कहा कि मैं लोगों को बतला दूँ कि उसने शक्ति से दबकर स्वीकृति दी है। फिर जर्मन सेना आस्ट्रिया में प्रवेश करने लगी। उसका किसी ने विरोध नहीं किया। आस्ट्रिया के जनतन्त्र को जर्मन आदेश से समाप्त कर दिया गया और यह घोषणा की गई कि आस्ट्रिया जर्मन रेश की भूमि है। इस प्रकार आस्ट्रिया का अकीर्तिकर अन्त हुआ। इसका कारण था शक्ति और कूटनीति। अपने अतीत गौरव के युग में आस्ट्रिया का बड़ा नाम था। अब यह सब खत्म हो गया।

चेकोस्लोवेकिया—चेकोस्लोवेकिया जर्मन आक्रमण का दूसरा शिकार था। हम दूसरे स्थान पर बतला चुके हैं कि चेकोस्लोवेकिया का जन्म कैसे हुआ और वहाँ कौन कौन सी जातियाँ निवास करती हैं। बहुत थोड़े अर्से में वह एक आदर्श जनतंत्र बन गया। वहाँ का सामाजिक कानून बहुत उन्नत था और दूसरे देशों में उसकी अच्छी

प्रतिष्ठा थी। उसकी विदेश नीति भी अच्छी थी। वह अपने पड़ोसी राष्ट्र अर्थात् रूमानिया और यूगोस्लेविया के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करना चाहता था। इसलिए इन तीनों राष्ट्रों में एक पारस्परिक सन्धि की गई और इसका लघु-संघ बन गया। ये तीनों ही राष्ट्र डरते थे कि कहीं हंगरी में हैप्सबर्ग राजवंश पुनः स्थापित न हो जाय। ऐसा होने पर यह आशंका थी कि उन देशों को हंगरी में मिलाने की कोशिश की जायगी जो अलग हो चुके हैं। चेकोस्लोवेकिया की घरू समस्या यह थी कि उसका जर्मन जनता के साथ क्या व्यवहार होना चाहिए। इन लोगों का रुख बड़ा विरोधी था और इनकी संख्या भी 37-38 लाख के लगभग थी। दूसरे देशों के मुकाबले में यहाँ जर्मन लोगों की सख्या दूसरी अल्पसंख्यक जातियों की अपेक्षा अच्छी थी। उन्हीं का अलग विश्वविद्यालय था, उन्हीं के स्कूल थे और संयुक्त मंत्रिमडल में उनका प्रतिनिधित्व था। फिर भी नए जनतन्त्र में प्रभावशाली जाति चेक लोग थे। जर्मन लोगों को यह बात बुरी लगती थी कि कभी तो वे शासक थे और आज उनका दूसरा स्थान हो गया। सरकारी नौकरियों के विषयों में भी उनको शिकायत थी। यदि उनके साथ अधिक उदारता का व्यवहार किया जाता तो सम्भव है कि उनका विरोध शान्त हो जाता। उस दशा में चेकोस्लोवेकिया स्विट्जरलैण्ड की भाँति एक अलग और संगठित राष्ट्र हो जाता और उसकी विभिन्न जातियों में स्निग्ध सहयोग स्थापित हो जाता। लेकिन जर्मनी में नेशनल सोशलिज्म के उदय होने से ये आशाएँ एकदम नष्ट हो गईं। अब जर्मन लोगों ने जहाँ-तहाँ बसे हुए जर्मन लोगों में जर्मन भावना का प्रचार शुरू किया और उनको प्रोत्साहन दिया कि वे अलग हो जाएँ। चेकोस्लोवेकिया की नेशनल सोशलिस्ट पार्टी भंग कर दी गई, क्योंकि इसका सम्बन्ध जर्मन से था परन्तु फिर उसका स्थान सुडेटन जर्मन पार्टी ने ले लिया (1934)। 1935 के निर्वाचन में सुडेटन जर्मन्स का पालियामेन्ट में बहुमत हो गया। 1937 में सरकार ने अपनी नीति घोषित की, जो कुछ काम होगा वह अनुपात से होगा अर्थात् विभिन्न जातियों की संख्या का लिहाज रखा जायगा। दूसरी जर्मन पार्टियों के साथ कुछ रियायतें की गईं और उनकी शिकायतें दूर की गईं। इससे उनका विरोध कम हो गया। सरकार ने निश्चय किया कि देश के जर्मन भाग में अनुपात के अनुसार जर्मन लोगो को ही नौकरियाँ दी जायेंगी और निर्माण कार्य, राहत, सांस्कृतिक संस्थाओं को सहायता आदि अनुपात से ही दी जायेंगी। जर्मन भाषा को सरकारी भाषा मान लिया जायगा। लेकिन इन रियायतों से सुडेटन पार्टी को संतोष नहीं हुआ। यह पार्टी हिटलर से पूछ कर काम करती थी। उसकी हिदायत के अनुसार इसने कार्ल मार्क्स के आठ पाइन्ट्स के आधार पर पूर्ण स्वतन्त्र राज्य की माँग की और उसी साँस में यह भी कहा कि जनतन्त्र को छिन्न-भिन्न करने की कोई मंशा नहीं है।

म्यूनिच की सन्धि—जब आस्ट्रिया को तृतीय रेश में शामिल कर दिया गया

तब चेकोस्लोवेकिया की स्थिति पर एकदम इसकी प्रतिक्रिया हुई। जर्मन चांसलर की प्रथम आकांक्षा बहुत आसानी से पूरी हो गई थी। इसलिए आइन्दा के लिए उसकी अभिलाषा और तेज हो गई। अब प्रेस के द्वारा जर्मनी ने चेकोस्लोवेकिया के विरुद्ध जोरदार प्रचार करना शुरू कर दिया। दोनों देशों के सम्बन्ध में बड़ा तनाव पैदा हो गया और यूरोप के सामने एक नई अन्तरराष्ट्रीय स्थिति उत्पन्न हो गई। ब्रिटिश सरकार की चेकोस्लोवेकिया के साथ कोई सन्धि नहीं थी, इसलिए उनका इस देश के प्रति कोई उत्तरदायित्व नहीं था। तो भी उन्होंने चैक और सुडेटन जर्मन्स के झगड़ों का निपटारा करने के लिए एक मध्यस्थ भेजा (1938)। उसने अपनी रिपोर्ट में बतलाया कि दोनों ही पक्षों का दोष है। उसने लिखा कि पिछले बीस वर्ष से चेकोस्लोवेकिया के लोग सुडेटन प्रदेश में राज्य कर रहे हैं। उन्होंने अत्याचार तो नहीं किया और न उन लोगों में किसी प्रकार का आतंक है, लेकिन उन्होंने हिकमत अमली से काम नहीं लिया, उन लोगों ने समझने का प्रयत्न नहीं किया, अन्य लोगों की छोटी-छोटी बातें स्वीकार नहीं कीं और व्यवहार-नीति भी एकसी नहीं रही। किसी के साथ कैसा व्यवहार, किसी के साथ कैसा। उनमें राजनीतिक असंतोष था। इसके कारण थे आर्थिक शिथिलता और बेकारी, जो 1930 से चली आ रही थी। साथ ही सरकार के नये प्रस्तावों में कार्ल्सवाद के आठ पाइन्ट्स करीब-करीब आ गये थे और सुडेटन नेताओं में नरम नीति वाले चाहते हैं कि चेकोस्लोवेकिया राज्य की सीमाओं के अन्दर रहते ही फैसला हो जाय तो अच्छा हो। लेकिन जो उनमें गर्म दल वाले लोग थे वे जर्मनी के उकसाने पर चाहते थे कि आत्मा निर्णय के आधार पर फैसला होना चाहिए। सितम्बर 1938 में ऐसा मालूम होता था कि जर्मनी चेकोस्लोवेकिया पर हमला करने ही वाला है। फ्रांस और रूस का तो कर्त्तव्य था कि चेकोस्लोवेकिया की मदद करते और फ्रांस की सहायता के लिए शायद ग्रेट ब्रिटेन भी युद्ध में शामिल हो जाता। इस प्रकार सर्वत्र आग भड़क उठती। इस खतरे को टालने के लिए ग्रेट ब्रिटेन का प्रधान मन्त्री जर्मन चांसलर, हिटलर से मिला। लेकिन उसने कह दिया कि वे विश्व-युद्ध के लिए तैयार हैं। इस धमकी के बाद अंग्रेज और फ्रेंच सरकार ने मिल कर एक नोट तैयार किया जो चेकोस्लोवेकिया की सरकार को भेजा गया कि शान्ति की रक्षा और चेकोस्लोवेकिया के मूल हितों की रक्षा सार्थक रूप से उसी हालत में हो सकती है जब ऐसे प्रदेश, जिनमें मुख्यत: सुडेटन जर्मन्स की आबादी है, जर्मनी की रेश को दे दिये जायें। उस हालत में चेकोस्लोवेक राष्ट्र की जो सीमायें बनेंगी उन पर अनुत्तेजित आक्रमण की दशा में ग्रेट ब्रिटेन अन्तरराष्ट्रीय गारन्टी देने के लिए तैयार है। जब सुडेटन देश को वापस करने के विषय में हिटलर की माँग स्वीकार कर ली गई तो उसने चेतावनी (अल्टीमेटम) दी कि यह देश पहली अक्तूबर को जर्मनी के सुपुर्द हो जाना चाहिए। चेकोस्लोवेकिया सरकार ने बतलाया कि इस आश्चर्यकारी

प्रस्ताव का परिणाम घातक होगा। इसके बाद राष्ट्रीय जीवन की रक्षा करने के लिए हमारे पास क्या साधन रह जायगा। हमने रक्षा के लिए जो बड़े ध्यान से तैयारियाँ की हैं, वे हमको जर्मनी को अर्पण करनी पड़ेंगी और हम दूसरी तैयारियाँ कर सकेंगे इसके पहले ही जर्मनी की सेनाएँ हमारे देश में घुस आएँगी। इसलिए आप-से-आप हमारी राष्ट्रीय और आर्थिक स्वतन्त्रता विलीन हो जाएगी। जब आबादियों को हटाया जाएगा तो लोगों में आतंक फैलेगा और भगदड़ मचेगी। यह दशा उन लोगों की होगी जो जर्मनी के नेशनल सोशलिस्ट शासन को मंजूर नहीं करते। इस उत्तर में आगे होने वाली बातें ठीक-ठीक बतलाई गईं थीं। म्यूनिच की सन्धि (29 सितम्बर 1938) पर फ्रांस, जर्मनी, ग्रेट ब्रिटेन और इटली ने अपने हस्ताक्षर कर दिए। इसमें यह शर्त रखी गई कि सुडेटन देश को खाली करने का काम पहली अक्टूबर को शुरू हो जायगा और 10 अक्टूबर को समाप्त हो जायगा। इसके कुछ अर्से बाद चेकोस्लोवेकिया ने टेशचन का जिला पोलैण्ड के सुपुर्द कर दिया और स्लोवेक लोगों को पूर्ण स्वराज्य प्राप्त हो गया। चेकोस्लोवेकिया ने म्यूनिच के अहदनामे को मंजूर तो कर लिया परन्तु उसने इसमें यह भी दर्ज करवाया कि ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस अन्तरराष्ट्रीय गारन्टी पर दृढ़ हैं और जर्मनी और इटली अपनी ओर से भी चेकोस्लोवेकिया को उस वक्त गारन्टी देंगे जब पोलैण्ड और हंगरी की अल्पसंख्यक आबादियों का प्रश्न हल हो जाएगा।[1]

हिटलर के आश्वासन—दूसरी बार ग्रेट ब्रिटेन का प्रधान मन्त्री जर्मनी से शान्ति लेकर वापस आया, पर इस बार की शान्ति मानहीन शान्ति थी।[2] म्यूनिच का अहदनामा अंग्रेजों को पसन्द नहीं था। यद्यपि चेकोस्लोवेकिया के साथ वे वचन-बद्ध नहीं थे, परन्तु सर्वत्र यह समझा जाता था कि उनको शक्ति से दबना पड़ा है, जो बड़े अपमान की बात है। जनतन्त्र राष्ट्रों को जर्मनी के प्रति झुकना पड़ा। यह लोगों को अच्छा नहीं लगता था, परन्तु एक बात के कारण लोग किंचित् सन्तुष्ट थे। जब हिटलर ब्रिटिश प्रधान मन्त्री से मिला तो उसने स्पष्ट आश्वासन दिया था कि अब जर्मनी यूरोप में अधिक प्रदेश के लिए दावा नहीं करेगा। उसने यह बात

---

1. जर्मनी की भूमि और जनसंख्या में इस प्रकार वृद्धि हुई। वरसाइल की सन्धि के अनुसार उसकी भूमि दो लाख नौ हजार वर्ग मील से घटकर एक लाख बयासी हजार रह गई थी और उसकी जनसंख्या जो 1910 में 6 करोड़ 50 लाख थी, अब 6 करोड़ 35 लाख रह गई थी। आस्ट्रिया और सुडेटनलैण्ड को आत्मसात् कर लेने से जर्मनी की भूमि 2 लाख 25 हजार वर्ग मील और उसकी जनसंख्या 8 करोड़ हो गई थी।
2. जर्मन चान्सलर और ब्रिटिश प्रधान-मन्त्री ने एक संयुक्त वक्तव्य प्रकाशित किया, जिसमें कहा था कि हमारे दोनों देशों के लोगों की अभिलाषा है कि एक-दूसरे के साथ कभी युद्ध न करें।

दोहराई थी कि प्रदेश के लिए यह उसकी अन्तिम आकांक्षा थी। अब उसकी इच्छा नहीं है कि वह जर्मनी में ऐसे भागों को सम्मिलित करे जो जर्मन जाति के नहीं हैं। हिटलर ने इस बात की पुष्टि एक भाषण में की थी। उसने कहा, "यूरोप में यह मेरा अन्तिम प्रादेशिक दावा है। अब यूरोप में जर्मनी के लिए कोई प्रादेशिक प्रश्न नहीं है। अब चेक राज्य में मेरा कोई लोभ नहीं है। मैं इसको गारन्टी के साथ कह सकता हूँ।" इस आश्वासन को सुनकर लोगों ने समझा कि ब्रिटिश सरकार ने जो सन्तुष्ट करने की नीति का अनुसरण किया है वह उचित ही है। परन्तु कुछ ऐसे भी लोग थे जिनको सन्देह हुआ। इन लोगों को स्मरण था कि इस प्रकार आश्वासन कुछ अर्से पहले बार-बार दिये गये थे और बार-बार ही उनको भंग किया गया था।

चेकोस्लोवेकिया का अन्त—म्यूनिच अहदनामे से यूरोप को कुछ दम लेने के लिए समय मिल गया, लेकिन छः महीने के अन्दर ही एक पक्ष ने, जिसने इस पर हस्ताक्षर किये थे, इसको फाड़ फेंका। फिर गम्भीरतापूर्वक जर्मनी को दुबारा वचन दिया गया। इसको भी इसने कागज का टुकड़ा समझा और फिर चेकोस्लोवेकिया के जनतन्त्र का अस्तित्व ही नहीं रहा। यह घटना इतनी जल्दी घटी जैसे कोई नाटक हो रहा हो। नेशनल सोशलिज्म की यह राजनीतिक कला थी कि संसार को एकदम बिना चेतावनी के चकित कर दिया जाता था। चेकोस्लोवेकिया का वास्तविक अन्त होना तब प्रारम्भ हुआ जब इसके एक अंग ने अर्थात् स्लोवेकिया ने जर्मनी के दबाव से अलग होने की इच्छा प्रकट की। मार्च 1939 में प्राग में केन्द्रीय सरकार ने स्लोवेक मंत्रिमंडल को बरखास्त कर दिया। कारण यह बतलाया कि पृथक्करण की प्रणाली में ये लोग मिले हुए माने गये थे या कम-से-कम इन्होंने उसकी ओर आँखें बन्द कर रखी थीं और इस प्रगति से यह भय था कि चेकोस्लोवेकिया छिन्न-भिन्न होने वाला है। बरखास्त किए गए प्रधान मंत्री ने जर्मनी के फ्यूहरर से अपील की। इसी ने स्लोवेकिया में पृथक्करण के आन्दोलन को प्रोत्साहन दिया था और उसी के आग्रह पर स्लोवेक डाइट का अधिवेशन किया गया था और उसको इस बात की प्रेरणा की गई थी कि स्लोवेक और चेक्स बंधन तोड़ दिये जाएँ। इस जनतन्त्र का प्रेसीडेन्ट बर्लिन पहुँचा। वहाँ जाते ही उसके सामने यह माँग पेश की गई कि चेक लोगों को अपनी स्वतन्त्रता का परित्याग कर देना चाहिए। जर्मन सेनाओं ने चेकोस्लोवेकिया की ओर कूच करना पहले ही शुरू कर दिया था। प्रेसीडेन्ट ने विवश होकर यह बयान प्रकाशित करवाया कि मैं विश्वास के साथ चेक लोगों के भाग्य की बागडोर और अपने देश को जर्मन के चांसलर के हाथों में सौंप रहा हूँ। जर्मन सेना ने बोहेमिया के प्रान्तों तथा मोरेविया पर अधिकार प्राप्त कर लिया और राजधानी प्राग में प्रवेश किया। उनका किसी ने कोई मुकाबला नहीं किया। जर्मन सरकार की ओर से एक गैर-जर्मन रियासत को दबाने की बाबत जो स्पष्टीकरण प्रकाशित

हुआ उसमें कहा गया कि जर्मन-निवासी भी चेक लोगों के हाथों पाशविक अत्याचारों के शिकार हो चुके हैं। इस आंतक के आरोप का नाम मात्र का भी प्रमाण नहीं दिया गया और जो कारण बतलाया गया उससे जर्मनी के दूसरे कामों पर भी पर्दा पड़ गया। यह आक्रमण इस अभिलाषा से किया गया कि चेक लोगों की उठती हुई भावनाओं को दबा दिया जाये, चेक सेना को नष्ट कर दिया जाये, चेक साधनों पर अधिकार कर लिया जाये और जर्मनी के पूर्व की ओर बढ़ने में जो विघ्न हो उसको दूर किया जाये और अन्तिम ध्येय यह था कि पूर्वी यूरोप के छोटे-छोटे राष्ट्रों को सबक सिखाया जाये। बोहेमिया और मोरेविया की प्रतिष्ठा के विषय में एक आदेश जारी किया गया, जिसमें कहा गया कि ये दोनों प्रान्त एक हजार वर्ष से जर्मनी में शामिल थे और अब इनको महा जर्मनी में शामिल किया गया है और अब ये जर्मनी के संरक्षण में रहेंगे। उनको वचन दिया गया कि उन्हें स्वराज्य दिया जायगा। लेकिन इस वचन का मूल्य उन प्रतिबन्धों से स्पष्ट हुआ जो इस स्वराज्य पर लगाए गए थे। रेश (Reich) ने विदेशी सम्बन्ध, जकात, सेना आदि अपने हाथ में ले लिए और जर्मनी की ओर से इस प्रान्त पर एक संरक्षक या प्रोटेक्टर नियुक्त किया गया जो चेक सरकार की किसी भी बात को अपना मत देकर रद्द कर सकता था और स्वयं अपना आदेश ज़ारी कर सकता था। इस विलीन जनतन्त्र के मध्यवर्ती प्रदेश स्लोवेकिया ने पहले ही स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी थी। इसके प्रधान मन्त्री ने कहा कि अब स्लोवेकिया चेक लोगों का पिछलग्गू नहीं है। वह अब अपने घर का स्वामी है। लेकिन दो दिन में ही इसको पता लग गया कि वह खाई में से निकलकर कुएँ में जा पड़ा। हिटलर ने घोषणा कर दी कि स्लोवेक रियासत को हमने संरक्षण में ले लिया है। इस जनतन्त्र का पूर्वी छोटा-सा भाग अर्थात् रूथेनिया भी इससे अलग हो गया, परन्तु हंगरी ने आक्रमण करके इसे अपने राज्य में मिला लिया। इस प्रकार बीस वर्ष के रिपब्लिक का अन्त हुआ। यह उसकी आन्तरिक फूट का परिणाम था जो उसके शक्तिशाली और सिद्धान्तहीन पड़ौसी ने उत्पन्न की थी। स्विट्जरलैण्ड के एक पत्र ने चेकोस्लोवेकिया और आस्ट्रिया के पतन के विषय में लिखते हुए कहा था कि इनका विनाश इसलिए आसानी से हो गया कि वहाँ ट्रोजन का घोड़ा मौजूद था। यह घोड़ा था राज्य के अन्दर असन्तुष्ट तत्वों के रूप में।

विश्वमत पर प्रतिक्रिया—पश्चिमी जनतन्त्रों ने जर्मनी के आक्रमण और चेकोस्लोवेकिया के विनाश को रोकने के लिए कोई हस्तक्षेप नहीं किया। चेकोस्लोवेकिया को गारन्टी दी गई थी कि उसकी भूमि ज्यों की त्यों रहेगी और वह सुरक्षित बना रहेगा। ऐसी गारन्टी प्राप्त होने पर ही वह सुडेटन लैण्ड समर्पण करने को तैयार हुआ था और इसी पर उसने अपने बने-बनाए किले सौंप दिये थे। परन्तु अब कहा गया कि पश्चिमी जनतन्त्र उस गारन्टी का पाबन्द नहीं है। कारण यह बतलाया

गया कि स्लोवेकिया ने स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी है, इसलिए जिस राष्ट्र को ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस ने गारन्टी दी थी उसका अब अस्तित्व ही नहीं है। परन्तु ज्यों-ज्यों जर्मनी की कार्यवाही का अर्थ स्पष्ट होने लगा त्यों-त्यों संसार के मत पर इसकी वैसी ही प्रतिक्रिया हुई जैसी उसके बेलजियम पर आक्रमण के समय हुई थी। यह बात तो स्पष्ट ही थी कि मध्य यूरोप की एक अत्यंत स्वतंत्र और अत्यन्त जनतंत्रात्मक रियासत विलीन हो गई और अब वह देश जर्मनी के आधिपत्य में आ गया और जर्मनी ने उस पर जातीय कानून, राजनीतिक पुलिस, प्रसिद्ध व्यक्तियों की सामूहिक गिरफ्तारी और पुलिस की पाबन्दियाँ आदि लगा दीं। अमेरिका के न्यूयार्क टाइम ने लिखा था कि मध्य यूरोप की स्वतन्त्रता का यह सायंकाल है। दूसरी बात यह थी कि अब जर्मनी के हाथ में चेकोस्लोवेकिया के सारे प्राकृतिक साधन आ गए। बोहेमिया और मोरेविया का 18,000 वर्गमील प्रदेश सत्तर लाख आबादी और शस्त्र बनाने के कारखाने, बैंकों का कितना ही रिजर्व सोना आदि पर जर्मनी का अधिकार हो गया। स्लोवेकिया की आबादी भी दो लाख पच्चीस हजार थी और भूमि पन्द्रह हजार वर्ग-मील। जब जर्मनी ने गैर-जर्मन लोगों को जबरदस्ती से अपने राज्य में मिला लिया तो एक नई विचित्र स्थिति उत्पन्न हो गई। अब तक तो पड़ौसी देशों को, जिनमें जर्मन जाति के लोग निवास करते थे, अपने राज्य में मिलाने के लिए जर्मनी आत्म-निर्णय की दुहाई दिया करता था और यद्यपि उसका ढंग पाशविक था और ज्यादती लिए था तो भी कुछ लोग कहते थे कि जर्मनी कुछ नीति की बात करता है, परन्तु चेक लोगों की भूमि पर जब उसने कब्जा किया तो इसमें तो औचित्य की छाया भी नहीं थी। अब आत्म-निर्णय से तो जितना काम होना था सो हो चुका था। इसलिए अब जर्मनी ने उसकी बात करना छोड़ दिया। दूसरी जाति के लाखो आदमियों को उनकी इच्छा के विरुद्ध और अपनी प्रतिज्ञा के विरुद्ध जर्मन साम्राज्य में मिलाकर हिटलर ने मर्यादा भग कर दी। अब पर्दा हट चुका था और तृतीय रेश उस रेश की उत्तरा-धिकारिणी सिद्ध हो गई थी जिसने ब्रेस्टलिटोवस्क और बुखारेस्ट की सन्धियाँ बनाई थीं।

ग्रेट ब्रिटेन की नीति—बहुत से राष्ट्रों ने चेकोस्लोवेकिया के विनाश को बुरा बतलाया और जर्मनी के कार्य को कानूनी नहीं माना। रसिया ने कहा कि किसी रियासत के अध्यक्ष को यह अधिकार नहीं है कि उसके स्वतन्त्र अस्तित्व को वह समाप्त कर दे जब तक कि वह लोगों का मत न ले ले। इसलिए चेकोस्लोवेकिया के प्रेसीडेण्ट का कार्य कानूनन वाजिब नहीं था। प्रत्येक देश में यह भावना फैला रही थी कि यूरोप अराजकता की ओर जा रहा है। अब ग्रेट ब्रिटेन को गृह-शान्ति में विश्वास नहीं था, क्योंकि यह स्पष्ट हो चुका था कि जर्मनी के नेशनल सोशलिस्ट शासक के नये आश्वा-सन पर भी विश्वास नहीं किया जा सकता। इसलिए जर्मनी को खुश करने के बजाय

ग्रेट ब्रिटेन ने अपनी विदेश-नीति में बहुत बड़ा परिवर्तन करना शुरू किया और इसके महाद्वीप के साथ उसके सम्बन्धों का दूसरा युग शुरू हुआ। इस परिवर्तन का मतलब यह था कि अब ग्रेट ब्रिटेन की सीमा राइन नदी नहीं बल्कि यूरोप का वह स्थान हो गया जहाँ हमले की आशंका हो। एक युग से ग्रेट ब्रिटेन मध्य और पूर्वी यूरोप से अलग रहने की नीति का परम्परा से अनुसरण कर रहा था। उसको अब हवा में उड़ा दिया गया। अब ऐतिहासिक घोषणाओं में बतलाया गया कि नीति क्या है और कहा गया कि अब ग्रेट ब्रिटेन एक छोर से दूसरे छोर तक मिलकर विश्वास करता है कि अपनी स्थिति को इतना स्पष्ट कर दिया जाय कि किसी को संदेह न रहे, परिणाम चाहे कुछ भी हो। किसी देश की आन्तरिक शासन प्रणाली चाहे जैसी हो, परन्तु यदि वह हमारे साथ किसी पर आक्रमण करने के लिए नहीं बल्कि किसी पर आक्रमण रोकने के लिए सहयोग करेगा तो हम उसका हृदय से स्वागत करेंगे। इस नीति का प्रथम फल तो यह हुआ कि यूनान और रूमानिया को गारन्टी दी गई और पोलैण्ड तथा टर्की के साथ सन्धियाँ की गईं, जिनमें यह शर्त रखी गई कि यदि कोई राष्ट्र ऐसा कदम उठाएगा जिससे इन राष्ट्रों की स्वतन्त्रता को खतरा होगा और यदि इन राष्ट्रों की सरकारें आवश्यक समझेंगी कि अपनी राष्ट्रीय सेनाओं द्वारा इस आक्रमण का मुकाबला किया जाय तो हिज मेजेस्टी की सरकार अपना कर्त्तव्य मानेगी कि अपनी सम्पूर्ण शक्ति के साथ इन राष्ट्रों का समर्थन किया जाए। यदि जर्मनी ने महाद्वीप पर अपना आधिपत्य स्थापित करने के लिए प्रयत्न किया तो ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस के लोग उसका विरोध करने के लिए दृढ़ संकल्प हैं। ये राष्ट्र इस बात को अनुभव करते थे कि छोटे राष्ट्रों के दमन को रोकना और उनको महा जर्मनी में विलीन होने से बचाना ऐसा कार्य है जिससे स्वयं उनकी रक्षा होगी। यूरोप में ऐसा कोई देश नहीं था जिसको जर्मनी से खतरा नहीं मालूम होता है। प्रथम तो जर्मनी का यह दावा था कि समस्त जर्मन लोग रेश के अधीन हों। दूसरा दावा उसका यह था कि आर्थिक दृष्टि से गैर-जर्मन देश भी जर्मनी में मिलाये जा सकते हैं या रेश द्वारा उनके शासन का नियन्त्रण किया जा सकता है, क्योंकि इससे जर्मनी के आर्थिक हितों की रक्षा होगी। जर्मन सरकार ग्रेट ब्रिटेन की सन्धियों अथवा शान्ति-मोर्चे के लिए कहती थी कि यह जर्मनी का घेरा डालने की नीति है परन्तु वास्तव में ऐसी बात नहीं थी। ग्रेट ब्रिटेन पुनः आक्रमण के विरुद्ध सामूहिक रक्षा की नीति को ग्रहण कर रहा था। अब देर के बाद इस सिद्धान्त को माना जा रहा था कि शान्ति अविभाज्य है अर्थात् सर्वत्र शान्ति हो तभी देश-विदेश में शान्ति रह सकती है। ऐसा नहीं हो सकता कि एक देश में युद्ध चलता रहे और दूसरे में शान्ति बनी रहे। यह सिद्धांत राष्ट्र-संघ के सिद्धान्तों से कुछ नीचे की श्रेणी का था, क्योंकि इसका आधार अधिक सीमित था और यह प्रत्येक पक्ष का कर्त्तव्य नहीं समझता था कि आप से आप सब मिलकर ऐसे देशों की सहायता के लिए पिल पड़ें जिन पर कोई आक्रमण हो रहा

हो और जो राष्ट्र-संघ के सदस्य हों। परन्तु यह पुनर्जीवित सिद्धान्त राष्ट्र-संघ के दोषों से मुक्त था। राष्ट्र-संघ का तरीका बहुत भारी और धीमा था और सब काम बहुमत से ही हो सकता था और फिर सैनिक सहायता देना प्रत्येक राष्ट्र की इच्छा पर निर्भर था। परन्तु इस नये तरीके से पश्चिमी राष्ट्रों का कर्त्तव्य हो गया कि यदि यूरोप का मध्य राष्ट्र किसी पर हमला करे तो ये लोग अपनी सम्पूर्ण शक्ति से पीड़ित राष्ट्र की रक्षा करें। लेकिन जर्मनी पर इस रुख का कोई असर नहीं पड़ा। वह पोलैण्ड के विरुद्ध अपनी माँगें खड़ी करने लगा। अब तक तो हिटलर को बिना लड़े ही शक्ति प्राप्त होती जाती थी, परन्तु पोलैण्ड ने उसका डटकर मुकाबला किया। अब यूरोपीय युद्ध की घन्टी बज गई (1939) और ग्रेट ब्रिटेन तथा फ्रांस ने अपने निश्चय को फिर दृढ़ता के साथ दोहराया कि यूरोप को जर्मनी के आक्रमण के निरन्तर भय से बचाया जायगा और यूरोप के लोगों को सहायता दी जायगी कि वे अपनी स्वतन्त्रता और आजादी की रक्षा कर सकें।

नेशनल सोशलिज्म का भाग्य—1914-18 के विश्व-युद्ध के समय अमेरिका के प्रेसीडेन्ट ने कांग्रेस में भाषण देते हुए कहा था कि "जर्मनी के शासकों ने अपनी असहनीय नीति का कुरूप चेहरा हमको दिखा दिया है। यह प्रपंच और शक्ति का मिला हुआ खतरा हमको जर्मनी की ताकत में साफ नजर आ रहा है। इसमें न आत्मा है, न इज्जत है और न सन्धि के लिए क्षमता है, इसलिए इसको कुचलना पड़ेगा।" बीस वर्ष बाद इस असह्य चीज ने फिर अपना सिर ऊँचा उठाया था। नेशनल सोशलिज्म के भाग्य के विषय में एक जर्मन इतिहासकार ने ही भविष्यवाणी की थी कि "नेशनल सोशलिज्म विदेशी कौमों के साथ ऐसा व्यवहार करता है जैसे वे भी जर्मन हों, इससे उसको विपत्ति का मुकाबला करना पड़ेगा।"

(vi)

फैसिस्ट इटली

1919 में इटली—1914-18 के विश्व-युद्ध के बाद इटली की क्या दशा थी, इस विषय का जुदा-जुदा वर्णन किया गया है। फैसिस्ट लोग बतलाना चाहते थे कि उनकी नीति से इटली का उद्धार हुआ है। वे कहते थे कि पिछले वर्षों में इटली की दशा शोचनीय थी। उनका बयान था कि बढ़-बढ़कर भाषण देना आवश्यक नहीं है। जिसको 1919 की स्थिति का ज्ञान है वह जानता है कि राजनीतिक दृष्टि से उस समय इटली कई दलों में बँटा हुआ था। वह आन्तरिक झगड़ों के कारण और प्रतिद्वन्द्वी दलों के द्वेष से निर्बल हो गया था। वह अन्यायपूर्ण संधि से खिन्न था, साधनहीन था, उसकी आर्थिक व्यवस्था बिलकुल अस्त-व्यस्त हो गई थी। वह तेजी के साथ अराजकता की ओर बढ़ता जा रहा था। इस मत के अनुसार फैसिस्ट प्रगति ने इटली

को युद्ध के बाद की अराजकता से बचाया और सबल राष्ट्रीय जीवन के मार्ग पर लगाया। फैसिस्ट प्रगति के लिए कहा जाता था कि इटली में तमाम वर्ग व्यवस्था और स्थायीपन चाहते हैं। इसलिए उन्होंने ही इस प्रगति को जन्म दिया है। अन्य कोई दल इस आवश्यक पुनर्निर्माण के प्रश्न का हल नहीं कर सकते थे। फैसिस्ट लोगों के पास ही एक ऐसा स्पष्ट कार्यक्रम था जो इटली को विनाश से बचा सकता था। ये लोग नई राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्था स्थापित करना चाहते थे, जिससे इटली के पुनर्निर्माण का महाकार्य अपने हाथ में लिया जा सके और कौम को बतलाया जा सके कि परिश्रम करने से ही भविष्य में शान्ति स्थापित हो सकेगी। इस प्रगति के संस्थापक ने अंग्रेज जाति को एक सन्देश भेजा था जिसमें कहा गया था (1924) कि "इटली की सरकार निर्बल और अयोग्य है। इससे राष्ट्र की सत्ता क्षीण होती जाती है और यह आशंका है कि देश की भावी उन्नति रुक जायगी। इसलिए ऐसी सरकार के विरुद्ध फैसिस्ट पार्टी ने राजनीतिक विप्लव किया है और इसके अतिरिक्त प्राचीन रूढ़ियों के विरुद्ध भी आत्मिक बलवा खड़ा किया गया है, क्योंकि इन रूढ़ियों से धर्म, विश्वास और देश के परम पवित्र सिद्धान्त नष्ट भ्रष्ट होते जाते हैं।

दूसरा चित्र—एक प्रसिद्ध इटालियन इतिहासकार ने बतलाया है कि अराजकता की ओर गिरते हुए देश का यह चित्र केवल कपोल-कल्पना है। अन्य देशों की भाँति युद्ध के बाद इटली को भी मानसिक रोग हुआ। वहाँ झगड़े खड़े हुए, हड़ताल हुई, दंगे हुए, लेकिन उसका आर्थिक यन्त्र न टूटा, न बन्द हुआ, बल्कि सन् 1919 22 में ज्वाइन्ट स्टाक कम्पनियों की संख्या बढ़ी, उनकी पूँजी में वृद्धि, हुई बैंकों में लोगों ने अधिक संख्या में रुपया जमा किया और सरकार की आमदनी में भी वृद्धि हुई। 1921 के अन्त में इटली के एक अर्थशास्त्री ने लिखा था कि इटली की दशा वास्तव में सुधर गई है। हमारे आर्थिक जीवन का आधार कृषि-उद्योग है और ऐसा प्रतीत है कि यह निश्चित रूप से पुनः साधारण अवस्था में आ जायगा। युद्ध के बाद व्यापार में जो शिथिलता आई थी वह खत्म हो गई है। किसी ने यह भी लिखा है कि मजदूर लोग अधिक कुशल हो गए हैं। वे दृढ़ता से काम कर रहे हैं और विदेशों में व्यापार बढ़ रहा है। पिछली फैसिस्ट केबिनेट के अर्थमन्त्री ने कहा था (1922) कि संसार के बड़े मुख्य अर्थशास्त्रियों के मण्डल में हमारी आर्थिक स्थिति के विषय में कोई निराशाजनक भावना नहीं है। यह इस बात से सिद्ध है कि इंग्लैण्ड और अमेरिका के बड़े-बड़े बैंक मालिकों ने हमसे बार बार कहा कि इटली चाहे तो बैंकों से कर्ज ले सकता है। मुसोलिनी ने स्वयं अपने पत्र में स्वीकार किया था (दिसम्बर 1920) कि यह कहना ईमान की बात होगी कि पिछले तीन महीनों में मजदूरों का मन बहुत बदल गया है। कपड़ों के कारखानों और दवाइयों के कारखानों में परस्पर बात करके शान्ति के साथ झगड़े-बखेड़ों के विषय में समझौते हो गए हैं। यही इटली

की नवीन मनोदशा का परिचायक है। इसके बाद (जुलाई 1921) मुसोलिनी ने लिखा है कि लोगों का यह कहना कि "इटली में अब भी बोलशेविक खतरा है, सत्य नहीं है। यह बात स्वार्थवश कही जाती है और इसका उद्देश्य लोगों को वास्तविकता का ज्ञान करवाना नहीं है बल्कि उन्हें भयभीत करना है। बोलशेविज्म तो वास्तव में दबाया जा चुका है।" इन उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि युद्ध के बाद इटली की आर्थिक व्यवस्था बिल्कुल अस्त-व्यस्त तो नहीं हुई थी बल्कि सुधरती जाती थी, जिससे दूसरे देशों में लोगों को इटली के प्रति विश्वास होता जाता था। कम्यूनिज्म का खतरा भी नाम मात्र का था। समाज में एक प्रकार का उफान था जो हड़ताल और झगड़ों के रूप में प्रकट होता था। बखेड़ा करने वाले लोग कारखानों पर कब्जा कर लेते थे, परन्तु यह सब धीरे-धीरे शान्त होता जाता था। लोगों में यह रोग फैला हुआ था कि 1914-18 के विश्व-युद्ध में जितना लाभ दूसरे मित्रराष्ट्रों को हुआ उतना इटली को नहीं हुआ। लोगों की इस भावना से सरकार की स्थिति कमजोर होती जा रही थी। विवाद मुख्यतः फ्यूम (Fiume) के विषय में था। यूगोस्लेविया का दावा था कि फ्यूम उसका है, इटली में यह पहले से शामिल था ही। जब इटली ने अपनी सेनाओं को उस नगर से हटने का आदेश दिया तो डेनेन्जीयो नामक इटली के कवि ने बलपूर्वक नगर पर कब्जा कर लिया (1919)। उसने कई मास तक वहाँ विदेशी सेनाओं का मुकाबला किया और बड़ी वीरतापूर्वक लड़ा।[1] जब उसकी सेना क्षीण हो गई तब उसने वह स्थान छोड़ा। इस स्थिति से फैसिस्ट दल ने लाभ उठाया। डेनेन्जीयो की वीरता की इटली के लोगों पर बड़ी प्रतिक्रिया हुई। ऐसी स्थिति में फैसिस्ट दल ने कहा कि सरकार के कारण ही हमारी विजय का फल फीका हो गया है। इस प्रचार से फंसिस्ट दल में वे लोग भी शामिल हो गए जो युद्ध में लड़कर वापस लौटे थे। इस प्रकार इटली और जर्मनी में क्रांतिकारी प्रगति को सैनिक राजनीतियों की कटुता से बहुत सहायता मिली। ये लोग इटली में विजय के फल से असंतुष्ट थे और जर्मनी में पराजय के परिणाम से खिन्न थे। फिर भी यह संभव है कि राजनीतिक असंतोष और राजनीतिक उफान कुछ अर्से में स्वतः शान्त हो जाते, परन्तु उसी समय एक जोरदार व्यक्ति मैदान में आ खड़ा हुआ। उसका उद्देश्य खुल्लमखुल्ला यह था कि वर्तमान सरकार को खत्म किया जाए और उसका स्थान वह ग्रहण कर लेगा।

बेनिटो मुसोलिनी—बेनिटो मुसोलिनी ने अपने जीवन के आरंभ में कई काम किए। वह एक प्राइमरी स्कूल में अध्यापक था। फिर वह कारीगर बना। वह सीमेंट के बोरे अपने कन्धों पर लाद-लादकर ले जाया करता था। इसके पश्चात् उसने

---

1. लन्दन की सन्धि के अनुसार अफ्रीका में भी इटली की भूमि कुछ बढ़ी, परन्तु यूरोप में उसकी भूमि वृद्धि बहुत हुई। ब्रेटर घाटी तक दक्षिणी टायरोल और ट्रेंटीनो, ट्रीस्ट गोरीजिया, इस्ट्रिया और एड्रियाटिक टापू उससे मिल गए लेकिन फ्यूम नहीं मिला।

लोहार का काम किया। वह ऐरन के ऊपर लोहे की छड़ों को मोड़ा करता था। फिर उसने किसान का काम किया तो वह अपने फावड़े से भारी-भारी ढेलों को हटाया करता था। सोशलिस्ट आन्दोलन करने के अपराध में उसको देश से निर्वासित करके स्विट्जरलैण्ड भेज दिया गया था। वह बहुत जोर के साथ इस बात की वकालत करता था कि 1914-18 के विश्व-युद्ध में इटली भी शामिल हो जाए। इस मत का प्रचार करने के लिए उसने पोपोलो डी इटेलिया नामक एक पत्र जारी किया था। जब इटली युद्ध में शामिल हो गया तो वह सोचता था कि इटली में विप्लव होने वाला है और इटली के क्रान्तिकारी कदम का यह प्रथम चिह्न है। युद्ध में शामिल होने का यह उद्देश्य नहीं है कि आस्ट्रिया का कुछ प्रदेश इटली में मिला लिया जाये। उसने लिखा था कि "युद्ध हो रहा है और यह जनता का युद्ध है। आज यह युद्ध है परन्तु कल यह क्रान्ति का रूप धारण कर लेगा।" जब शान्ति स्थापित हो गयी तो 1919 में उसने फैसिस्ट लड़ाकुओं की टोलियाँ बनाना शुरू किया। वह दो खतरों का सामना करना चाहता था—दायीं ओर के रूढ़िवाद का और बायीं ओर के विनाशवाद का। उसने प्रकट किया कि हम इस प्रकार के संगठन से ही जब समय आयेगा तो कुछ कर सकेंगे। वह कहता था कि फैसिस्ट लोग न पार्टी हैं न पार्टी बनना चाहते हैं और न पार्टी बन सकते हैं। जब वह बार-बार कहता था कि फैसिस्ट पार्टी नहीं है, बल्कि पार्टी विरोधी आन्दोलन है तो इससे उसका खूब मतलब बनता था। इटली में भी हजारों लोग थे जो पुरानी पार्टियों से अलग हो चुके थे। ये पुरानी पार्टियाँ केवल पद प्राप्त करने के लिए प्रयास करती थीं और इन्हीं के कारण जल्दी-जल्दी नये मन्त्रिमन्डल बना करते थे। अभी फैसिस्ट कार्यक्रम निश्चित नहीं हुआ था। यह प्राय: बतलाता रहता था, कि बातें बहुत बढ़-बढ़कर की जाती थीं और प्राय: व्यापक सिद्धान्तों का जिक्र किया जाता था, जिससे लोगों पर जादू का-सा असर हुआ करता था। इससे कितने ही लोग फैसिज्म के अनुयायी बन गए। 1921 में मुसोलिनी ने लिखा था कि "फैसिज्म आर्थिक और नैतिक शक्तियों को प्रेरित करता है। इसके उद्देश्य क्या हैं। हम बिना संकोच के कह सकते हैं कि इसका उद्देश्य इटली पर राज्य करने का है। इसका कार्यक्रम क्या है। इसका कार्यक्रम ऐसा है जिसकी इटली की नैतिक और आर्थिक महानता उपार्जित करने के लिए आवश्यकता है। अभी फैसिज्म का कोई खास सिद्धान्त निश्चित नहीं था, इसलिए कहा जाता था कि अभी यह कामचलाऊ संगठन है और इसमें ऐसे लोग सम्मिलित थे जो कुछ समस्याओं के हल करने के लिए तैयार हैं। वास्तव में हम समस्याओं का हल करने वाले हैं।" यद्यपि फैजिज्म के संस्थापक ने सिद्धान्त रूप से अपना कोई कार्यक्रम निश्चित नहीं किया तो भी आरम्भ से ही उसके दो उद्देश्य तो बिल्कुल स्पष्ट थे और आगे चलकर भी वे इस प्रगति की विशेषतायें रहीं। पहला उद्देश्य था कि राष्ट्र की हुकूमत मजबूत हो और दूसरा था

कि नेशनल सेन्डिकेलिज्म स्थापित हो। फैसिज्म के नेता के मतानुसार ये उद्देश्य इसके मूलभूत सिद्धान्त बन गए और इन्हीं के कारण यह ऐसा राजनीतिक सिद्धान्त माना जाने लगा जो तत्कालीन सब सिद्धान्तों से भिन्न था। फैसिस्ट सम्प्रदाय के दृढ़ सिद्धान्तों के विषय में आगे चलकर कुछ कहा जायेगा।

फैसिज्म की वृद्धि—सबसे पहला फैसिस्ट समूह मार्च 1919 में मिलान में स्थापित हुआ था। फिर यह प्रगति दूसरे शहरों में फैल गई और उसके बाद गाँवों में भी घुस गई। फिर उसने सैनिक रूप धारण कर लिया और जो लोग युद्ध में लड़कर वापस आए थे वे और मध्य श्रेणी के विद्यार्थी इसमें भरती होने लगे। फैसिस्ट सेना के आकर्षण के कारण इसके सदस्यों की संख्याएँ बढ़ने लगीं। इसके सदस्य काली कमीज पहनते थे। वह उनकी वर्दी थी। ये लोग कहते थे कि हम राष्ट्रीय जागृति के सिपाही हैं। सैनिक ढंग पर कार्यशील टोलियाँ बनाई जाने लगीं। ये लोग अपने हाथ में डंडे का एक बंडल रखते थे। प्राचीन रोम में सैनिक लोगों के ये ही हथियार थे और ये हुकूमत और एकता के प्रतीक माने जाते थे। फैसिज्म के सदस्यों की संख्या बहुत भारी हो गई थी। ये सब कवायद करते थे। इससे यह आन्दोलन बड़ा जोरदार बन गया था। आरम्भिक काल में ही इसका नेता कहने लग गया था कि इटली में दो सरकारें हैं। जब यह आन्दोलन बहुत बढ़ने लगा तो काली कमीज वालों में और सोशलिस्ट लोगों में एक मुठभेड़ हुई। सरकार ने इसमें हस्तक्षेप नहीं किया। यह जो कुछ हो रहा था उसको उदासीनता के साथ देखती रही। फैसिस्ट लोगों ने हड़तालों में हस्तक्षेप किया। वे इस बात का दावा करते थे कि उन्होंने कई हड़तालें बन्द कीं। अपने विरोधियों को सताने के लिए ये लोग दंड टोलियाँ भी बनाया करते थे। ये इधर-उधर घूमकर फैसिस्ट-विरोधियों को सताया करते थे। एक फैसिस्ट इतिहासकार घमण्ड के साथ कहता है कि इटली में कई स्थानों पर उचित बल का प्रयोग किया गया जिससे फैसिज्म को विजय प्राप्त हुई। इस प्रकार फैसिस्ट लोग कानून भंग करते जाते थे लेकिन सरकार कुछ नहीं कर सकती थी या कुछ नहीं करना चाहती थी। परन्तु सन् 1919 में जब निर्वाचन हुए और उसमें जुल्म और ज्यादतियों से काम नहीं लिया गया तो सोशलिस्ट लोगों और पापूलर पार्टी ने फैसिस्ट लोगों को पीछे रख दिया। पापूलर पार्टी वाले क्रिश्चियन ढंग का राज्य स्थापित करना चाहते थे और इलाके के लोग उनका खूब समर्थन करते थे। तो भी फैसिस्ट लोगों की संख्या बढ़ती रही। अब मुसोलिनी ने सोशलिज्म के अनुयायियों को भी अपनी ओर खींचना शुरू किया। उसने सिण्डिकेट्स अर्थात् मजदूरों के संघ संगठित किए। इसके उद्देश्य उसने सन् 1919 में ही निश्चित कर दिये थे। उद्देश्य ये थे—(1) योग्य मजदूर संघों के द्वारा उद्योगों का नियन्त्रण, (2) सम्पत्ति और उत्तराधिकारी पर टैक्स। ऐसे आर्थिक कौंसिल जिनको कानून बनाने का अधिकार हो और जो कारखानों की तरफ से

निर्वाचित हुए हों। 1920 में मुसोलिनी ने मजदूरों से कहा कि हड़ताल करते समय अपना काम छोड़कर कारखाने से बाहर नहीं निकलना चाहिए बल्कि अन्दर ही बैठे रहना चाहिए और काम छोड़ देना चाहिए। सन् 1919 में जब फैसिस्ट लोगों की प्रथम कांग्रेस हुई तो 22 फैसिस्ट सभाएँ थीं जिनमें 17,000 सदस्य थे। दूसरे साल अर्थात् सन् 1920 में फैसिस्ट सभाओं की संख्या 118 हो गई और इसके सदस्य 30,000 हो गए। तीसरी कांग्रेस 1921 में हुई। इसमें 1200 फैसिस्ट सभाएँ थीं और तीन लाख सदस्य थे। अब वह समय आ रहा था जब लोक-निर्मित सरकार रोम-स्थित सरकार को चुनौती देने वाली थी। अक्तूबर 1922 में फैसिस्ट सभाओं के संचालन का आदेश दिया गया और काली कुर्ती वालों की सेना ने रोम की ओर कूच करना शुरू किया। फैसिस्ट नेताओं ने एक विज्ञप्ति निकाली, जिसमें कहा गया कि फैसिज्म अपनी तलवार म्यान से निकालता है तो उन गाँठों को काटने के लिए निकालता है जिनके कारण इटली का जीवन पेचदार और दुखदायी हो गया है। गृह-युद्ध को टालने के लिए इटली के बादशाह ने मुसोलिनी को बुलाया और मंत्रिमंडल बनाने का कार्य उसके सुपुर्द किया। डेपुटीज को यह आशंका थी कि कहीं चेम्बर को भंग न कर दिया जाय। इसलिए उन्होंने मंत्रिमंडल को पूर्ण अधिकार सौंप दिया।

सर्व-सत्तात्मक राष्ट्र—फैसिज्म का पहला उद्देश्य तो पूरा हो गया। विश्व-युद्ध से जो नवीन तत्व उत्पन्न हुए थे उनको पदों पर बिठा दिया गया और उन्होंने शीघ्र ही देश की राजनीतिक संस्थाओं को नवीन बनाने का कार्य अपने हाथ में लिया। इसका वास्तव में यह अर्थ था कि उत्तरदायी सरकार समाप्त कर दी जाय और उसके स्थान पर सत्तावान सरकार कायम की जाय और इस सरकार का संचालन ड्यूस अर्थात् फैसिज्म के नेता के हाथ में हो। फैसिस्ट राष्ट्र के राजनीतिक ढाँचे का केवल संक्षिप्त वर्णन ही काफी है। सर्व-सत्तात्मक शासन में ड्यूस शक्तिशाली व्यक्ति है। इटली की नीति का संचालन वही करता है। राज्य की राजनीतिक, सैनिक और आर्थिक संस्थाओं पर उसी का नियंत्रण है। वह फैसिस्ट सेना का नायक है और फैसिज्म की बड़ी कौंसिल का अध्यक्ष भी वही है, जिसका उद्देश्य है फैसिस्ट पार्टी के आधिपत्य को चिर स्थायी बनाना। यही पार्टी सरकार का निर्माण करती है और उसकी नीति निर्धारित करती है। ड्यूस की शक्ति इस पर निर्भर है कि पार्टी पर उसकी हुकूमत बिना शर्त के चलती है या नहीं। फैसिस्ट पार्टी फैसिस्ट सरकार की वास्तविक शक्ति है। यह राष्ट्रीय जीवन के प्रत्येक पहलू में हस्तक्षेप करती है, क्योंकि हर मान्यता-प्राप्त संगठन में इसका प्रतिनिधित्व है। राष्ट्र-तंत्र में यह पार्टी बड़ा जोरदार तत्व है। राष्ट्र के राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक कार्य इस पार्टी के अनुशासन में चलते हैं। फैसिस्ट राष्ट्र में राजनीतिक स्वतन्त्रता या वाक् स्वतन्त्रता का अस्तित्व नहीं है। भेदियों का जाल तमाम देश पर बिछा हुआ है। इनके डर से कोई निर्भीकरूपेण अपनी सम्मति प्रकट नहीं कर सकता है। प्रेस के ऊपर पूरा नियंत्रण है।

स्वतन्त्र समाचार-पत्र खत्म कर दिये गये हैं या उनको मजबूर किया गया है कि जैसे सरकार चाहे वैसे एडीटरों में परिवर्तन कर दे। सब मानी हुई संस्थाएँ फैसिस्ट पार्टी के नियंत्रण में हैं और सबको फैसिज्म के सिद्धान्त और तरीके मानने पर बाध्य किया जाता है। चेम्बर ऑफ डेपुटीज के जनतन्त्रात्मक निर्वाचन बन्द हो गये हैं और म्यूनिसिपैलिटियों के अध्यक्ष के स्थान पर अब रियासत की ओर से नियुक्त किया हुआ आफीसर काम करता है। अदालतों में ज्यूरी की व्यवस्था खत्म कर दी गई है। स्कूलों में ऐसी पाठ्य-पुस्तकें जारी की गई हैं जिनमें फैसिज्म के उदय, उद्देश्य और संस्थाओं का वर्णन है। उद्देश्य यह है कि वर्तमान पुश्त के दिमागों में इस पार्टी के सिद्धान्त घर कर जाएँ।

फैसिज्म का जनतन्त्र—फैसिज्म ने राष्ट्र पर विजय प्राप्त करके स्वयं शासन का रूप धारण कर लिया है। अब इसको अपने सिद्धान्त निर्माण करने थे, क्योंकि धर्म के लिए सिद्धान्त की आवश्यकता है और मुसोलिनी कहता था कि फैसिज्म धर्म है। यह ऐसा आत्म-बल है जो महान् जातियों के इतिहास को नया कर देता है। ये तो बड़ी-बड़ी शेखी की बातें हैं। फैसिज्म में वास्तव में अनेक बातों का निषेध किया गया है। यह व्यक्तिवाद का निषेध करता है, जनतन्त्र का निषेध करता है सोशलिज्म का निषेध करता है, स्वतन्त्र व्यापार का निषेध करता है और शान्ति का भी निषेध करता है। फैसिज्म के स्वरूप को समझने के लिये हम पहले देखें कि जनतन्त्र के विषय में इसका क्या मत है। यह इस बात को स्वीकार करता है कि जनतन्त्र का जन्म फ्रांस की राज्यक्रान्ति से हुआ है। यह पैतृक और पुलिस राष्ट्र के मुकाबले में अधिक अच्छी शासन-विधि है। इस प्रकार के राष्ट्र का आधार समता और स्वाधीनता पर है। इसमें नागरिकों के आधार के लिए गारन्टी दी जाती है और सिद्धान्ततः यह गारन्टी नष्ट नहीं की जा सकती। शुरू-शुरू में जनतंत्र राष्ट्रों ने अच्छा काम किया, परन्तु उन्नीसवीं शताब्दी के दूसरे उत्तरार्द्ध में इसमें बहुत-सी पार्टियाँ बन गईं, उनमें संघर्ष होने लगा और कटुता बढ़ गई, जिसके कारण अधिक राजनीतिक और सामाजिक गड़बड़ें हुईं। जनतंत्र ने इस बात की डींग मारी थी कि मनुष्य में समानता और भ्रातृभाव स्थापित किया जायगा, परन्तु अब जाहिर हो गया कि यह तो पूँजीपतियों का राज्य है। इसने मध्यम वर्ग के हितों की तो सेवा की, लेकिन इसके उद्योग, बैंक और बड़े-बड़े कृषि-क्षेत्रों में मजदूरों का खूब शोषण हुआ। इसलिए जनतन्त्र राष्ट्रों में संघर्ष शुरू हुए और ये संघर्ष हुए सरकार और मजदूरों के बीच। मजदूरों को केवल इस बात पर ही सन्तोष नहीं हो सकता था कि राजनीतिक प्रतिनिधियों के निर्वाचन के समय उनसे वोट माँगा जाता था। वे तो शक्ति प्राप्त करना चाहते थे, इसलिए वे अपना मार्ग टटोलने लगे कि मजदूरों का राज्य किस प्रकार स्थापित हो सकता है। सरकार ने शान्ति-स्थापना के नाम पर पूँजीपतियों के तरीके ग्रहण किए, जनता का दमन किया और स्वाधीनता को संकुचित किया जो जनतन्त्र राष्ट्र

का मूल आधार माना जाता है। फिर जनता को खुश करने के लिए बालिग मताधिकार शुरू किया। परन्तु इन रियायतों से कुछ काम नहीं चला, बल्कि आन्दोलन और बढ़ा। अब पार्लियामेन्ट्री व्यवस्था और शासकों की सत्ता क्षीण होने लगी। नतीजा यह हुआ कि इन लोगों ने वास्तविक शासन करना छोड़ दिया, केवल चलतू काम होने लगा।

फैसिज्म का युग—पिछले वर्णन से हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि जनतंत्र राष्ट्र इस युग में अपने-आपको सँभालने के लिए बड़ी कठिनाइयाँ अनुभव कर रहे थे, खासकर ऐसे देश जिनके पास बहुत धन था और जिनकी शासन-परम्पराओं की जड़ बहुत गहरी धँसी हुई थी। फिर भी ऐसी सरकारें ज्यों की त्यों निभ रही थीं, परन्तु दूसरे देश में जहाँ ऐसे स्थायी तत्व नहीं थे, वहाँ जनतन्त्र विलीन हो गया और कम्यूनिस्ट क्रान्ति हो गई जैसा स्पेन में हुआ। इसलिए यह जरूरत थी कि रूस सबका मार्ग-प्रदर्शन करे और बतलाये कि सुरक्षा का रास्ता कौन-सा है। इस मार्ग के प्रतीक थे फैसिस्ट लोगों के डंडे जो कि "राज सत्ता और राष्ट्र की अन्य शक्तियों के परिचायक थे। उन्नीसवीं शताब्दी जनतन्त्र और निर्बाध व्यापार का युग था। अब बीसवीं शताब्दी सत्ता या हुकूमत का युग है। वर्तमान शताब्दी सत्य की ओर जा रही है अर्थात् यह फैसिस्ट शताब्दी है।" यही मुसोलिनी के शब्द थे। यह उसके सिद्धान्त का भाष्य है। उसका दावा था कि अगर प्रत्येक युग का कोई सिद्धान्त हुआ करता है तो असंख्य चिह्न इस बात को सूचित कर रहे हैं कि फैसिज्म हमारे युग का सिद्धान्त है, क्योंकि पहले कौमों में सत्ता-संचालन और व्यवस्था के लिए इतनी उत्कट अभिलाषा नहीं थी जितनी कि आज है। उसने कहा कि भविष्य में समस्त यूरोप फैसिस्ट बन जाएगा और उसकी संस्थाओं के लिए वह फैसिज्म के सिद्धान्तों और व्यवहार से प्रेरणा प्राप्त करेगा। दूसरे स्थान पर अपने विश्वास को दोहराकर उसने कहा था कि यूरोप की वर्तमान शताब्दी में फैसिज्म ही सभ्यता का मापदंड होगा। यह यूरोप के जागरण का प्रथम अध्याय बनेगा।

(1) **फैसिज्म व्यक्तिवाद का विरोधी**—मुसोलिनी कहता है कि फैसिज्म का मूल सिद्धान्त यह है कि लोगों की मर्जी के मुताबिक राष्ट्र का निर्माण हो। इसलिए राष्ट्र सर्वशक्तिमान है। इसमें सब बातों का समावेश हो जाता है। इसके बाहर कोई मानवीय या आत्मिक मूल्य नहीं है। मुसोलिनी ने एक संक्षिप्त वाक्य कहा है कि "सब-कुछ राष्ट्र के अन्दर है, राष्ट्र के बाहर कुछ नहीं और रियासत के विरुद्ध कुछ नहीं।" फैसिज्म का दावा है कि राष्ट्र का स्वरूप सर्व-व्यापक है। अतः व्यक्तियों के लिए या समूहों के लिए स्वतंत्र काम करने की इसमें कोई गुंजाइश नहीं है। व्यक्ति का उसी हद तक राष्ट्र में स्थान है जब तक उसका हित और राष्ट्र का हित एक हो और जब तक वह राष्ट्र के अनुकूल काम करता रहे। लेकिन कोई समूह, चाहे

वह राजनीतिक हो या आर्थिक, यदि वह स्वतन्त्र रूप से कोई ऐसा काम करना चाहता है जो राष्ट्र की नीति के प्रतिकूल है तो वह बरदाश्त नहीं किया जा सकता। मुसोलिनी का कहना था कि वर्तमान युग राष्ट्र का युग है जैसे अतीत का युग व्यक्ति का युग था। इतिहास में दूसरे सर्वशक्तिमान राज्यों के भी उदाहरण मौजूद हैं। ऐसे राज्य का अध्यक्ष निरंकुश होता है और इसके अध्यक्ष में और उस राष्ट्र में कोई अन्तर नहीं है अर्थात् राज्य अध्यक्ष है और अध्यक्ष राज्य है। फैसिस्ट राज्य की विशेषता यह है कि यह सर्वसत्तात्मक राज्य है और इसका आधार है एक राजनीतिक दल का आधिपत्य। ऐसे ही राष्ट्र हैं सोवियत रूस और नेशनल सोशलिस्ट जर्मनी। फैसिस्ट दल में अद्भुत अनुशासन है। यह एक प्रकार का सीमेन्ट है जो फैसिस्ट शासन के ढाँचे को थामे हुए है। फैसिज्म का तत्व है सर्वसत्तात्मक राष्ट्र और एक राजनीतिक दल। यह माना गया है कि सर्वसत्तात्मक राज्य लोगों के समस्त हितों की रक्षा करता है और जनता की समस्त शक्ति से काम लेता है। एक राजनीतिक दल इसके दावों का समर्थन करता है।

(2) **जनतन्त्र के विरुद्ध**—सर्वसत्तात्मक राष्ट्र की हैसियत से फैसिज्म जनतन्त्र का उलटा है। मुसोलिनी ने लिखा है कि जनतन्त्र की शताब्दी संख्या की शताब्दी थी और बहुमत तथा परिमाण की शताब्दी थी। लेकिन अब वर्तमान संसार में हम एक नया सिद्धान्त मानते हैं। हम जनतन्त्र के संसार का घोर विरोध करते हैं—ऐसे संसार का जो 1789 के मौलिक सिद्धान्तों से अभी चिपके रहना चाहता है। फैसिस्ट राजनीतिक दर्शन जनतन्त्र के मूल सिद्धान्त को बुरा बतलाता है, अर्थात् यह नहीं मानता कि बहुमत को शासन करने का अधिकार होना चाहिए। जनतन्त्र में संख्या को बहुत ऊँचा माना जाता है और जनता को एक विचित्र देवत्व का स्थान दे दिया जाता है। इसके स्थान पर फैसिज्म ड्यूस या फ्यूहरर को लोगों के सामने खड़ा करता है। यह इसका देवता है। इस बात का दावा किया जाता है कि यह अत्यन्त शुद्ध जनतन्त्र है। यह संख्या के स्थान पर गुण की प्रतिष्ठा करता है। यह लोगों की इच्छा का सर्वोत्तम प्रतिबिम्ब है। इसमें अपना ही व्यक्तित्व है। जनतन्त्र में राष्ट्र की केबिनेट निर्वाचित सभाओं के हाथ में एक कठपुतली-सी बन जाती है। फैसिज्म ने दलबन्दियों को खत्म करके और वर्गों के दर्प और दम्भ को नष्ट करके वास्तव में जनतन्त्र को बचा लिया है। अब यही राष्ट्र का व्यक्तित्व बन गया है।

(3) **सोशलिज्म के विरुद्ध**—फैसिज्म जितना विरोध जनतंत्र की संस्थाओं का करता था उतना ही विरोध मार्क्स के समूहवाद का भी करता था। सर्वप्रथम तो यह ऐतिहासिक भौतिकवाद को नहीं मानता। इस सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य जाति का सारा विकास केवल आर्थिक आधार पर हुआ है। फैसिज्म का कहना है कि

आर्थिक तत्वों से नहीं बल्कि राजनीतिक तत्वों से इतिहास बनता है और इसी से सामूहिक जीवन के विविध पक्षों में जान आती है। दूसरी बात यह है कि फैसिज्म मार्क्स के वर्ग-संघर्ष को भी नहीं मानता। यदि इतिहास को केवल आर्थिक दृष्टि से देखा जाय तो उसमें से वर्ग-संघर्ष ही निकलता है। इसको फैसिज्म स्वीकार नहीं करता। खासकर यह इस बात को मंजूर नहीं करता कि वर्ग-संघर्ष से ही समाज के रूपान्तर हो जाया करते हैं। फैसिज्म का सिद्धान्त तो यह था कि सम्पूर्ण वर्ग मिलकर एक नैतिक और आर्थिक तत्व उत्पन्न करें। इसलिए फैसिस्ट राष्ट्रों में तमाम वर्गों को मिलाकर एक करने का प्रयत्न किया जाता है। इसमें विविध प्रकार के हितों का सामंजस्य, समन्वय और संतुलन किया जाता है। जब सोशलिज्म ने दो मूल सिद्धान्तों पर आघात कर दिया तो फिर समाजवाद या सोशलिज्म में रह ही क्या जाता है। बाकी तो भावात्मक अभिलाषाएँ हैं जो इतनी ही प्राचीन हैं जितनी मानवता। यह चाहा जाता है कि गरीबों के दुःखों का निवारण किया जाए और समाज में शान्ति स्थापित की जाए। इसमें किसी को ऐतराज नहीं है। परन्तु इस बात से भी फैसिज्म इन्कार करता है कि सोशलिज्म द्वारा सबको सुख प्राप्त हो सकता है और सब लोगों को आर्थिक आराम प्राप्त हो सकता है।

(4) **निर्बाध व्यापार के विरुद्ध**—फैसिज्म मार्क्स के समूहवाद का तो विरोधी है ही लेकिन यह उतना ही विरोधी उदारवाद या निरपेक्षवाद (Liberalism) का भी था। फैसिस्ट लोग इस सिद्धान्त को लेजेज फेअरी (Laissez-faire) कहते थे। फैसिज्म के अनुयायी ठीक कहते हैं कि इस निरपेक्षवाद—लेजेज-फेअरी का युग अब समाप्त हो रहा है। निरपेक्षवाद अपने ऐसे मन्दिरों के दरवाजे बन्द करना चाहता है जिन्हें लोग पहले ही छोड़ चुके हैं। पहले इसने अर्थशास्त्र के क्षेत्र में एक प्रकार की नास्तिकता का प्रचार किया, इसलिए लोग इससे अलग हो गये। निरपेक्षवाद को फैसिज्म अस्वीकार करता गया है। आर्थिक शैथिल्य के कारण बड़ी-बड़ी सामाजिक समस्याएँ उत्पन्न हो गईं। इसलिए समस्त देशों की सरकार इन क्षेत्रों में हस्तक्षेप करती है। सोशलिज्म का सिद्धान्त भी इससे मिलता-जुलता है। इसलिए सारे देश इसकी ओर झुक रहे हैं। सरकार का स्वरूप चाहे जैसा हो, परन्तु प्रत्येक देश में आर्थिक व्यवस्था अधिकाधिक सरकार के हाथ में आती जाती है।

(5) **शान्ति का विरोधी**—फैसिज्म व्यक्तिवाद, जनतन्त्रवाद, मार्क्स के समूहवाद और निरपेक्षवाद का ही निषेध नहीं करता, यह शान्ति का भी विरोधी है और यह इसका ऐसा स्वरूप है जिसकी ओर समस्त यूरोप का ध्यान आकर्षित होता है। फैसिज्म विश्व-व्यापी शान्ति के विचार को चुनौती देता है। विश्व-शान्ति का सिद्धान्त युद्ध से शान्त संसार में राष्ट्र-संघ के रूप में खड़ा किया गया था, लेकिन फैसिज्म कहता है कि राजनीति में वास्तविकता होनी चाहिये और इस बात पर जोर दिया जाता है कि विश्व-शान्ति का प्रयास पिछले अनुभव के प्रतिकूल है और वर्तमान

विचारधाराओं के भी विरुद्ध है। इसलिए शान्ति के बजाय यह युद्ध को अच्छा समझता है। इसका कहना है कि युद्ध के द्वारा मनुष्य की समस्त शक्तियाँ जागृत रहती हैं और संसार में वे ही राष्ट्र श्रेष्ठ माने जाते हैं जो शौर्य और धैर्य के साथ युद्ध कर सकते हों। इसलिए फैसिज्म सम्पूर्ण अन्तरराष्ट्रीय संस्थाओं और संघों को भी अपने सिद्धान्त के प्रतिकूल मानता है। इतना अवश्य है कि इनके द्वारा कोई विशेष राजनीतिक स्थिति या उलझन का हल हो जाय, लेकिन जब किसी राष्ट्र के सामने वास्तविकता आ जाती है और इसके भावों और विचारों में क्षोभ उत्पन्न हो जाता है तो इस प्रकार के संघ टिक नहीं सकते। शान्ति-विरोध का अर्थ है शक्ति की अभिलाषा। इस अर्थ में इसके द्वारा शक्ति का उदय होता है। इसलिए फैसिज्म में साम्राज्यवाद की भावना है और यह अपना विस्तार चाहता है। यह दावा किया जाता हैं कि इस प्रकार का सिद्धान्त इटली जैसे राष्ट्र के लिए सर्वथा अनुकूल है, क्योंकि "कितनी ही शताब्दियों तक पहले तो इटली ऊसर भूमि की भाँति पड़ा रहा, विदेशों की दासता को सहन करता रहा, परन्तु अब यह करवट बदलकर कुछ जागृत हो रहा है, अब इटली के लोगों में यह विश्वास उत्पन्न हो जायगा कि उनको साम्राज्य बनाना है तो उनमें आत्मिक बल जागृत होगा, उनमें अनुशासन आएगा, वे कर्त्तव्य-परायणता और आत्म-त्याग के महत्व को समझेंगे। हम विलासमय जीवन के प्रतिकूल हैं। बस यही हमारे राजनीतिक दर्शन का मूलतन्त्र है। फैसिस्ट लोगों के लिए जीवन एक प्रकार का निरन्तर और अनिर्वचनीय संग्राम है। फैसिस्ट आन्दोलन जान-बूझकर एक ऐसा वायुमंडल पैदा करना चाहता है जिसमें आदर्श तनाव बना रहे। यह इटली के लोगों के दिमागों में ऐसा आत्मविश्वास उत्पन्न करना चाहता है कि वे आगे बढ़ रहे हैं।" इटली के फैसिस्ट से यह बार-बार कहा जाता है कि वह खतरनाक तरीके से जिन्दा है, अर्थात् उसको हर खतरे में हर प्रकार का बलिदान करने के लिए तैयार रहना चाहिए। छोटे-छोटे बच्चों को ऐसी शिक्षा दी जाती है जिससे उनके विचार फैसिस्ट ढंग के बनें। बचपन से उनके संगठन बनाए जाते हैं। इसका संचालन सैनिक ढंग से होता है और उद्देश्य यह है कि समस्त इटली को सैनिक राष्ट्र बना दिया जाय। पोप पीयस (Pius) ग्यारहवें ने फैसिस्ट सरकार को बुरा बतलाया, क्योंकि "यह नवयुवकों को बचपन से युवावस्था तक केवल अपने अधिकार में रखती है और यह सब-कुछ अपने दल और अपने शासन के हित के लिए किया जाता है। और इन लोगों का ढंग ऐसा है कि राष्ट्र को ही देवता मान लिया गया है और एक प्रकार से उसकी पूजा की जाती है। यह ईसाई धर्म के विरुद्ध है।

फैसिज्म की भ्रांतियाँ—यूरोप का एक बहुत बड़ा भाग फैसिस्ट मत की विषाक्त शिक्षाओं को मानता है। अतः न तो इसकी उपेक्षा ही की जा सकती है और

न ग्लानि से इसका परित्याग ही किया जा सकता है। इस मत की असत्यता, भावों की तोड़-मरोड़ तथा भ्रान्तियों के विषय में किसी प्रकार की टिप्पणी की आवश्यकता नहीं है। यह सब स्पष्ट ही है। इसमें उतनी नवीनता नहीं है जितनी इस मत को मानने वाले बतलाया करते हैं। फैसिस्टों ने राष्ट्र को एक उच्चासन पर बिठा दिया है और एक समस्या खड़ी कर दी है। ग्रीक दार्शनिकों ने इस समस्या को हल करने का प्रयत्न किया है। सोफोक्लीज ने अपने ग्रंथ 'एंटीगोन' में इसका शास्त्रीय ढंग से विवेचन किया है। युद्ध की मुक्त कंठ से प्रार्थना करके मानो घृणित जर्मन के सिद्धान्त को पुनर्जीवित किया है। जाति को ऊँचा आसन देकर तथा यहूदियों के विरोध का झंडा खड़ा करने मानो नेशनल सोशलिज्म की दासता की पूर्ण नकल की है और प्रजा-सत्तात्मक राज्य-प्रणाली की आलोचना करके मानो पिष्टपेषण किया है। यह दलील दी है कि निर्वाचित धारा-सभा की अपेक्षा एक स्वेच्छाचारी शासक राष्ट्र का प्रतिनिधित्व अधिक सच्चे शब्दों में कर सकता है—यह बात भी कोई नवीन नहीं है। सत्रहवीं शताब्दी में चार्ल्स प्रथम के स्वेच्छाचारी शासन-काल में लाड तथा स्ट्रेफर्ड ने निरंकुश शासन के समर्थन में जो कुछ कहा था यह उसी का समर्थन है। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दस वर्षों में जार-कालीन रूस में जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया था, यह मत उन्हीं सिद्धान्तों पर आधारित है। पोबेडोनोस्टव के सिद्धान्तों का ही मुसोलिनी ने अनुसरण किया है और ऐसा प्रतीत होता है मानो मुसोलिनी ने पोबेडोनोस्टव को गुरु माना हो। डेमोक्रेटिक स्टेट में चाहे कितने ही दोष हैं और इस कथन में कि "प्रजासत्तात्मक शासन में राज को कोई स्थान नहीं होता तो भी प्रजा के उत्पीड़न के लिए उसमें निर्वाचित शासकों के रूप में अनेक राजा होते हैं," कितना ही आंशिक सत्य क्यों न हो, तो भी यह मानना ही पड़ेगा कि जनतन्त्र मनुष्यों के हित के लिए है। यह मनुष्य को अपने स्वतन्त्र विकास के साधन प्रदान करता है और उसके व्यक्तित्व को समृद्ध बनाता है। यह व्यक्ति को स्वतन्त्र भावनाओं से रहित एक निर्जीव यन्त्र नहीं बनाता किन्तु उसके शाश्वत अधिकारों का मान करता है। यह भाषण की स्वतन्त्रता, छापाखाने की स्वतन्त्रता, सभा करने की स्वतन्त्रता, राजनीतिक संगठन और सामाजिक संगठन की स्वतन्त्रता का दमन नहीं करता और न ही निरपराध व्यक्ति को कैद करने की किसी को स्वतन्त्रता देता है। इन सबको निरुपयोगी और दुःखद स्वतन्त्रताओं के नाम से पुकारा है और इसीलिए फैसिस्ट राज्य के संस्थापक के शब्दों में इसकी स्वतन्त्रता को कम किया है। डेमोक्रेटिक स्टेट वर्गों के एकीकरण का प्रयत्न नहीं करती, किन्तु फैसिज्म को इसका बड़ा अभिमान है। फैसिज्म वर्गों का एकीकरण करती है। वर्गों के एकीकरण का जो विरोध करते हैं उनके साथ बड़ी कठोरता की जाती है। फैसिज्म के समान प्रजासत्तात्मक प्रणाली में युवकों को भड़काने वाले भाषण देकर उनको पुष्ट नहीं किया जाता, किस मार्ग का अवलम्बन

करना चाहिए और किसका नहीं, इस प्रकार का कोई तनाव भी उनके भीतर उत्पन्न नहीं किया जाता, देश-भक्ति का उन्माद भी उनमें उत्पन्न नहीं किया जाता और राष्ट्रीय भावी गौरव की महानता की ओर भी उन्हें अग्रसर नहीं किया जाता। यह न तो युद्ध को ऊँचा स्थान देती है और न ही सारी की सारी जाति को एक सैनिक कैम्प में परिवर्तित करती है और न तलवार के द्वारा दूसरों को कष्ट पहुँचाकर अपने मान और प्रतिष्ठा की वृद्धि ही करती है। विग्रह और सन्धि की समस्या को किसी व्यक्ति-विशेष पर नहीं छोड़ती। यह सुसंगठित और केन्द्रित सरकार की कसौटी जरूर है, किन्तु ये किसी भी स्टेट के गुण नहीं कहे जा सकते और ये ऐसे गुण नहीं हैं जिनके द्वारा प्रजासत्तात्मक शासन प्रणाली और तानाशाही में अन्तर किया जा सके और खासकर यह सम्भव मालूम होता है कि अन्तकाल तक संसार दो भागों में बँटा रहेगा, आधा स्वतन्त्र रहेगा और आधा गुलाम रहेगा और यह गुलामी होगी प्रतिक्रियावादी राजनीतिक दर्शन की।

फैसिस्ट रियासत का आर्थिक ढाँचा—अब हम फैसिस्ट रियासत के आर्थिक ढाँचे का वर्णन करेंगे। यह इटली के श्रमजीवी आन्दोलन के सेन्डीकेलिस्ट सिद्धान्त से लिया गया है, इसलिए इसका आर्थिक सिद्धान्त इसके राजनीतिक सिद्धान्त की अपेक्षा अधिक समय तक चलेगा।

मूल सिद्धान्त—इटली की राज्य-क्रांति ने राजनीतिक निरपेक्षवाद समाप्त कर दिया। उसके बाद सामाजिक क्रांति हुई जिसमें आर्थिक निरपेक्षवाद भी समाप्त कर डाला। राजनीतिक निरपेक्षवाद का मतलब है राजनीतिक स्वातन्त्र्य और आर्थिक निरपेक्षवाद का मतलब है आर्थिक स्वतन्त्रता। इसी को प्रायः लेसेज फेअरी कहते हैं। इन दोनों में ऐतिहासिक या अन्य किसी प्रकार का कोई सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि राजनीतिक आजादी के लिए यह जरूरी है कि आर्थिक मामलों पर कुछ पाबन्दियाँ हों। इसलिए दोनों प्रकार का निरपेक्षवाद साथ-साथ नहीं चल सकता है। इसलिए ग्रेट ब्रिटेन जैसे जनतन्त्र राष्ट्र ने बहुत अर्से से इसको लेसेज फेअरी सिद्धान्त में ही नहीं किन्तु व्यवहार में भी छोड़ दिया है। अतः जब फैसिज्म कहता है कि अनियंत्रित पूँजीवादी आर्थिक नीति अच्छी नहीं है तो इसको कोई विचित्र बात नहीं समझना चाहिए, क्योंकि इस प्रकार का प्रवाह और देशों में भी चल रहा है। परन्तु फैसिज्म इस बात का भी प्रयत्न नहीं करता कि कौम के सारे आर्थिक मामलों पर सरकार का नियन्त्रण हो। यह आर्थिक जीवन के कुछ भागों में प्राइवेट व्यापार को भी मानता है और अन्य प्रकार के व्यापार पर यह रियासत का नियन्त्रण चाहता है। इटली में श्रमजीवियों को एक अधिकार-पत्र दिया गया था (लेबर चार्टर, 1927)। उसमें लिखा है कि उत्पादन के लिए प्राइवेट प्रयास बहुत अच्छा है और यह राष्ट्र के हित के अनुकूल है। आगे चलकर इसमें लिखा है कि आर्थिक मामलों में सरकार के हस्तक्षेप

की उस समय आवश्यकता होती है जब कोई प्राइवेट प्रयास नहीं होता और होता है तो काफी नहीं होता और जब उसमें राजनीतिक हित का सवाल आ जाता है। आखिरी वाक्य सरकार के लिए दरवाजा खोल देता है कि वह अपने कार्य-क्षेत्र को चाहे जितना विस्तृत करे। यह वास्तव में सोशलिज्म मालूम होता है और सोशलिज्म नहीं तो सोशलिज्म की शुरूआत तो है ही। बैंकों और विदेशी व्यापार पर सरकार का नियन्त्रण है। जो उद्योग राष्ट्र की रक्षा के लिए महत्त्व के माने जाते हैं वे भी सरकार के अधीन कर लिए जाते हैं। इसलिए कम्पनियों के शेयर अधिकांश सरकार के पास हैं। कृषि तथा छोटे उद्योगों में तथा आन्तरिक व्यापार में फैसिज्म प्राइवेट प्रयास के सिद्धान्त को स्वीकार करता है। परन्तु इसमें दो शर्तें रखी गई हैं। पहली शर्त यह है कि मालिक काम का संचालन करेगा लेकिन मजदूर उसको सक्रिय सहयोग देगा। उत्पादन के इन दोनों साधनों से पारस्परिक अधिकार और कर्त्तव्य उत्पन्न होते हैं। दूसरी शर्त यह है कि उत्पादन का प्राइवेट संगठन भी वास्तव में रियासत का ही संगठन है। आर्थिक व्यवस्था के प्रत्येक भाग में इन शर्तों को लागू करने के लिए सरकार ने एक बहुत बड़ा महकमा बना रखा है। पूंजी और मजदूरी का सम्बन्ध निश्चित करने के लिए और दोनों में सहयोग स्थापित करने के लिए इटली के लोगों के मजदूर संघ बने हुए हैं। राष्ट्र के हित में उत्पादन की व्यवस्था करने के लिए उत्पादन के सम्पूर्ण साधनों की संस्थाएँ-सी बना दी हैं। इनको संघ कहते हैं। इस प्रकार मजदूर संघ और ये दूसरे संघ मिलकर इटली के राष्ट्र को एक सहकारी राष्ट्र बना देते हैं। राजनीतिक और अर्थशास्त्र के क्षेत्र में फैसिज्म की यह बहुत बड़ी देन है।

श्रमजीवी सेन्डीकेट संघ—इटली के आर्थिक जीवन को श्रमजीवी संघों के आधार पर संगठित किया गया है। यह इसलिए किया गया है कि आर्थिक क्षेत्र में अनुशासन बना रहे। इसी प्रकार फैसिस्ट पार्टी ने नाना प्रकार की कार्यवाहियों के द्वारा राजनीतिक क्षेत्र में अनुशासन स्थापित किया है। सरकार की ओर से इस विषय में यह कहा जाता है कि इस संघवाद से उन लोगों का सामूहिक हित होता है जो उत्पादन के काम में लगे हुए हैं, अर्थात् मालिक और मजदूर दोनों का। इससे समस्त सामाजिक वर्गों के हितों का समन्वय होता है और सभी की समान रक्षा होती है। यह उद्देश्य व्यक्तिवाद के साधन से प्राप्त नहीं हो सकता, क्योंकि व्यक्तिवाद में पूंजीवाद की संगठित शक्तियों और श्रमजीवियों का संघर्ष निहित है और न ये उद्देश्य स्टेट सोशलिज्म से प्राप्त होते हैं, क्योंकि इसमें नौकरशाही का नियन्त्रण स्थापित हो जाता है। लेकिन यह उद्देश्य पूरा हो सकता है सहकारी राष्ट्र के तरीके से अर्थात् उत्पादक लोग आत्म-निर्णय करें और सबका आपस में समझौता हो। दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं कि इटली के संघवाद का उद्देश्य है कि मालिकों और मजदूरों में जो वर्ग-संघर्ष हुआ करता है उसका अन्त किया जाय और उसके

स्थान पर शान्त सहकारिता स्थापित की जाय जिससे विविध हितों का समन्वय और सामंजस्य हो सके। इस विचार-धारा के अनुसार 1926 में यह कानून जारी किया गया कि श्रमजीवियों के संघ समस्त प्रकार के आर्थिक कार्यों का प्रतिनिधित्व करेंगे। अगले वर्ष 'लेबर चार्टर' जारी हुआ जिसमें सहकारी राष्ट्र के स्वरूप का कुछ दिग्दर्शन कराया गया और ऐसे सिद्धान्त बतलाए गए जिनके द्वारा आयन्दा पूँजी और श्रम का नियमन होना था। प्रत्येक व्यवसाय में दो प्रकार के संघ बनाए गए, एक मालिकों के लिए और दूसरा मजदूरों के लिए। परन्तु ललितकला और ऐसे दूसरे व्यवसायों के सम्बन्ध में यह मान लिया गया कि मालिक और मजदूरों में कोई भेद नहीं है। संघ की सदस्यता अनिवार्य नहीं है और व्यवसाय-विशेष में काम मिल ही जाय, इसका भी दायित्व सरकार पर नहीं है। इन संघों द्वारा जो उनके सदस्यों के लिए रियायतें प्राप्त की जाती हैं उनसे वे लोग भी लाभ उठा सकते हैं जो इनके सदस्य नहीं हैं, परन्तु उन्हें संघों को चन्दा देना पड़ता है। प्रत्येक व्यवसाय में एक ही संघ हो—चाहे वह मालिकों का हो या मजदूरों का। संगठन से मान्यता मिलती है चाहे उसमें काम करने वालों का दशांश ही शामिल हो और ऐसा माना हुआ संघ फैसिस्ट पार्टी के अधीन रहता है। मुसोलिनी का सिद्धान्त है कि जिन आर्थिक संगठनों को सहकारी राष्ट्र से मान्यता मिली है वे सब फैसिज्म के दायरे के अन्दर हैं। इन समस्त संघों का मुख्य कार्य, चाहे उनका सम्बन्ध म्यूनिसिपैलिटी से हो, चाहे प्रान्त से हो या चाहे समस्त राष्ट्र से हो, सामूहिक सौदा करना है। जब मालिकों और मजदूरों के संघ, जो क्रमशः पूँजी और श्रम का प्रनिनिधित्व करते हैं, अपने परस्पर विरोधी हितों को छोड़कर एक सामूहिक रूप से मजदूरों से ठेका-सा कर लेते हैं, तो इस प्रकार का समझौता उन सब पर लागू किया जाता है जो इस व्यवसाय में शामिल हों, चाहे वे संघ के सदस्य हों या नहीं। इस प्रकार के सामूहिक मुहाइदे के निश्चित नियम होते हैं और वे नियम मजदूरी, मजदूरी का समय, सप्ताह में आराम का एक दिन, सवैतनिक वार्षिक छुट्टियाँ, बरखास्त होने पर क्षति-पूर्ति आदि सम्बन्धों के विषय में निश्चित कानून बनाते हैं।

सहकारी राष्ट्र—फैसिस्ट लेखकों का दावा है कि मुसोलिनी ने इटली में सहकारी राष्ट्र स्थापित करके इस समय की बहुत बड़ी सामाजिक समस्याओं का हल प्रस्तुत किया है। इस समय का संसार वर्ग-संघर्ष से क्षत-विक्षत है और उन्नसीवीं शताब्दी के व्यक्तिवाद और मार्क्स के समूहवाद, इन दो प्रकार की विचार-धाराओ को मानता है। लेकिन इटली के सहकारी राष्ट्र ने यह स्पष्ट कर दिया है कि वर्तमान रियासत परस्पर विरोधी वर्ग के हितों में समन्वय कर सकती है। इसलिए वर्ग-संघर्ष के स्थान पर वर्ग-सहकारिता स्थापित हो गई है। इससे संसार का बड़ा लाभ हुआ। क्रान्ति की दृष्टि से देखा जाय तो वर्ग-संघर्ष का उद्देश्य है एक वर्ग का अन्त करके दूसरे वर्ग

की शक्ति स्थापित करना। मजदूरों और मालिकों में तनाजा हो सकता है, परन्तु उनका बातचीत से निपटारा किया जा सकता है और दोनों पक्ष बिल्कुल बराबरी के साथ बातचीत कर सकते हैं। फिर भी संघ की दृष्टि से उत्पादन करने वालों के जो समूह बन जाते हैं वे दो प्रकार के होते हैं—एक मालिकों का और दूसरा मजदूरों का, और यह बात प्रत्येक व्यवसाय पर लागू है। इसलिए ये दोनों प्रकार के संघ जुदे-जुदे विचार प्रकट किया करते हैं और कभी-कभी इनमें गहरा मतभेद होता है। एक मालिकों के हित की बात करता है और दूसरा श्रमजीवियों के हित की। लेकिन दोनों इस बात की आवश्यकता का अनुभव करते हैं कि इन परस्पर विरोधी हितों में समन्वय होना चाहिए। 1934 में दूसरा कदम उठाया गया। यह अनुभव हुआ कि इन दोनों प्रकार के हितों को परस्पर जोड़ने के लिए कुछ प्रबन्ध करना चाहिए। इसलिए सहकारी संघ बनाये गए। इनमें मालिक और मजदूर दोनों समानता के साथ और एक ही संघ में रहते हुए परस्पर एक-दूसरे को सहयोग देते हैं।

संघ—संघों के विषय में कहा जाता है कि ये राष्ट्र के अंग हैं। इनमें जितने सदस्य पूँजी-पक्ष के होते हैं उतने ही श्रम-पक्ष के होते हैं, और इनमें फैसिस्ट दल के भी सदस्य सम्मिलित होते हैं। ये सब मिलकर उत्पादन का कार्य इस प्रकार करते हैं कि प्राइवेट प्रयास से मालिकों को ही लाभ न हो बल्कि सब जनता का हित हो। ये संघ इटली के सबसे बड़े आर्थिक संघ हैं। उत्पादन के पूरे काम में जिस-जिस प्रकार के लोगों की आवश्यकता होती है वे सब इन संघों में सम्मिलित होते हैं अर्थात् कच्चा माल पैदा करने वाले, उसको पक्के मकान में बदलने वाले, पक्के माल का व्यापार करने वाले, उत्पादन-विधि को जानने वाले और इसके विज्ञान-पक्ष को समझने वाले। प्रत्येक संघ की एक कौंसिल होती है और ऐसी समस्त कौंसिलों की प्रतिनिधि कौंसिल का नाम है राष्ट्रीय कौंसिल। उत्पादन-कार्य में जिन-जिन लोगों का सहकारी हित है उनका यह राष्ट्रीय कौंसिल प्रतिनिधित्व करती है। संघों का मुख्य काम सलाह देना है। इनका उद्देश्य है कि सब आर्थिक कार्य-व्यवस्था के अनुसार हों ताकि समस्त राष्ट्र की शक्ति और श्रम को केन्द्रित किया जा सके और उसका ऐसा संचालन हो कि राष्ट्र की आवश्यकताएँ पूरी की जा सकें। मुसोलिनी कहता था कि "संघों का काम उत्पादन को नियमित करना है। हम नहीं चाहते कि कोई भी चीज बन जाए और यों ही जैसे-तैसे बन जाए। यह हुआ तो मूर्खता है और इससे विपत्ति आती है।" पिछले युग में आर्थिक जीवन का उत्पादन पर कोई नियंत्रण नहीं था। अब उसके स्थान पर यह व्यवस्था स्थापित की गई है। यह व्यवस्था विधि और वृद्धि के अनुकूल है। जो लोग अपने ही प्रयास से उत्पादन करना चाहते हैं उनको बतलाया जाता है कि किस प्रकार सबका हित हो सकता है। संघ सरकार को सलाह देते हैं कि उत्पादन, विभाजन और विनिमय के लिए क्या कानून

होना चाहिए और संघ ही कीमत, मजदूरी आदि निश्चित करते हैं। नये उद्योग जारी करने की इजाजत देते हैं या उनके लिए मना करते हैं, काम सीखने वालों के लिए शर्तें निश्चित करते हैं, झगड़े निपटाते हैं, और सब भाँति देश के आर्थिक जीवन का नियंत्रण करते हैं। संघवाद के समर्थक यह तो स्वीकार करते हैं कि आर्थिक निरपेक्षता का अन्त करके संघ व्यवस्था कायम की गई है, परन्तु इससे जर्मनी का-सा स्टेट सोशलिज्म, राष्ट्र समाजवाद कायम नहीं होता, इससे अर्थतंत्र में नौकरशाही जैसी कोई बात नहीं आती। संघों का मतलब है कि अर्थतंत्र नियमित और नियन्त्रित हो, अर्थतन्त्र के क्षेत्र में व्यवस्था हो, परन्तु संघ नौकरशाही के अंग नहीं हैं। इटली के आर्थिक जीवन की व्यवस्था उत्पादकों के सुपुर्द है। ये लोग संघों के द्वारा काम करते हैं और संघों में आर्थिक क्षेत्र में काम करने वाले सब भाँति के लोगों के प्रतिनिधि हैं। राष्ट्र के ऐसे अंग भी हो सकते हैं जो नौकरशाही के अंग न हों बल्कि स्वशासित अंग हों। यह व्यवस्था फासिज्म की ही नहीं है। इसका उदाहरण ग्रेट ब्रिटेन में भी है। हाँ, किसी अन्य देश में ऐसा नहीं है कि अर्थतन्त्र के समस्त क्षेत्र पर इस व्यवस्था की छाप हो। लेकिन फैसिस्ट राष्ट्र में इन संघों की आन्तरिक स्वतन्त्रता में दो बातों में कमी आती है, प्रथम तो इन सबका अध्यक्ष मिनिस्टर होता है और फिर इन संघों में फैसिस्ट दल के सदस्य भी शामिल होते हैं, और यह भी आवश्यक है कि इनके निश्चयों का सरकार द्वारा समर्थन हो। मूलतः यह बात तो युक्ति-युक्त प्रतीत होती है कि संघ कौंसिल आर्थिक जीवन की व्यवस्था करे, क्योंकि पार्लियामेंट इस कार्य के लिए उपयुक्त नहीं है, परन्तु साथ ही यह भी मानना पड़ेगा कि फैसिस्ट व्यवस्था जनतंत्रीय संस्थाओं के अनुकूल नहीं है।

व्यावसायिक प्रतिनिधित्व—सहकारी राष्ट्र का आर्थिक संगठन एक उद्देश्य-विशेष की पूर्ति का साधन माना जाता है। यह बतलाता है कि आधुनिक जनतन्त्र का संगठन बहुमत के आधार पर नहीं किन्तु योग्यता के आधार पर होना चाहिए। इसका यह अर्थ है कि विचार सभा में प्रतिनिधित्व भौगोलिक दृष्टि से नहीं किन्तु पेशे या व्यवसाय की दृष्टि से होना चाहिए। व्यावसायिक प्रतिनिधित्व का मतलब है कि मत-मंडल का संगठन या व्यवस्था व्यवसाय के अनुसार हो। इस काम के लिए संघीय ढाँचे में ही आवश्यक साधन और यंत्र होते हैं। प्रथम व्यवसाय चेम्बर 1929 में निर्वाचित किया गया था। दस वर्ष बाद उसके स्थान पर फैसिस्ट और संघों का एक चेम्बर निर्वाचित किया। फैसिस्ट आन्दोलन के आरम्भिक दिनों में ही मुसोलिनी ने वैधानिक सुधारों का कार्यक्रम सोच लिया था। उसने कहा था कि "आधुनिक देश का जीवन अत्यन्त पेचीदा है। राजनीतिक व्यवस्था के आवश्यक अंग देश की आवश्यकताओं को पूरा नहीं कर सकते। इस समय जो राजनीतिक प्रतिनिधित्व चल रहा है उससे हमको संतोष नहीं हो सकता। हम चाहते हैं कि विभिन्न हितों का सीधा प्रतिनिधित्व हो। सरकारी प्रबन्ध-व्यवस्था को भी बदलने की जरूरत है।

यह इस प्रकार बदली जा सकती है कि व्यापारिक, व्यावसायिक और सांस्कृतिक संगठनों के द्वारा टेकनिकल कौंसिलों और विविध सभाओं का निर्वाचन हो। मुसोलिनी अपने सिद्धान्त के अनुसार बात करता था। सर्वसत्तात्मक राज्य में जहाँ केवल एक ही दल की बात चलती हो और एक ही दल के हाथ में सत्ता तथा शासन का सूत्र हो, जर्मन रेशटेग या इटली के चेम्बर ऑफ डेप्यूटीज से काम नहीं चल सकता था। ये संस्थाएँ जीर्ण हो चुकी थीं। इनका जमाना गुजर चुका था। वह कहता था कि "यह संस्था हमारी मनोभावना के विपरीत हैं, यह हमारी समझ में नहीं आ सकती। फैसिस्ट लोगों का जो सम्प्रदाय है उसके यह विरुद्ध है। उससे इसकी किसी प्रकार संगति बैठ ही नहीं सकती, क्योंकि जिस संसार को हम उलट चुके हैं यह संस्था उसके अस्तित्व को मानकर चलती है। भविष्य यह बतलायेगा कि फैसिस्ट दल का यह दावा साधार है या नहीं कि ऐसी राजनीतिक संस्था, जो अनेक पार्टियों के सहारे पर खड़ी हो, इतिहास के ऐसे युग की बात है जो गुजर चुका है।" कुछ भी हो, सहकारी राष्ट्र चल ही रहा है। इसका मूल सिद्धान्त है कि अर्थतंत्र पर व्यावसायिक सहकारी संस्थाओं का नियंत्रण हो। जनतंत्रीय देशों के राजनीतिक और आर्थिक विकास पर इसका गहरा प्रभाव पड़ेगा, ऐसी सम्भावना है।

इटली का औपनिवेशिक साम्राज्य—इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि इटली की विदेश-नीति के वे ही लक्षण हैं जो तानाशाही के, अर्थात् अशान्ति की भावना, कार्य करने की आतुरता, घटनाओं पर अपने व्यक्तित्व की छाप। मुसोलिनी की महत्वाकांक्षा के कारण अन्तरराष्ट्रीय सम्बन्धों में बड़ी उथल-पुथल आ गई थी, उसने एक बार कहा था कि "मैं चाहता हूँ गति होती रहे।" एबीसीनिया पर इटली के आक्रमण का यूरोप की स्थिति पर क्या प्रभाव पड़ा था इसका वर्णन पहले ही हो चुका है। इसका प्रधान उद्देश्य राजनीतिक था। मुसोलिनी चाहता था कि इटली की प्रतिष्ठा बढ़े। उसने गर्व के साथ कहा था कि "आखिरकार अब इटली के पास भी साम्राज्य है।" लेकिन इस राजनीतिक आकांक्षा पर आर्थिक पर्दा डाला गया था। यह कहा गया था कि "इटली की आबादी चार करोड़ तीस लाख है। अपनी तंग दीवारों के अन्दर इसका दम घुट रहा है। इसलिए इटली को उपनिवेशों की आवश्यकता है। इटली के लाखों बच्चों के पास कोई काम नहीं है। वे घर में बेकार बैठे हुए सड़ रहे हैं। विदेशी देशों ने ऐसी पाबंदियाँ लगा दी हैं कि ये लोग बाहर नहीं जा सकते।" यह सत्य है कि प्राचीन संसार के फालतू लोग अब अमेरिका में प्रवेश नहीं कर सकते। नए संसार ने इन लोगों के लिए अपना दरवाजा बन्द कर दिया है। इस कारण आधुनिक यूरोप की आर्थिक कठिनाइयाँ और भी उग्र हो गई हैं। तो भी इस दलील में कोई तथ्य नहीं था कि इटली में फालतू आबादी थी। इटली की सरकार ने बहुत परिश्रम करके और पेशगी इनाम दे-देकर यह कोशिश की

कि बच्चे अधिक पैदा हों। जो इटली के लोग बाहर जा बसे थे उनको अपने देश में वापस बुलाने के लिए उपाय किये। भूमि-रक्षा के सम्बन्ध में जो फालतू पड़ी हुई है जिस पर उसकी फालतू आबादी का निर्वाह आसानी से हो सकता है, 1925 में मुसोलिनी ने कहा था कि "हमारे पास इतनी जमीन है कि हम भविष्य में लाखों और करोड़ों इटली-निवासियों को भूमि और रोटी दोनों दे सकते हैं।" दलदलों में से पानी निकाला गया। समुद्र-तट के पास के प्रदेशों का विकास किया। पर्वतों के निकटस्थ जमीन पर, जो पानी से कटनी जाती थी, रक्षार्थ जंगल उगाए गए। इस प्रकार बहुत-सी नई जमीन उपलब्ध हो गई। अतः यदि अमेरिका में इटेलियन लोगों का जाना बन्द हो गया तो कोई कठिन समस्या उपस्थित नहीं हुई। अमेरिका जाने के वजाय अब इटली के घने बसे हुए जिलों से लोगों को उन जिलों में भेजा गया जहाँ पर आबादी कम थी और जहाँ काश्त करने के लिए जमीन मिल सकती थी या इनको उत्तर अफ्रीका के इटेलियन उपनिवेशों में भेज दिया गया। इसलिए इन विकासों को देखते हुए यह दलील कमजोर हो गई कि इटली को अपनी बढ़ती हुई और फालतू आवादी के लिए आर्थिक उपनिवेशों की आवश्यकता है। तव मुसोलिनी ने एक नई दलील ढूँढी। पिछली बातें छोड़कर अब वह नई बात कहने लगा कि "अन्तरराष्ट्रीय व्यापार कम होता जाता है, इसलिए अब आवश्यकता आ गई है कि प्रत्येक देश आत्मावलम्बी हो। इसके लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि कहीं से कच्चा माल यथासमय मिलता रहे। यह प्रत्येक राष्ट्र के लिए जीवन और मरण का प्रश्न है। इस दृष्टि से इटली के वर्तमान उपनिवेश काफी नहीं हैं। वास्तव में इटली उपनिवेश क्षेत्र में कुछ देर से पहुँचा। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में अधिकांश उपनिवेश स्थापित हुए थे। उस समय इटली अपने एकीकरण में लगा हुआ था, फिर भी उसने लाल समुद्र के पास एरेट्रिया और हिन्द महासागर में सुमालिया अपने अधिकार में कर लिए। 1911 में उनकी टर्की के साथ लडाई हुई। तब उसने उत्तरी अफ्रीका में लीबिया छीन लिया। 1919 में जर्मनी के अफ्रीका वाले उपनिवेशों का बँटवारा हुआ। तब इटली को बहुत ही कम प्राप्ति हुई। शायद इसका कारण यह होगा कि एड्रियाटिक समुद्रतट पर उसको पहले ही बहुत-कुछ मिल चुका था। फिर भी इटली के कितने ही लोगों की यह सम्मति थी कि विजय के लाभों से इटली को वंचित रखा गया है। इसका परिणाम यह हुआ कि इटली अपनी गणना असन्तुष्ट देशों में करने लगा। जब कभी कोई समझौता होता है और शान्ति की सन्धि होती है तो कोई न कोई पक्ष असन्तुष्ट रहा ही करते हैं। सोचा तो यह था कि एबीसीनिया की विजय के बाद इटली की फालतू और तेजी के साथ बढ़ती हुई आबादी को निकलने और फैलने के लिए काफी प्रदेश मिल जायगा, परन्तु यह अन्दाजा घटनाओं ने झूठा साबित कर दिया। इटली के लोगों को अपने श्रम के द्वारा उस भूमि को

उर्वरा बनाने का मौका नहीं मिला जिसकी प्राप्ति के लिए उन्होंने अपना खून बहाया था।"

इटली की राष्ट्र-संघ से अनबन—यदि इटली और एबीसीनिया के युद्ध का एक-मात्र उद्देश्य यही होता कि अफ्रीका के एक प्राचीन साम्राज्य का अन्त कर दिया जाए, तो उपनिवेशों के विस्तार और पिछड़े हुए देशों के शोषण के इतिहास में एक अध्याय और बढ़ जाता। लेकिन यूरोप की शक्तियों के सन्तुलन में कोई खास गड़बड़ नहीं होती। लेकिन इस युद्ध के साथ ही राष्ट्र-संघ की प्रतिष्ठा का प्रश्न भी लगा हुआ था। जेनेवा में राष्ट्रों ने मिलकर सर्वसम्मति से यह फैसला दिया कि इटली ने दूसरे देश पर आक्रमण किया है, इसलिये वह बावन राष्ट्रों के आर्थिक घेरों का सामना करे। अब इटली को विषम स्थिति का सामना करना पड़ा। इटली के लोगों से यह कहा गया और उन्हें यह सिखाया भी गया कि "हमने लोगों को इसलिए नहीं घेर लिया है कि हमने यों ही दूसरे राष्ट्र पर हमला कर दिया है। घेरा वास्तव में इसलिये डाला गया है कि उपनिवेशों के लिये हमारी उचित माँगें दूसरे राष्ट्रों को अच्छी नहीं लगीं। इसलिये वे लोग हमारे प्रयासों को विफल करना चाहते हैं। यह घेरा उन पुराने और भरपूर औपनिवेशिक शक्तिशाली राष्ट्रों ने डलवाया है जिनके लोभ का अन्त ही नहीं आता। इसमें ऐसे पूँजीपति राष्ट्र भी शामिल हैं जो हमसे इसलिये शत्रुता रखते हैं कि हमारी फैसिस्ट क्रांति नई सामाजिक व्यवस्था करना चाहती है, और इस तलाश में है कि समाज के साथ अधिक ऊँचे दरजे का न्याय किस प्रकार हो सकता है।" लेकिन राष्ट्र-संघ ने सब अधूरी कार्यवाहियाँ कीं, जिनसे केवल संकेत-सा हुआ, दवाव कुछ नहीं पड़ा, वल्कि उनसे यह भी प्रकट हो गया कि सामूहिक कार्य कितना निःसार होता है। इसके कारण ही 'रोम-बर्लिन धुरी' का जन्म हुआ। जब राष्ट्र-संघ ने इटली पर प्रतिबन्ध लगाये तो वह विरोधी बन गया। 1937 में जर्मनी और जापान में एक रूप-विरोधी सन्धि हुई थी। उसको अब इटली ने स्वीकार कर लिया और राष्ट्र-संघ से वह पृथक् हो गया। इटली ने इस प्रकार की धमकियाँ तो दीं, परन्तु एबीसनिया को अपने राज्य में मिलाने के बाद उसने यह घोषित कर दिया कि अब इटली को सन्तोष हो गया और भविष्य में वह संसार में शान्ति और स्थिरता स्थापित करने में सहयोग प्रदान करेगा। लेकिन तीन साल भी नहीं बीत पाये कि वह अपने पड़ौसी फ्रांस के प्रदेशों पर लोलुप दृष्टि से देखने लगा और इटली की पार्लियामेन्ट तथा प्रेस ने अंधाधुन्ध माँगें उपस्थित करना शुरू किया। 1935 में इटली ने फ्रांस के साथ एक सन्धि की थी, वह अब इटली ने रद्द कर दी, लेकिन फ्रांस की सरकार अपने निश्चय पर दृढ़ रही। इटली के रुख से वह टस से मस नहीं हुई। तब इटली ने अलवेनिया पर आक्रमण किया और उसे अपने राज्य में मिला लिया (1939)। इससे पहले जर्मनी मध्य यूरोप में कुछ प्रदेश हड़प चुका था। इसलिये

इटली भी चाहता था कि वह भी इस स्थिति से लाभ उठाये। उसको यह भी आशंका थी कि यदि यूरोपीय युद्ध हुआ तो एड्रियाटिक समुद्र-तट पर न जाने कैसी स्थिति खड़ी हो जाए, इसलिये ऐसी स्थिति से बचने के लिए भी शायद उसने अलबेनिया पर आक्रमण किया हो और उसे अपने राज्य में मिलाया हो।

वेटिकन सन्धि—फैसिस्ट शासन में जो काम हो रहे हैं वे चाहे भविष्य में टिकें या न टिकें, लेकिन इसका एक काम अवश्य ही स्थायी रहेगा, अर्थात् इटेलियन राष्ट्र और पोप की सन्धि (1929)। यह ऐतिहासक समझौता है। इसके अनुसार रोम को वेटिकन नगर अर्थात् पोप का नगर मान लिया गया और इस सम्बन्ध में नियम बना दिये गए। पोप के अधीन जो इलाका था वह होली-सी अर्थात् पवित्र इलाका कहलाता था। पोप को उसका कानूनन स्वामी मान लिया गया और उसमें उसकी सत्ता स्वाधीन और अनियंत्रित मानी गई। इस प्रकार रोम का प्रश्न निश्चित तथा अटल रूप से हल हो गया। यह प्रश्न सन् 1870 में उपस्थित हुआ। उस समय पोप की रियासत इटली राज्य में मिला ली गई थी।

(vii)
अन्य यूरोपीय राष्ट्र

ऊपर हमने सोवियत रूस, नेशनल सोशलिस्ट जर्मनी और फैसिस्ट इटली की उथल-पुथल का वर्णन किया है। अब हम यूरोप के अन्य राष्ट्रों में जो मुख्य-मुख्य घटनाएँ हुईं उन पर दृष्टिपात करेंगे।

फ्रांस—1918 में जर्मनी की पराजय के बाद फ्रांस ही यूरोप के महाद्वीप में मुख्य राष्ट्र रह गया था। यूरोप में छोटे-छोटे अनेक राष्ट्रों का उदय हुआ। इस सम्बन्ध में एक यूनानी कहानी का स्मरण आता है। केडमस नामक एक वीर ने किसी राक्षस के दाँत तोड़कर जमीन में बो दिये थे। परिणाम यह हुआ कि जैसे खेत में धान उत्पन्न होता है उसी प्रकार एक-एक दाँत से एक-एक वीर योद्धा पृथ्वी में से निकलने लगा। ठीक इसी प्रकार इन नये राष्ट्रों का जन्म हुआ। इन सबको फ्रांस ही अपना रक्षक दिखाई देता था। फ्रांस ने भी उनकी राजनीतिक और आर्थिक सहा-यता की और उनको अपनी ओर खींच लिया। इन मध्यवर्ती और पूर्ववती यूरोपीय रियासतों के साथ फ्रांस ने कितने ही समझौते और अहदनामे किए। यह फ्रांस की प्रथम रक्षा-पंक्ति थी। उसने दो रक्षा-पंक्तियाँ और बनाई थीं। फ्रांस को आशंका थी कि कहीं जर्मनी का आधिपत्य फिर स्थापित न हो जाये। इसलिये वह एक प्रकार से अपनी रक्षा का बीमा करवाना चाहता था। अतः उसकी दूसरी रक्षा-पंक्ति थी राष्ट्र-संघ। फ्रांस के नीतिज्ञों की धारणा थी कि सामूहिक कार्यवाही राष्ट्रीय रक्षा की गारन्टी है। तीसरी पंक्ति थी ग्रेट ब्रिटेन के साथ समझौता। इन दोनों देशों का हित

समान था। इसलिए दोनों एक होकर सैनिक जर्मनी का विरोध कर सकते थे। फ्रांस की राजनीति से उपरोक्त तीनों पक्षों में कोई पारस्परिक विरोध नहीं था। वास्तव में ये तीनों अन्योन्याश्रित थे। छोटे राष्ट्र समझते थे कि राष्ट्र-संघ उनकी रक्षा के लिए एक प्रकार का दुर्ग है। इसके कारण उनके देश ज्यों के त्यों रहेंगे। ग्रेट ब्रिटेन समझता था कि शान्ति बनाए रखने के लिए राष्ट्र-संघ बहुत बड़ा आश्रय है, वरना कई प्रकार के सैनिक अहदनामे करने पड़ते, जिनके कारण विरोध उत्पन्न होता, लेकिन फ्रांस की जनता से एक घातक भूल हुई। जब परीक्षा का समय आया तब उन लोगों ने राष्ट्र-संघ का हार्दिक समर्थन नहीं किया और जब एबीसीनिया पर आक्रमण हुआ और एक बहुत बड़ी समस्या खड़ी हो गई तब फ्रांस की नीति कुछ डाँवाडोल-सी रही। राष्ट्र-संघ ने इस बात का प्रयत्न किया कि इटली का आक्रमण टल जाए, लेकिन फ्रांस के मंत्रिमंडल ने दो घोड़ों पर जीन रखा और राष्ट्र-संघ के प्रयास को विफल कर दिया। नतीजा इसका यह हुआ कि राष्ट्र-संघ निःसार हो गया। लेकिन यदि जर्मनी के आक्रमण को कोई रोक सकता था तो राष्ट्र-संघ ही संसार को अपने पक्ष में करके रोक सकता था। अब छोटे-छोटे राष्ट्रों का भ्रम दूर हुआ। उन्होंने यह अनुभव किया कि राजनीतिक वास्तविकता एक वस्तु है और राजनीतिक आदर्श दूसरी। अब उनकी एकमात्र आशा रह गई थी उदासीनता की नीति। इस सबका असर फ्रांस पर यह हुआ कि उसकी जो प्रतिष्ठा प्रथम बीस वर्ष तक 1914-18 के युद्ध के बाद थी वह अब जाती रही।

घरेलू समस्याएँ—ये घटनाएँ अभी भविष्य के गर्भ में छिपी हुई थीं। फ्रांस के सामने तात्कालिक समस्या तो यह थी कि विनष्ट प्रदेशों को पुनः किस प्रकार सम्पन्न बनाया जाए। 1914-18 तक फ्रांस का उत्तरी और उत्तर-पूर्वी हिस्सा शत्रु के कब्जे में था। इस प्रदेश को शत्रु ने तहस-नहस कर डाला था। यह समस्त प्रदेश वास्तव में युद्धस्थल बन गया था। इसलिए कुछ विनाश तो होना ही था, लेकिन यहाँ के उद्योग-धन्धों और आर्थिक साधनों को जर्मनी ने शायद जान-बूझकर नष्ट किया था। इस प्रदेश की आबादी साढ़े सैंतीस लाख से घटकर बीस हजार रह गई थी। एक-तिहाई मकान, सरकारी इमारतें, कारखाने और खेतों पर बने मकान नष्ट हो गये थे। कोयले की खानें और लोहे की खानें खत्म कर दी गई थीं। कृषि के योग्य जितनी भूमि थी वह सब परती पड़ी हुई थी। जानवर तो कहीं नजर ही नहीं आते थे। जिन लोगों ने इस प्रदेश का निरीक्षण किया था वे समझ गए थे कि विजयी राष्ट्र इस क्षति की पूर्ति करवाने के लिए क्यों उतारू हो रहे हैं। और इस प्रकार की विपत्ति फिर दुबारा न आ जाए, इसके लिए क्यों सब प्रयत्न कर रहे हैं। जर्मनी के साथ बड़ी कठोर शर्तें की गई थीं और प्रायः इन शर्तों का ही स्मरण आता है। हम इस बात को भूल जाते हैं कि इस तस्वीर का दूसरा पहलू भी है। फ्रांस अपनी

वैधानिक समस्याओं से भी परेशान था। ये समस्याएँ इसलिए खड़ी हुआ करतीं थीं कि उसकी सरकार में बड़ी अस्थिरता थी। 1920 से 1930 तक फ्रांस में बीस सरकारें बनीं और बिगड़ीं। कारण यह था कि फ्रांस की पार्लियामेंट्री व्यवस्था ही ऐसी है। सर्वसत्तात्मक रियासतों में यह दुर्गुण होता है कि समस्त सत्ता एक व्यक्ति के हाथ में केन्द्रीभूत हो जाती है, लेकिन फ्रांस की पार्लियामेंट्री शासन-व्यवस्था में यह दुर्गुण है कि वहाँ सत्ता अनेक पार्टियों में बिखरी हुई है। फ्रांस राजनीतिक दलों के लिए प्रसिद्ध है। वास्तव में यूरोप के कितने ही देशों का यह दुर्भाग्य है कि उनके यहाँ या तो बहुत अधिक राजनीतिक दल हैं या बहुत ही कम। जहाँ बहुत दल होते हैं वहाँ प्रबन्ध स्थिर नहीं रहता और पार्लियामेंट्री व्यवस्था की निन्दा होने लगती है। और जहाँ एक ही पार्टी के हाथ में सारी सत्ता आ जाती है वहाँ सरकार का विरोध नहीं होता और न ही उस पर किसी प्रकार का नियंत्रण होता है। इसलिए वहाँ एक ही सरकार बनी रहती है। फ्रांस में केबिनेट या मंत्रिमंडल ऐसा बनाया जाता है जिसका सारे राजनीतिक दल समर्थन करें, तभी सरकार चल सकती है परन्तु ऐसी सरकार कमजोर होती है। विशेष कठिनता के अवसर पर तो केबिनेट की बात चल सकती है, परन्तु वह प्रायः दृढ़ और एक-सी नीति का अनुसरण नहीं कर सकती। इसकी घरेलू नीति और विदेशी नीति दोनों ही निर्बल होती हैं। जब फ्रांस में बार-बार मंत्रिमंडल बदलते थे तो जनता बहुत चिढ़ा करती थी। फ्रांस में भी फैसिस्ट लोगों का एक दल था और एक दल राजभक्तों का भी था। ऐसे अवसर पर इन दलों को अपना आन्दोलन करने का बहुत अच्छा अवसर मिलता था। 1914 और 1918 के विश्व-युद्ध के अन्त में शासन-सूत्र एक मजबूत आदमी के हाथ में था। उस समय प्रधान मंत्री मौन्शीयर क्लीमेन्सो था। उसका निश्चय अटल था और वह दृढ़ता के साथ युद्ध को सफलता की सीढ़ी पर पहुँचाना चाहता था। पेरिस नगर में सन् 1919 में जो सन्धि-परिषद हुई उसका वह अध्यक्ष था। अध्यक्ष की हैसियत से उसका एकमात्र उद्देश्य यह रहा कि उसके देश की स्थिति दुर्धर्ष हो जाए। उसने इस बात को नहीं माना कि पराजित शत्रु के साथ उदारता का व्यवहार करने से दोनों देशों के घाव पुर जाते हैं। इससे फ्रांस की रक्षा से हानि नहीं लाभ ही होता। मौन्शीयर क्लीमेन्सो ने शक्ति और दृढ़ता से फ्रांस का शासन किया। उसका विरोध बहुत था। इसलिए सन् 1920 में मौन्शीयर पोइनकार के बाद वह अध्यक्ष के निर्वाचन में हार गया। अध्यक्ष पद पर मौन्शीयर मिलेरेंड निर्वाचित हुआ। गद्दी पर बैठते ही उसने अपना इरादा प्रकट किया कि वह अपने पद को अधिक शक्तिशाली बनाना चाहता है और विदेशी नीति के संचालन में उसकी व्यक्तिगत रुचि है।

विदेश-नीति—ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस दोनों इस बात पर सहमत नहीं थे कि जर्मनी के साथ किस प्रकार का बर्ताव किया जाए। ग्रेट ब्रिटेन का रुख नर्म था। वह चाहता

था कि 1914-18 के विश्व-युद्ध की स्मृतियाँ धुँधली हो जाएँ और जर्मन लोग पुनः आर्थिक शक्ति प्राप्त कर लें। ग्रेट ब्रिटेन इस बात को जानता था कि युद्ध से पहले उसका जर्मनी के साथ तिजारत के मामले में बड़ा मुकाबला रहा करता था, लेकिन साथ ही वह इस बात को भी न भूला था कि जर्मनी में अंग्रेजी माल बहुत बिका करता था। इसलिए ग्रेट ब्रिटेन चाहता था कि जर्मनी की आर्थिक स्थिति पुनः सँभल जाए, लेकिन फ्रांस का रुख दूसरा था। जर्मनी की आर्थिक क्षीणता का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। वह सारी स्थिति को केवल राजनीतिक दृष्टि से देखता था। उसको केवल इस बात की चिन्ता थी कि आत्म-रक्षा कैसे हो और जर्मनी कहीं फिर बलवान बनकर मुकाबले में खड़ा न हो जाए। फ्रांस का जनमत तो इसी पक्ष में था कि जर्मनी के साथ कठोरता का व्यवहार किया जाए। केवल एक व्यक्ति का मत दूसरा था। यह था मौन्शीयर ब्रियन्ड। यह इंगलैण्ड के साथ सहयोग करना चाहता था ताकि जर्मनी फिर यूरोप के राष्ट्रों में सम्मिलित हो जाये। फ्रांस की पार्लियामेन्ट में उसका विरोध हुआ और सन् 1922 में उसने अपने प्रधान मंत्री के पद से त्याग-पत्र दे दिया। उसके बाद मौन्शीयर पोइन-कार प्रधान मंत्री बना। यह पहले फ्रांस के जनतंत्र का अध्यक्ष था। यह इस पक्ष में था कि शक्ति का प्रयोग किया जाए और पुराने ढंग की राजनीति ग्रहण की जाए। उसको यह बात पसन्द नहीं थी कि जर्मनी के साथ नर्मी की जाए, नई कूटनीति का प्रयोग किया जाए और नए संपर्क स्थापित करके तथा राजनीतिज्ञों की सभाएँ करके समय नष्ट किया जाए। उसका दृढ़ निश्चय था कि जर्मनी से युद्ध-दंड पूरा-पूरा वसूल किया जाये। और जब उसने देखा कि वसूली नहीं हो रही है तो 1923 में उसने सेना रवाना करके रूहर प्रदेश पर कब्जा कर लिया। इंगलैण्ड ने इसका विरोध किया लेकिन उसने अपना निश्चय नहीं बदला। इसके अतिरिक्त उसने चाहा कि राइनलैंड जर्मनी से अलग हो जाए और एक अलग रियासत बन जाए जो अपनी रक्षा के लिए फ्रांस की ओर ताका करे। हम शुरू के अध्याय में बता चुके हैं कि शार्लमेन के साम्राज्य के दो भागों के बीच एक मध्य राष्ट्र स्थापित करने का एक बहुत पुराना विचार था। थोड़े दिनों के लिए यह स्वप्न साकार भी हुआ। पन्द्रहवीं शताब्दी में चार्ल्स बोल्ड ने बर्गण्डी नामक एक रियासत स्थापित की किन्तु यह टिकी नहीं। उसके मरते ही यह छिन्न-भिन्न हो गई। तब से फ्रांस और जर्मनी में विरोध बना हुआ है। दोनों देश प्रायः लड़ते रहते हैं और जब सन्धि होती है तो वह सशस्त्र सुलह होती है।

शान्ति का युग—मौन्शीयर पोइनकार की द्रोह-नीति सफल नहीं हुई। उसका पार्थक्य आन्दोलन जल्दी बदनाम हो गया। राइनलैण्ड में फ्रांस की नीति का समर्थन नहीं हुआ। साथ ही जर्मनी ने चिढ़कर युद्ध-दंड की अदायगी बिल्कुल बन्द कर दी। फ्रांस इससे रुष्ट हो गया। उसने कहा कि जर्मनी ऐसे साधनों का उपयोग कर रहा है जिनमें सैनिकता की गन्ध आती है। 1914-18 का विश्व-युद्ध इसी सैनिकता का

अन्त करने के लिए ही तो किया गया था। 1914 में पोइनकार की पार्टी को दूसरी पार्टी ने हरा दिया। विजयी पक्ष रेडिकल और सोशलिस्ट कहलाता था। पोइनकार ने त्याग-पत्र दे दिया। जनतन्त्र के अध्यक्ष मिलीरेण्ड ने भी अपना पद छोड़ दिया। उसने स्वयं ही इस बात को स्वीकार कर लिया कि वह राजनीतिक दलों के मामले में उतना निष्पक्ष नहीं रह सका जितना उसे रहना चाहिए था। नए मंत्रिमंडल ने पिछले मंत्रियों की विदेश-नीति बिल्कुल बदल दी। अब मंत्री लोग चाहते थे कि ग्रेट ब्रिटेन के साथ हार्दिक सम्बन्ध स्थापित हो जाए, जिसका मतलब यह था कि जर्मनी के साथ नरमी बरती जाए और व्यक्तिगत कार्यवाही के वजाय सामूहिक कार्यवाही की जाये। अब ग्रेट ब्रिटेन में मजदूर सरकार थी। फ्रांस की शासक पार्टी की सहानुभूति मजदूर सरकार के साथ थी। इन दोनों देशों में कुछ अनबन हो जाने के कारण उन्होंने अलग-अलग मार्ग ग्रहण कर लिया था। अब उनके मिल जाने से शान्ति के युग का आरम्भ हुआ जिसमें बड़ी-बड़ी मंजिलें थीं—युद्ध-दंड का फैसला, रूहर प्रदेश को खाली करना और जर्मनी प्रदेशों से मित्र-राष्ट्रों की सेनाओं को हटाना। इसके अतिरिक्त तीन समस्याएँ और थीं अर्थात् लोकार्नो की सन्धि, जर्मनी का राष्ट्र-संघ में प्रवेश और ब्रियंड-केल्लोग का अहदनामा। नरमी की नीति का सम्बन्ध मौन्शीयर ब्रियन्ड से था। यह कई मंत्रिमंडलों में, 1924 से 1932 तक सात वर्ष तक विदेश मंत्री था। इसकी नीति का क्या परिणाम हुआ और इससे फ्रांस को क्या लाभ हुआ, इसका उल्लेख पहले ही किया जा चुका है। मिस्टर ब्रियन्ड को यह खतरा था कि मंत्रिमंडल बार-बार बदलते हैं, इसलिए कहीं उसकी नीति यूँ ही उड़ा दी जाए, परन्तु वह निरन्तर सात वर्ष तक विदेश-मंत्री रहा जिससे उसकी नीति से फ्रांस को कुछ लाभ हुआ। अब यूरोप में नई भावना जागृत हो रही थी। इसलिए 1927 में फ्रांस में एक नया कानून बना। इस कानून से अनिवार्य सैनिक शिक्षा की अवधि केवल एक साल की कर दी गई।

फ्रेंक के लिये संघर्ष—फ्रांस के अन्तरराष्ट्रीय मामले तो निरन्तर सुधरते गये, लेकिन उसके घरेलू मामलों में आर्थिक स्थिति अत्यन्त नाजुक हो गई और इसका प्रभाव राजनीतिक स्थिति पर भी पड़ा। फ्रांस अपने वजट बराबर नहीं कर सका। मुख्य कारण यह था कि 1914-18 के विश्व-युद्ध में उसका अपार खर्च हो चुका था और अब विनष्ट प्रदेशों को ठीक करने में असीम व्यय हो रहा था। और साथ ही फ्रांस की जनता भी तैयार नहीं थी कि उनके ऊपर भारी कर लादे जाएँ। इस परिस्थिति में जनता का सिक्के की स्थिरता में विश्वास नहीं रहा और लोग अपनी पूँजी को बाहर भेजने लगे। ऐसा कहा जाता था कि फ्रेंक—फ्रांस के सिक्के—से भयभीत होकर फ्रांस की पूँजी भाग रही है। यह भगदड़ इतनी मची की फ्रेंक की कीमत पहले से आधी रह गई। एक के बाद दूसरी और दूसरी के बाद तीसरी परिषद ने इस परिस्थिति को सँभालने की कोशिश की और 1929 में मौन्शीयर पोइनकार ने

सम्मिलित मंत्रिमंडल के अध्यक्ष की हैसियत से स्थिरता के लिए बड़ा प्रयास किया। उसके मंत्रिमंडल में पिछले छः मुख्यमत्री सम्मिलित थे। फ्रेंक के संघर्ष में उसको सफलता प्राप्त हुई। फ्रेंक की फिर वही कीमत मिलने लगी जो पहले मिलती थी। फिर तीन साल बाद बड़ा भारी आर्थिक शैथिल्य सारे यूरोप में हुआ। दूसरे देशों में इसके जो परिणाम हुए उनका फ्रांस पर भी प्रभाव पड़ा। जर्मनी में इस शैथिल्य के कारण ही नेशनल सोशलिस्टों के हाथ में शक्ति आ गई। इससे मजबूर होकर ही फ्रांस ने रूस के साथ सन्धि कर ली और अपनी अनिवार्य सैनिक शिक्षा की सोवियत अवधि एक साल बढ़ाकर दो साल कर दी। ग्रेट ब्रिटेन ने इसके कारण ही सिक्के के विषय में स्वर्णमर्यादा का परित्याग कर दिया। इससे संसार के सिक्कों में गड़बड़ मच गई और फ्रेंक की स्थिरता गड़बड़ में पड़ गई, इसलिए अब फिर संघर्ष जारी हुआ परंतु इस बार हार माननी पड़ी। फ्रांस की सरकार ने इस बात का यत्न किया कि स्वर्ण-मर्यादा बनी रहे, क्योंकि यदि सिक्के का मूल्य और घट जाता तो उन लोगों को बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ता जिनकी आय निश्चित थी, विशेषकर जब पहले ही इसकी कीमत घट चुकी थी। इसलिए अब यह तय किया गया कि वस्तुओं का मूल्य कम किया जाए। इसके लिए मजदूरी, वेतन और कीमत कम करनी पड़ी। लोगों ने इस नीति का बड़ा विरोध किया इसलिए उद्देश्य पूरा नहीं हो सका। मंत्रिमंडल इस नाजुक आर्थिक स्थिति को नहीं सुधार सका और वह आमद और खर्च का भी सन्तुलन नहीं कर सका। इसलिए राजनीतिक व्यवस्था में लोगों का विश्वास नहीं रहा। लोगों का विरोध और क्रोध इतना बढ़ गया कि सरकार का अस्तित्व ही खतरे में पड़ गया। यह असन्तोष लोगों में फैल ही रहा था कि एक घटना ऐसी घटी जिससे बड़ी भारी खलबली मची। एकाएक स्टेविस्की के नाम पर ऐसा अपवाद फैला जिसमें बड़े-बड़े राजनीतिज्ञ फँस गये। स्टेविस्की अर्थ-विशेषज्ञ था। उसने बेकार बौंड बेचकर फ्रांस के पूँजीपतियों को बहुत ठगा। इन लोगों ने व्याज के लोभ से खूब बौंड खरीदे। उस समय ऐसा कहा जाता था कि स्टेविस्की ने बड़े-बड़े कर्मचारियों को रिश्वत दी थी और उन्होंने उसकी बेईमानी का समर्थन किया था। लोगों के असन्तोष से पेरिस और प्रान्तों में खलबली मच गई और फरवरी सन् 1934 में बड़ा जबरदस्त बलवा हुआ। सरकार की साख पहले ही बहुत गिर चुकी थी और अब लोगों को भय था कि उग्र तत्व इस स्थिति का लाभ उठाकर प्रबल आन्दोलन करेंगे जिससे साख और भी अधिक गिर जायगी। यह भी आशंका थी कि फैसिस्ट तानाशाही हो जाए। इस खतरे का सामना करने के लिए प्रधान श्रम संघ ने एक दिन की हड़ताल की। मजदूर लोग नहीं चाहते थे कि जनतंत्र राज्य का अन्त कर दिया जाए। भूतपूर्व प्रेसीडेन्ट मौन्शीयर डाऊमर्ग को प्रधान मंत्री बनाया और उससे प्रार्थना की गई कि इस नाजुक वक्त को टाले और लोगों में पुनः विश्वास उत्पन्न करे। सरकार को अधिक स्थिर बनाने के लिए उसने

कुछ वैधानिक परिवर्तनों के लिए प्रस्ताव प्रस्तुत किए, लेकिन वे सब बेकार साबित हुए। फ्रांस की जनता सरकार को और अधिक अधिकार नहीं देना चाहती थी। हाँ, अगर कोई विपत्ति होती तो जनता आगा-पीछा नहीं सोचती।

लोक मोर्चा—फ्रांस ने तूफान का सबलता के साथ सामना किया था, परन्तु फैसिस्ट और राजभक्त दल अपनी कार्यवाहियाँ करते जाते थे। इससे वामपक्ष को निरन्तर यह चेतावनी मिलती रहती थी कि जनतंत्र खतरे में है। समान भावना से प्रेरित होकर रेडीकल सोशलिस्ट और कम्यूनिस्ट लोगों ने मिलकर एक संगठन बनाया जिसका नाम लोक मोर्चा (Popular Front) रखा। इसका उद्देश्य यह था कि फ्रांस की स्वाधीनता फैसिस्ट पार्टी की पहुँच से परे रहनी चाहिए। 1936 के निर्वाचन में इन्होंने एक-दूसरे का साथ दिया और चेम्बर के स्थानों में 60 प्रतिशत स्थान इनको प्राप्त हो गए। सोशलिस्ट पार्टी का नेता, मोन्शियर ब्लूम प्रधान मंत्री नियुक्त हुआ और उसने इस बात का वचन दिया कि बड़े लम्बे-चौड़े सामाजिक सुधार किए जाएँगे। यह मजदूर दल की विजय थी। इसलिए उनमें बड़ा जोश था और उन्होंने एक ऐसा जन-आन्दोलन खड़ा किया जिसको यदि युक्ति से नहीं सँभाला जाता तो बड़ा खतरनाक साबित होता। सारे फ्रांस में हड़ताल संक्रामक रोग की भाँति फैल गई। इसकी विशेषता यह थी कि मजदूर लोग कारखाने छोड़कर नहीं जाते थे। वे लोग कारखानों में ही रहते थे परन्तु काम नहीं करते थे और किसी प्रकार की क्षति भी नहीं पहुँचाते थे। इन लोगों ने घोषणा की कि उनकी माँगें पूरी होने पर और उनके साथ अच्छी शर्तें हो जाने पर हड़ताल बन्द होगी। ऐसा अनुमान किया जाता है कि एक समय हड़तालियों की संख्या 1,000,000 के लगभग थी। प्रधान मंत्री ने बीच-बचाव करने के लिए कोशिश की और एक ऐसा समझौता करवा दिया जिसके अनुसार हड़ताली लोग काम करने लग गए और कारखाने के मालिकों ने मजदूरी बढ़ाने के लिए मंजूरी दे दी। इसके अतिरिक्त एक सप्ताह में 44 घंटे काम के लिए निश्चित हो गए। वर्ष भर में दो सप्ताह की सवेतन रुखसत मंजूर कर ली गई और कुछ कारखानों में तो मजदूरों ने सामूहिक समझौते किए। कानून बना दिया गया कि मजदूर लोग सप्ताह में 44 घंटे काम करेंगे, रुखसत सवेतन होगी और सब मजदूर मिलकर शर्तें तय कर सकेंगे। इतना हो जाने पर हड़ताल का बुखार भी समाप्त हो गया। इस लोक मोर्चा वाले मंत्रिमंडल ने कई सुधार ऐसे भी किए जिनका माल या वित्त से सम्बन्ध था। ये भी बड़े महत्त्वपूर्ण थे। बजट की कमी, टूरिस्ट लोगों की संख्या में कमी, निर्यात व्यापार का ह्रास, बेकारी की वृद्धि, फ्रेंक से भगदड़, इन सबने मिलकर प्रबन्ध के ऊपर बहुत बड़ा दबाव डाला। आखिरकार 1936 में फ्रांस ने भी स्वर्ण मर्यादा छोड़ दी और फ्रेंक की कीमत गिरा दी गई। दूसरा महत्त्व का काम यह किया गया कि फ्रांस के बैंकों का राष्ट्रीयकरण हो गया। पहले इस पर बड़े-बड़े पूँजीपतियों का नियंत्रण था, अब वह

खत्म कर दिया गया। पहले प्रबन्धकारी बोर्ड बड़े-बड़े 200 शेयर होल्डर लोगों द्वारा निर्वाचित होता था। अब सरकार ने 12 सदस्य नियुक्त कर दिये जो उद्योग, व्यापार, कृषि और अन्य लोगों का प्रतिनिधित्व करते थे। उन्होंने 9 सदस्यों के नाम की सिफारिश की और शेष दो को स्टाकहोल्डर लोगों ने निर्वाचित किया। रुपये की कमी के कारण मोन्शियर ब्लूम ने 13 महीने काम करके 1937 में अपने पद से त्याग-पत्र दे दिया। इसका खास कारण यह था कि सिनेट ने उसको यह अधिकार देने से इन्कार कर दिया कि आर्थिक स्थिति को सुधारने के लिए वह आदेश जारी कर सकता है। इसके बाद कई मंत्रिमंडल बने परन्तु वे सब थोड़े-थोड़े दिन टिके। सन् 1939 में युद्ध की घटाएँ घिरने लगीं। तब मोन्शियर डेलेडियर की अध्यक्षता में एक शक्तिशाली मंत्रिमंडल बना। फ्रांस की जनता ने देखा कि फ्रांस के चारों ओर खतरा ही खतरा है, इसलिए अपने आपसी झगड़ों को भुलाकर उन्होंने देश की रक्षा का ध्यान रखा और मत्रिमंडल को मजबूत बनाया।

फ्रांस और इटली के सम्बन्ध—एक बार फिर घरेलू समस्याएँ अन्तरराष्ट्रीय नाटक से दब गईं। युद्ध के बाद 15 वर्ष तक तो फ्रांस का यूरोप में खूब दबदबा रहा, परन्तु 1931-32 के बाद स्थिति बदलने लगी। अब जर्मनी पुनः सैनिक शक्ति के रूप में खड़ा हो गया। फ्रांस में आन्तरिक झगड़े बढ़ गए। एबीसीनिया की घटना को भी फ्रांस ने अच्छी तरह नहीं सँभाला। विदेश-नीति में विशेषता यह थी कि फ्रांस और इटली के पारस्परिक संबंध अच्छे नहीं थे। इटली का दावा था कि सोमालीलैण्ड में लालसागर वाला जिबौटी नामक बन्दरगाह उसका है। उसकी यह भी माँग थी कि ट्यूनिशिया में जो इटली के लोग निवास करते हैं उनके खास अधिकार माने जाएँ, जिससे वे इटली के साथ अपने राजनीतिक सम्बन्ध बनाए रखें। ये औपनिवेशिक झगड़े परस्पर विरोधी विचारों के कारण भी उग्र हो गए, क्योंकि फैसिस्ट राज्य उन सब सिद्धान्तों का विरोधी था जो 1789 की राज्य-क्रांति ने स्थापित किए थे। इस प्रकार जब फ्रांस और इटली में वैमनस्य बढ़ता गया तो इटली जर्मनी की ओर झुकने लगा। जब जर्मनी में नेशनल सोशलिज्म फैलने लगा तब इस बात की संभावना बहुत बढ़ गई कि समान विचारधाराओं के आधार पर इटली और जर्मनी में मेल हो जाएगा। फ्रांस नहीं चाहता था कि इटली जर्मनी से मिल जाय। उसको अपनी ओर बनाए रखने के लिए 1935 में फ्रांस ने एक सन्धि की। अफ्रीका के उपनिवेशों में इटली के भी हित थे और फ्रांस के भी। प्रश्न यह था कि दोनों देशों के हितों का आदान-प्रदान किस प्रकार हो और दोनों के हितों की रक्षा किस प्रकार हो। इस सन्धि में इन्हीं समस्याओं का हल करने की कोशिश की गई थी। इसके अनुसार अफ्रीका में इटली की सीमाएँ निश्चित हो गईं। उसको कुछ भूमि और मिल गई और कुछ आर्थिक लाभ प्राप्त हो गया। जो इटेलियन लोग ट्यूनिशिया में रहते थे उनके विषय में

फ्रांस ने कुछ और परिवर्तन जारी किए। जब मुसोलिनी ने देखा कि फ्रांस उदासीन है तब उसने प्रकट किया कि वह इटली का साम्राज्य स्थापित करना चाहता है। एबीसीनिया के ऊपर आक्रमण करने से राष्ट्र-संघ के साथ अनबन शुरू हो गई। इस स्थिति में फ्रांस का मंत्रिमंडल कुछ डाँवाडोल-सा रहा। वह दोनों पक्षों को बनाए रखना चाहता था ताकि इटली के साथ जो उसका अच्छा सम्बन्ध था वह बिगड़ न जाय। साथ ही वह चाहता था कि इंगलैण्ड के साथ भी उसकी मित्रता बनी रहे। इन तरकीबों से इंगलैण्ड और फ्रांस में तनाव तो हो ही गया, लेकिन इनसे एक ऐसे किले की दीवार गिर गई जो फ्रांस का आधार था, अर्थात् सामूहिक सुरक्षा की व्यवस्था बिगड गई। इसके बाद उसका दूसरा किला भी गिरने लगा, अर्थात् छोटी-छोटी रियासतों के साथ उसके सम्बन्ध बिगड़ने लगे। इसके अतिरिक्त 1936 में जर्मनी ने सेना भेजकर राइनलैण्ड पर कब्जा कर लिया। जर्मनी का साहस इसलिए हुआ कि राष्ट्र-संघ करीब-करीब बैठ गया था। इसके बाद जर्मनी ने एक दुर्ग-पंक्ति बनाई, जिसका नाम सिगफ्रिड लाइन रखा। फ्रांस ने पहले से ही इस प्रकार की दुर्ग-पंक्ति बना रखी थी जो मेजीनाट लाइन कहलाती थी। अब फ्रांस को यह डर लगने लगा कि जर्मनी पूर्व और पश्चिम दोनों तरफ अपनी सीमाओं को खूब सुरक्षित कर चुका है। जब फ्रांस में इतनी शक्ति नहीं थी कि वरसाइल की सन्धि से जो स्थिति कायम हुई थी उसकी वह रक्षा कर सके। अब फ्रांस के सामने जर्मनी सैनिक के रूप में खड़ा हुआ था। उसकी महत्त्वाकांक्षा असीम थी। इस कारण उसके पड़ोसियों को खतरा बढ़ता जाता था। ऐसी स्थिति फ्रांस के सामने 25 वर्ष पहले उपस्थित हुई थी, तब उसने निश्चय किया था कि इंगलैण्ड से सहायता माँगने के अतिरिक्त उसके पास कोई चारा नहीं है। इसलिए 1914-18 की भाँति 1939 में फिर दो पश्चिमी जनतंत्री सरकारें कन्धे से कंधा भिड़ाकर खड़ी हो गईं।

स्पेन—स्पेन 1914-18 के विश्व-युद्ध में सम्मिलित नहीं हुआ। लेकिन दुर्भाग्य-वश उसको घरेलू युद्ध की भयंकरताओं का अनुभव करना पड़ा। इस देश में सेना और शासन में परम्परागत द्रोह चला आता था। इसी के कारण ऐसी घटनाएँ घटीं कि घोर विपत्ति उपस्थित हो गई। सैनिक अधिकारी वर्ग कई कमेटियों में सुसंगठित थे। हर कमेटी रक्षा-समिति कहलाती थी। पैदल सेना का प्रत्येक अफसर ऐसी सैनिक कमेटी से सम्बन्धित होता था। इन कमेटियों को स्पेन की भाषा में जटा कहते थे। ये सैनिक जंटा ही वास्तव में स्पेन के शासक थे। ये शासन-कार्य में भी हस्तक्षेप किया करते थे और सरकार के अन्दर दूसरी सरकार थे। इनकी विज्ञप्तियों के कारण देश में अशान्ति रहा करती थी और सदा क्रान्ति का वातावरण बना रहता था। इससे व्यवस्था और विधान नहीं चल सकते थे। सन् 1823 में मुसोलिनी के उदाहरण से प्रेरित होकर जनरल प्राइमोडि रिवेरा ने एक विज्ञप्ति प्रकाशित की

जिसमें यह माँग की गई कि मंत्रिमंडल को तत्काल बर्खास्त कर दिया जाय। किंग सलफन्सो ने जनरल रिवेरा को मिलिट्री डाइरेक्टरी का प्रधान बना दिया। इसने नागरिक प्रवन्ध को खत्म कर दिया और अब पार्लियामेंट के बिना ही शासन चलने लगा। यह सैनिक तानाशाही सात वर्ष तक चली। इस अर्से में सेना का ही शासन रहा। 1930 में स्पेन के बादशाह ने तानाशाह को बर्खास्त कर दिया, लेकिन उसकी प्रजा विधान को स्थगित कर देने के कारण असन्तुष्ट थी। अतः अगले वर्ष जब म्युनिसिपल निर्वाचन हुए तो प्रान्तीय राजधानियों में रिपब्लिक पार्टी का बहुमत रहा। स्पेन के बादशाह ने इस निश्चय को शिरोधार्य किया और वह स्पेन से चला गया। इस प्रकार राजतन्त्र खत्म हो गया और नया विधान बना, जिसमें यह दर्ज किया गया कि स्पेन जनतंत्रीय रिपब्लिक है। स्पेन का कोई सरकारी धर्म नहीं है। स्पेन राष्ट्रीय नीति के साधन के रूप में युद्ध का परित्याग करता है।

आन्तरिक मतभेद—स्थापित होते ही रिपब्लिक को तूफानी समुद्र पर यात्रा करनी पड़ी। एक तरफ क्रांति की शक्तियाँ थीं और दूसरी ओर प्रतिक्रियावाद था। इन दोनों का संघर्ष बढ़ता ही गया जिससे वायुमंडल कटुता से भर गया। एक दल ऐसा था जो सरकार से अलग रहना चाहता था। उन्होंने बारसिलोना में कटेलोनिया की स्वाधीनता की घोषणा कर दी (1934)। परन्तु यह प्रगति बहुत जल्दी ठंडी हो गई। फिर मजदूरों के उग्र वर्ग ने आम हड़ताल कर दी। धर्म-विरोधियों ने गिर्जाघरों पर आक्रमण करना शुरू कर दिया। परन्तु ये घटनाएँ कभी-कभी इक्की-दुक्की ही हो जाती थीं। व्यापक रूप से स्पेन शान्त था। जब राजनीतिक उथल-पुथल होती है तो इस प्रकार का उफान आया ही करता है। यह मुमकिन था कि यह आप से आप ही शान्त हो जाता। यह विशेष ध्यान देने की बात है कि 1936 के आम निर्वाचन से, जिसको लोक मोर्चे की विजय माना जाता था, ऐसा प्रबन्ध स्थापित हो गया जो सोशलिस्ट नहीं था। लेफ्ट रिपब्लिकन लोग सोशलिस्ट लोगों की संख्या में अधिक थे। कम्यूनिस्ट लोगों की संख्या तो बहुत ही कम थी। इसलिए लेफ्ट रिपब्लिकन लोगों ने मंत्रिमंडल बनाया। राइट पार्टियों के कितने ही नेताओं को निर्वाचन में हार जाने से बड़ी निराशा हुई। ये लोग सैनिक अधिकारियों से मिल गए। इन लोगों को भी यह खतरा था कि अब उनका प्रभाव खत्म होने वाला है, इसलिए दोनों ने मिलकर एक सैनिक बलवा किया। इससे एक बहुत बड़ा विप्लव खड़ा हो गया। देश में जगह-जगह गिरजे जला दिए। सरकारी पक्ष के एक व्यक्ति की हत्या हो गई। तब राइट पार्टी के एक लीडर को भी मार दिया गया। इस समय जनरल फ्रेंको बेकार बैठा हुआ था। उस पर यह इलजाम लगाया गया था कि वह बलवे में शामिल है। इसलिए उसको अपने पद से अलग कर दिया गया था। वह भागकर स्पेनिश मोरक्को में पहुँच गया और वहाँ जुलाई 1936 में सैनिक विप्लव

का मुखिया बन गया। इस विप्लव में किसका कितना हाथ था, इसका विवेचन करते हुए एक स्पेन के लेखक ने लिखा है कि राइट और लेफ्ट दोनों पार्टियों की नीति में कोई सार नहीं था। जुर्म करते हुए कोई आगा-पीछा नहीं सोचते थे। मार्क्स के अनुयायी फैसिस्ट और अराजक लोग खूब हत्याएँ करते थे और आग लगाते थे। उसकी सम्मति थी कि इस उत्पात की सबसे बड़ी जिम्मेदारी उन लोगों पर है जिन्होंने बलवा करने का संकेत दिया है। लोगों पर और उनकी सम्पत्ति पर जो अत्याचार हो रहे हैं, वे तो हैं ही, परन्तु जो आन्तरिक युद्ध होगा तो उसकी भयंकरता और भी बढ़कर होगी।

घरेलू युद्ध—स्पेन का घरेलू युद्ध बहुत अर्से तक बड़ी भयंकरता के साथ चला। घरेलू युद्ध प्रायः ऐसे ही चला करते हैं। सरकार ने मेड्रिड और बार्सिलोना में इस कलह का दमन कर दिया, लेकिन विरोधियों ने बर्गोस नगर में अपनी ही सरकार स्थापित कर दी। इसमें वफादार लोग और मध्य वर्ग के लोग थे, किसान थे और उद्योग-धन्धों में काम करने वाले मजदूर तथा उन्नतिशील तत्व भी थे। बलवाइयों की ओर सेना थी, और इसके अतिरिक्त फैसिस्ट लोग जमींदार, कैथोलिक चर्च के पादरी लोग, राजसत्तावादी और रूढ़िवादी तत्व थे। बास्क के राष्ट्रवादियों में अधिकांश वफादार थे। इनमें कैथोलिक लोग भी थे और रूढ़िवादी भी। लेकिन उनमें जनतन्त्र की परम्पराएँ थीं और वे चाहते थे कि उनके प्रदेश में स्वराज्य हो। बास्क के निवासियों में जहाज के मालिक और लोहे के कारखाने वाले सरकार के पक्ष में थे। इसलिए यह कहना गलत था कि यह संघर्ष फैसिस्ट और कम्युनिस्ट लोगों में हो रहा था। वास्तव में यह अनुमान किया गया था कि स्पेन में समस्त कम्यूनिस्ट लोगों की संख्या केवल 50,000 थी। लेकिन इस लड़ाई में सबसे अधिक शोचनीय बात यह थी कि एक पक्ष दूसरे पक्ष के लोगों के साथ बड़ी निर्दयता का व्यवहार करता था। ऐसा कहा जाता है कि कैद कोई किया ही नहीं जाता था। मौका आने पर विपक्ष के सब लोगों को मार दिया जाता था और ये (ज्यादतियाँ इतनी बढ़ गई थीं कि फ्रांस की राज्यक्रांति की निर्दयताओं का स्मरण कराती थीं) ऐसा प्रतीत होता था कि सभ्यता का तो केवल मुलम्मा था। इसके अन्दर जंगलीपन और निर्दयता साफ नज़र आती थी। यही दशा बीसवीं शताब्दी में भी थी। सरकार का पक्ष हलका मालूम होता था। तो भी यह आश्चर्य की बात थी कि विपक्ष के पास इतनी शक्ति होते हुए भी सरकार ने उसका सामना खूब डटकर किया। बलवाइयों को इटली और जर्मनी से बहुत प्रोत्साहन प्राप्त होता था। यहाँ से उनको सैनिक तोपें, बन्दूकें, गोला-बारूद और कारतूस, वायुयान और विशेषज्ञ मिला करते थे। वफादार पक्ष को रूस से मदद मिलती थी लेकिन उनके पास लड़ाई का सामान और वायुयान छोटे दर्जे के थे और उनकी सबसे बड़ी कठिनता यह थी कि उनके बन्दरगाहों को शत्रुओं

ने घेर रखा था। इस प्रकार स्पेन विभिन्न और विरोधी विचारों के संघर्ष का अखाड़ा बन गया। तीस-वर्षीय युद्ध के समय में जर्मनी की भी यही दशा हुई थी। अन्तर इतना था कि इस समय यह संघर्ष दो धर्मों के बीच नहीं था, बल्कि दो शासन-प्रणालियों के बीच था। एक पक्ष था जनतंत्र का और दूसरा था सर्व-सत्तावाद (Totalitarian) का। गृह-युद्ध के इस स्वरूप के कारण यूरोप को यह भय होने लगा कि कहीं यूरोप के दूसरे देश भी इस तूफान में न फँस जाएँ। इस खतरे को टालने के लिए यूरोप की तीस सरकारों ने एक अहदनामा तैयार किया। इसका उद्देश्य था कि कोई किसी दूसरे देश में हस्तक्षेप न करे। सब राष्ट्रों ने यह भी प्रतिज्ञा की कि स्पेन के युद्ध में वे किसी भी पक्ष का साथ नहीं देंगे। लेकिन सर्वसत्तावादी राज्यों ने इस अन्तरराष्ट्रीय अहदनामे की पाबन्दी जरूरी नहीं समझी, क्योंकि ये लोग पहले ही अहदनामों को भंग करते जाते थे और इस रास्ते पर वे लोग बहुत आगे बढ़ चुके थे। अत: आरम्भ से ही इस अहदनामे का उल्लंघन होने लगा, जिससे यह सफल न हो सका बल्कि इसका मजाक-सा हो गया और इससे बलवाइयों को लाभ हुआ। इटली और जर्मनी से विद्रोही नेता की लड़ाई का सामान मिलता ही रहा, क्योंकि इटली और जर्मनी ने इस अहदनामे को बिल्कुल नहीं माना। सरकार को इससे बड़ी हानि हुई। पहले यह दूसरे देशों से शस्त्र और सामान मँगवा सकता था, परन्तु अब अहदनामे के अनुसार दूसरे देशों ने शस्त्र और सामान भेजना बन्द कर दिया। नतीजा इसका यह हुआ कि जनवरी 1939 में बलवाइयों ने बार्सिलोना छीन लिया और दो महीने बाद मेड्रिड नगर को भी, जहाँ नवम्बर 1936 से घेरा चल रहा था, आत्म-समर्पण कर दिया। इस प्रकार तीन वर्ष के बाद स्पेन के गृह-युद्ध का अन्त हुआ। इस युद्ध में लाखों आदमियों की जानें स्वाहा हो चुकी थीं।

टर्की—1914-18 के विश्व-युद्ध के कई ऐसे परिणाम हुए जिनकी बिल्कुल आशा नहीं थी। टर्की का पुनर्जन्म भी ऐसा ही एक परिणाम था। लगभग एक सौ वर्ष से टर्की गिरता जाता था। लोग इसको यूरोप का रोगी कहा करते थे। आटोमन साम्राज्य का अन्त तो कभी का हो जाता, परन्तु यूरोप के बड़े-बड़े राष्ट्रों के पारस्परिक द्रोह और द्वेष के कारण इसका अन्त टलता रहा। अब इसकी जागृति उस वक्त हुई जब यूनानियों ने सन् 1919 में स्मरना को घेर लिया और 1920 में टर्की को सेवर की सन्धि करनी पड़ी। इन दोनों घटनाओं से इसको बड़ा धक्का लगा, लेकिन इस धक्के ने ही मानो इसको जीवन-दान दे दिया। अब तुर्क लोगों ने देखा कि सम्पूर्ण थ्रेस उनके कब्जे से निकल गया है और प्रसिद्ध ऐतिहासिक नगर कुस्तुन्तुनिया पर भी अस्थायी रूप से अन्तरराष्ट्रीय नियंत्रण स्थापित हो गया है। इस सन्धि की शर्तें तुर्की सरकार ने तो मन्जूर कर लीं, लेकिन इसी अर्से में मुस्तफा

कमाल के नेतृत्व में राष्ट्रीय दल ने एशिया माइनर के अंगोरा नगर में अपनी ही अलग सरकार स्थापित कर दी थी। इस सरकार ने सेवर की सन्धि मंजूर नहीं की और यूनानियों के विरुद्ध युद्ध जारी कर दिया। इस युद्ध में तुर्क लोगों की बड़ी जीत हुई जिससे सैनिक परिस्थिति का सारा स्वरूप बदल गया। इसके बाद सन् 1923 में लोसान की सन्धि हुई। इसमें टर्की ने अपने शत्रुओं को विवश करके ऐसी शर्तें मंजूर करवाईं जो उसके अनुकूल थीं। कुस्तुन्तुनिया अब तुर्की के हाथ में रह गया और पूर्वी थ्रेस पर भी उनका कब्जा बना रहा। इसी प्रकार एशिया माइनर में एनेटोलिया भी उन्हीं के राज्य में बना रहा। इसी प्रदेश में स्मरना भी स्थित था। इन सब प्रदेशों की आबादी एक करोड़ के लगभग थी। परन्तु पैलेस्टाइन, सीरिया, मेसोपोटेमिया, इराक और अरब टर्की से अलग कर दिये गए। मुस्तफा कमाल ने इसकी कुछ चिन्ता नहीं की। वह तो एक राष्ट्र स्थापित करना चाहता था, इसलिए उसको इस बात की परवाह नहीं थी कि आटोमन साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो रहा है।

तुर्की क्रान्ति—अब तुर्की क्रान्ति के लिए रास्ता साफ हो गया और इसने उस देश का राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक ढाँचा बिल्कुल बदल दिया। इसका उद्देश्य था कि तुर्क लोगों का दृष्टिकोण बिल्कुल यूरोपीय बन जाए। इसका निर्माता था मुस्तफा कमाल, जिसने अपने देश को विनाश से बचाया था। अब यह कमाल अतातुर्क कहलाने लगा। यूनानी लोगों को बुरी तरह से हराने के बाद उसने अपने देश को एक आधुनिक राष्ट्र बनाना शुरू किया और मध्यकालीन धर्म-शासन का अन्त कर दिया। कमाल के कार्यक्रम में छ. सिद्धान्त थे। इनको उसने लोकदल के झंडे पर इस प्रकार अंकित किया था—झंडे की लाल जमीन पर छः सफेद तीर दिखाए गए थे। ये तीर उसके छः सिद्धान्तों के द्योतक थे। पहला तीर प्रकट करता था कि टर्की में रिपब्लिक स्थापित हो। राजसत्ता का अन्त कर दिया गया था और टर्की को रिपब्लिक घोषित करके अतातुर्क को इसका प्रथम अध्यक्ष नियत किया गया था। दूसरा सिद्धान्त था राष्ट्रीयता। यह निश्चय किया गया कि प्रत्येक तुर्क को नागरिक माना जायगा जब तक वह राष्ट्रीय सीमा के अन्दर निवास करता रहेगा, तुर्की भाषा बोलेगा, तुर्की शिक्षा प्राप्त करेगा और राष्ट्रीय आदर्श को अपना आदर्श समझेगा। तीसरा सिद्धान्त था जनसत्तावाद (Populism)। इसकी इस प्रकार व्याख्या की गई थी कि शासन-सत्ता जनता से आती है। चौथा सिद्धान्त था व्यक्तिगत व्यवसाय पर राष्ट्र का नियंत्रण (Etatism)। यह यातायात के साधनों पर, खानों पर, उद्योगों पर और जनता के उपयोग की वस्तुओं पर लागू किया गया था। इस सिद्धान्त के अनुसार कई प्रकार का माल तैयार करने के लिए, सरकार ने कारखाने जारी किए। कपड़े के कारखाने, ऊन के कारखाने, रायन सिल्क के कारखाने, लोहा और फौलाद के कारखाने आदि कितने ही कारखाने सरकार ने स्थापित किए। पाँचवाँ सिद्धान्त था धर्म-निरपेक्षता।

अब तुर्की राज्य और उसके शासन में कोई धर्म की छाप नहीं रही। खलीफा का पद भी खत्म हो गया। पहले सुल्तान शासक था और धार्मिक नेता भी, लेकिन अब घोषणा कर दी गई कि रिपब्लिक का काई धर्म नहीं है। अब शासन धर्म के प्रति निरपेक्ष हो गया। छठा सिद्धान्त था क्रान्तिवाद। लोकदल के कार्यक्रम में यह स्पष्ट कहा गया था कि राष्ट्र के शासक दल के ऊपर ऐसी कोई पाबन्दी नहीं है कि तरक्की धीरे-धीरे की जाए या विकास की परीक्षा की जाए। इस सिद्धान्त के अनुसार ऐसे भारी और तत्कालीन परिवर्तन किए गए जिनके द्वारा एक पुरानी एशियायी कौम को फौरन पश्चिमी कौम बनना था। अठारहवीं शताब्दी में भी जन-हितैषी निरंकुश शासकों ने इस प्रकार के सुधार करने का यत्न किया था। अब कमाल अतातुर्क ने भी अपने जोरदार व्यक्तित्व के द्वारा केवल कलम के बल से बड़े घोर सामाजिक परिवर्तन कर डाले। ऐसे निरंकुश नेता की कलम के विषय में कवि शीलर कहता है कि "कलम के विषय में क्या कहा जाय, बस कलम चली और संसार का नया रूप हो गया।" पहले लोग फैज या पगड़ी पहनते थे। यह एक प्रकार का धार्मिक चिन्ह माना जाता था। अब इन दोषों का निषेध कर दिया गया और तुर्क लोगों ने हैट पहनना शुरू कर दिया। ये लोग प्रकट करना चाहते थे कि वे लोग पूर्व के नहीं हैं, पश्चिम के हैं। वास्तव में अब टर्की पश्चिमी राष्ट्र बन रहा था। इसका एक प्रमाण यह था कि पहले जो जुम्मा के दिन छुट्टी मानी जाती थी वह अब रविवार को मानी जाने लगी। बहु विवाद बन्द कर दिया गया। स्त्रियों को पूरी स्वतन्त्रता दे दी गई। उनका पर्दा और बुर्का खत्म हो गया। उनको सामाजिक और राजनीतिक समानता दे दी गई। 1934 में उनको मत देने का अधिकार प्राप्त हो गया। 1935 में जब असेम्बली का निर्वाचन हुआ तो 17 स्त्रियाँ डेपुटी निर्वाचित हुईं। ऐसा ही एक बहुत बड़ा परिवर्तन यह किया गया कि टर्की भाषा का अरबी अक्षरों में लिखना बन्द कर दिया गया। अब अनिवार्य रूप से टर्की भाषा की लिपि एक नई लिपि बन गई।

विदेश-नीति—तुर्की की जागृति का सबसे बड़ा कारण था उसके शासक का व्यक्तित्व। उसने ब्रिटिश राजदूत से एक बार कहा था कि "अगर मैं मर गया तो हजारों तुर्क ऐसे हैं जो मेरा स्थान ग्रहण कर सकते हैं।" उस उत्तर की लोगों ने बड़ी प्रशंसा की थी। उसकी अध्यक्षता में तुर्की सर्वसत्ताधारी राष्ट्र बना। उसकी सरकार का आधार था एक राजनीतिक दल। उस समय जनता-दल ही एक ऐसा राजनीतिक संगठन था जिसको सरकार चलने देती थी, लेकिन तुर्की सरकार की ओर से कहा जाता था कि तुर्की वैसा सत्ताधारी देश नहीं है जैसे इटली, जर्मनी और रूस हैं। कारण यह है कि शिक्षा और सांस्कृतिक तथा सामाजिक प्रगतियों में सरकार ने बहुत स्वतन्त्रता दे रखी है। कुछ भी हो, तुर्की ने दूसरे देशों के प्रति कोई ऐसा रुख नहीं रखा जिससे यह प्रकट हो कि वह अमुक देश पर हमला करने वाला है। तुर्की लोसान की

सन्धि के कुछ अंश का संशोधन करवाना चाहता था, परन्तु शान्त और कानूनी तरीके से कॉन्फ्रेंस करवाकर। उधर जर्मनी किसी से बिना पूछे-ताछे सन्धियों को भग करता जाता था। 1923 में लोसान में जलडमरूमध्यों के विषय में एक सभा हुई, जिसमें बास्फरस और डार्डिनल्स जलडमरूमध्यों से सब विदेशी सेनाएँ निकाल देने का निश्चय किया और इस निश्चय को कार्य-रूप में परिणत करने के लिए अन्तरराष्ट्रीय कमीशन नियुक्त किया। इसके बाद भी इन डमरूमध्यों के विषय में बातचीत चलती रही। फिर 1936 में मांटरोक्स में एक सन्धि हुई। इसमें लोसान की सन्धि को रद्द कर दिया गया और तुर्की को यह अधिकार दे दिया गया कि वह जलडमरूमध्यों की किलेबन्दी कर सकता है। अन्तरराष्ट्रीय कमीशन भी भंग कर दिया गया। तुर्की को भी यह अधिकार दे दिया गया कि जब उसकी किसी देश से लड़ाई हो रही हो या होने वाली हो, तो वह दूसरे देशों के जंगी जहाजों को इन डमरूमध्यों में प्रवेश करने से रोक सकता है। युद्ध-काल में लड़ाकू जहाज इन डमरूमध्यों में से निकाल दिए जाते थे। लेकिन राष्ट्र-संघ की इजाजत से यदि ऐसे जहाज काम कर रहे हों तो उनको नहीं निकाला जाता था। यों स्वयं तुर्की की किसी देश के साथ सन्धि हो तो उस देश के तिजारती जहाजों को शान्तिकाल में व्यापार के लिए चलने की इजाजत थी। विशेष बात यह थी कि अब तुर्की और यूनान में मेल हो गया। ग्रेट ब्रिटेन की सद्भावना प्राप्त करने के लिए तुर्की ने यह नीति अपनाई कि इस्लाम-पक्षीय आन्दोलन को प्रोत्साहन न दिया जाय और अरब या भारत की राजनीतिक हलचलों से कोई अनुचित लाभ नहीं उठाया जाए। 1939 में एंग्लोटर्किश मित्रता पुनः स्थापित हुई और औपचारिक विधि से दोनों देशों में सन्धि हो गई।

यूनान—यूनान के प्राचीन निवासियों की जातीय संस्थाएँ कुछ भी रही हों, उनमें एक परम्परा समान है और यह है उनके पारस्परिक झगड़े। प्राचीन यूनान का पतन इन झगड़ों के कारण ही हुआ था और इस आन्तरिक फूट का यह देश अब भी शिकार बना हुआ है। यूनानियों में आपसी झगड़े केवल इसलिए नहीं होते थे कि उनकी सरकार बदल भी जाए, बल्कि इसलिए भी हुआ करते थे कि वे शासन का स्वरूप भी बदलना चाहते थे। यूनान में कभी जनतंत्र शासन होता था और कभी एकतंत्र उसके इतिहास में यही झगड़े भी हुए हैं। इसके कारण वहाँ निरन्तर उथल-पुथल मची रहती थी। थोड़े समय तक यूनान की यह भावना थी कि महायूनान स्थापित किया जाए। इसमें कुस्तुन्तुनिया भी शामिल हो और प्राचीन बाइजेन्टाइन साम्राज्य की कीर्ति पुनर्जागृत हो। यूनान में वेनीजेलोस (Venizelos) ऐसा राजनीतिज्ञ था जो पश्चिमी राष्ट्रों के साथ बहुत घुला-मिला था। 1914 और 1918 के विश्व-युद्ध में उसने इन राष्ट्रों का साथ दिया था। वह चाहता था कि उनकी सहायता करके यूनान का राज्य बढ़ाया जाए। इस नीति से अर्थात् मित्र-राष्ट्रों के पक्ष में हस्तक्षेप करने से उसका किंग कान्स-

टेन्टाइन से विरोध हो गया, क्योंकि वह तटस्थ रहना चाहता था। अन्त में 1917 में लघु राष्ट्र-संघ ने मिलकर कोन्सटेन्टाइन को राजसिंहासन से उतार दिया। उसके पश्चात् उसका पुत्र अलेग्जेंडर यूनान का नरेश बना। उसने वेनीजेलोस को बुलाया और उससे कहा कि मंत्रिमंडल बनाया जाये। यूनान मित्र-राष्ट्रों में शामिल हो गया और महायुद्ध के अन्तिम चरण में जब बलगेरिया पर आक्रमण हुआ तो यूनान ने हृदय से सहयोग दिया और बलगेरिया ने विवश होकर युद्ध-विराम के लिए प्रार्थना की सेवर की सन्धि के अनुसार वेनीजेलोस को वड़ा लाभ हुआ लेकिन उसकी विजय थोड़े ही दिन टिकी। उसी वर्ष अर्थात् सन् 1920 में अलेग्जेंडर की मृत्यु हो गई और जब जनमत लिया गया तो वह उसके पिता के पक्ष में आया। लेकिन इस पुनः स्थापित नरेश का दुर्भाग्य ने पिंड नहीं छोड़ा और उसको देशनिकाले में ही अपना जीवन बिताना पड़ा। यूनान के साम्राज्य का स्वप्न तुर्कों और यूनानियों के कई महीने के युद्ध के कारण छिन्न-भिन्न हो गया। इस युद्ध में तुर्क लोगों ने स्मरना छीन लिया था और यूनानियों को समुद्र में धकेल दिया था। विवश होकर यूनानियों ने एशिया माइनर और पूर्वी थ्रेस को खाली किया और अब कुस्तुन्तुनिया को जीतने का उनके लिए कोई मौका नहीं रहा। आटोमन प्रदेश के यूनानी लोग यूनान चले गए और जो लोग यूनान में रहते थे वे वापस टर्की में आ गए। राष्ट्र-संघ ने आर्थिक सहायता देकर यूनानी लोगों को अपने देश में बसाया और उनको भूमि देने का प्रबन्ध किया।

राजनीतिक परिवर्तन—यूनान की सेना और जनता अपने बादशाह के विरुद्ध हो गई। देश पर जो कुछ विपत्ति आई थी उसके लिए बादशाह को जिम्मेवार माना गया। 1922 में अब उसने फिर सिंहासन छोड़ा। अब उसके ज्येष्ठ पुत्र जार्ज द्वितीय को सिंहासन पर बिठाया गया परन्तु वह भी एक वर्ष बाद देश छोड़ गया। जब यह जानने के लिए जनमत लिया गया कि विधान किस प्रकार का होना चाहिए तो बहुमत रिपब्लिक के पक्ष में आया (1924)। इसके बाद जनरल पैंगेलोस ने कोशिश की कि सैनिक तानाशाही स्थापित कर दी जाय(1926),परन्तु उसकी कारगुजारी सफल न हुई। 1928 में वेनीजेलोस प्रधान मंत्री बना और इस पद पर वह चार वर्ष तक रहा। राजभक्त लोगों ने उसका प्रबल विरोध किया। ये लोग जनमत को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थे। फिर शासन का सूत्र इन लोगों के ही हाथ में आ गया। तब लोगों को यह डर होने लगा कि कहीं एकतन्त्र शासन फिर स्थापित न हो जाय। इससे सैनिक और नौ-सैनिक उत्पात हुए (1935)। वेनेजेलोस ने इस बलवे का नेतृत्व किया, क्योंकि लोगों पर उसका वड़ा प्रभाव था। तो भी बलवे जल्दी दब गए। तब फिर जनमत लिया गया कि शासन का स्वरूप रिपब्लिक हो या एकतंत्र हो। इस वार जनमत राजतंत्र के पक्ष में आया। किंग जार्ज द्वितीय को अपने देश में बुलाया गया और पुनः राजा बना दिया गया। इसके थोड़े ही दिन पश्चात् इस यूनानी नाटक

के दो प्रधान पात्रों की अर्थात् वेनिजेलोस और जनरल कौंडिलिस की मृत्यु हो गई। वेनिजेलोस ने इस बात की अनुमति दे दी थी कि जार्ज द्वितीय को वापस बुला लिया जाय। जनरल कौंडिलिस जिसे चाहता था उसे राजा बना देता था, इसलिए उसने सोचा था कि जार्ज द्वितीय उसके कहने में चलेगा। परन्तु ऐसा नहीं हुआ। 1936 में यूनान में अन्य यूरोपीय देशों की भाँति तानाशाही स्थापित हो गई। जनरल मेटिक्साज (Metaxas) ने सर्वसत्तात्मक शासन स्थापित कर दिया। राजनीतिक पार्टी को भंग कर दिया और पार्लियामेन्ट के बिना ही देश पर शासन करने लगा। उसने अपने शासनकाल में मजदूरों के लिए आठ घंटे का दिन कर दिया। उनकी मजदूरी बढ़ा दी, हड़तालें बन्द कर दीं और मजदूरों के झगड़े-टंटों को निपटाने के लिए समझौता अनिवार्य कर दिया। यूनानी लोगों की आजादी तो गई लेकिन उसके बदले में उनको दृढ़ शासन प्राप्त हो गया। यूनानी लोग इसको पसन्द करेंगे या नहीं, यह भविष्य बतलाएगा।

पोलैण्ड—अठारहवीं शताब्दी में पोलैण्ड को उसके पड़ोसियों ने आपस में बाँट लिया था। इस अत्याचार से पीड़ित होकर वह सिसकियाँ लेता रहा। फिर 1918 में वह पुनर्जीवित हुआ। आरम्भ में ऐसा प्रतीत हुआ कि इस नए राष्ट्र में अभी वे ही पुरानी परम्पराएँ बनी हुई हैं जिनके कारण अठारहवीं शताब्दी में इसका अन्त हो गया था। चारों ओर झगड़े शुरू हो गए। जर्मनी के साथ अपर सिलेशिया के विषय में, चेकोस्लोवेकिया के साथ टेस्चेन की डची के सम्बन्ध में, लिथुआनिया के साथ विलना के विषय में और रूस के साथ उक्रेन के बारे में फसाद शुरू हुए। अन्त में जनमत द्वारा अपर सिलेशिया के भाग्य का निर्णय हुआ। टेस्चेन नगर पोलैण्ड को मिल गया और कोयले की खानें और रेलें चेकोस्लोवेकिया को दे दी गईं। विलना पर पोलैण्ड ने कब्जा कर लिया। रूसियों ने पोल लोगों को हराया और वारसा तक उनको खदेड़कर वे वापस मुड़े। 1920 में रीगा की सन्धि हुई। यह पेरिस की सन्धि के मुकाबले में बहुत अच्छी थी। देश के अन्दर पोलैण्ड के लोगों में एकता स्थापित नहीं हो सकी। इसमें सबसे बड़ी अड़चन यह थी कि अल्पसंख्यक लोगों के साथ बर्ताव अच्छा नहीं था। घरेलू मामलों में भी सन्धि स्थापित नहीं हो सकी। ये लोग जनतन्त्र शासन में सफलता प्राप्त नहीं कर सके, इसलिए 1926 में उसको उलट दिया गया। इसलिए शासन की सत्ता 1926 में मार्शल पिलसुडस्की के हाथ में आ गई। यह पोलैण्ड का नेता था और पहले रिपब्लिक का अध्यक्ष रह चुका था। प्रेसीडेन्ट और मंत्रिमंडल से त्याग-पत्र दिलाकर यह स्वयं तानाशाह बन गया। पिलसुडस्की सरकार का अध्यक्ष नहीं बना, लेकिन अपने मृत्यु-दिवस तक वास्तव में वह अनौपचारिक रूप से डिक्टेटर बना रहा। उसका प्रस्ताव था कि व्यवस्थापिका सभा को कमजोर करके मंत्रिमंडल को मजबूत बनाया जाय, लेकिन इसके लिए दो-

तिहाई का बहुमत आवश्यक था। यह उसको प्राप्त नहीं हुआ। पिछले नौ वर्ष से जो विधान व्यवहारतः चल रहा था उसको अब औपचारिक रूप दे दिया गया। निर्वाचन की विधि में भी परिवर्तन हुआ। पहले जनता द्वारा पोलैण्ड के सदस्य निर्वाचित होते थे। अब इनका निर्वाचन म्यूनिसिपल कौंसिल, व्यापार-संघ, व्यवसाय-संगठन और मजदूर संघों के द्वारा होने लगा। एक नए दल की व्यवस्था की गई। इसका नाम था राष्ट्रीय एकता का कैम्प। लोगों का ऐसा खयाल था कि बस यही एकमात्र राजनीतिक पार्टी रहेगी। यह पार्टी इस पक्ष में थी कि पोलैण्ड में रहने वाले दूसरे लोगों को जबरदस्ती से पोल बनाया जाय। इससे अल्पसंख्यक लोग घबरा उठे। इसलिए अपने बीस वर्ष के नए जीवन में पोलैण्ड को कई प्रकार के विरोध सहने पड़े। कभी साम्राज्यवादी आकांक्षाएँ थीं और कभी जनतंत्र-विरोधी प्रगतियाँ और कभी जातीय झगड़े। इन कारणों से आन्तरिक स्थिति बहुत खराब हो गई और यह स्थिति चलती रही। अन्त में जर्मनी ने पोलैण्ड को धमकी दी कि उसकी स्वतन्त्रता और राज्य समाप्त होने वाले हैं।

विदेश-नीति—कई शताब्दियों तक पोलैण्ड पूर्वी यूरोप में रूस और जर्मनी के बीच का राष्ट्र था। इसकी एक ओर ट्यूटोनिक जाति के लोग थे और दूसरी ओर स्लेवोनिक जाति के लोग। पोलैण्ड के कारण इन दोनों जातियों के लड़ाई-झगड़े टलते रहते थे। परन्तु यह बात तभी तक रही जब तक पोलैण्ड शक्तिशाली था। जब वह निर्बल हो गया तो उसके पड़ोसियों ने मिलकर उसको नष्ट कर डाला। पुनर्जीवित होने के बाद पोलैण्ड पुनः वही पुराना ऐतिहासिक कार्य करने लगा। परन्तु स्वयं उसको भी हमेशा खतरा बना रहता था। विभिन्न कारणों से उसकी रूस और जर्मन दोनों से अनबन हो गई। रूस से वह यों डरता था कि कहीं बोल्शेविक विचारों का संक्रमण न आ घुसे और जर्मनी के साथ उसकी खटपट डेनजिग नगर की बाबत थी और पोलिश कोरिडर के कारण भी कोरीडर के कारण पूर्वी प्रशिया शेष जर्मनी से पृथक् हो गया था, इसलिए उसका स्वाभाविक मित्र अब फ्रांस रह गया था। फ्रांस को एक ओर तो बोल-शेविक के विस्तार का भय था और दूसरी ओर जर्मनी से यह डर था कि कहीं वह पुनः शक्तिशाली होकर खड़ा न हो जाय। फ्रांस पोलैण्ड की स्वाधीनता के साथ सहानुभूति रखता था। इसलिए 1921 में फ्रांस और पोलैण्ड में एक सन्धि हुई, जिसमें यह वचन दिया गया कि अगर दोनों में से किसी पर अनुत्तेजित आक्रमण हुआ तो एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र की सहायता करेगा। पोलैण्ड की सैनिक शक्ति को दृढ़ करने के लिए फ्रांस ने कर्ज भी दिया। परन्तु जब जर्मनी की स्थिति सुधर गई और वह पुनः शक्तिशाली हो गया तो पोलैण्ड की स्थिति बहुत ही नाजुक हो गई। पोलैण्ड चाहता था कि वह सैनिक सन्धियों और विभिन्न विचार-धाराओं के जाल से बाल-बाल बचता रहे और इसलिए ऐसी नीति पर चले जिससे किसी के साथ खटपट न हो और अपने शक्तिशाली

पड़ौसियों के फंदे में न फँस जाय। वह यह भी प्रयत्न करता रहा कि अपने प्रबल पड़ौसियों के सामने उसकी प्रतिष्ठा कम न हो जाय। 1932 में उसने रशिया के साथ एक सन्धि की। इसके अनुसार दोनों राज्य इस बात पर सहमत हो गए कि एक-दूसरे पर आक्रमण नहीं करेगा और यदि किसी तीसरे राष्ट्र ने इन दोनों में से किसी पर आक्रमण किया तो आक्रमण करने वाले राष्ट्र को कोई सहायता नहीं दी जायगी। दो वर्ष बाद उसने जर्मनी के साथ भी दस वर्ष के लिए एक अहदनामा किया जिसमें दोनों ने वचन दिया कि युद्ध का आश्रय नहीं लिया जायगा। इस अहदनामे का यह अर्थ किया जाता था कि पोलिश कोरिडर का प्रश्न, जिसके कारण जर्मनी में बड़ी उत्तेजना बनी रहती थी, वह कम से कम दस वर्ष के लिए तो शान्त हो गया। अब पोलैण्ड समझता था कि जर्मनी और रूस के साथ उसकी सन्धि हो गई है, इसलिए उस पर कोई खतरा नहीं रहा। पहले उसको रात-दिन यह त्रास बना रहता था कि यूरोप के संघर्ष का कहीं पोलैण्ड में अखाड़ा न बन जाय। लेकिन अब इन घटनाओं ने यह बतलाया कि राष्ट्रीय सोशलिस्टों के अहदनामे टिकते नहीं हैं। उनका उद्देश्य तो केवल इतना था कि एक देश में खतरा टल जाय और दूसरे के साथ हिसाब-किताब साफ किया जाय। जर्मनी ने आस्ट्रिया, चेकोस्लोवेकिया और मेमेल को अपने राज्य में मिला लिया और फिर पोलैण्ड के सामने कुछ माँगें प्रस्तुत करने की तैयारी करने लगा। जब ये माँगें पोलैण्ड के सामने आईं और उसने इनको स्वीकार नहीं किया तो जर्मनी का एक प्रकार से मुकाबला हो गया। यूरोप में पोलैण्ड ही सबसे पहला राष्ट्र था जिसने जर्मनी अर्थात् तृतीय रेश का मुकाबला किया। फिर 1939 में पोलैण्ड ने ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस के साथ भी आत्म-रक्षार्थ एक सन्धि कर ली। सितम्बर 1939 में जर्मनी ने पोलैण्ड पर धावा बोल दिया। इसके दो दिन पश्चात् पश्चिमी राष्ट्रों ने अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी।

बेलजियम—1914-18 के विश्व-युद्ध से यह प्रकट हुआ था कि विभिन्न देशों की पारस्परिक राष्ट्रीय आकांक्षा और आर्थिक प्रतिद्वन्द्विताओं में संघर्ष शुरू हो गया है। परन्तु जब बेलजियम ने बड़ी वीरता के साथ अपनी तटस्थता की रक्षा करने के लिए जर्मनी का मुकाबला किया तो ऐसा जान पड़ा कि युद्ध अन्तरराष्ट्रीय अहदनामों की पवित्रता की रक्षा के लिए और छोटे राष्ट्रों के अधिकारों को बचाने के लिए किया जा रहा है। जब तक बेलजियम जर्मनी के हाथ में रहा तो जर्मनी ने वहाँ के लोगों के साथ ऐसा बुरा व्यवहार किया कि लोगों की आँखें खुल गईं और उनको सबक मिल गया कि यदि जर्मनी की जीत हो गई तो वह क्या करेगा। बेलजियम के लोगों के साहस को कुचलने के लिए जर्मनी ने ऐसा जंगलीपन किया जो वर्तमान युद्ध में बहुत अर्से तक अत्याचार का प्रतीक माना जायगा। लोगों के घर-बार लूटे गए, जलाए गये, हजारों आदमियों को देश से निकाल दिया गया, निहत्थे लोगों का कत्ले-

आम किया गया और यह सब काम ऐसे सिपाहियों और कर्मचारियों ने किया जिनमें किसी प्रकार की उत्तेजना नहीं थी। उनको तो यह सिखाया गया था कि युद्ध में दया का काम नहीं है। जब युद्ध समाप्त हुआ तो बेलजियम की समस्त शक्ति युद्ध-क्षति की पूर्ति और आर्थिक पुनर्वास में लग गई। यह काम उसने बहुत जल्दी-जल्दी किया। अब बेलजियम के सामने दो प्रश्न उपस्थित हुए। प्रथम प्रश्न था भाषा-सम्बन्धी। बेलजियम की भाषा एक नहीं है। दक्षिण के वैलून प्रान्तों में फ्रेंच भाषा बोली जाती है और यहाँ बेलजियम की लगभग 50 फीसदी आबादी है। उत्तर के फ्लेमिश प्रान्तों में फ्लेमिश बोली जाती है। बेलजियम पर कब्जा होने के बाद जर्मन लोगों ने इस बात का यत्न किया कि इन दोनों भागों को अलग-अलग करने के लिए कुछ हलचल शुरू की जाय जिससे बेलजियम की दो जातियों में कोई मेल न रहे और फ्लैंडर्स लोग अलग हो जाएँ। जर्मनी का यह प्रश्न सफल तो नहीं हुआ, लेकिन इस प्रचार और आन्दोलन के कारण वैलून और फ्लैमिग्ज के बीच द्वेष उत्पन्न हो गया। आन्दोलन का उद्देश्य था कि फ्लेमिश और फ्रेंच भाषाएँ समकक्ष मानी जाएँ। इस आन्दोलन का राजनीति पर भी असर पड़ा और इसके कारण मंत्रिमडल भी बदले। इस झगड़े को निपटाने के लिए कितनी ही रियायतें दी गईं। इनके अनुसार जिन प्रान्तों में फ्लेमिश भाषा बोली जाती थी वहाँ वह सरकारी भाषा मान ली गई और अदालतों तथा स्कूलों में इसका प्रयोग जारी हो गया। बेलजियम के सामने दूसरी समस्या यह थी कि उसका अन्तरराष्ट्रीय स्थान क्या हो। 1918 के बाद उसकी स्थिति बदल चुकी थी। बेलजियम चाहता था कि उसको अपनी रक्षा के लिए दूसरे देशों से सन्धियाँ करने का अधिकार हो, क्योंकि उसको यह कटु अनुभव हो चुका था कि उसकी तटस्थता के लिए जो अन्तरराष्ट्रीय गारन्टी दी गई थी उसको केवल एक कागज का टुकड़ा समझा गया। इसलिए अब बेलजियम की तटस्थता के सम्बन्ध में जितनी भी सन्धियाँ पहले हो चुकी थीं वे सब रद्द मान ली गईं और उसने फ्रांस के साथ एक सन्धि कर ली। लेकिन जब जर्मनी शक्तिशाली हो गया और राष्ट्रीय संघ बैठ गया तो दूसरे राष्ट्रों की भाँति बेलजियम ने भी सोचा कि किसी राष्ट्र के साथ कोई ऐसा अहदनामा नहीं किया जाय जिसके कारण जर्मनी जैसा शक्तिशाली पड़ोसी नाराज हो जाय। लेकिन अपनी आत्म-रक्षा तो ज्यों-त्यों करनी ही थी। इसलिए बेलजियम ने प्रयत्न किया कि वह पुनः अपनी पुरानी तटस्थता ग्रहण कर ले। लोकार्नो की सन्धि के अनुसार बेलजियम के ऊपर कुछ उत्तरदायित्व था। 1937 में ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस ने उसको इस दायित्व से मुक्त कर दिया। परन्तु ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस ने बेलजियम को जो पहले यह गारन्टी दे रखी थी कि उसके राज्य की कोई तोड़-फोड़ नहीं होगी, वह त्यों की त्यों बनी रही। फिर जर्मनी ने यह भी वचन दिया कि बेलजियम पर आक्रमण न किया

जाय। इस प्रकार उसकी अन्तरराष्ट्रीय स्थिति अब लगभग वैसी ही हो गई जैसी 1914 तक थी।

हंगरी—1914-18 के विश्व-युद्ध के बाद ऐसा मालूम होता था मानो हंगरी का शरीर तो नष्ट हो गया और उसकी केवल छाया रह गई। ट्रायनन की सन्धि (1920) के अनुसार उसका दो-तिहाई देश छिन गया। जिन जातियों से वह अपने वैभव-काल में घृणा करता था उन्हीं जातियों ने उसकी भूमि पर कब्जा कर लिया। विवश होकर उसे ट्रांसिलवेनिया रोमानिया को, क्रोशिया यूगोस्लेविया को और स्लोवेकिया चेकोस्लोवेकिया को देना पड़ा। उसकी आबादी दो करोड़ दस लाख से घटकर पचहत्तर लाख रह गई। इनमें साढ़े बासठ लाख मेग्यर लोग थे और इसी जाति के लगभग तीस लाख लोग दूसरी हुकूमतों के अधीन कर दिए गए थे। अब आस्ट्रिया के साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं रहा। आस्ट्रिया का बादशाह पहले सेन्ट स्टीफैन का पवित्र मुकुट धारण किया करता था, अब उसी की भूमि पर जो छोटी-छोटी रियासतें बन गई थीं उन्होंने इसका विरोध किया और उसके सिर पर राजमुकुट नहीं रखने दिया। कहने को हंगरी अब भी राज्य था लेकिन उसकी गद्दी पर कोई राजा नहीं था। ऐडमिरल होर्थी के हाथों में शासन का सूत्र सौंपकर उसको रीजेन्ट नियुक्त किया गया था। पदच्युत नरेश कार्ल ने 1921 में अपने राजसिंहासन को प्राप्त करने के लिए दो बार प्रयत्न किए, लेकिन वे विफल हुए। छोटे राज्यों ने स्वीकार नहीं किया कि राजसत्ता को पुनः स्थापित किया जाय। उनको आशंका थी कि इससे [illegible] के राष्ट्र में फिर अधिक मेग्यर लोगों को कहीं न घुसा दिया जाए। कुछ अर्से तक हंगरी ने रूस की नकल की और अपने को सोवियत रिपब्लिक घोषित किया। ये घटनाएँ 1919 में हुईं। बेलाकुन ने सब शक्ति अपने हाथ में ले ली और कम्यूनिस्ट शासन शुरू कर दिया। वह चाहता था कि देश के टुकड़े-टुकड़े न हों। इसलिए उसका उन छोटी-छोटी रियासतों से विरोध हुआ जो हंगरी के राज्य में से ही बनाई गई थीं। परिणाम यह हुआ कि रोमानिया की सेना ने हंगरी पर आक्रमण कर दिया और राजधानी पर कब्जा कर लिया। यह सोवियत शासन कुछ महीने चलकर नष्ट हो गया और फिर कंजरवेटिव तत्व ऊपर आ गए। अब दो फैसिस्ट क्रियाएँ जारी हुईं। एक तो उन जर्मन लोगों ने जारी की जो हंगरी में बसे हुए थे, और दूसरी का आरम्भ मेग्यर लोगों ने किया। इसलिए आन्दोलन इस पक्ष में हुआ कि हैब्सबर्ग राजवंश को पुनः बुलाया जाए। यह आन्दोलन उन लोगों ने किया था जो फैसिस्ट तानाशाही के मुकाबले वैधानिक राजसत्ता को अधिक अच्छा समझते थे। हंगरी निरंतर और दृढ़ता से इस बात का प्रयत्न करता रहा कि ट्रायनन सन्धि का संशोधन किया जाय। हंगरी की आशा थी कि उसकी महायुद्ध से पहले जो सीमाएँ थीं वे फिर स्थापित हो जाएँ। ये

तो पूरी नहीं हुई। लेकिन जब चेकोस्लोवेकिया का अन्त हुआ तो उसने कारपैथोयुक्रेन और स्लोवेकिया के कुछ हिस्से पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया।

यूगोस्लेविया—जैसे व्यक्तियों के भाग्य-चक्र घूमा करते हैं और उनकी स्थिति में उथल-पुथल हुआ करती है, इसी प्रकार राष्ट्रों की भी स्थिति बदला करती है। इसका उदाहरण सर्बिया और आस्ट्रिया हैं। आस्ट्रिया ने सर्बिया को 1914 में अल्टीमेटम दिया था। बस इसी से 1914-18 के विश्व-युद्ध का आरम्भ हुआ। उस समय आस्ट्रिया एक बड़ा साम्राज्य था जिसमें अनेक छोटी-छोटी जातियाँ सम्मिलित थीं। ये जातियाँ बहुसंख्यक जाति के आधिपत्य को स्वीकार करती थीं। इसके मुकाबले में सर्बिया एक पिछड़ा हुआ देश था। वह अपने राजवंश की पारस्परिक कलह और फूट के कारण लुंजपुंज बना हुआ था। वियना की चिनगारी से यूरोप में प्रचंड युद्ध-ज्वाला धधकी। जब महानाश करके वह शान्त हो गई तो क्या देखते हैं कि आस्ट्रिया का साम्राज्य छिन गया। लेकिन सर्बिया का राज्य बढ़ गया और उसकी जनसंख्या में भी वृद्धि हो गई। अब सर्बिया, क्रोशिया, मोन्टेनेग्रो, स्लोवेनिया, डालमेशिया, बोसनिया और हरजेगोविना को मिलाकर यूगोस्लेविया का राष्ट्र बनाया गया, जिसकी आबादी एक करोड़ पैंतीस लाख के लगभग थी। ये सब जातियाँ प्रायः एक-सी थीं, इसलिए आशा की जाती थी कि मिलकर एक हो जाएँगी। इन सबका नाम था दक्षिणी स्लाव्ज अर्थात् यूगोस्लाव्ज। किसी युद्ध के बाद जब कोई नए राष्ट्र का निर्माण होता है तो उसके अस्तित्व को बनाए रखने के लिए यह आवश्यक है कि उसके उन द्रोह और द्वेषों को या तो उत्पन्न न होने दें या टालते रहें, जो ऐसे अवसर पर प्रायः विभिन्न वर्गों में हो जाया करते हैं। यूगोस्लेविया का जन्म ऐसी स्थिति में हुआ था। उसके विभिन्न वर्गों में राजनीतिक संबन्ध स्थापित करना था और उनको पारस्परिक द्रोह और द्वेष से बचाना था। अब यूगोस्लेविया में यह घोर विवाद शुरू हुआ कि उसमें केन्द्रीय राज्य-सत्ता स्थापित की जाए या एक संघ स्थापित हो, जिससे क्रोट लोगों को स्वराज्य प्राप्त हो सके। कैथोलिक क्रोट लोग और स्लोव लोग नहीं चाहते थे कि रूढ़िपंथी सर्ब लोग उनको दबाते रहें। इसलिए उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि प्रत्येक जाति को स्वराज्य दिया जाए और एक प्रकार का विकेन्द्रित संघ स्थापित किया जाए। इसका मतलब यह था कि क्रोट लोगों की अलग पार्लियामेंट हो और अलग ही इनका शासन हो। एक क्रोट नेता ने कहा था कि "हमारी माँग है कि कानून बनाने और प्रबन्ध करने के लिए हमको पूर्ण स्वतन्त्रता हो। सर्बिया के साथ हमारा केवल इतना ही सम्बन्ध हो जितना विदेश-नीति के संचालन के लिए आवश्यक है।" 1928 में पार्लियामेंट के अन्दर कुछ क्रोट लोगों को चुपके से मार दिया गया। इसके विरोध-स्वरूप क्रोट नेताओं ने धारा-सभा का बहिष्कार किया। अगले वर्ष यूगोस्लेविया नरेश के अलेग्जेंडर ने तानाशाही स्थापित कर दी। यह संघ-विधान का विरोधी था और

देश के टुकड़े करने वाली प्रवृत्तियों को दबाकर बड़ी मजबूती के साथ एक संयुक्त राज्य स्थापित करना चाहता था। आरम्भ में इस देश का नाम रखा गया था "सर्ब क्रोट और स्लोवन लोगों का राज्य"। अब इस नाम को खत्म करके दूसरा नाम रखा गया "यूगोस्लेविया का राष्ट्र"। विधान स्थगित कर दिया गया। जनतंत्रीय संस्थाएँ खत्म कर दीं, राजनीतिक पार्टियाँ भंग कर दीं और प्रेस पर कठोर पाबन्दियाँ लगा दीं। समस्त शक्ति अलेग्जेंडर ने स्वयं अपने हाथ में ले ली। लेकिन सन् 1934 में जब वह फ्रांस गया तो वहाँ किसी ने उसकी चुपके से हत्या कर डाली। इससे पहले चेकोस्लोवेकिया आन्तरिक फूट के कारण नष्ट हो चुका था। इससे यूगोस्लेविया को भी चेतावनी मिल रही थी। अतः 1939 में क्रोट लोगों की माँगें मंजूर कर ली गईं। यूगोस्लेविया की विदेश-नीति में केवल एक ही मुख्य घटना हुई कि 1937 में उसने इटली के साथ सन्धि की। इसके अनुसार एड्रियाटिक समुद्र के दोनों किनारों पर बसने वाले राष्ट्रों के झगड़े-टंटे शान्त हो गए। उन्होंने एक-दूसरे को विश्वास दिलाया कि एक-दूसरे की सीमा पर अतिक्रमण नहीं किया जायगा।

रोमानिया—1914-18 के विश्व-युद्ध में रोमानिया ने मित्र-राष्ट्रों को सहायता दी थी, इसका उसको खूब पुरस्कार मिला। जब सन्धि हुई तो उसका राज्य दुगुना हो गया और उसकी आबादी एक करोड़ सात लाख से भी बढ़ गई। उसको लगभग सारा ट्रांसिलवेनिया, अधिकांश बुकोविना, आधा टेमेस्वार और डोब्रूजा मिल गया। उसने वेसेरबिया रूस से पहले ही छीन लिया था। वह भी उसने ही रख लिया। पोलैण्ड की भाँति रोमानिया का राज्य भी बड़ा हो गया। लेकिन शुरू होते ही यह प्रकट होने लगा कि उसके सामने जो राजनीतिक समस्याएँ उपस्थित हुईं उनको वह हल नहीं कर सका। जो महानता उस पर लद गई थी, उसको धारण करने के लिए उसमें योग्यता नहीं थी। किंग फर्डिनेन्ड के राज्य में, जिसकी मृत्यु 1927 में हुई, रोमानिया के राजनीतिक जीवन में सबसे प्रसिद्ध व्यक्ति जोन ब्रेटियान था। यह उदार दल का नेता था और अपने देश का सर्वेसर्वा था। उसका दल कंजरवेटिव अर्थात् रूढ़िवादी था और नये व्यापारी दल का प्रतिनिधित्व करता था। ब्रेटियान निर्वाचन के समय चाल-बाजियाँ करके अपनी कुर्सी पर टिका रहता था। जब 1927 में उसकी मृत्यु हो गई तब निर्वाचन स्वतन्त्रता के साथ होने लगे। इससे रक्तहीन क्रान्ति हुई, क्योंकि सन् 1928 में किसानों के राष्ट्रीय दल का बहुमत आया। इस दल की नीति थी—जनतंत्रीय ढंग की उदार नीति पर काम करना, निर्बाध निर्वाचन करना, प्रेस की पाबन्दियों को हटाना, अल्पसंख्यक लोगों के अधिकारों को स्वीकार करना, विदेशी पूँजी के साथ मित्रता का बर्ताव करना। किंग केरोल द्वितीय अब 1930 में फिर सिंहासन पर बैठाया गया। पहले उसको गद्दी से हटा दिया गया था और उसके स्थान पर उसके लड़के को बैठा दिया था। अब अपने लड़के के ही स्थान पर उसको बैठाया गया। अपने देश की

राजनीतिक स्थिति को निश्चित रूप देने के लिए उसने दिलचस्पी से काम करना शुरू किया। दूसरे देशों की भाँति रोमानिया में भी फैसिज्म फैल रहा था। फैसिस्ट संगठनों में आयरन गार्ड नामक संगठन बड़ा प्रसिद्ध था। अपने विरोधियों के खिलाफ यह आतंक के साधनों का उपयोग करता था। रोमानिया में भी यहूदी-विरोधी भावना बढ़ने लगी। ट्रांसिलवेनिया की अल्पसंख्यक जातियाँ अपने दमन के खिलाफ आवाज उठाने लगीं। अन्त में नया विधान बना, जिसके द्वारा सर्वसत्तात्मक शासन स्थापित हो गया और राजा को तानाशाही अधिकार प्राप्त हो गये, राजनीतिक पार्टियों का दमन हो गया, पार्लियामेन्ट की व्यवस्था को इस प्रकार संशोधित किया गया कि उसमें व्यवसायों का प्रतिनिधित्व स्थापित हो गया। 1939 में जब निर्वाचन हुए तो कृषि, उद्योग, व्यापार, अन्य व्यवसाय और मजदूरी के प्रतिनिधित्व के आधार पर दोनों सदनों के सदस्यों का निर्वाचन हुआ। इस प्रकार रोमानिया ने अपनी सरकार के ढाँचे को बदलकर फैसिस्ट इटली के नमूने को स्वीकार किया। उसने यूगोस्लेविया और चेकोस्लोवेकिया के साथ 1920-21 में एक सन्धि कर ली। ये तीनों राज्य मिलकर छोटा संघ (Little entente) कहलाने लगे। रोमानिया की विदेश-नीति इस संघ की नीति पर आश्रित थी। इस संघ का उद्देश्य था कि तीनों राज्यों की सीमा ज्यों की त्यों बनी रहे और आस्ट्रिया-हंगरी में हेप्सबर्ग वंश का राज्य पुनः स्थापित न हो जाए। 1934 में बालकन अहदनामा हुआ। इसमें चार राष्ट्र शामिल थे। इनमें एक रोमानिया था, शेष तीन थे—यूगोस्लेविया, यूनान और टर्की। इन चारों ने मिलकर इस बात की परस्पर गारन्टी दी कि यदि किसी बालकन रियासत ने इन तीन में से किसी पर आक्रमण किया तो उसके राज्य की रक्षा की जाएगी। इस अहदनामे का वास्तविक उद्देश्य यह था कि बड़ी रियासतें किसी बालकन रियासत को दूसरी बालकन रियासत के विरुद्ध न भड़का दें।

बलगेरिया—अन्य बालकन रियासतों की भाँति बलगेरिया भी आन्तरिक झगड़ों का शिकार था। किंग फर्डिनेण्ड को पराजय का दंड देना पड़ा। उसने बोरिस तृतीय के हक में राज-सिंहासन छोड़ दिया (1918)। स्तेमब्यूलिस्की की अध्यक्षता में कृषक मंत्रिमंडल बना, लेकिन एक सैनिक कार्यवाही के फलस्वरूप सरकार हटा दी गई और 1923 में प्रधानमंत्री को किसी ने चुपके से मार दिया। लगभग 12 वर्ष बाद अर्थात् सन् 1934 में सैनिक अधिकारियों ने जनतंत्रात्मक विधान को खत्म कर दिया पार्लियामेन्ट को भंग कर दिया और राजनीतिक पार्टियों को गैर-कानूनी घोषित कर दिया। फिर सर्वसत्ताधारी व्यवस्था कर दी। अगले वर्ष बादशाह ने सैनिक नियंत्रण भी हटा दिया और वह स्वयं तानाशाह बन गया। लेकिन 1938 में पार्लियामेन्ट का अधिवेशन करवाया गया। बलगेरिया का अपने पड़ोसियों के साथ अच्छा सम्बन्ध नहीं रहा। उनके साथ कई वर्ष तक खटपट चलती रही। यह खटपट मेसीडोनिया के कारण

चला करती थी। यह प्रदेश यूगोस्लेविया, ग्रीस और बलगेरिया में बँटा हुआ था। मेसीडोनिया के लोग यह प्रयत्न करते थे कि उनका देश एक होकर स्वतन्त्र राष्ट्र बन जाए और अपना प्रबन्ध खुद ही करे। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन लोगों ने गुप्त सोसाइटियाँ बनाईं जो आतंककारी साधनों का उपयोग करती थीं। सीमा पार करके ये सोसाइटियाँ यूगोस्लेविया में घुस जाया करती थीं जिससे बलगेरिया और यूगोस्लेविया में खींचतान रहा करती थी। अन्त में सन् 1937 में इन दोनों देशों में सदैव के लिए शान्ति और मैत्री की सन्धि हुई।

पुर्तगाल—1910 में पुर्तगाल नरेश इमेन्युअल को लोगों ने राज-सिंहासन से उतार दिया और रिपब्लिक स्थापित कर दी। इसके बाद भी पुर्तगाल में राजनीतिक अस्थिरता और क्रान्तिकारी स्थिति बनी रही। कभी प्रेसीडेन्ट का राज्य होता था और कभी सरकार बनती थी। इस प्रकार 1910 और 1926 के बीच बीस बार क्रान्तियाँ हुईं और चालीस बार मंत्रिमंडल बने। फिर जनरल कारमोना ने सम्पूर्ण शासन-शक्ति अपने हाथ में ले ली, पार्लियामेन्ट के शासन को स्थगित कर दिया और सैनिक तानाशाही स्थापित कर दी। 1933 में नया विधान बनाया गया। इसके अनुसार प्रेसीडेन्ट को यह अधिकार था कि वह मंत्रिमंडल बना सकता था और उसको बरखास्त भी कर सकता था। मंत्रिमंडल पार्लियामेन्ट के प्रति उत्तरदायी नहीं था। धारासभा में केवल एक ही सदन था। इसके सदस्य परिवारों के शिक्षित मुखियाओं द्वारा निर्वाचित किए जाते थे और आधे सदस्य आर्थिक संस्थाओं के द्वारा। 1926 के बाद 1935 में पार्लियामेन्ट का प्रथम अधिवेशन हुआ, लेकिन विरोधी पार्टियों ने निर्वाचन का बहिष्कार किया। इसलिए पुर्तगाल में फैसिस्ट ढंग की सहकारी रियासत स्थापित हुई। देश के आर्थिक जीवन का नियंत्रण करने के लिए सहकारी संघ बनाये गए।

बाल्टिक रियासतें—उत्तर-पूर्वी यूरोप में 1914-18 के विश्व-युद्ध के बाद भूतपूर्व रूसी साम्राज्य की काँट-छाँट करके कई छोटी-छोटी बाल्टिक रियासतें बनाई गईं। इन सबकी आबादी मिलकर तीस लाख के लगभग थी। ये रियासतें रूस, जर्मनी और पोलैण्ड से घिरी हुई थीं। इनका वातावरण शान्त नहीं था। इनको हमेशा अपने अस्तित्व की चिन्ता लगी रहती थी। इनमें केवल फिनलैण्ड ही अपने जनतंत्रीय विधान और उत्तरदायी सरकार के सिद्धान्तों की रक्षा कर सका। शेष रियासतों में तो चारों ओर के संसार की विचारधाराओं के प्रतिबिम्ब दिखाई देते थे। लिथुआनिया में एक फैसिस्ट दल ने, जो राष्ट्रीय संघ कहलाता था, 1926 में शासन-सूत्र छीनकर अपने हाथों में ले लिया। फिर दस वर्ष तक पार्लियामेन्ट का कोई अधिवेशन नहीं हुआ। 1936 में जब इसका अधिवेशन हुआ तो सम्पूर्ण सदस्य एक राजनीतिक पार्टी से ही लिए गये। लिथुआनिया में सहकारी संस्थाओं की स्थापना फैसिस्ट ढंग पर की गई

थी। इससे प्रकट हुआ कि सहकारी राष्ट्र का विस्तार भूमध्य सागर के किनारे से बाल्टिक समुद्र तक फैल चुका था। लेटविया ने 1934 में जनतन्त्रीय संस्थाएँ भंग कर दीं और पार्लियामेन्ट्री व्यवस्था के स्थान पर तानाशाही सरकार स्थापित कर दी। इस देश में भी राष्ट्रीय आर्थिक नीति के साधन-स्वरूप सहकारी संघ स्थापित किए गए। इसी प्रकार एक फैसिस्ट संगठन के प्रचार के प्रभाव से एस्टोनिया में भी 1934 में सर्वसत्ताधारी सरकार स्थापित हो गई। लेकिन रिपब्लिक के प्रेसीडेन्ट ने फैसिस्ट शासन कायम होने से पहले ही सर्वसत्ता अपने ही हाथ में ले ली। इसने फैसिस्ट पार्टी को भंग कर दिया और तीन साल बाद उत्तरदायी सरकार फिर स्थापित हो गई। यूरोप की राजनीति में लिथआनिया खूब आगे बढ़ा हुआ था। पोलैण्ड के साथ इसकी विलना के बारे में खटपट चला करती थी और जर्मनी के साथ मेमेल के विषय में। लिथुआनिया का कहना था कि विलना उसकी राजधानी है, लेकिन सन् 1922 में पोलैण्ड ने उसको छीन लिया था और मेमेल को सन् 1939 में जर्मनी ने छीन लिया था। लिथुआनिया की समुद्र तक पहुँच मेमेल के द्वारा ही हो सकती थी। बालकन छोटे संघ के नमूने पर 1934 में एक बाल्टिक संघ बनाया गया था। इसके सदस्य थे लिथुआनिया, लेटविया और एस्टोनिया। इस संघ का उद्देश्य था सदस्यों के पारस्परिक हित की रक्षा करना।

स्विट्जरलैण्ड, नीदरलैण्ड और स्कैंडीनेविया—बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में 1920 से 1939 तक यूरोप की सारी छोटी-छोटी रियासतों में फैसिस्ट ढंग स्थापित नहीं हुआ था। बेलजियम और फिनलैण्ड का उल्लेख पहले ही किया जा चुका है। इसी कोटि में स्विट्जरलैण्ड, नीदरलैण्ड, डेनमार्क और स्वीडन थे। ये सब देश जनतन्त्रीय थे और राष्ट्र-संघ के बड़े समर्थक थे। जब यह खत्म हो गया तब इनको अपने ही अल्प साधनों पर आश्रित रहना पड़ा। उस समय यूरोप एक सशस्त्र सेना-पड़ाव बन चुका था और सारे यूरोप में सैनिक अहदनामों का जाल बिछ चुका था। नीदरलैण्ड के विषय में एक डच विदेश मंत्री ने कहा था कि (1937) "नीदरलैण्ड की स्वतन्त्रता तो स्वयंसिद्ध है। इसके लिए किसी देश के साथ सन्धि करने की आवश्यकता नहीं है।" स्विट्जरलैण्ड को यह डर लगने लगा कि कहीं दूसरा विश्व-युद्ध छिड़ गया तो उसकी वही दशा होगी जो बेलजियम की हो चुकी थी। इस चिन्ता के कारण उसने अपनी जर्मनी की ओर की सीमा पर किले बनवाये थे और अपनी आत्मरक्षा के साधनों को मजबूत किया था। डेनमार्क को आक्रमण का भय बना रहता था उसका कारण यह था कि उत्तर स्कल्सविग में अल्पसंख्यक जर्मन रहते थे और ये लोग जर्मनी से मिलना चाहते थे। स्कल्सविग पहले जर्मनी में था। 1919 में यह डेनमार्क को लौटा दिया गया था। डेनमार्क की भाँति स्वीडन और नार्वे भी अपनी तटस्थता की रक्षा

करना चाहते थे। इसलिए इन तीनों राष्ट्रों की समय समय पर कॉन्फ्रेंसें हुआ करती थीं। इन्हीं के आधार पर ये तीनों रियासतें मिलकर कुछ कार्य कर सकती थीं।

(viii)

आर्थिक राष्ट्रीयता

राजनीति और अर्थनीति का तानाबाना—सन् 1914-39 के बीच मेंयूरोपीय इतिहास के निर्माण में राजनीतिक कारणों का बहुत बड़ा हाथ था। इसी प्रकार आर्थिक कारणों का भी प्रभाव था। वास्तव में दोनों को अलग-अलग नहीं किया जा सकता। राजनीतिक और आर्थिक कारण आपस में ऐसे घुले-मिले हुए थे कि इनके तानेबाने को सुलझाकर यह नहीं बतलाया जा सकता कि कारण क्या था और कार्य क्या था और एक का प्रभाव दूसरे पर निरन्तर रूप से किस प्रकार पड़ रहा था। राजनीतिक कारणों से देश अपने-आपको सुरक्षित नहीं समझते थे। इसी के कारण न तो निःशस्त्रीकरण होता था और न राष्ट्रों में परस्पर गहरा सहयोग। यह भी नहीं कहा जा सकता था कि इसके कारण ही आर्थिक संकट उपस्थित हुआ है या आर्थिक संकट के कारण राजनीतिक परिस्थिति बिगड़ी है और विविध राष्ट्र एक-दूसरे से दूर हो गए हैं। इसलिए यूरोप के बड़े-बड़े राजनीतिज्ञ इस मौलिक प्रश्न के विषय में सहमत नहीं होते थे कि राजनीति और अर्थनीति में राजनीति को प्राथमिकता दी जाय या अर्थनीति को। मौन्शियर ब्रियन्ड ने 1930 में यूरोप के संयुक्त राष्ट्रों के विषय में एक योजना बनाई थी, जिसमें कहा गया था कि आर्थिक एकता की ओर उसी हालत में बढ़ना सम्भव है जब सुरक्षा के प्रश्न का हल हो जाय। इसलिए सबसे पहले राजनीतिक क्षेत्र में रचनात्मक प्रयत्न करना चाहिए। लेकिन उसके आलोचक लोग कहते थे कि जब व्यापारिक नीति के क्षेत्र में अच्छे और हार्दिक सम्बन्ध स्थापित हो जाएँगे तब स्वभावतः ही सैनिक शस्त्रास्त्र कम किए जा सकेंगे। आर्थिक क्षेत्र में इस युग की प्रगति थी आर्थिक राष्ट्रीयता की ओर झुकना। 1914-18 के विश्व-युद्ध के समय राजनीतिक राष्ट्रीयता को लोगों ने देवता बना दिया था और इस भाव को बहुत ही पुष्ट और प्रज्ज्वलित किया गया था। इस कारण ही आर्थिक राष्ट्रीयता को बल प्राप्त होता था। फिर आर्थिक राष्ट्रीयता से राजनीतिक प्रभाव उत्पन्न हुए। वास्तव में इसी से यूरोप में अस्थिरता आ गई थी और इसी के कारण 1939 में दूसरा यूरोपीय विश्व-युद्ध हुआ। यूरोप में राजनीतिक शान्ति स्थापित करने के लिए निस्सन्देह ही यह आवश्यक था कि वहाँ की आर्थिक स्थिति ठीक हो और उसमें समता स्थापित हो। लेकिन जब तक राजनीतिक द्रोह और द्वेष बने हुए थे, बल्कि राजनीतिक चिन्ताओं के कारण स्थिति बिगड़ती ही जाती थी और सुधरती नहीं थी, तब तक इस विषम आर्थिक स्थिति में से भी यूरोप नहीं निकल सकता था। बस यही यूरोप के लिए एक भूल-भुलैया बना हुआ था।

आर्थिक राष्ट्रीयता—आर्थिक राष्ट्रीयता वास्तव में राजनीतिक राष्ट्रीयता की

सन्तान थी और इसकी वृद्धि विघ्नों के वायुमंडल में हुई थी। ये विघ्न अन्तरराष्ट्रीय आर्थिक सहकारिता के मार्ग में बिछे हुए थे। अपने देश में बने हुए माल की रक्षा करने के लिए बाहर से आने वाले माल पर भारी महसूल लगाया गया था और यह भी निश्चय किया गया था कि बाहर से कितना माल आ सकता है। इन कारणों से बाहर से माल बड़ी तादाद में नहीं आ सकता था। इसी प्रकार दूसरे देशों से आने वाले लोगों पर भी पाबंदियाँ लगा दी थीं। इससे उनका आना रुक गया था। दूसरे देशों से कर्ज लेने पर भी इसी प्रकार की पाबंदियाँ थीं। इसलिए पूँजी का भी निर्विघ्न संचालन नहीं हो सकता था। सिक्कों पर पाबंदियाँ लग जाने से यह कठिन हो गया था कि बाहर से जो माल मँगाया जाता था उसकी कीमत किस प्रकार चुकाई जाय। स्वर्ण मर्यादा को त्याग देने से रुपयों का अदल-बदल स्थिर नहीं रह सकता था। इस भय और अविश्वास के वायुमंडल में रुपया चोरी-छुपे घूमता-फिरता था। जर्मनी और दूसरे पराजित देशों से युद्ध-दण्ड वसूल किया जा रहा था। राजनीतिक ऋण की वसूली भी कड़ाई के साथ की जा रही थी। अन्तरराष्ट्रीय स्थिति अनिश्चित थी। इन सब कारणों से लोगों को विश्वास नहीं होता था कि आर्थिक स्थिति सुधर जायगी। इससे ऊपर चार साल तक आर्थिक गिरावट रही, जिसके कारण घोर विपत्ति उपस्थित हो गई, इसलिए यूरोप के राष्ट्र अपनी पुरानी व्यापार नीति को ग्रहण नहीं कर सके। इसका उल्टा असर यह हुआ कि प्रत्येक राष्ट्र ने अपनी अलग ही अर्थ-नीति बना ली। अब तक एक बड़ा राष्ट्र निर्बाध व्यापार की नीति धारण किए हुए था। उसने भी अब इसका त्याग कर दिया। अब सारे संसार के सिक्के मानो पिघलने लग गए। यह आर्थिक गिरावट या शिथिलता 1918 और 1939 के युग की मध्य रेखा है। इस युग के प्रथमार्द्ध में सबसे बड़ी समस्याएँ थीं राजनीतिक ऋण, बढ़ा-चढ़ा महसूल और दूसरे देशों में बड़ी-बड़ी बस्तियों का पहुँचना। उत्तरार्द्ध में राजनीतिक ऋण की समस्याएँ हल हो गई थीं, लेकिन महसूल की दीवारें पूर्ववत् बनी रहीं और अन्तरराष्ट्रीय व्यापार में जो विघ्न थे उनके कारण यह और दृढ़ हो गई। अब प्रत्येक देश यह निश्चित कर रहा था कि दूसरे देशों से कितना और कौन-सा माल मँगाया जाय और कीमत का भुगतान सिक्कों के रूप में नहीं बल्कि निर्यात के रूप में किया जाय। इससे सिक्कों पर अनेक ताबंदियाँ लग गई थीं और एक देश दूसरे देश के सिक्के अपने यहाँ अधिक मात्रा में जमा नहीं कर सकता था। फिर स्वर्ण मर्यादा के त्याग देने से नई कठिनाइयाँ और उपस्थित हो गई थीं और रुपये के अदल-बदल पर इसका प्रभाव यह हुआ था कि कोई बात स्थिर नहीं होने पाती थी। इसलिए प्रत्येक देश की प्रवृत्ति इस ओर थी कि आर्थिक दृष्टि से सब बातों में प्रत्येक देश इतना स्वतन्त्र हो जाए कि उसको दूसरे देशों से कोई भी वस्तु मँगवानी न पड़े। यूरोप के राजनीतिक और आर्थिक जीवन में जो गड़बड़ें हुईं उसके विभिन्न कारणों का अब हम बारी बारी से वर्णन करेंगे।

युद्ध-दण्ड—1914-18 के विश्व-युद्ध ने बहुत-सी ऐसी समस्याएँ उत्पन्न की थीं जिनसे संसार परेशान था। इनमें से एक समस्या थी पराजित देशों से युद्ध-दण्ड की वसूली। इसका नाम तो रखा गया था क्षति-पूर्ति और वैसे इसको क्षति-पूर्ति माना भी जा सकता है, परन्तु था यह वास्तव में युद्ध-दण्ड ही। विजयी देशों ने युद्ध-संचालन में करोड़ों रुपये खर्च किए थे और बड़ी बड़ी रकमें दूसरे देशों से उधार ली थीं। इस युद्ध-ऋण को चुकाना भी इसी समस्या का अंश था। विजयी और पराजित दोनों देशों के ऊपर बड़े-बड़े दायित्व थे और इनके कारण बड़ी परेशानियाँ खड़ी हो गई थीं। इससे यूरोप की आर्थिक स्थिति सँभल नहीं पाती थी। एक सरकार को दूसरी सरकारों को रुपया देना था। इससे संसार की साख हिल उठी थी और सिक्कों पर बड़ा जोर पड़ रहा था। इसके अतिरिक्त इस स्थिति से ऋण देने वाले और लेने वाले राष्ट्रों के पारस्परिक सम्बन्ध में बड़ी कटुता आ गई थी और अन्तर्राष्ट्रीय मतभेद का वायुमण्डल उत्पन्न हो रहा था। ग्रेट ब्रिटेन ने स्वीकार किया था कि युद्ध-दण्ड का प्रभाव सारे संसार की आर्थिक स्थिति पर बहुत बुरा पड़ रहा है। ग्रेट ब्रिटेन ने अमरीका से बहुत बड़ा ऋण लिया था, लेकिन इससे दुगुनी रकम उसने अपने साथियों को कर्ज दी थी। अब ग्रेट ब्रिटेन ने आग्रह किया कि मित्र-राष्ट्रों के परस्पर ऋण या तो रद्द कर दिए जाएँ या घटा दिए जाएँ। जब यह प्रस्ताव नामंजूर हो गया तो इस बात की तो कल्पना भी नहीं की जा सकती थी कि मित्र-राष्ट्र अपने दुश्मन को उसके दायित्व से मुक्त कर देंगे। आरम्भ में तो जर्मनी के ऊपर इतना ऋण लाद दिया गया था कि वह कल्पना के क्षेत्र में रह सकता था। परन्तु जब यह प्रश्न राजनीतिक क्षेत्र को छोड़कर आर्थिक क्षेत्र में पहुँच गया तो ऋण की मात्रा अधिक उचित कर दी गई। सन् 1921 में युद्ध-दण्ड कमीशन ने दण्ड की मात्रा छा अरब छ: करोड़ पौंड निश्चित की और इसकी अदायगी के लिए दस करोड़ सालाना किस्तें की गई। इसके अतिरिक्त जर्मनी के निर्यात की कीमत का 26 प्रतिशत इस किस्त के साथ और देना था। फिर 1924 में एक अन्तरराष्ट्रीय विशेषज्ञ कमेटी ने डायज प्लान (Dawes Plan) नामक एक तजवीज बनाई, जिसमें यह निश्चय किया गया कि जर्मनी की आर्थिक स्थिति के अनुसार प्रतिवर्ष किस्तों की रकम की तादाद बदला करेगी और यह भी तय हुआ कि विदेशी व्यापार से जर्मनी को जो बचत होगी उससे अधिक रकम वह दूसरे देशों में नहीं भेज सकेगा। पाँच वर्ष बाद युद्ध-दण्ड की रकम दो अरब पौंड निश्चित हो गई। बस इतनी ही रकम अमेरिका ने अपने साथियों को ऋण के रूप में दी थी। इसकी अदायगी के लिए यह तय हुआ कि 59 वर्ष तक प्रति वर्ष दस करोड़ पौंड दिया जाएगा। इस प्रकार कुछ वर्षों में ही जर्मनी का ऋण घटते-घटते एक-तिहाई रह गया और मित्र-राष्ट्रों की माँग केवल इतनी रह गई कि जितना उन्हें अमेरिका को देना है उतना जर्मनी उनको दे दे। फिर भी इस फैसले में बहुत ही देर लगी। इसलिए

इसकी जैसी सफलता होनी चाहिए थी वैसी नहीं हुई और यह देर घातक सिद्ध हुई। जिस वर्ष यह दो अरब मिलियन वाली यंग प्लान (Young Plan) बनी उसी साल अपूर्व आर्थिक तूफान आया जो चार वर्ष तक बना रहा और जब इसका अन्त हुआ तो इसने पुरानी आर्थिक संस्थाओं को उसी प्रकार उखाड़ फेंका जैसे आँधी वृक्षों को उखाड़ फेंक देती है। इसके बाद संसार का स्वरूप ही बदल गया। प्रमुख सोने के सिक्के नष्ट-से हो गए। अन्तरराष्ट्रीय व्यापार आधा रह गया, निर्बाध व्यापार नष्ट हो गया, युद्ध-दण्ड और युद्ध-ऋण बर्बादियों में दब गए।

निर्यात समस्या—साधारण समय में भी जब एक देश की सरकार दूसरे देश की सरकार का ऋण अदा करती है तो ऐसी निर्यात समस्या खड़ी हो जाती है जिसका हल बहुत मुश्किल होता है। एक देश दूसरे देश का ऋण चार प्रकार से चुका सकता है—सोने के निर्यात से, माल के निर्यात से, सेवाओं के निर्यात से और विदेशी सिक्योरिटीज की बिक्री से। युद्ध-दण्ड चुकाने के हेतु जर्मनी के लिए यह जरूरी था कि अपने माल के निर्यात को बढ़ाए। इसमें पेचीदगी यह थी कि उसके ऋणदाता देशों को उसके साथ माल के निर्यात के बारे में मुकाबला करना था और यह उनके लिए हित की बात नहीं थी कि अपने देश में या दूसरे देशों में वे अपने माल को जर्मनी से आए हुए माल के मुकाबले में सस्ता बेचें। ऋणदाताओं ने अपने उद्योगों की रक्षा करने के लिए महसूल की दीवारें खड़ी कर दी थीं। अतः भारी महसूल देकर ही जर्मनी का माल उनके देश में जा सकता था। इससे कर्जदार देशों की कठिनाइयाँ बहुत बढ़ गई थीं और उनके लिए कठिन हो गया था कि वे अपने दायित्व को किस प्रकार पूरा करें। संक्षेप में स्थिति यह थी कि हर राष्ट्र चाहता था कि उसका रुपया अदा हो, लेकिन उसकी अदायगी के लिए वह व्यावहारिक तरीके को पसन्द नहीं करता था। इस विषम स्थिति का असली स्वरूप उस समय प्रकट हुआ जब सारे यूरोप में आर्थिक शिथिलता फैल गई। इसके असली कारण तो कई थे लेकिन एक कारण निर्यात समस्या भी थी। अब यह प्रकट हो गया था कि जर्मनी की किस्तें स्वीकार करने से आर्थिक विपत्ति उपस्थित हो सकती है और इसका प्रभाव सारे संसार पर पड़ सकता है। अमेरिका ने यह प्रस्ताव किया कि वह अपने कर्जदारों से कर्ज की अदायगी अस्थायी रूप से स्थगित कर देगा, लेकिन शर्त यह है कि ऐसे देश जर्मनी से भी अदायगी को स्थगित कर दें। 1931-32 में जर्मनी से युद्ध-दण्ड वसूल नहीं किया गया और न दूसरे देशों से युद्ध-ऋण अदा करवाया गया। इससे कुछ समय के लिए स्थिति कुछ ठीक हो गई, परन्तु इस विषम आर्थिक स्थिति के मूल कारण जैसे के वैसे ही बने रहे, बल्कि उनके कारण सारी आर्थिक व्यवस्था बिगड़ने लग गई और जब लक्षणों को दबाने की कोशिश की गई तो बीमारी और भभक उठी। महसूल की दीवारें और ऊँची होने लगीं। आयात का परिणाम बदलने लगा। ग्रेट ब्रिटेन ने अपनी परम्परागत

निर्बाध व्यापार-नीति छोड़ दी। इस प्रकार अन्तरराष्ट्रीय व्यापार का गला घोंट दिया गया। इसका अनिवार्य नतीजा यह हुआ कि जर्मनी के माल के लिए जो विदेशों में बाजार थे वे संकुचित होने लगे। 1932 में जर्मनी के चांसलर ने घोषणा की कि अब जर्मनी युद्ध-दण्ड की अदायगी फिर शुरू नहीं कर सकता। पश्चिमी राष्ट्रों ने विवश होकर यह बात मान ली कि युद्ध-दण्ड का प्रश्न जो पिछले दस वर्ष से सारे संसार को परेशान कर रहा था अब स्वतः ही समाप्त हो गया। मित्र-राष्ट्रों को यह भय था कि यदि जर्मनी को दबाकर दण्ड की अदायगी फिर शुरू करवाई गई तो आर्थिक संकट उपस्थित हो जाएगा, इसलिए उन्होंने जर्मनी के साथ एक समझौता किया। इसके अनुसार जर्मनी ने सारे युद्ध-दण्ड के रूप में 15,00,00,000 पौंड देकर आखिरी जमा-खर्च देना स्वीकार कर लिया। इस अहदनामे का नाम लोसान का अहदनामा (1932) था। इसमें यह भी शर्त रखी गई थी कि इसका अमल उस वक्त होगा जब जर्मनी के ऋण-दाताओं में और इनके ऋणदाता अर्थात् अमेरिका में संतोषप्रद फैसला हो जाएगा। वास्तव में अब पराजित देशों से युद्ध-दण्ड लेने का प्रश्न समाप्त ही हो गया था।

अमेरिका का ऋण—अब यूरोप को अमेरिका के ऋण का सामना करना था। 1914-18 के विश्व-युद्ध में और उसके बाद अमेरिका ने मित्र-राष्ट्रों को सब मिलाकर लगभग दो अरब साढ़े पाँच करोड़ पौंड का ऋण दिया था। ग्रेट ब्रिटेन ने अपने साथियों को एक करोड़ साठ लाख पौंड उधार दिए थे और इसी प्रकार फ्रांस ने भी पचास करोड़ पौंड दिए थे। अमेरिका की सरकार का यह कहना था कि 1918 से पहले और उसके बाद भी जो ऋण दिया वह विनाश-कार्य के लिए नहीं दिया गया था। इसमें से बहुत बड़ी रकम भोजन, तम्बाकू और रूई खरीदने के काम आई थी। जब अमेरिका से यह कहा जाता था कि ऋण की अदायगी में कठिनता है तो अमेरिका यह उत्तर दिया करता था कि 1924 और 1930 के बीच में जो लोग अमेरिका से दूसरे देशों में सैर करने के लिए गये उन्होंने जितना रुपया विदेशों में खर्च किया उसका आधा भी अमेरिका को उसके ऋण की अदायगी में नहीं मिला। "जब हम निर्यात की समस्या पर विचार करते हैं तो हमको अपनी दृष्टि को अमेरिका के साथ जो व्यापार होता है उस तक ही सीमित नहीं कर देना चाहिए, बल्कि अन्तरराष्ट्रीय कार्य-क्षेत्र का भी विचार करना चाहिए। हमारा और हमारे कर्जदारों का जो अन्तरराष्ट्रीय सौदा होता है, और उसके कारण जो माल बाहर जाता है और अन्दर आता है, इसका परिणाम बहुत बड़ा है। ऋण की अदायगी का आँकड़ा तो इसमें बहुत छोटा-सा है।" यह बात नहीं मानी जाती थी कि ऋण की अदायगी के कारण कर्जदार देशों का सोना खत्म हो गया, क्योंकि इस अर्से में अमेरिका के सोने में केवल आठ प्रतिशत की वृद्धि हुई थी और साथ ही यह बात

भी स्पष्ट थी कि ग्रेट ब्रिटेन की सरकार ने अपने दायित्व को पूरा करने के लिए भरसक प्रयत्न किया था। इसने 85 करोड़ पौंड उधार लिए थे। इसमें से इसने 50 प्रतिशत कर्ज अदा कर दिया था। लेकिन अमेरिका ने दूसरी यूरोपीय सरकारों को जो खर्च दिया था वह ग्रेट ब्रिटेन को दिए हुए कर्ज से एक अरब पन्द्रह करोड़ अधिक था और इसका केवल 12 प्रतिशत इन लोगों ने अदा किया था। इसके अतिरिक्त ग्रेट ब्रिटेन ने जर्मनी को बाकी ऋण माफ कर दिया था और साथियों को दिए हुए ऋण में से एक अरब साठ करोड़ पौंड छोड़ दिए थे। यह दुःख की बात है कि विजेता देश तो अपना ऋण देते रहे और अपनी जिम्मेदारी को मानते रहे, लेकिन पराजित देशों ने तो आखिरी फैसले के अनुसार जो धन देना ठहरा था और जिसका परिमाण बहुत कम था, उसके देने से इन्कार कर दिया। लोग जर्मनी के साथ बड़ी सहानुभूति करते थे और कहते थे कि निर्दयी विजेताओं ने इसको अपना शिकार बना लिया है। इस सम्बन्ध में यह भी विचार करने की आवश्यकता है कि उसने उत्तरी फ्रांस में जो जान-बूझकर आर्थिक क्षति पहुँचाई उसकी क्षति-पूर्ति के लिए तो उसने कुछ माल अवश्य दिया लेकिन बाकी युद्ध-दंड तो मित्र-राष्ट्रों ने स्वयं ही अदा किया। 1924 में विशेषज्ञों की मेक्केना कमेटी ने रिपोर्ट की कि जर्मन मार्क के रूप में जो विदेशी रुपया जर्मनी में लगा हुआ है वह करीब-करीब उतनी ही रकम है जो जर्मनी ने नकद रूप में विजेताओं को अदा की है। 1924 और 1927 के बीच में जर्मनी को फिर बहुत कर्ज दिया जाने लगा और धड़ाधड़ विदेशी रुपया जर्मनी में आने लगा। कारण यह था कि जर्मनी ने बहुत बड़ी ब्याज की दर घोषित की थी। इस प्रकार जो रुपया आया वह भी उस रकम से बहुत ज्यादा था जो डायज प्लान के अनुसार जर्मनी ने दूसरे देशों को अदा किया था। हम यह कहकर खत्म कर सकते हैं कि युद्ध-दंड के मामले में जर्मनी को कोई भय नहीं रहा।

महसूल—यूरोप की आर्थिक स्थिति में 1918 की सन्धि के बाद जो गड़बड़ मची, उसका मुख्य कारण यह था कि विभिन्न राष्ट्रों ने अपने चारों ओर महसूल की ऊँची-ऊँची दीवारें खड़ी कर दीं। वरसाइल, सेन्ट-जर्मेन और ट्रायनन की सन्धियों ने राष्ट्रीय आकांक्षाओं को सन्तुष्ट करने के लिए नई सीमाएँ बनाई थीं। इससे भी लगभग 12,000 मील की नई सीमाएँ बन गईं। नई रियासतें एक-दूसरे के साथ होड़-सी कर रही थीं कि देखें कौन रियासत अधिक महसूल लगाती है। इसी नीति के कारण प्राचीन राष्ट्र मिलकर काम नहीं कर सके। 1918-39 के युग में संसार की सबसे बड़ी आवश्यकता यह थी कि आर्थिक बाजार अधिक विस्तृत हो, जिसमें एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के पक्के माल को खपा सकें, अपनी उद्योग-विधियों को उन्नत कर सकें और अत्यधिक उपज तथा बेकारी न हो, इसकी गारन्टी दे सकें। दूरदर्शी लोगों ने शीघ्र ही इसका अनुभव कर लिया कि श्रम-विभाग की अधिक उत्तम व्यवस्था

होनी चाहिए जिससे कृषि और उद्योग पर अनावश्यक श्रम यों ही नष्ट न हो जाय, क्योंकि यह माना जाता था कि महाद्वीप का आर्थिक जीवन इसी के कारण आगे नहीं बढ़ता था। मौन्शियर ब्रियन्ड ने एक विज्ञप्ति-पत्र में यूरोप की आर्थिक सहकारिता के विषय में कुछ अनुमान लगाया था। वह यूरोप के आर्थिक संगठन को ऐसा स्वरूप देना चाहता था जिससे सब देशों के माल को खपाने के लिए एक ही बाजार हो और यूरोप के प्रत्येक देश के निवासियों के रहन-सहन का स्तर ऊँचा उठ सके। इसका मतलब यह था कि उत्पत्ति की तजबीज सोच-समझकर बनाई जाय और माल के यातायात के आधार पर रुपए का अदल-बदल निश्चित कर दिया जाय और यही सिद्धान्त पूँजी तथा श्रमजीवियों पर लागू किया जाय। यह तजवीज जिन-जिन सरकारों के सामने प्रस्तुत की गई उनका कहना था कि महसूल नीति को सीमित करना उतना ही आवश्यक है जितना सेनाओं को सीमित करना। दलील बड़ी जोरदार थी, परन्तु अभी ऐसी परिस्थिति नहीं आई थी कि महसूल नीति को अधिक नरम किया जा सके, बल्कि यूरोपीय देशों में तो यह प्रवृत्ति थी, कि महसूल की दीवारें और ऊँची उठाई जाएँ। ग्रेट ब्रिटेन निर्बाध व्यापार की नीति मानता था, परन्तु इन महसूली दीवारों के कारण उसकी यह नीति खतरे में पड़ गई थी। इसलिए उसने इस नीति का विरोध किया, परन्तु समस्त राष्ट्रों ने अपने कान बन्द कर लिए और उसकी बात नहीं सुनी। अमेरिका ने अपने पक्के माल के चारों ओर चीनी दीवार खड़ी कर ली थी। बस अन्य राष्ट्र भी उसी का अनुकरण करने लग गए। इस अत्यधिक महसूल का दुष्परिणाम आर्थिक क्षेत्र तक ही सीमित नहीं था, इसके कारण राजनीतिक क्षेत्र में भी बड़ी कटुता आई।

अत्यधिक आबादी—महसूल के कारण तो पक्के माल की गति रुक जाती है, इसी प्रकार जब आबादियों की आमद पर रोक लगाई जाती है तो मनुष्यों की गति रुक जाया करती है। जब देश में बहुत पक्का माल बन जाता है तो जरूरत होती है कि उसका निर्यात किया जाय। इसी प्रकार जब देश में आबादी बहुत बढ़ जाती है तो आवश्यक हो जाता है कि फालतू आबादी को दूसरे देशों में भेजा जाय। प्रायः प्रत्येक देश में कभी न कभी अत्यधिक आबादी की समस्या खड़ी हो जाती है। यह भी वास्तव में आर्थिक समस्या ही है। बात यह है कि देश-विशेष की आर्थिक व्यवस्था इस फालतू आबादी का भरण-पोषण नहीं कर सकती। लेकिन यह अस्थायी समस्या है। जब आर्थिक समस्या सुधर जाती है और देश की माँग को पूरा कर देती है तो अधिक आबादी की समस्या स्वतः ही हल हो जाती है। यह अत्यधिक आबादी की समस्या का सम्बन्ध देश के क्षेत्रफल से इतना नहीं है जितना इस बात से कि वहाँ आर्थिक व्यवस्था किस प्रकार की है। सत्रहवीं शताब्दी में यह खयाल किया जाता था कि इंग्लैण्ड की आबादी बहुत अधिक बढ़ गई है। अब उस समय से इंग्लैण्ड की आबादी

सात गुनी हो गई है। फिर भी उसका भरण-पोषण सुख के साथ हो रहा है। लेकिन जब भी किसी राष्ट्र का आर्थिक ढाँचा बिगड़ जाता है और तत्कालीन परि-स्थिति के अनुसार वह बदल नहीं सकता, तब वहाँ पर आन्तरिक कठिनाइयाँ खड़ी हो जाती हैं और ये कठिनाइयाँ खड़ी होती हैं उस फालतू आबादी के कारण जिसका देश पोषण नहीं कर सकता। तब जो लोग कमा सकते हैं उन पर टैक्स लगाकर उन लोगों का पोषण किया जाता है जो बेकार हैं। इन बेकारों की मौजूदगी के कारण मजदूरों में असन्तोष फैलता है। इसमें मजदूरों के रहन-सहन के स्तर के लिए खतरा पैदा हो जाता है और आर्थिक विषमता के कारण जो लोगों के मन पर प्रभाव पड़ता है उससे राजनीतिक स्थिति डाँवाडोल हो जाती है। जब बहुत बड़ी संख्या में लोग बेकार हो जाते हैं तो बड़ा खतरा उपस्थित होता है। इसका अच्छा उदाहरण जर्मनी है। जब जर्मनी में सामाजिक संकट बहुत उग्र हो गया तब राष्ट्रीय सोशलिस्ट लोगों के हाथ में शक्ति आई। इसलिए यह सिद्ध हुआ कि माल की गति के बाद मनुष्यों की गति का महत्त्व है।

आयात और नियन्त्रण—1914-18 के विश्व-युद्ध से पहले यूरोप के बहुत-से लोग अमेरिका में जा बसते थे। अमेरिका में यह आयात काफी बड़े पैमाने पर हुआ करता था। प्रतिवर्ष लगभग एक लाख साठ हजार व्यक्ति इंग्लैण्ड से अमेरिका जाया करते थे, परन्तु 1920 और 1939 के अरसे में यह संख्या घटकर आधी रह गई थी। इस निर्यात की कमी का कारण यह बतलाया जाता था कि यूरोप में अनेक प्रकार की समाज-सेवाएँ जारी हो गई हैं जिनमें लोग खप जाया करते हैं। इसलिए जीवन-निर्वाह के लिए बाहर जाने की प्रेरणा नहीं होती। यह निर्यात की कमी यूरोप के सारे देशों में हुई थी। 1914 से पहले औसतन लगभग पाँच लाख इटेलियन प्रतिवर्ष बाहर जाया करते थे। ये लोग अपने घर जो रुपया भेजना चाहते थे उससे इटली का अन्तरराष्ट्रीय भुगतान हुआ करता था। लेकिन इसके विरुद्ध यह कहा जा सकता है कि योग्य और होशियार लोगों के बाहर चले जाने से इटली की बहुत हानि होती थी। बाद में इटली का निर्यात कम हो गया। यहाँ भी कारण वे ही थे जो यूरोपीय देशों में थे, अर्थात् अमेरिका, ब्रिटिश साम्राज्य और दक्षिण अमेरिका में आयात को नियन्त्रित कर दिया गया था। इन तीनों में से सबसे अधिक अमेरिका में यूरोप के लोग जाया करते थे। इजराइल जेंगविल ने लिखा था कि अमेरिका ऐसा बर्तन है जिसमें जो जाता है, पिघल जाता है। इसमें यूरोप की सारी जातियाँ पिघल-पिघलकर नया रूप धारण कर रही हैं। 1901 से 1910 तक अर्थात् दस वर्ष में लगभग नव्वे लाख यूरोपीय लोगों ने अमेरिका में प्रवेश किया था और अगले दस वर्ष में, जिनमें विश्व-युद्ध के चार वर्ष शामिल थे, साठ लाख लोग वहाँ जा बसे थे। इस प्रकार अमेरिका लौटने वालों की संख्या घटकर साठ लाख रह गई थी। ऐसे बड़े पैमाने पर बाहर के

लोगों की आमद को कम करने के लिए अमेरिका में नियम बनाये गये कि किस देश से कितने व्यक्ति प्रतिवर्ष अमेरिका में आ सकते हैं। ऐसे सारे लोगों की संख्या एक लाख पचास हजार नियत की गई थी। जिस दस वर्ष के अर्से में आबादियों की आमद पर ऐसे नियंत्रण लगाये गये उसी अर्से में अमेरिका में बहुत बड़ा आर्थिक शैथिल्य हुआ। अमेरिका के इतिहास में ऐसा शैथिल्य पहले कभी नहीं हुआ था। अमेरिका में पक्का माल बहुत बड़े पैमाने पर तैयार होता है। इसकी खपत के लिए यह जरूरी है कि अमेरिका की आबादी भी बढती रहे। ऐसा न होने पर अमेरिका का बाजार पक्के माल से परिपूर्ण हो सकता है। फिर अमेरिका ने ऐसा नियम बना दिया जिसके कारण प्राचीन संसार से नये संसार में जाना और बसना बहुत कठिन हो गया। जब यूरोप में आबादी बढ़ने लगी और उसका दबाव पड़ने लगा तो इसके दो परिणाम हुए। पहला परिणाम यह हुआ कि जब संसार के व्यापार में गिरावट आने लगी तो यह सुझाव होने लगा कि आर्थिक दृष्टि से देश स्वावलम्बी हो। जब कोई देश अपने माल के बदले में विदेशी माल नहीं लेना चाहता और अपनी फालतू आबादी से छुटकारा भी नहीं चाहता, तो उसके लिए यह आवश्यक है कि वह अपनी आर्थिक व्यवस्था को ठीक करे। दूसरा नतीजा यह हुआ कि उपनिवेशों के लिए माँग बढ़ने लगी, क्योंकि उपनिवेशों से खाद्य-पदार्थ और कच्चा माल मिल सकता था। इसके बदले में मातृभूमि में बना हुआ माल या आवश्यक सेवाएँ दी जा सकती थीं। फालतू आबादी के लिए यह बाहर निकलने का अच्छा दरवाजा था।

महा शैथिल्य—यूरोप के आर्थिक इतिहास में (1918-39) सबसे बड़ी नाटकीय घटना है महा शैथिल्य, जो 1929 में आरम्भ हुआ और 1933 में समाप्त हुआ। इसके कारण राजनीतिक और आर्थिक क्षेत्रों में बड़ी उथल-पुथल हुई। इसके कारण ही ग्रेट ब्रिटेन ने स्वर्ण मर्यादा छोड़ी। अब उसके राष्ट्रीय सिक्कों का सोने से कोई सम्बन्ध नहीं रहा। ग्रेट ब्रिटेन की इस नीति का संसार के प्रायः सब राष्ट्रों ने अनुकरण किया। अपनी निर्बाध व्यापार-नीति को छोड़कर उसने अपनी परम्परागत आर्थिक नीति को बदला। इससे अमेरिका को यह प्रेरणा मिली कि अपने आर्थिक सिद्धान्तों को वह तिलांजलि दे और आर्थिक क्रियाओं पर सरकारी नियन्त्रण जारी करे। इसी के कारण मित्र-राष्ट्रों ने जर्मनी से युद्ध-दण्ड माँगना छोड़ दिया था और इसी के दबाव से जर्मनी की जनता ने वेमर के विधान को खत्म करके सर्वसत्तात्मक सरकार व ीथी। अन्त में इसके आर्थिक स्वावलम्बन की प्रगति को बहुत प्रोत्साहन मिला

शैथिल्य के कारण—इस विषय में बहुत अन्दाजे लगाए गए हैं कि आर्थिक बवंडर के कारण क्या थे। साधारण दृष्टि से उत्पादन की क्रियाओं में निश्चित समय के बाद इस प्रकार की शिथिलताएँ आया करती हैं, अर्थात् आर्थिक शिथिलता का

चक्र एक अजीब नियम के अनुसार चला करता है। इस बात को पिछले तीन सौ वर्षों से देखा जा रहा है। सन् 1620 और 24 में इंगलैण्ड में व्यापार-शैथिल्य आया था। उस समय उसके विदेशी बाजार संकुचित हो गये थे। अपने घर में बेकार बढ़ गए थे और आर्थिक दृष्टि से एक नाजुक समय उपस्थित हो गया था। तब एक शाही कमीशन नियुक्त हुआ जिसने इस शिथिलता के कारणों की जाँच-पड़ताल की। उस समय भी इस शिथिलता के वे ही कारण बतलाये गये थे जो 1929 और 33 की शिथिलता के बतलाए गए हैं। शिथिलता के चक्र को छोड़कर अब हम उन कारणों का उल्लेख करना चाहते हैं जिससे इस तूफान की तीव्रता के कारणों पर प्रकाश पड़े। 1914-18 के विश्व-युद्ध के बाद संसार को ऐसी आर्थिक अवस्था मिली जिसके कारण लड़ाकू राष्ट्रों के साधनों पर बड़ा जोर पड़ा। सम्पत्ति का अप्रतिम विनाश हो चुका था। इसकी एवज में कुछ प्राप्त भी नहीं हुआ था, बल्कि प्रत्येक राष्ट्र पर बहुत भारी ऋण लद चुका था। इसके अतिरिक्त साधारण आर्थिक समानता में बहुत गडबड़ हो चुकी थी। कारण यह था कि शान्ति के समय की अर्थ-व्यवस्था का स्थान युद्ध-काल की अर्थ-व्यवस्था ने ले लिया था। कोयला, जहाज और मशीनों आदि की युद्ध-काल में अत्यधिक आवश्यकता थी। इसीलिए सारे साधन और श्रम कोयले की खानों पर, जहाजों के निर्माण पर और इंजीनियरिंग का सामान तैयार करने पर लगा दिए गए थे। युद्ध की समाप्ति पर जब ये मार्गें बन्द हो गईं तो विपत्ति-ग्रस्त प्रदेशों का प्रश्न बड़े जोर के साथ सामने आया। इसके अतिरिक्त सरकार और जनता दोनों ने युद्धकाल में बेहद खर्च किया था और युद्ध के बाद लोगों का चित्त कुछ अस्थिर और डाँवाडोल-सा रहा। सिक्कों की कीमत में बहुत उतार-चढ़ाव हुए, जिसके कारण लोगों की पूँजी जो बैंकों में जमा थी, रातों-रात विलीन हो गई। टैक्स बहुत भारी और विस्तृत हो गए। इससे बचत करीब-करीब बन्द-सी हो गई। अन्तरराष्ट्रीय वाणिज्य डाँवाडोल हो गया, जिससे हमेशा यह आशंका होने लगी कि किसी भी उद्योग में होने वाला फायदा एकदम खत्म हो सकता है। स्टाक एक्सचेंज के विषय में खूब सट्टे होने लगे। 1920 से 1929 तक के समय में इन कारणों से एक ऐसी मनःस्थिति उत्पन्न हो गई कि लोग अनापशनाप खर्च करने लगे। आर्थिक डाँवाडोल किसी देश में कम था और किसी देश में अधिक, लेकिन सबके आर्थिक ढाँचे में कमजोरियाँ थीं और इस महा शैथिल्य के कारण ये कमजोरियाँ बिल्कुल ऊपर आ गई थीं।

शैथिल्य की गति—शिथिलता से पहले खाद्य पदार्थों और कच्चे माल की कीमतें बड़ी तेजी के साथ गिरने लगीं। 1914-18 के युद्ध-काल में जो कीमतें बढ़ गई थीं उनको तो गिरना ही था, क्योंकि अभी संसार के सिक्कों की आवश्यक व्यवस्था नहीं हो पाई थी। परन्तु इस तेज गिरावट का कारण था अत्यधिक उत्पादन। दूसरे उद्योग-धन्धों में तो मशीनों का प्रयोग पहले ही शुरू हो गया था, लेकिन कृषि

में इसका उपयोग बाद में शुरू हुआ। कृषि में मशीनों का प्रयोग युद्ध के कारण जारी हुआ। युद्ध-काल में खाद्य पदार्थ उत्पन्न करने के लिए और उनको एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने के लिए मशीनों का प्रयोग होने लगा था। यह प्रयोग शान्ति स्थापित होने के बाद भी चलता रहा, इसलिये कृषि पर इसके परिणाम वैसे ही हुए जैसे दूसरे उद्योग-धन्धों पर हुए थे। जब विभिन्न उद्योगों में मनुष्यों के स्थान पर मशीनें काम करने लगीं तो उत्पादन बहुत अधिक होने लगा और खपत की अपेक्षा उपज अधिक होने के कारण कीमतें तेजी के साथ गिरने लगीं। ठीक यही दशा विश्व-युद्ध के बाद कृषि की हुई। जिन देशों पर इस शिथिलता का कुप्रभाव पड़ा उनकी क्रय-शक्ति भी घट गई। खाद्य-पदार्थों की कीमतें तो घट गईं, लेकिन दूसरे पक्के माल की कीमत जहाँ की तहाँ बनी रही और घटी भी तो केवल नाम मात्र को। कारण यह था कि दूसरे प्रकार का पक्का माल पहले ही बहुत बड़े परिमाण में बना हुआ तैयार पड़ा था, और उत्पादन के खर्चे पर कच्चे माल का बहुत कम असर पड़ा करता है। नतीजा यह हुआ कि कृषि-प्रधान देश जो खाद्य-पदार्थों के उत्पादन में लगे हुए थे, इतने निर्धन हो गये कि उद्योग-प्रधान देशों का पक्का माल वे नहीं खरीद सकते थे। फिर इसका नतीजा यह हुआ कि उद्योग-प्रधान देशों की उत्पत्ति तो बहुत बढ़ गई और उनके पक्के माल की बिक्री बहुत कम हो गई। इसलिए इन देशों में बेकारी बढ़ने लगी। इस प्रकार अन्तरराष्ट्रीय व्यापार की गाड़ी के पहियों का घूमना बन्द हो गया और आर्थिक शैथिल्य अनिवार्य हो गया। इसका संकेत अमेरिका से मिला। यह अमेरिका का सौभाग्य या दुर्भाग्य था कि पहले तो वहाँ अपूर्व सम्पदा दिखाई देने लगी और उसके बाद अपूर्व शिथिलता। 1914-18 के विश्व-युद्ध के कुछ वर्ष बाद तक यह विश्वास किया जाता था कि अमेरिका ने निर्धनता पर विजय प्राप्त कर ली है। लोगों को यह देखकर हैरानी होती थी कि आर्थिक नियम अमेरिका के पक्ष में क्यों स्थगित हो गये हैं। यूरोप भी नहीं समझ सकता था कि उसकी सफलता का क्या रहस्य है। इसलिए यूरोप के देशों ने अपने दूत यह देखने के लिए अमेरिका भेजे कि वहाँ सम्पदा की वर्षा क्यों हो रही है। लेकिन 1929 में यह बुदबुदा फट गया और आगे चलकर जो घटनाएँ हुईं उनसे यह पता लगा कि सारे राष्ट्र आर्थिक दृष्टि से एक-दूसरे के आश्रित हैं। व्यापार-शैथिल्य अमेरिका से यूरोप तक फैल गया और अगले वर्ष इसके दुष्परिणाम सारे संसार में व्याप्त हो गये। आर्थिक शैथिल्य का इससे अनुमान किया जा सकता है कि 1933 से पहले ही कच्चे माल की कीमत लगभग आधी रह गई थी और थोक व्यापार की क़ीमत 30 फीसदी घट गई। अन्तरराष्ट्रीय व्यापार का मूल्य 60 फीसदी घट गया था। इन गिरावटों का विपत्तिकारी प्रभाव उस समय की बेकारी के आँकड़ों में प्रतिबिम्बित होता था। अन्तरराष्ट्रीय श्रम दफ्तर ने 16

उद्योग-प्रधान राष्ट्रों की बेकारी का परिशिष्ट तैयार किया था जिससे जाहिर हुआ कि सन् 1932 में बेकारी बढ़ते-बढ़ते सन् 1929 से तिगुनी हो गई थी।

आर्थिक विश्व-कॉंफ्रेंस—इस शिथिलता का निवारण करने के लिये जून 1933 में लंदन नगर में एक विश्व आर्थिक कॉंफ्रेंस का अधिवेशन करवाया गया, जिसमें 64 राष्ट्रों के प्रतिनिधि उपस्थित हुए। दुर्भाग्यवश इसके निमंत्रण यथासमय सदस्यों के पास नहीं पहुँचे। अन्तरराष्ट्रीय कार्यों में इस प्रकार का विलम्ब हो ही जाया करता है। लेकिन इसका नतीजा यह हुआ कि कॉंफ्रेंस तो पीछे रह गई और घटनाएँ आगे बढ़ गईं। अगर यह कॉंफ्रेंस उस समय की जाती जब तूफान तेजी पर था तो शायद सरकारें ऐसा त्याग करने के लिये तैयार हो जातीं जो मौलिक सुधार के लिये आवश्यक थे अर्थात् महसूल की दीवारें नीची कर दी जातीं और अन्तरराष्ट्रीय व्यापार में जो दूसरी अड़चनें हैं वे भी दूर कर दी जातीं। लेकिन 1933 के मध्य में इस बवंडर की प्रचंडता कम हो चुकी थी और आर्थिक इलाज शुरू हो गया था। पक्के माल के ढेर खप गये थे, व्यापार पुनर्जीवित हो रहा था, बेकारी घट रही थी, आर्थिक राष्ट्रीयता आत्म-विश्वास प्राप्त कर रही थी। इसने देख लिया था कि इसके पैरों के नीचे बहुत गहरी खाई है। यदि यह न सँभली तो यह खाई इसको निगल जायगी। ज्यों ही कॉंफ्रेंस का अधिवेशन शुरू हुआ त्यों ही प्रकट हो गया कि सदस्यों में घातक मतभेद है। एक तरफ तो यूरोप के देश इस बात पर जिद करते थे कि दूसरी समस्याओं से पहले सिक्के की समस्या का हल होना चाहिये और इसमें स्थिरता स्थापित होनी चाहिये। इनका यह कहना था कि जब सिक्के में असाधारण उतार-चढ़ाव हो रहा है तो महसूल कम नहीं किया जा सकता। दूसरी तरफ अमेरिका पुनर्निर्माण के कार्य-क्रम में लगा हुआ था। अमेरिका का यह खयाल था कि डालर की कीमत घटा देने से पक्के माल की कीमत बढ़ जायेगी। ऐसी अवस्था में यह मूल प्रश्न हल नहीं हो सका कि सिक्कों को किस प्रकार स्थिर किया जाए। प्रवृत्ति आर्थिक राष्ट्रीयता की ओर थी। कॉंफ्रेंस इसको नहीं रोक सकी, इसलिये राष्ट्र आर्थिक पागलपन की ओर ही बढ़ते रहे। अपने मूल उद्देश्यों को पूर्ण करने में यह कॉंफ्रेंस बिल्कुल असफल रही। यह केवल एक ही काम कर सकी। वह यह था कि इसने अपना अधिवेशन स्थगित कर दिया। अब मालूम पड़ा कि आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्र में समय की असली समस्याओं पर सहकारिता प्राप्त करना असम्भव बात है।

शिथिलता के प्रभाव—इस महा शैथिल्य के कारण लोगों को घोर दुःख झेलने पड़े। बेकारी के कारण घोर संकट उपस्थित हुआ। दीवालियेपन के कारण लाखों लोग तबाह हो गये, लेकिन इस शैथिल्य का महत्व वास्तव में इस बात में है कि इससे संसार के सिक्के डाँवाडोल हो गये और सबकी जड़ें हिल उठीं। देशों में जो आत्म-रक्षा की प्रवृत्ति थी वह और बढ़ गई। ये नतीजे उस समय प्रकट हुए जब ग्रेट

ब्रिटेन ने अपनी आर्थिक नीति एक नए ढंग पर डाल दी। जब ग्रेट ब्रिटेन ने अपने सिक्के और आर्थिक नीति में हेर-फेर किया तो इसका परिणाम समस्त यूरोप पर बहुत बुरा पड़ा। एक परिणाम तो यह हुआ कि सारे संसार ने स्वर्ण को सिक्कों की मर्यादा मानना छोड़ दिया और दूसरा परिणाम यह हुआ कि स्वतन्त्र व्यापार का किला मानो ढह गया।

स्वर्ण मर्यादा—ग्रेट ब्रिटेन ने 1914-18 के विश्व-युद्ध के समय स्वर्ण मर्यादा को स्थगित कर दिया था। लेकिन 1925 में इसको फिर स्थापित कर दिया और राष्ट्रीय सिक्के को पूर्ववत् स्वर्ण में बदला जाने लगा। छः वर्ष बाद ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई जिसकी सृष्टि स्वतः ग्रेट ब्रिटेन ने ही की थी। तब स्वर्ण मर्यादा को पुनः स्थगित कर दिया गया। युद्ध के बाद 1918 और 1939 के बीच एक अन्तर-राष्ट्रीय आर्थिक स्थिति उत्पन्न हुई। इस स्थिति में कितने ही देशों में ऐसा रुपया एकत्र होने लगा जो दूसरे देशों ने आर्थिक स्थति से घबराकर वहाँ भेजा था। ऐसा रुपया इसलिये भेजा जाता था कि अमुक देश में यह सुरक्षित रहेगा और इस पर अच्छा ब्याज मिलेगा। यह चलती-फिरती रकम एक देश से दूसरे देश में घूमा करती थी। लोग जहाँ अच्छा मौका देखते वहाँ इसको लगाया करते थे। जहाँ ऊँचा ब्याज होता था वहाँ यह लगा दी जाती थी। जहाँ राजनीतिक या आर्थिक गड़बड़ होती थी और रुपया लगाना सुरक्षित नहीं समझा जाता था, वहाँ से यह रकम हटा ली जाती थी। ऐसा विदेशी रुपया मानो भाग-भागकर दूसरे देशों में जाता था और वहाँ भी इसका लम्बे अरसे तक ठहरना निश्चित नहीं था, क्योंकि ज्यों ही ब्याज की दर कम होने लगती, ऐसा रुपया हटा लिया जाता था। इंगलैण्ड उस समय कठिनाई में था, इसलिये उसने ऐसे रुपये की आमद को रोका नहीं बल्कि उसको खूब आने दिया और यही रुपया उसने जर्मनी के बैंकों को उधार के रूप में दे दिया। इस प्रकार इंगलैण्ड का बहुत सारा रुपया दूसरे देश में बन्द हो गया और बन्द भी ऐसा हुआ कि जल्दी से वहाँ से निकाला नहीं जा सकता था। अगर जर्मनी से माँग की जाती तो वह देने से इन्कार करता, क्योंकि यह रुपया वहाँ पर लम्बे अरसे के लिये लगाया गया था। लेकिन दूसरे देशों ने इंगलैण्ड से अपना रुपया माँगना शुरू किया और इंगलैण्ड के पास पर्याप्त रुपया था नहीं। इसलिये उसको बड़ी परेशानी हुई। इस स्थिति में यह भी मालूम हुआ कि ग्रेट ब्रिटेन के बजट में घाटा रहेगा। ग्रेट ब्रिटेन को उस समय अन्तरराष्ट्रीय भुगतान भी करना था। इसके लिये भी दूसरे देशों में उसका रुपया नहीं था। तब लोगों में घबराहट-सी फैलने लगी। बाहर से इंगलैण्ड में रुपया आना बन्द हो गया। पहले उसके पास इतना रुपया था कि वह औरों को खूब दे सकता था, लेकिन 1931 में उसको औरों से लेने की आवश्यकता पड़ गई। इन कारणों से दूसरे देशों में इंगलैण्ड की आर्थिक स्थिति पर विश्वास नहीं रहा और ऐसा भय होने लगा कि सिक्के की

कीमत गिर जायगी। रुपये लगाने वाले प्रायः बहुत डरते हैं। उनको चिन्ताओं के कारण घबराहट फैल जाती है, बल्कि वे हमेशा घबराये हुए ही रहते हैं। अपने रुपये को सुरक्षित रखने के लिए अब लोग इंगलैण्ड से रुपया हटाकर दूसरे देशों में भेजने लगे। पहले तो ब्रिटिश सरकार ने इस बात की कोशिश की कि इंगलैण्ड से रुपया नहीं भागे, अर्थात् पौण्ड बाहर न जाए। लेकिन यह बात चली नहीं और स्थिति काबू में नहीं आई। इंगलैण्ड के पास उस समय 10,00,00,000 पौण्ड से ऊपर सोना था। फिर भी उसने यही मुनासिब समझा कि सोने को बाहर नहीं जाने दिया जाए। इसलिए सितम्बर 1931 में उसने स्वर्ण मर्यादा त्याग दी। इंगलैण्ड ने यह कदम विवश होकर उठाया था। लेकिन यह मामूली कदम नहीं था। इससे सम्पूर्ण संसार के सिक्कों की व्यवस्था को बड़ा धक्का लगा। एक वर्ष के अन्दर ही 40 से अधिक राष्ट्रों ने इंगलैण्ड का अनुकरण करना शुरू कर दिया। संसार की अर्थव्यवस्था में अपना स्थान बनाये रखने के लिये इंगलैण्ड के लिये यह आवश्यक था कि वह कुछ दूसरे देशों की सिक्का-सम्बन्धी नीति से अपना सम्बन्ध रखता और पौंड के क्षेत्र को विस्तृत करता। यह तो अलग बात थी परन्तु सोना किसी देश से पास अत्यधिक था और किसी के पास अत्यल्प। इसलिये सोने की मर्यादा नहीं चल सकी। 1931 में ऐसा अनुमान लगाया गया था कि सारे संसार में दो अरब तीस करोड़ पौंड सोना है। इनमें से 90 करोड़ पौंड तो केवल अमेरिका के पास था और 54 करोड़ पौंड फ्रांस के पास। इंगलैण्ड के पास भी 11 करोड़ 80 लाख पौंड सोना था। इस प्रकार प्रथम दोनों राष्ट्रों के पास संसार का आधा सोना मौजूद था।

निर्बाध व्यापार—स्वर्ण मर्यादा को छोड़ने के बाद ही ग्रेट ब्रिटेन ने निर्बाध व्यापार भी छोड़ दिया। सन् 1931 में इंगलैंड ने अपने उद्योगों की रक्षा करने के लिये कानून (Safeguarding of Industries Act) पास किया। उस समय दूसरे देशों से इंगलैण्ड में माल बहुत बड़ी मात्रा में आ रहा था। यह कानून इसको रोकने के लिये बनाया गया था। दूसरे देशों ने बनावटी ढंग से अपने सिक्के की कीमत गिराकर निर्यात को प्रोत्साहन दिया था। इस कानून से निर्बाध व्यापार के मूल सिद्धान्त का कोई उल्लंघन नहीं हुआ, क्योंकि साधारण स्थिति में निर्बाध व्यापार होते हुए भी प्रतिद्वन्द्विता चल सकती है, लेकिन सिक्के की कीमत गिरा देने पर और निर्यात व्यापारियों को रुपये-पैसे की मदद देने पर असाधारण परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है। इसको स्थानीय मिलों के मालिक नहीं सँभाल सकते। मौका कुछ भी चाहता हो, लेकिन इस कानून से दुर्ग की दीवारों में छेद अवश्य हो गए जिससे घेरा डालने वाली सेना के प्रति इसको आत्म-समर्पण करना पड़ा। अब ग्रेट ब्रिटेन अपने परम्परागत आर्थिक अमल को बदलने का आदी हो गया और बिना संकोच के बड़े-बड़े रद्दोबदल को स्वीकार करने लगा। 1923 में निर्वाचन हुए और कंजरवेटिव सरकार

ने सुरक्षित व्यापार के नाम पर जनता से निर्वाचन के लिए अपील की, लेकिन कंजरवेटिव पार्टी की हार हुई। इससे प्रकट हो गया कि ग्रेट ब्रिटेन हृदय से स्वतन्त्र व्यापार के ही पक्ष में था। जब सुरक्षित व्यापार की नीति जारी की गई तो सीधे तरीके से नहीं की गई थी। वास्तव में घबराहट के समय में इसका उदय हुआ था। इसी प्रकार बहुत अरसे पहले अन्न के कानून (Corn Laws) के नष्ट हो जाने पर निर्बाध व्यापार की नीति जारी हुई थी। अब ग्रेट ब्रिटेन की साख का पौंड रूपी किला ढह गया था, इसलिये राष्ट्र ने विवश होकर सुरक्षित व्यापार की नीति जारी की थी। इस विषम स्थिति में ग्रेट ब्रिटेन की जनता को यह भय होने लगा कि कहीं इंगलैण्ड के पौंड का भी वही हाल हो जो जर्मनी के मार्क का हुआ था। इसलिये जनता ने सरकार को पूर्ण अधिकार दे दिया कि वह जो चाहे सो करे। 1931 के आम निर्वाचन के बाद जब राष्ट्रीय सरकार बनी तो उसने सुरक्षित नीति का अवलम्बन करना शुरू किया। यह कहा गया था कि आयात पर महसूल लगाने से आयात का परिमाण कम होगा; और दूसरे देशों में इंगलैण्ड की व्यापारी बचत अत्यन्त कम हो गई है जिसके कारण पौंड में भगदड़ मच गई है, वह स्थिति सुधर जायगी। यह दलील कोई जोरदार नहीं थी, क्योंकि सिक्के की कीमत कम होती जाती थी जिससे स्वतः ही व्यापार सुरक्षित होता जाता था। 1932 में आयात महसूल कानून बना। इसके अनुसार यह चाहा गया कि प्रत्येक उद्योग के मालिक इम्पोर्ट ड्यूटी एडवाइजरी कमेटी के सामने दरख्वास्त पेश करें कि उसके आयात पर क्या महसूल लगाया जाय। इंगलैण्ड ने एक टैकनिकल कमीशन नियत किया। उस समय दूसरे देशों में ये निन्दनीय बातें होने लग गई थीं कि राजनीतिक दबाव डालकर सरकार से महसूल की दरों में घटा-बढ़ी करवाई जाती थी। टैकनिकल कमीशन के नियत करने से इंगलैण्ड को यह आशा थी कि ऐसा नहीं होगा।

ग्रेट ब्रिटेन का निर्बाध व्यापार के प्रति अहसान—ग्रेट ब्रिटेन की इस युगान्तकारी आर्थिक नीति के परिणाम एक पुश्त में खत्म नहीं हो सकते। चाहे कितने ही वर्षों तक आज की भाँति इस पर प्रतिक्रिया होती रहेगी, फिर भी जब समस्त संसार में कुछ वर्ष बाद स्थिति ठीक हो जायगी तब इंग्लैण्ड पर निर्बाध व्यापार को छोड़ देने का बहुत बड़ा प्रभाव पड़ेगा। ग्रेट ब्रिटेन वास्तव में निर्बाध व्यापार का नेता था। अपने अर्थ-विद्वानों की शिक्षा और राजनीतिज्ञों के काम के आधार पर उसने अन्तर-राष्ट्रीय श्रम विभाग के सिद्धान्त स्थिर किये थे और मनुष्य जाति के सामने अन्तर-राष्ट्रीय व्यापार के लाभों का चमकता हुआ उदाहरण प्रस्तुत किया था। वह पृथ्वी-तल पर व्यापार की दृष्टि से बहुत प्रसिद्ध राष्ट्र था। उसके पास सबसे अधिक और बहुत लम्बा ऐसा समुद्री किनारा था जो व्यापार के लिये उपयुक्त था। इंग्लैण्ड उस समय संसार का बैंकर और कमीशन एजेन्ट था। ग्रेट ब्रिटेन की जनता का रहन-

सहन का स्तर अन्य यूरोपीय देशों के स्तर से अधिक ऊँचा था। उसके फालतू धन के द्वारा संसार के ऊसर प्रदेश उपजाऊ हो गये थे और पिछड़े हुए मुल्कों में आर्थिक उन्नति हुई थी। जरूरत के समय उसने दूरदर्शी आर्थिक नीति से लाभ उठाया था। 1914-18 के विश्व-युद्ध के समय उसने भारी आर्थिक बोझ को स्वतः झेल लिया था। इतना ही नहीं, उसने जितना उधार लिया उससे दुगुनी रकम दूसरे देशों को उधार दी थी। युद्ध के बाद उस पर बहुत टैक्स लादे गये, लेकिन उनको भी उसने सहन कर लिया। दूसरे देश जो आर्थिक विपत्ति में फँसे हुए थे, उनकी भी उसने सेवाएँ कीं। ये सब बातें इसलिए सम्भव हुईं कि उसकी जनता में पुरुषार्थ था, उसकी राजनीति में कोमलता थी और वह निर्बाध व्यापार की नीति को मानता था। अब यह देखना है कि इस नई नीति से उसका व्यापार ज्यों का त्यों बना रहेगा या नहीं। उसके व्यापारी जहाजों की संख्या पूर्ववत् रहेगी या नहीं। उसके बीमा और बैंकों पर और उसके रहन-सहन के स्तर पर इसका क्या असर पड़ेगा।

दूसरे देशों पर प्रतिक्रिया—इस समय भी यह जानना सम्भव है कि ग्रेट ब्रिटेन की निर्बाध व्यापार-नीति को त्यागने से दूसरे देशों में क्या प्रतिक्रिया हुई। पहली बात यह हुई कि अन्तरराष्ट्रीय व्यापार संकुचित हो गया और इसके कारण यूरोप में आर्थिक राष्ट्रीयता म वृद्धि हुई। इसके अतिरिक्त पहले दूसरे देशों को इंग्लैण्ड से प्रेरणा मिलती थी कि अन्तरराष्ट्रीय व्यापार में जो अड़चनें हैं वे हटाई जायँ। परन्तु अब इस प्रवृत्ति को प्रोत्साहन नहीं मिलता था बल्कि झुकाव दूसरी ओर होने लगा। जब तक ग्रेट ब्रिटेन अपनी सौ वर्ष पुरानी नीति पर चलता रहा तब तक दूसरे देशों की यह बहुत बड़ी दलील थी कि महसूल या तो रद्द कर दिया जाय या उसको बहुत घटा दिया जाय। जब संसार में नाजुक समय आया तो इंग्लैण्ड ने यह नीति छोड़ दी। इसका यह परिणाम हुआ कि संसार सौ वर्ष पीछे चला गया। फिर ब्रिटिश व्यापार नीति के बदल जाने से संसार का ध्यान कच्चे माल की जटिल समस्या पर केन्द्रीभूत हो गया। जब ग्रेट ब्रिटेन के दरवाजे आयात के लिए खुले हुए थे तो दूसरे देश ब्रिटिश साम्राज्य के किसी भी देश में माल खरीद सकते थे और अपना माल इंग्लैण्ड में बेच सकते थे। इसलिए संसार के बहुत बड़े भाग पर इंग्लैण्ड का व्यापारिक एकाधिकार था और इस भाग में कच्चा माल बेशुमार पैदा होता था। इससे दूसरे देशों में भी कोई अड़चन पैदा नहीं होती थी। अन्तिम बात यह थी कि ग्रेट ब्रिटेन ने कितने ही अरब पौंड दूसरे देशों में लगा रखे थे। इनका ब्याज या अदायगी माल के रूप में हुआ करती थी, इसलिए ग्रेट ब्रिटेन अपनी नीति निर्धारित करते समय इस बात का ध्यान रखता था कि संसार के व्यापार में उसका प्रमुख स्थान है। उसकी अन्तरराष्ट्रीय सेवाएँ भी बड़ी लाभकारी थीं, जैसे बैंकिंग, पूँजी का लगाना, व्यापारिक जहाज और उसके साम्राज्य में जो कच्चा माल पैदा होता था उस तक लोगों की पहुँच।

स्वावलम्बन—1929 और 33 में आर्थिक शैथिल्य के बाद आर्थिक राष्ट्रीयता की ओर संसार की प्रवृत्ति और भी बढ़ने लगी। अब इसने स्वावलम्बन का रूप धारण कर लिया, जिसका अर्थ यह था कि राष्ट्र की जो भी आवश्यकताएँ हैं वे सब राष्ट्र के अन्दर ही पूरी हो जाएँ। अब हम देखें कि ऐसी कौनसी आर्थिक और राजनीतिक परिस्थितियाँ थीं जिनके कारण इतना बड़ा परिवर्तन हुआ कि उन्नीसवीं शताब्दी में जो सिद्धान्त माने जाते थे उनसे अब संसार हटने लगा।

अन्तरराष्ट्रीय व्यापार में अड़चनें—अन्तरराष्ट्रीय व्यापार के मार्ग में अनेक बाधाएँ उपस्थित हो गई थीं जिनको नौ भागों में विभक्त किया जा सकता है। सबसे बड़ी बाधा थी महसूल की दीवारें, जिनकी संख्या नये जनतन्त्रीय राज्य स्थापित हो जाने से बहुत बढ़ गई थी। दूसरी अड़चन यह थी कि प्रत्येक देश ने यह निश्चय कर लिया था कि किस-किस देश से कितने-कितने और कौन-कौनसे माल का आयात हो। इसका उद्देश्य यह था कि अपने देश के बाजार में दूसरे देशों से बने हुए पक्के माल की बाढ़ न आ जाय। तीसरी अड़चन थी अदल-बदल का सिद्धान्त। निर्यात करने वाला देश इस बात का वचन देता था कि आयात करने वाला देश एक निश्चित मूल्य का माल उस देश से खरीदेगा। इस विधि से आयात और निर्यात में खास देशों में सन्तुलन तो हो गया, परन्तु अन्तरराष्ट्रीय व्यापार में जो त्रिभुजात्मक गति हुआ करती थी वह रुक गई। पहले यह होता था कि एक देश दूसरे देश से माल खरीदकर तीसरे देश को बेचा करता था। इससे सब देश ऐसे देशों से माल मँगवाते थे जहाँ उनकी जरूरत पूरी हो सकती थी। अब व्यापार की प्राकृतिक धाराएँ मोड़ दी गईं। इससे अन्तरराष्ट्रीय व्यापार का विस्तार रुक गया। यह विस्तार उसी अवस्था में हो सकता था जब इसमें कोमलता होती अर्थात् इस पर किसी प्रकार की रोकथाम नहीं होती। चौथी अड़चन तीसरी अड़चन में से ही निकली हुई थी। इसका मतलब था माल देना और माल लेना अर्थात् पदार्थों का विनिमय। इस प्रकार का पदार्थ-विनिमय प्राचीन युग में हुआ करता था, परन्तु अब बीसवीं शताब्दी के उन्नत लोग भी इसका उपयोग करने लगे। पाँचवीं अड़चन यह थी कि बहुत-से राष्ट्रों ने रुपये के निर्यात पर पाबंदियाँ लगा दी थीं। व्यापारियों को विवश होकर आयात की कीमत देने के लिए दूसरे देशों से रुपये मँगवाने के लिए सरकार से लाइसेन्स लेना पड़ता था। इसका मतलब यह था कि दूसरे देशों के साथ जो लेन-देन होता था उसकी सरकार जाँच किया करती थी, अर्थात् अब व्यापार उपज और खपत के सिद्धान्त पर नहीं चलता था बल्कि सरकार इसमें हस्तक्षेप करती थी। छठी अड़चन थी सिक्के की कीमत में उतार-चढ़ाव। ये सिक्के उन राष्ट्रों के थे जिन्होंने रुपये के निर्यात पर कोई पाबन्दी नहीं लगाई थी। जब यह नियम बन गया कि कागजों के रुपये का सोना नहीं मिल सकता, तब विदेशों में ऐसे नोटों का चलन केवल विश्वास

पर रह गया। पहले बतलाया जा चुका है कि रुपये में भगदड़ कैसे मच जाया करती थी। उस समय रुपये के अदल-बदल की दर के भाव जब छपते थे तो बड़ी खलबली हो जाया करती थी। जिस देश की साख कम हो जाती थी उसका विदेशी व्यापार ठप्प हो जाता था। सातवीं अड़चन यह थी कि मालदार देशों से गरीब देशों को अब पूंजी कम जाने लगी थी। पहले ग्रेट ब्रिटेन दूसरे देशों में प्रायः अपना रुपया लगाया करता था। इससे उसके निर्यात व्यापार में वृद्धि होती थी और पक्के माल की खपत के लिये बाजार मिलता था, परन्तु अब ग्रेट ब्रिटेन की नीति बदल गई थी। कारण यह था कि इसकी बहुत-सी पूंजी तो जर्मनी में जकड़ गई थी और अन्तरराष्ट्रीय भुगतान के लिये उसके पास पर्याप्त रुपया नहीं था और स्वर्ण मर्यादा उसने छोड़ दी थी, इसलिये लंदन के बाजारों ने ऐसी नीति बदल दी। इसी प्रकार अमेरिका ने भी बहुत भारी रकमें उधार दी थीं। उनमें से एक-तिहाई केवल यूरोप को दी गई थीं। लेकिन जब स्टाक एक्सचेंज बढ़ने लगा और अन्तरराष्ट्रीय व्यापार में गड़बड़ होने लगी तो उसके रुपए का बाहर जाना भी कम हो गया। जब दूसरे देशों को उधार दिया जाता है तो वे लोग उधार दिये जाने वाले देशों से इसी रकम के द्वारा माल खरीदते हैं और जब रुपया बाहर नहीं लगाया जाता और उधार नहीं दिया जाता तो अन्तरराष्ट्रीय व्यापार में अड़चन आ जाती है। आठवीं अड़चन थी सुरक्षा के सम्बन्ध में। प्रायः यह भावना फैल गई थी कि रुपया कहीं भी सुरक्षित नहीं है। इस प्रकार जब विश्वास नष्ट हो गया तो व्यापार की पुनर्जागृति रुक गई। नवीं अड़चन यह थी कि प्रत्येक देश में सबका अधिक ध्यान शस्त्रों के निर्माण पर लगा हुआ था। इसलिए राष्ट्र के सम्पूर्ण साधन अन्य कामों से हटाकर इस काम में जुटा दिये गये थे। जब राष्ट्र एक-दूसरे के खिलाफ शस्त्र बनाने लग गए तब उनके पास अपने जीवन की आवश्यकताओं के लिये अन्य देशों से माल मँगाने को रुपया नहीं रहा।

राजनीतिक प्रवृत्ति—ऊपर बतलाई हुई अड़चनों का परिणाम यह हुआ कि अन्तरराष्ट्रीय आर्थिक सहकारिता संकुचित हो गई और प्रत्येक देश अपने-अपने साधनों पर अवलम्बित रहने लगा। इस प्रवृत्ति को राजनीतिक कारणों से अर्थात् सर्व-सत्ताधारी राष्ट्रों के उदय से बहुत शक्ति प्राप्त हुई। सर्व-सत्ताधारी राष्ट्र चाहते हैं कि समस्त राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक आवश्यकताओं को मिलाकर उन पर राज्य का नियंत्रण स्थापित किया जाय। इसलिये ऐसे राष्ट्र को यह अजीब मालूम होता है कि देश का आर्थिक जीवन दूसरे देशों के माल पर अवलम्बित हो। यूरोप की तानाशाही सरकारों को उन खतरों का अनुभव हो चुका था जिनका युद्ध के आरम्भ होने पर उनकी आर्थिक स्थिति को सामना करना पड़ा। 1914-18 के विश्व-युद्ध के बाद जर्मनी इसलिये बैठ गया था कि उसके चारों ओर घेरा डाल दिया गया था और लोग भूख से मरने लग गये थे। एबीसीनिया के विरुद्ध जब इटली ने

युद्ध छेड़ा और उस पर आर्थिक प्रतिबन्ध लगाए गये तो वे समय पर नहीं लगे। परन्तु इससे यह तो प्रकट हो गया कि उसमें आर्थिक दृष्टि से कितनी कमजोरियाँ हैं। बोलशेविक क्रांति के शत्रुओं को जब दूसरे देशों से सहायता मिलने लगी तो रूस के शासकों को विश्वास हुआ कि इस पूँजीपति संसार में सोवियत संघ उसी दशा में जीवित रह सकता है जब उसका जल्दी से उद्योगीकरण हो जाय। इस प्रकार आर्थिक और राजनीतिक प्रवाहों के घुल-मिल जाने से ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई कि अधिकांश यूरोप में आर्थिक राष्ट्रीयता और राजनीतिक राष्ट्रीयता दोनों कंधे से कंधा भिड़ाकर चलने लगीं। पहले हम बतला चुके हैं कि रूस का उद्योगीकरण किस प्रकार हुआ, अर्थात् उसने पूँजीपति संसार से छुटकारा पाने के लिए क्या यत्न किए। अब हम वर्णन करेंगे कि जर्मनी और इटली ने आर्थिक स्वावलम्बन प्राप्त करने के लिये क्या यत्न किए। इनके दो उद्देश्य थे—पहले तो सुरक्षा स्थापित करना और फिर व्यापार की बढ़ती हुई क्षति को रोकना।

जर्मन आर्थिक नीति—1936 में जर्मन देश की आर्थिक नीति ने निश्चित स्वरूप धारण किया। जब चतुर्वर्षीय योजना का आरम्भ हुआ तब तृतीय इस नीति का नारा था, "मक्खन नहीं बन्दूकें।" संक्षेप में यह नारा प्रकट करता था कि राष्ट्रीय सोशलिज्म का क्या कार्यक्रम है। इस नीति का यह इरादा था कि दूसरे देशों की भावनाओं पर कुछ भी प्रतिक्रिया हो और अपने देश में लोग कुछ भी कहें, इसकी उपेक्षा करके निश्चित नीति का अनुसरण किया जाय। जर्मनी के शासकों का खयाल था कि शान्ति के समय में उनके ऊपर यदि आर्थिक प्रतिबन्ध लगाये गये तो वे उनकी चिन्ता नहीं करेंगे और यदि युद्ध आरम्भ हो गया और जर्मनी की नौ-सेना का घेरा डाला गया तो वे तीस वर्ष तक इसका सामना कर सकेंगे। आर्थिक स्वावलम्बन की समस्या में मूल तत्व यह है कि जितने कच्चे माल की आवश्यकता है वह सब अपने देश में उत्पन्न किया जाय। दूसरे देशों से जो चीजें आती थीं उनके स्थान पर कृत्रिम पदार्थ तैयार किये थे। जैसे रासायनिक ऊन और रबर, नीचे दर्जे के लोहे से काम लिया गया; कोयले से पैट्रोल निकाला गया, बाहर से अन्न का आयात सीमित करने के लिए एक खेत में एक बार से अधिक फसलें पैदा करना शुरू किया। आलू और गन्ने की खेती को विस्तृत किया। इसका नतीजा यह हुआ कि लोगों के रहन-सहन का स्तर नीचा हो गया। पदार्थों का उपयोग करने वालों को पता लगा कि चीजें महँगी ही नहीं हल्की भी हैं। आटे और दूसरे खाद्य पदार्थों में मिलावट होने लगी। लेकिन इससे और कुछ अन्य कारणों से बेकारी कम होने लगी। दूसरे कारण ये थे कि शस्त्रों की तैयारी पर बेशुमार खर्च होने लगा और इसी प्रकार जनहित के कार्यों पर भी अर्थात् सड़कों आदि के निर्माण पर भी बहुत खर्च किया गया। सेना में भरती होना अनिवार्य हो गया। कई प्रकार के श्रम-

शिविर जारी हुए। मालिकों को दबाया गया कि वे अपना स्टाफ बढ़ायें। स्त्रियों को कारखानों में भरती करना धीरे-धीरे कम किया गया। काम के घण्टे कम कर दिये, परन्तु मजदूरी भी साथ ही कम हो गई और आर्थिक व्यवस्था को ऐसे नियन्त्रित कर दिया जैसे युद्ध के समय किया जाता है।

इटली की आर्थिक नीति—इटली में भी साधन संकुचित हो गये और राष्ट्रीय भावना उग्र हो गई। तब वहाँ भी ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई। 1936 में जब एबीसीनिया के साथ युद्ध हो रहा था तो मुसोलिनी ने कहा, "राजनीतिक स्वतन्त्रता या स्वतन्त्र विदेश-नीति का अनुसरण तभी सम्भव है जब आर्थिक स्वतन्त्रता हो। आर्थिक युद्ध जो जिनेवा ने सबसे पहले इटली के विरुद्ध जारी किया था, बड़े-बड़े वीरों के देश को भी हरा सकता है।" इटली में पैट्रोल, रबर और अच्छे कोयले की कमी थी और उसके घर में ऊन इतनी-सी होती थी जो उसकी आवश्यकता के लिए काफी नहीं थी। इस कमी की पूर्ति के लिए उसने रासायनिक ऊन, नाइट्रोजन उत्पन्न किये और कृषि के लिए जो खाद और साल्ट्स जरूरी थे उनके स्थान पर भी रासायनिक पदार्थ बनाने का प्रयत्न किया। उसने लिगनाइट से पैट्रोल बनाने की कोशिश की। बाहर से रूई मँगाने के बजाय उसने अपने यहाँ पैदा होने वाले रेशों से काम लेना शुरू किया। सारांश यह है कि अपने कच्चे माल की कमी को दूर करने के लिए उसने कई प्रकार के वैज्ञानिक आविष्कार किये। गेहूँ की उपज बढ़ाई गई ताकि इटली के लोग विदेशों की रोटी पर अवलम्बित न रहें और इस दासता से मुक्त हो जायँ।

कच्चे माल की समस्या—पहले तो ऐसा मालूम पड़ता था कि आर्थिक स्वावलम्बन का आदर्श केवल कल्पना की बात है। लेकिन बीसवीं शताब्दी में जो वैज्ञानिक उन्नति हुई उससे यह केवल स्वप्न की बात नहीं रही। जिन राष्ट्रों के पास कच्चे माल के साधन अपर्याप्त हैं वे तलाश कर रहे हैं कि उनके देश में क्या नये पदार्थ मिल सकते हैं जो कच्चे माल के बजाय काम दे सकें और इन नये पदार्थों का पता लगने पर राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था को किस प्रकार पुनः संगठित किया जा सकता है। ऐसा करने पर जिन देशों में कच्चा माल खूब तैयार होता है उनके साथ इन देशों का सन्तुलन भी बढ़ सकेगा। मनुष्य प्रकृति पर विजय प्राप्त कर चुका है, लेकिन इस सन्तुलन से वह और भी आगे बढ़ जायगा। आर्थिक स्वावलम्बन से ऐसे परिणाम निकले हैं जो अंशतः आर्थिक हैं और अंशतः राजनीतिक। पहले संसार की आर्थिक व्यवस्था में प्रधान बात थी अन्तरराष्ट्रीय श्रम विभाग। इसके विरुद्ध प्रतिक्रिया होने लगी। शायद यह प्रतिक्रिया बहुत अर्से तक नहीं चलती, परन्तु स्वावलम्बन की प्रवृत्ति ने इसको स्थायी रूप दे दिया। आबादियों के निर्यात बन्द हो जाने से यूरोप के प्रत्येक देश में कठिन समस्याएँ खड़ी हो गई थीं। परन्तु आर्थिक

स्वावलम्बन की नीति से इन समस्याओं का बहुत-कुछ हल हो गया, क्योंकि पदार्थों के लिए प्रत्येक उत्पादन के देश में अधिक मजदूरों की आवश्यकता होने लगी और इसी प्रकार उपनिवेशों में पुनर्निर्माण के आयोजन में इन लोगों की जरूरत अनुभव होने लगी। यह उपनिवेशों का आयोजन प्रधान देश की आर्थिक व्यवस्था के अनुसार होता था। एक व्यापार नीति यह भी थी कि कुशल मजदूरों को अपने देश से बाहर नहीं भेजा जाय। ये लोग राष्ट्र की सम्पत्ति माने जाते थे और इनके निर्यात से देश को क्षति होती थी। कुछ भी हो, इस स्वावलम्बन प्रणाली के कारण एक बड़ा गहन प्रश्न उपस्थित हो गया है और इसका यूरोप की राजनीति पर गहरा प्रभाव भी पड़ता है। प्रश्न यह है कि किसी देश में कच्चा माल कम है और किसी में अधिक। इस विषमता के विषय में एक दलील यह दी जाती है कि कच्चे माल के खरीदने में किसी पर रोक नहीं है। जो देश जितना माल चाहे, मोल ले सकता है। लेकिन यह दलील हमेशा लागू नहीं होती, क्योंकि प्रत्येक देश की आर्थिक स्थिति ऐसी नहीं है कि वह कच्चा माल खरीदने पर रुपया खर्च कर सके, क्योंकि पक्के माल को दूसरे देशों में खपाना भी तो आसान बात नहीं है और जब ऐसी खपत नहीं होती तो कच्चा माल खरीदने के लिए रुपया नहीं मिलता, इसके अतिरिक्त यदि कच्चा माल उपलब्ध न हो और उस पर किसी दूसरे देश का नियन्त्रण हो और आर्थिक प्रतिबन्ध लगाने के लिए जब चाहे तब उसका निर्यात रोका जा सके, तो फिर आर्थिक स्वावलम्बन की तजवीज टिक नहीं सकती। इसमें एक बात और है जिसकी भी उपेक्षा नहीं होनी चाहिये। ज्यों-ज्यों आबादी के आयात पर प्रतिबन्ध बढ़ाये जाते हैं त्यों-त्यों जो देश अपनी फालतू आबादी को खपा नहीं सकते, वे माँग करने लगते हैं कि उनको उपनिवेश चाहिए ताकि उनको राहत मिल सके। वास्तव में यूरोपीय देशों के भावी पारस्परिक सम्बन्धों में उपनिवेश की समस्या निस्सन्देह बहुत बड़ी समस्या है। लेकिन इसका स्वतन्त्र रूप से हल नहीं हो सकता। यूरोपीय राष्ट्रतन्त्र के सामने इससे भी अधिक बड़ी-बड़ी समस्याएँ और हैं। उनके साथ ही उपनिवेश समस्या भी गुँथी हुई है। शान्ति के समय में भी संसार शस्त्र और अस्त्रों से सुसज्जित रहता है और लड़ाई का भय हमेशा बना रहता है। ऐसी अवस्था में यदि कच्चे माल का पुनर्वितरण किया गया तो आक्रमण करने वाले राष्ट्रों की भूख और भी तेज हो जायगी और वे अपने जिरहबख्तर को और भी दृढ़ बनाना शुरू कर देंगे और इससे आर्थिक राष्ट्रीयता को और बल मिलेगा, जिसका राजनीतिक सम्बन्धों पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ेगा, लेकिन जब यूरोप ठण्डे दिल और शान्त उपायों से कोई रास्ता तलाश करना चाहेगा तो कच्चे माल की समस्या का उचित हल भी हो सकेगा। लेकिन यह किसी बड़े समझौते का अंश होगा। अनुकूल परिस्थिति में यह हल यूरोप की नीतिमत्ता के लिए कोई बहुत बड़ी बात नहीं होगी।

नवीन व्यापार-विधि—आजकल की व्यापार-विधि में और सत्रहवीं शताब्दी की व्यापार-व्यवस्था में बड़ी समानता है। दोनों का उद्देश्य एक ही है, अर्थात् राजनीतिक स्वतन्त्रता के लिए आर्थिक स्वावलम्बन की प्राप्ति। अपने उद्देश्य की पूर्ति करने के लिए इन दोनों व्यवस्थाओं ने एक ही प्रकार के साधन अपनाये हैं। ये साधन हैं आयातों को कम करना, प्रत्येक देश-विदेश के साथ सन्तुलित व्यापार-नीति स्थापित करना, सोने का निर्यात बन्द करना, सिक्के को चतुराई से सँभालना, प्रधान उद्योगों को उन्नत करना, आर्थिक जीवन की व्यवस्था करना, जिससे देश की उत्पादन-शक्ति ठीक स्थान पर लग सके। अगर सत्रहवीं शताब्दी के अर्थशास्त्री हमारे समय के यूरोप को आकर देखें तो उनको जान पड़ेगा कि वे परिचित वायुमण्डल में ही उपस्थित हैं। अगर एडम स्मिथ वापस आ जाय तो उसको अनुभव होगा कि उसने 'दी वैल्थ ऑफ नेशन्स' नामक ग्रन्थ यों ही लिखा। इस परिवर्तित परिस्थिति में संसार ने पुनः वही आर्थिक व्यवस्था अपना ली है जिसके विषय में ऐसा खयाल किया गया था कि वह हमेशा के लिए छोड़ दी गई। इतिहासकार भी पादरी के स्वर में स्वर मिलाकर कह सकता है कि इस सूर्य के नीचे कोई नई बात नहीं है।

अन्तिम बात

बीसवीं शताब्दी में दो महा-संघर्ष हुए। ये इतने महान् थे कि मानव-इतिहास में इनकी तुलना नहीं मिलती। इनके परिणाम इन वर्षों के बीत जाने पर बड़े-बड़े, जुदे-जुदे और प्रकाशप्रद प्रतीत होते हैं।

प्रथम विश्व-युद्ध के अन्त में जर्मन सेना अपने झण्डों को फहराती हुई अभिमान-पूर्वक अपने देश को लौटी थी और ऐसी मान्यता बन गई थी कि रणभूमि में उसकी पराजय कभी नहीं हुई। राष्ट्रीय समाजवादियों (नेशनल सोशलिस्ट) ने इसका खूब ही उपयोग किया और इसका परिणाम विनाशक हुआ। दूसरे विश्व-युद्ध के अन्त में यह बिल्कुल स्पष्ट हो गया था कि एक ऐसे दुर्धर्ष शत्रु पर पूर्ण विजय प्राप्त कर ली गई है, जो संघर्ष-काल में एक समय लगभग समस्त यूरोप को अपनी मुट्ठी में दबा चुका था। अब जर्मनी की विपत्ति स्पष्ट दृष्टिगत होती थी और उसकी अजेयता की कहानी के लिए कोई स्थान नहीं रह गया था। जर्मनी की राजधानी में सेनाओं का प्रवेश हो चुका था। उसकी सरकार भंग हो गई थी। समस्त देश विभिन्न क्षेत्रों में विभक्त कर दिया गया था और प्रत्येक क्षेत्र पर उसके शत्रुओं ने कब्जा कर लिया था। जर्मनी के निर्दय शासकों ने उत्पीड़ित महाद्वीप पर अपार संकट ढहा दिया था। अब जर्मनी को उसका मूल्य चुकाना पड़ रहा था।

रशिया का भाग्य इससे बहुत भिन्न था। जब यह देश प्रथम विश्व-युद्ध से पीछे हटा तो उसकी सेना अव्यवस्थित हो चुकी थी और उसकी सरकार बहुत अपमानित हो गई थी। उसकी सन्धि के अनुकूल उसके टुकड़े-टुकड़े हो चुके थे और लेनिन के शब्दों में उसे दासता स्वीकार करनी पड़ी थी। परन्तु द्वितीय महायुद्ध के भँवर में से जब रूस निकला तो उसकी प्रतिष्ठा जम गई थी जो उसके सुदीर्घ इतिहास में अभूतपूर्व थी। उसने वीरतापूर्वक शत्रुओं का सामना किया था जिससे समस्त संसार चकित हो गया था। संसार को अनुमान भी नहीं था कि उसमें इतनी शक्ति और धैर्य है। रूस के लोगों ने अविश्वसनीय बलिदान किए और आक्रमणकारी को पीछे धकेल दिया, जिससे प्रकट हुआ कि क्रान्ति के बाद होने वाले आर्थिक और सामाजिक परिवर्तनों के कारण वहाँ की राष्ट्रीय भावना दबी नहीं थी। रूस की सरकार ने यन्त्रों के द्वारा युद्ध का संचालन किया और इसके लिए विपुल साधनों की सृष्टि की। इस बात का प्रमाण था कि रूस ने अब उन समस्त कठिनाइयों पर विजय प्राप्त कर ली है जिनका उसको औद्योगिक रूपान्तर करने के समय अनुभव हुआ था। अब यह माना जा सकता है कि रूस की राष्ट्रीय भावना के उदय से उसकी प्रगति

में और तीव्रता आयेगी। इस पुस्तक के सोवियत रूस-संबंधी प्रकरण में इसका अनुमान लगाया गया है।

1919 के द्वितीय दशक में यह पूर्ण विश्वास प्रचलित हो गया था कि विश्व-युद्ध सदा के लिए युद्ध को समाप्त करने के हेतु लड़ा गया है, और यह उद्देश्य पूरा हो चुका है। इसलिए संसार में झूठा आशावाद फैल गया था। यह उस समय उच्छिन्न हुआ जब जर्मनी और हिटलर एक दुष्कर्मा महापिशाच की भाँति महाद्वीप के सिर पर बैठ गये। चौथे और पाँचवें दशक में यह भय होने लगा कि किसी भी समय एक और विश्व-युद्ध हो सकता है। इसके कारण सब राष्ट्र सजग और सतर्क होने लगे।

प्रारम्भिक काल में संयुक्त राज्य अमेरिका ने अन्तरराष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में पार्थक्य नीति का अनुसरण किया। इस समय रूस अपना केवल अस्तित्व बनाये रखने के लिए संघर्ष कर रहा था। इससे अगले काल में अमेरिका ने अपने परम्परागत रुख का परित्याग कर दिया और यूरोप के मामलों में वह निश्चित भाग लेने लगा। इसी समय रूस सर्वाधिक शक्तिशाली राष्ट्र बन गया। इस प्रकार अब यूरोप का भाग्य दो देशों के हाथ में आ गया है। इनमें एक तो गैर-यूरोपियन है और दूसरा अर्ध-एशियाई है।

प्रथम विश्व-युद्ध के पश्चात् प्रसिद्ध फ्रेंच राजनीतिज्ञ ब्रियन्ड संयुक्त यूरोप के निर्माण के पक्ष में था, परन्तु उस समय उसकी योजना के लिए समय नहीं आया था। दूसरे विश्व-युद्ध के बाद यूरोपीय आर्थिक सहयोग का स्थायी ढाँचा फिर जीवित हुआ। इससे ऐसा जान पड़ता है कि एक ऐसा बाजार स्थापित हो जायेगा जिसमें बहुत से देश, जिनमें ग्रेट ब्रिटेन भी सम्मिलित होगा, भाग ले सकेंगे। और यदि बड़े पैमाने पर यह योजना सफल हुई तो हमारे समय की एक बहुत बड़ी आकांक्षा अर्थात् समन्वित यूरोप का विचार निकट आ जायेगा।

प्रत्येक युद्ध के अपने ही पक्ष बन जाते हैं। जो लोग यह समझते हैं कि आगामी युद्ध पिछले युद्ध के ढंग का होगा, वे अचम्भे में रह जाते हैं। 1939-45 के युद्ध में वायुयानों और टैंकों का बहुत प्रयोग हुआ और इससे युद्ध में ऐसी प्रगति आई जो 1914-18 के युद्ध में नहीं थी और यदि अगले युद्ध में एटमिक शस्त्रों ने परम्परागत शस्त्रों का स्थान ले लिया तो इस युद्ध का स्वरूप बिल्कुल बदल जायेगा। परन्तु भविष्य के लिए सबसे बड़ी आशा की बात यह है कि वर्तमान वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण युद्ध-निरोध बहुत बढ़ गया है। ग्रोशियस के समय से हेग के नियमों तक अर्थात् सैकड़ों वर्षों से अन्तरराष्ट्रीय कानून का उद्देश्य यह रहा है कि युद्ध में मानवता बनी रहनी चाहिए। हाइड्रोजन बम का आविष्कार हो चुका है जिससे कल्पनातीत भयकरताएँ सम्भव हो गई हैं, परन्तु शान्ति-रक्षा में इससे पूरी गारन्टी मिल सकती है।

अनुक्रमणिका

औ

अं

क

त

थ

द

न

प

फ

म

य

र

ल